भारतीय राजनीति और शासन

भारतीय राजनीति और शासन

लेखक
के० आर० बम्बवाल
एम० ए०, यू० पी० ई० एस०
डी० पी० एस० राजकीय डिग्री कॉलेज नैनीताल

१९६७
आत्माराम एन्ड संस
दिल्ली - नई दिल्ली चण्डीगढ़ जयपुर - लखनऊ

BHARTIYA RAJNEETI AUR SHASAN
By
K R Bombwall
Rs 12 00

प्रकाशक
रामलाल पुरी, सचालक
आत्माराम एण्ड सस
कश्मीरी गेट दिल्ली-६

शाखाए
हौज खास नई दिल्ली
विश्वविद्यालय क्षेत्र चण्डीगढ
चौडा रास्ता जयपुर
17 अशोक मार्ग लखनऊ

तृतीय सस्करण 1967
मूल्य बारह रुपये

मुद्रक
चन्द्रोदय प्रेस जयपुर

तीसरे संस्करण की भूमिका

हमें प्रसन्नता है कि अंग्रेजी पुस्तक के समान ही हिन्दी अनुवाद का भी सर्वत्र स्वागत किया गया है। इतने थोड़े समय में ही इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित होना इसकी उपयोगिता सिद्ध करता है। इस नवीन संस्करण में जहाँ भी आवश्यकता थी संशोधन कर दिए गए हैं। भारत के संविधान में इस बीच जो संशोधन हुए हैं इस संस्करण में उनका भी यथा स्थान विधिवत उल्लेख कर दिया गया है।

प्रकाशक

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक मेरी Indian Politics and Government जिसे भारतीय विश्वविद्यालयों के राज्य विज्ञान के छात्रों के लिए लिखा गया था का हिन्दी रूपान्तर है। इसका विषय भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन और वैधानिक विकास का इतिहास है। मूल पुस्तक को तैयार करने में लेखक ने अपने व्यक्तिगत अनुसन्धान के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थकारों की सहायता से भी लाभ उठाया था और उनके प्रति अपने ऋण को पादटिप्पणियों और अन्त में दी गई पुस्तक सूची में स्वीकार किया था। भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम के विषय में निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना असम्भव प्राय है फिर भी लेखक ने इस संग्राम के विभिन्न चरणों, ब्रिटिश सरकार द्वारा उसका सामना करने के हेतु अपनाई गई नीतियों और समय समय पर भारत में किए वैधानिक सुधारों का संतुलित निरूपण और मूल्यांकन करने का यथासम्भव प्रयत्न किया था।

Indian Politics and Government का यह अनुवाद तैयार तो लगभग दो वर्ष पूर्व ही हो गया था परन्तु कुछ अप्रत्याशित कठिनाइयों के परिणाम-स्वरूप इसके प्रकाशन में विलम्ब हुआ है। ऐसी दशा में दो एक स्थानों पर संशोधन की आवश्यकता प्रतीत होती है। आशा है यह त्रुटियाँ अगले संस्करण में दूर हो जाएँगी। यह अनुवाद मेरी धर्मपत्नी और गुरुभक्त शिष्य श्री विश्वप्रकाश के परिश्रम का फल है। श्री विश्वप्रकाश का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ क्योंकि उन्होंने अनुवाद के साथ मूल सामग्री में यत्र-तत्र महत्वपूर्ण परिवर्धन कर दिए हैं। अतएव आशा है कि यह पुस्तक छात्रों के लिए Indian Politics and Government से भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

के० आर० बम्बवाल

विषय-सूची

भारतीय राजनीति

और

शासन

अध्याय १

विषय-प्रवेश

१ अंग्रेजों की भारत विजय

अंग्रेज शासकों ने अपनी जाति की ओर से भारत विजय का कार्य साक्षात् रूप से न तो आरम्भ किया था और न समाप्त किया था तथा न ही यह कोई युद्धात्मक कार्य था। यह था एक विलम्बित अस्तव्यस्त छोटा-छोटा कार्यक्रम। ईसा की सोलहवीं सदी में रानी एलिजाबेथ के द्वारा घोषित एक राजलेख के अनुसार स्थापित की गई ईस्ट इण्डिया कम्पनी का वाणिज्यिक काम ही बाद में भारत में अंग्रेजी साम्राज्य बनाने में परिणत हुआ। पहले पहल कम्पनी ने अपनी सारी शक्ति वाणिज्य-विस्तार के काम में लगाई और उस समय उसकी कोई भी राजनीतिक महत्वाकांक्षा न थी। राजनीतिक अधिकार को अथवा कुछ नागरिक सुविधाओं का भोग करने के लिए ही वह कुछ राष्ट्रीय क्षेत्र की स्वामिनी बन गई। यद्यपि अंग्रेजों ने ईस्वी सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में भारत में कदम रखा था तथापि ई० १७६५ में सम्राट शाह आलम से बंगाल बिहार और उड़ीसा का राजस्वाधिकार (दीवानी) प्राप्त करने से ही भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का श्रीगणेश हुआ था—कहा जा सकता है। अब यह एक शुद्ध वाणिज्यिक संस्था नहीं रह गई थी, कारण वाणिज्यिक कार्य में राजनीतिक शक्ति का समावेश हो गया था।

वाणिज्यिक संस्था का राजनीतिक संस्था में परिणति—ई० १८४९ में राजा रणजीतसिंह की पराजय के साथ-साथ भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित करने का काम और उसको दृढ़रूप से प्रतिष्ठित करने का काम समाप्त हो गया। इस तरह से कूटनीति, दलचातुरी, युद्धविजय अथवा केवल प्रभाव से अंग्रेजों ने भारत में अपना साम्राज्य बना लिया।

मंद अव्यवस्थित और खंडश सम्पन्न प्रक्रिया—१८४९ में पंजाब से सिक्ख राज्य के अंत के साथ ही भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापन और संगठन का कार्य भी पूरा हो गया। ब्रिटिश शासन की छाया इस विस्तृत प्रायद्वीप के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रसारित हो गई। वस्तुतः अंग्रेजों की भारत विजय एक मंद, अव्यवस्थित और खंडशः सम्पन्न प्रक्रिया थी। यह विजय केवल सामरिक विजय ही नहीं था। भारत में अपने राज्य-विस्तार के लिए अंग्रेजों ने कई उपायों का प्रयोग किया।

इनमें सबसे प्रभावशाली उपाय देशी नरेशों की पारस्परिक ईर्ष्या से लाभ उठाना था। इस क्षेत्र में अंग्रेज अपने विरोधी फ्रांसीसियों से बाजी मार ले गए। पहले पहल उन्होंने दीवानी के रूप में भारतीय प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया तत्पश्चात् दुहरे शासन का छद्मवेश उतार फेंका और अंत में वे स्वयं शासक ही बन बैठे। इंगलैण्ड के अधिपति चार्ल्स द्वितीय ने बम्बई को १० पौंड प्रति वर्ष के पट्टे पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हवाले कर दिया। कम्पनी ने निजाम के शासनाधीन प्रदेश में ब्रिटिश सेना के प्रतिपालन हेतु बरार को निजाम से नकद वेतन के बदले में ले लिया। लार्ड डलहौजी की पृथक्करण नीति भी बहुत से देशी राज्यों को ब्रिटिश शासन में सम्मिलित करने में सफल हुई। पंजाब को तलवार की नोक के बल पर जीता गया। इस प्रकार अंग्रेजों ने कूटनीति सैनिक-विजय और अनैतिक उपायों का अवलम्बन लेकर भारत में अपने साम्राज्य का निर्माण किया।

क्या अंग्रेजों ने भारत मस्तिष्क की अर्द्ध-चेतन अवस्था में जीता ?—अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आए थे और यहां शासक बन कर रहे। कतिपय कहा करते हैं कि यह परिवर्तन आकस्मिक ही हो गया। माना कि भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना और विस्तार करते समय किसी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार काम नहीं हुआ। फिर भी इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि सत्रहवीं शताब्दी की समाप्ति के पूर्व भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रधान सर जोशिया चाइल्ड ने भारत में सदैव के लिए एक विशाल और सुदृढ़ अंग्रेजी राज्य की नींव डालने का उद्देश्य अपने सम्मुख रखा था। लेकिन सर जोशिया के उत्तराधिकारी इस नीति से सहमत नहीं थे और उन्होंने साधारणतया साम्राज्य-स्थापन की नहीं प्रत्युत वाणिज्य विस्तार की ही नीति का पालन किया। १७४६ ई० में कर्नल जेम्स मिल्स नामक एक व्यक्ति ने बंगाल की विजय के लिए एक योजना तैयार की थी। परन्तु चूंकि ब्रिटिश अधिकारी ऐसी किसी योजना के प्रति उदासीन थे अतः उसने अपनी योजना आस्ट्रिया के सम्राट के सम्मुख रखी। यह ठीक है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों ने राज्य विस्तार सम्बन्धी नीति का बहुधा विरोध भी किया परन्तु फिर भी यह तर्क बिल्कुल निराधार है कि अंग्रेजों ने भारत मस्तिष्क की अर्द्ध चेतन अवस्था में जीता। हो सकता है कि सुदूर ब्रिटेन में स्थित कम्पनी के संचालकों ने भारतीय प्रदेशों में सत्वर बढ़ते हुए अंग्रेजी प्रभुत्व का सदैव विचार या समर्थन न किया हो। लेकिन भारत में स्थित कम्पनी के कर्मचारी इस बात को भली भांति जानते थे कि उन्हें क्या करना है। ७ जून १७५९ को क्लाइव ने अर्ल आफ चथम को भारत में एक ऐसी सेना निरंतर तैयार रखने के सम्बन्ध में लिखा था जो प्रथम अवसर आते ही उनकी साम्राज्य-विस्तार विषयक महत्वाकांक्षा की पूर्ति में सहायक हो सके।' अंग्रेजों ने देखा कि भारत में विद्यमान राजनीतिक अराजकता उन्हें साम्राज्यवादी लिप्सा-पूर्ति का अनुपम अवसर प्रदान कर रही है और उन्होंने इस स्वर्ण अवसर से लाभ उठाने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

२ विदेशी शासन के दोष—अवनति और असन्तोष

ब्रिटिश राज्य के तथाकथित वरदान—१५० वर्षों से अधिक के अपने सम्पूर्ण शासन-काल में अंग्रेज शासक भारतीय जनता को ब्रिटिश राज्य के तथाकथित वरदानों के मनमाने वर्णन के जोर से ही बहलाते रहे। भारतीय इतिहास के ऊपर लिखी हुई पाठ्य-पुस्तकों में ब्रिटिश शासन-काल में भारत द्वारा की गई नैतिक एवं भौतिक उन्नति के प्रगतिपूर्ण विवरण पर्याप्त मात्रा में होते थे लेकिन इस उन्नति के लिए भारत को क्या मूल्य चुकाना पड़ा इसका ऐसी अधिकांश पुस्तकों में उल्लेख मात्र भी नहीं किया जाता था। इस बात को तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ब्रिटिश राज्य ने भारत को रेल, डाकखाना और टेलीग्राफ आदि सभ्यता के अनिवार्य बाह्य उपकरण प्रदान किए लेकिन यहाँ यह भी स्मरणीय है कि जापान ने जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक सभ्यता की दौड़ में बहुत ही पिछड़ा हुआ देश था सभ्यता के समस्त उपकरणों को भारत की तुलना में कहीं अधिक शीघ्रता से प्राप्त कर लिया और वह भी बिना किसी विदेशी शासन की अधीनता को स्वीकार किए। भारत का राजनीतिक एवं प्रशासनिक एकीकरण जिसका श्रेय अंग्रेजों को दिया जाता है राष्ट्रीय स्वाधीनता एवं आर्थिक समृद्धि के मूल्य पर सम्पन्न हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाश्चात्य शिक्षा ने राष्ट्रीय चेतना के विकास में सहयोग दिया परन्तु अंग्रेजों ने उसका सम्पादन परहित की भावना से प्रेरित होकर नहीं किया था। सच तो यह है कि भारत जैसे विशाल देश का शासन-संचालन करने में अंग्रेजों को असुविधा होती थी। सम्यक् शासन संचालन के लिए उन्हें सस्ते क्लर्कों की आवश्यकता थी। अंग्रेजी शिक्षा ने उनकी इस आवश्यकता को पर्याप्त मात्रा में पूरा किया। पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा ने पढ़े-लिखे शिक्षित भारतीयों की आँखों में तीव्र चकाचौंध उत्पन्न की जिसके फलस्वरूप वे धीरे धीरे अपने धर्म, साहित्य और संस्कृति से विमुख होने लगे। लेकिन यह चकाचौंध कब तक बनी रह सकती थी? इसकी भी एक सीमा थी। जहाँ यह सीमा पार हुई शिक्षित भारतीयों को यह समझने देर न लगी कि विदेशी शासन में हमारा भयंकर राष्ट्रीय पतन हुआ है।

भारत का आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दासत्व—राजनीतिक स्वाधीनता का अपहरण तो अंग्रेजों की भारत विजय का एक ऐसा परिणाम था जो बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता था। लेकिन इस राजनीतिक पराधीनता के साथ-साथ कुछ और भी नतीजे हुए जो यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में तो दिखाई नहीं दिए परन्तु जिन्होंने भीतर ही भीतर भारत की आर्थिक समृद्धि की जड़ें काट डालीं तथा देश के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पतन का पथ प्रशस्त किया।

जब अंग्रेज भारत में आए, देश समृद्ध था। वस्तुतः भारत के धन और ऐश्वर्य ने ही अंग्रेजों को अपनी ओर आकृष्ट किया था। लेकिन अंग्रेजी राज्य की स्थापना देश के आर्थिक ह्रास का कारण बन गई। भारत के श्रेष्ठ हस्त कला कौशल एवं

धन्धे सभी कुछ धीरे धीरे चौपट हो गए क्योंकि उन्हें विदेशी उद्योग धन्धों से अत्यन्त प्रतिकूल एवं विषम परिस्थितियों में टक्कर लेना पड़ी।

यातायात के साधनों के शीघ्र विकास ने अंग्रेजों को भारतवर्ष में अपनी शक्ति सबल करने में सहायता दी। इसी समय इंग्लैण्ड से मशीनों का बना वस्तुओं का भारत में आना और बिकना शुरू हो गया। इसका स्वाभाविक फल यह हुआ कि भारत की शिल्पकलाओं और घरेलू उद्योग धन्धों को अपार क्षति पहुँची। अंग्रेजों ने गिर रहे भारतीय उद्योग धन्धों को तनिक भी सहारा नहीं दिया। उन्होंने तो भारतवर्ष को ब्रिटिश उद्योगों के वास्ते कच्चे माल का भण्डार और अपने माल का ग्राहक बनाने की निर्धारित नीति का पूर्णरूप से अनुसरण किया। ब्रिटिश सरकार की इस नीति ने भारत के विश्वविख्यात जुलाहों के मुंह की रोटी छीनने के लिए लंकाशायर और मानचेस्टर के विशाल यन्त्रोद्योगों का मार्ग निष्कण्टक कर दिया। दूसरी कोई सदय सरकार इस विनाश को रोक सकती थी। अंग्रेज सब कुछ थे न थे तो केवल भारत के हितैषी। इसका घातक परिणाम यह हुआ कि सहस्रों शिल्पियों की जीविका का अन्त हो गया और उन्हें कृषि का आश्रय लेना पड़ा। जब भूमि पर अधिक दबाव पड़ना प्रारम्भ हुआ उसकी उर्वरा शक्ति जवाब देने लगी। ऐसी स्थिति में जनता दुःख दैन्य से कराह उठी। डा० डी० ई० वाचा ने इस दारुण स्थिति का दिग्दर्शन करते हुए लिखा है— भारत के लोगों की आर्थिक अवस्था ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ह्रास को प्राप्त हो रही थी। लगभग ४ करोड़ भारतीयों को केवल एक बार भोजन नसीब होता था। भारत मन्त्री लार्ड सलिसबरी ने भी १८७५ में स्वीकार किया था कि ब्रिटिश शासन भारत का रक्त शोषण करके उसे रक्तहीन व दुर्बल बना रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश राज्य के कारण भारत को न केवल राजनीतिक पराधीनता ही भोगनी पड़ी प्रत्युत उसको परोक्ष में आर्थिक दासता की बेड़ियाँ भी पहननी पड़ीं।

ब्रिटिश शासन की छाया में भारत के आर्थिक और राजनीतिक पतन के साथ ही साथ यहाँ के गांवों में सहस्रों वर्षों से जो स्वशासन चला आ रहा था उसकी भी नींवें हिल गईं। भारतीय ग्रामों की पंचायती शासन व्यवस्था में मुगल सम्राटों ने भी कोई हस्तक्षेप नहीं किया था। उन्होंने अपनी सत्ता के प्रयोग को लगान वसूली और सेना की भरती तक ही सीमित रखा था। लोकप्रिय पंचायतें ग्रामीण शासन उन समस्त कार्यों को करने के लिए स्वतन्त्र थीं जिनका दैनिक जन जीवन पर प्रभाव पड़ता था। अंग्रेजों ने भारतवर्ष में शासन पर जमाते ही इस परम्परा को उलट दिया। वे देश में केन्द्रोन्मुखी शासन पद्धति की स्थापना करने के लिए कटिबद्ध थे। धीरे धीरे ब्रिटिश शासन सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गया और उसने यहाँ की जीवित आत्मक संस्थाओं का अन्त कर दिया। यह भारतीय जनता की राजनैतिक आत्मनिर्भरता पर निर्मम आघात था।

गोरे साम्राज्यवादियों के पीछे पीछे क्रिश्चियन मिशनरियों ने भारत में पदार्पण

लिया । शासन का उदार शान पर बढ़ रहा था । भारतीय जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता और सामाजिक न्याय की भावना दबने तथा बुरे रीति रिवाजों तथा व्यवहारों के कारण ईसाई धर्म को प्रचार प्रसार के लिए उपयुक्त क्षेत्र मिला । असहनीय दरिद्रता से मुक्ति एवं सामाजिक न्याय की प्राप्ति की लालसा से लोगों ने बहुत बड़ी संख्या में ईसाई धर्म की दीक्षा ग्रहण की । इस बात का पहले ही संकेत किया जा चुका है कि अंग्रेजों ने भारतीयों को मानसिक एवं आध्यात्मिक दासता के पाश में आबद्ध करने के लिए देश में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात किया था । अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य के सौन्दर्य तथा पाश्चात्य विचारों की प्राञ्जलता ने भारत के शिक्षित वर्ग को मोह लिया । इस प्रकार वे ही लोग जिनका देश के लिए सबसे अधिक महत्व था डाक्टर पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में "विदेशी शासन के उपासक" बन गए । उस समय जबकि किसान और कारीगर विदेशी शासन के जुए में अपनी अन्तिम घड़ियां गिन रहे थे राष्ट्र सैनिक, औद्योगिक, बौद्धिक और नैतिक रूप से दिवालिया हो रहा था । अंग्रेजियत के रंग में रंगे भारतीय नौकरियों तथा पदवृद्धि के लिए संघर्ष कर रहे थे । यह एक ऐसे दुर्बल एवं पुरुषत्वहीन राष्ट्र का चित्र था जो न केवल अपना बल ही अपितु आत्मविश्वास भी खो बैठा था और अब अत्यन्त असहाय एवं दयनीय अवस्था में विदेशी शासकों की कृपाकोर का याचक था ।[1]

३ १८५७ का भारतीय विद्रोह

१८५७ का सिपाही विद्रोह भारत के राष्ट्रीय इतिहास की प्रथम महत्वपूर्ण घटना है । कतिपय यूरोपीय इतिहासकारों का दृष्टिकोण रहा है कि यह केवल उन थोड़े से असन्तुष्ट सिपाहियों का ही विद्रोह था जिन्हें कुछ अधिकारच्युत एवं प्रतिष्ठाहीन सामन्तों ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए भड़का दिया था । इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि विद्रोह उस स्वतन्त्रता आन्दोलन से सर्वथा भिन्न था जिसका सूत्रपात १८८५ में कांग्रेस की स्थापना के पश्चात हुआ । विद्रोह के संगठन में शिथिलता थी एवं उसे जनता की वास्तविक तथा अनवरत सहायता भी न मिली । इसके अतिरिक्त विद्रोह एक प्रजातान्त्रिक और प्रगतिशील आन्दोलन होने की अपेक्षा एक प्रतिगामी आन्दोलन ही अधिक था । लेकिन फिर भी वह भारत की स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध था, ब्रिटिश शासन को जड़ से उखाड़ कर फेंक देने का एक प्रबल और गौरवपूर्ण प्रयास था । चाहे शुरू में यह सिपाही विद्रोह हो परन्तु बाद में इसमें राजनैतिक प्रखरता आ गयी थी । डा० पट्टाभि सीतारमय्या और डा० पणिक्कर ने इस आन्दोलन को स्वतन्त्रता प्राप्ति का एक महान आन्दोलन बताया है । वीर सावरकर का भी यही मत है । इसने विदेशी शासन के प्रति भारत की निष्क्रिय अधीनता के युग का अन्त कर दिया । इसके उपरान्त राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का संघर्ष यद्यपि वह उससे भिन्न दूसरा था

1 डा० सीतारमय्या — हिस्ट्री आफ दि नेशनलिस्ट मूवमेंट इन इण्डिया पृ० ७०८ ।

बराबर आगे बढ़ता गया और वह १५ अगस्त १९४७ तक जबकि भारत ने विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त की जारी रहा।

असंतोष का प्रचण्ड विस्फोट—सन १८५७ का विद्रोह ब्रिटिश शासन के प्रभाव से उत्पन्न हुए भारतीय जनता के अतुल असंतोष का आकस्मिक विस्फोट था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लोलुप नौकरों के दुष्टतापूर्ण कृत्यों देश के निर्मम आर्थिक शोषण और जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता क्रिश्चियन मिशनरियों के प्रचार एवं पाश्चात्य संस्कृति के प्रसार ने भारत में व्यापक असंतोष की भावना को उत्पन्न कर दिया था। भारत से विदा होते समय लार्ड डलहौजी का यह कहना कि मैं अपने पीछे शान्त भारत को छोड़ जा रहा हूं। लेकिन वास्तव में उस समय भारत एक ज्वालामुखी के तुल्य था जो अब फटने ही वाला था। सेना में चरबी लगे कारतूसों के प्रयोग ने तो बारूद में दियासलाई लगाने भर का काम किया। अवध सतारा बीदर और नागपुर के पदच्युत शासकों तथा झांसी की रानी वीरांगना लक्ष्मीबाई ने उस घनीभूत असंतोष को नेतृत्व एवं दिशा प्रदान की।

सन सत्तावन का विद्रोह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। अंग्रेज उसका दमन करने में सफल हुए लेकिन विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों ने जिस निर्दय और प्रतिहिंसात्मक नीति का आचरण किया हिंसा का सामना करते समय जिस पशुता और बर्बरता को अपनाया चारों ओर जिस भय और आतंक की सृष्टि की वह उनके जातीय जीवन पर कलंक का टीका है। गैरट ने एन इण्डियन कमेण्ट्री में उसका निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है अंग्रेजों ने अपने संस्था बन्दियों को बिना किसी अभियोग की सुनवाई के मौत के घाट उतार दिया यह सभी भारतीयों की दृष्टि में बर्बरता की चरम सीमा थी। मुसलमानों को मारने से पहले सूअर की खालों में सी दिया जाता था उन पर सूअर की चरबी मल दी जाती थी फिर उनके शरीर जला दिए जाते थे और हिन्दुओं को बलपूर्वक धर्मभ्रष्ट किया जाता था। हजारों की संख्या में स्त्री पुरुष और बालकों को दिल्ली में ही नहीं प्रत्युत देहातों में जा जा कर कत्ल किया गया। कुछ गांवों को अपराधी घोषित कर दिया जाता था और उनके निवासियों को तलवार के घाट उतार दिया जाता था। जहां कहीं अंग्रेज सेना पहुंचती थी वहीं के निवासियों के प्राण संकट में पड़ जाते थे। उन्होंने चाहे उन्होंने कोई अपराध किया हो अथवा नहीं अग्नि की ज्वालाओं में भस्मीभूत कर दिया जाता था।

विद्रोह के परिणाम—सन सत्तावन के विद्रोह ने एवं उस निर्दयता ने जिसके साथ उसका दमन हुआ जातीय कटुता की भावना को विपुल मात्रा में उत्पन्न किया। भारत के इतिहास में यह विद्रोह एक युगान्तरकारी घटना है। इसके साथ भारत में एक युग का अन्त और दूसरे युग का उदय होता है। विद्रोह के पूर्व ब्रिटिश शासकों एवं भारतीय जनता के बीच न्यूनाधिक प्रेमपूर्ण सम्बन्ध बन चुके थे। विद्रोह ने उन प्रेमपूर्ण सम्बन्धों में अचानक ही आमूल परिवर्तन कर दिया। पहले अंग्रेज भारतीय

जनता के साथ किसी सीमा तक स्नेहमय एवं सद्भावनापूर्ण वातावरण में जीवन यापन कर रहे थे रंगभेद और जातीय अभिमान की अधिक भावना नहीं थी यहाँ तक कि कभी कभी अन्तर्जातीय विवाह भी हो जाते थे लेकिन विद्रोह ने इस सारी स्थिति को बिल्कुल ही बदल दिया।

जातीय विद्वेष—विद्रोह के पश्चात ब्रिटिश और आंग्ल भारतीय समाज ने पृथक छावनियां और नगर से बाहर स्थित सिविल लाइनो में रहना प्रारम्भ कर दिया। अब उनका भारतीयों के साथ सरकारी कामों के अतिरिक्त बहुत ही कम सम्पर्क रहने लगा। फलत शासकों और शासितों के बीच भेद की खाई उत्पन्न हो गई और जैसे जैसे दिन बीतते गए उसका विस्तार होता गया। अंग्रेजों ने भारतीयों को नितान्त असभ्य समझना प्रारम्भ कर दिया और उनके हृदय में इस विश्वास ने घर कर लिया कि भारतीय जनता को केवल शक्ति प्रदर्शन के द्वारा अथवा डरा धमका कर ही वश में किया जा सकता है। उन्होने देशवासियों के प्रति जिस घोर घृणा और प्रचण्ड असन्तोष की भावना को प्रश्रय दिया उसके सुन्दर फल परिणाम निकले।

रक्त और लोहे की नीति—भारतीय जनता के प्रति अविश्वास की भावना ने स्वयं को अंग्रेजों द्वारा अपनाई गई रक्त और लोह की नीति (Policy of blood and iron) में व्यक्त किया। भारतीय अंग्रेजों के कोपभाजन बन गए और उनके स्वाभिमान पर पग पग पर आघात किया जाने लगा। अंग्रेजों की नादिरशाही एवं मंगोलो से तुलना करते हुए गैरट इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि नृशंसता और निर्दयता में अंग्रेज इन दोनों में से किसी से कम नहीं थे। उसने लिखा है कि जैसे नादिरशाह ने दिल्ली को वीरान कर दिया था वैसे ही अंग्रेजों ने दिल्ली को वीरान किया। मंगोलों ने अपराधियों और निरपराधियों का बिना किसी भेदभाव के समान रूप से वध किया था और गाँवों में आग लगा कर अपनी बर्बर इच्छाओं की पूर्ति की थी। अंग्रेज भी इसी प्रकार के पक्के निकले।[1] ब्रिटिश शासकों ने भारतीयों को जरा-जरा सी बात के लिए अनुमान अपराध होने पर भी भयंकर दण्ड दिए। इसके विपरीत यदि कोई यूरोपीय किसी भारतीय के प्राण तक ले लेता तब भी उसे बहुत हल्का दण्ड दिया जाता था। सवार में महारानी विक्टोरिया की वह नीति जिसमें कहा गया था कि प्रजा की प्रसन्नता में ही हमारा बल है उनके सन्तोष में ही हमारी सुरक्षा है और उसकी कृतज्ञता ही हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ पारितोषिक है व्यवहार में तिनिकमात्र भी प्रयुक्त न की गई।

नीति का परिणाम— रक्त और लोह की नीति भारतीयों के लिए असह्य थी इसने उनके हृदय में अंग्रेजों के प्रति भयंकर विद्वेष की अग्नि को प्रज्वलित कर

---

१ डा० एन० सिंह द्वारा उद्धृत—मैन्ड मार्क इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेण्ट, पृ० १०८।

लिया। कोई भी दास अपने स्वामी से स्नेह नहीं कर सकता। वह स्वामी जो बर्बर पशु के तुल्य आचरण करता है निश्चय ही घृणा का पात्र बन जाता है चाहे वह घृणा प्रकट न हो सके। भारतीयों के साथ भी यही हुआ। अंग्रेजों का अपना छिपा शत्रु समझने लगा। यदा कदा घृणा का इस अग्राह्यता धारा न १८७२ में मालेरकोटला विद्रोह जैसी हिंसक चेष्टाओं में अपना निकास पाया। अंग्रेजों ने इन घटनाओं का भयंकर प्रतिशोध लिया। उन्होंने मालेरकोटला विद्रोह के प्रश्न को लेकर ४९ सिक्खों को बिना किसी अभियोग की सुनवाई के तोपों पर उड़ा दिया था। यद्यपि इस प्रकार के विस्फोट अधिक तो नहीं हुए परन्तु घृणा की आग भारतीयों के दिलों में बराबर सुलगती रही। अंग्रेजों के दर्प और अत्याचार ने घृणा की इस आग को निरन्तर धीरे धीरे परन्तु प्रच्छन्न रूप से भारत में ब्रिटिश शासन की जड़ों को दुर्बल कर दिया और भी भड़काया।

भारतीयों का शासन से निष्कासन—भारतीयों के प्रति अविश्वास की नीति पर आचरण करने का फल यह हुआ कि ब्रिटिश शासकों ने उन्हें शासन के समस्त महत्वपूर्ण पदों से वंचित कर दिया। प्रजा में से जो बहुत ही स्वामिभक्त थे शासकों की दृष्टि में वे भी सन्देह के पात्र थे। महारानी विक्टोरिया के इस वचन की कि वर्ण जाति और धर्म के आधार पर किसी भी भारतीय को कोई भी पद धारण करने से वंचित नहीं किया जायगा पग पग पर अवहेलना की गई। विदेशी शासकों ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के फौलादी ढांचे—आई० सी० एस०—में भारतीयों का प्रवेश कठिन कर देने के उद्देश्य से परीक्षा में बैठने की अवस्था २१ वर्ष से घटा कर २० वर्ष और २० वर्ष से घटा कर १६ वर्ष कर दी। चूंकि ये परीक्षाएं इंगलैण्ड में होती थीं, अतः उत्साही भारतीय नवयुवकों के लिए वहां जाकर अंग्रेज लड़कों के मुकाबले अंग्रेजी भाषा और साहित्य की परीक्षाओं में सफलता पाना असम्भव प्राय हो गया। भारतीयों को सरकारी पदों से अलग रखने की इस कुचेष्टा ने देशवासियों के अन्तस्तल में प्रबल रोष की भावना अंकुरित की। फलतः एक भारत व्यापी आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। अन्त में सरकार को झुकना पड़ा और आई० सी० एस० की परीक्षाओं में बैठने की अवस्था १६ वर्ष से बढ़ा कर पुनः २१ वर्ष कर दी गई। किन्तु ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा उठाया गया यह कदम उनकी इस इच्छा का कि वे शासन के सम्बन्ध में भारतीयों के ऊपर तनिक भी विश्वास करना नहीं चाहते अच्छी तरह से द्योतक था।

सेना का पुनर्गठन—विद्रोह के पश्चात भारतीय सेना का पुनर्गठन किया गया उसमें भी सन्देह एवं अविश्वास की उग्र नीति का आभास मिलता है जिसका अभी ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इस पुनर्गठन के आधार विद्रोह से सीख गए सबक थे। ब्रिटिश अधिकारियों ने भारतीयों के विरुद्ध अपनी शक्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के विचार से यह निश्चित किया कि भविष्य में भारत में एक अजेय ब्रिटिश सैन्यदल रखा जाए। परिणामतः उन्होंने ब्रिटिश सैन्य की मात्रा में यथेष्ट वृद्धि कर दी।

उन्होंने यह भी तय किया कि यूरोपीय और भारतीय सेना के बीच एक और दो का अनुपात किसी भी दशा में कम न होने पाए। तोपखाने की नौकरियाँ देशी सिपाहियों के लिए बन्द हो गईं और अब उन पर यूरोपीय सिपाहियों का ही एकच्छत्र अधिकार रहने लगा। देशी सिपाहियों को गोरे सिपाहियों के मुकाबले घटिया हथियार मिलने लगे। सेना के बड़े-बड़े और उत्तरदायित्वपूर्ण पद उनके लिए अलभ्य हो गए।

भारतीयों और यूरोपीयों के बीच वैमनस्य उत्पन्न करने की अपेक्षा भारतीयों के बीच ही वैमनस्य उत्पन्न करने की नीति अधिक घातक थी। इस विभाजन नीति के फलस्वरूप अब जातियों का एक नई पद्धति से वर्गीकरण किया गया। कुछ के लिए कहा गया कि इनकी सैनिक परम्परा रही है ये 'सैनिक' जातियाँ हैं। कुछ के लिए घोषणा की गई कि इनकी सैनिक परम्परा नहीं रही है ये असैनिक जातियाँ हैं। तजवीज यह ठहरी कि भारतीय पल्टनों में विभिन्न भारतीय प्रजा के मुकाबले नेपाल के गोरखों, सरहद के पठानों, जम्मू के डोगरों, राजस्थान के राजपूतों, पटियाला के सिक्खों और मराठा रियासतों के मराठों को तरजीह दी जाए। सेना में भी साम्प्रदायिकता का विष फैल जाए, इस आशय से जातियों और बिरादरियों के नामों के अनुसार ही फौजी टुकड़ियों के नाम रखे जाने लगे। उदाहरणार्थ राजपूत राइफल्स, सिक्ख रेजीमेण्ट, जाट बटालियन आदि। इस प्रकार जातिभेद पर बल देकर एक जाति के लोगों को दूसरी जाति के लोगों से लड़ाने का खेल प्रारम्भ हुआ। यह फूट डालो और राज्य करो (Divide & rule) के पुराने सिद्धान्त का नया रूपान्तर था।

देशवासियों के विरुद्ध देशवासियों को लड़ा देने की इस नीति में उस साम्प्रदायिकता के बीज छिपे हुए हैं जिसने कालान्तर में भारत के राजनीतिक जीवन को इतना प्रभावित, विषाक्त और कलुषित किया। विद्रोह के पश्चात मुसलमान अंग्रेजों के विशेष रूप से कोपभाजन हो गए थे क्योंकि उन्होंने अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह के झण्डे के नीचे खड़े होकर और विदेशी शासकों के विरुद्ध शस्त्र उठाने का अक्षम्य अपराध किया था। एक जाति के तौर पर मुसलमान सरकारी अनुग्रह से हाथ धो बैठे। शासन ने मुसलमानों के प्रति तिरस्कार एवं हिन्दुओं के प्रति पक्षपात का भाव प्रदर्शित किया। यह भारत की दो विशिष्ट जातियों के बीच मतभेद की सृष्टि करने और उन्हें जान-बूझकर एक दूसरे से अलग करने की नीति का स्पष्ट प्रमाण था। अंग्रेज लोग एक-दूसरे को आपस में लड़ाकर अपनी स्थिति सुरक्षित कर लेने की कला में अत्यन्त निपुण थे। बाद में सर सय्यद अहमद खाँ जैसे वहाबी मुस्लिम नेता ही अपनी जाति के प्रति अंग्रेजों के अविश्वास भाव को दूर करने में सफल हुए। आगे चलकर परिस्थिति ने पलटा खाया। जैसे-जैसे राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती गई अंग्रेजों ने हिन्दुओं के प्रति विरक्ति एवं मुसलमानों के प्रति अनुरक्ति का भाव प्रदर्शित करना प्रारम्भ किया। ऐसा करने में अंग्रेजों का स्वार्थ यही था कि मुसलमानों को प्रोत्साहित करके, उन्हें अनेक रियायतें देकर राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई तरंगों को रोकने के लिए दृढ़ चट्टान की तरह प्रयुक्त किया जाए।

४ विद्रोह के पश्चात वैधानिक परिवर्तन

विद्रोह के पूर्व का भारतीय शासन—१८५७ के विद्रोह के सम्बन्ध में यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह किन्हीं वैधानिक कारणों का फल था तथापि उसने भारत की शासन प्रणाली में कई मौलिक परिवर्तन उपस्थित किए। विद्रोह के पूर्व भारतीय शासन का निरीक्षण निर्देशन और नियन्त्रण बोर्ड आफ कण्ट्रोल के हाथों में था। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स की स्थिति १८५३ के अधिनियम के फलस्वरूप परामर्शदात्री समिति के तुल्य ही रह गई थी। भारत में कार्यपालिका शक्ति स परिषद गवर्नर जनरल में निहित थी। प्रान्तीय शासन स परिषद गवर्नरों के कन्धों पर था। सम्पूर्ण भारत के लिए विधि निर्माण का कार्य स परिषद गवर्नर जनरल अपने छः विधायी सदस्यों की सहायता से करता था। विधायी सदस्यों में से दो तो कलकत्ते के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश तथा शेष चार सदस्य मद्रास से बम्बई बंगाल और आगरे की स्थानीय सरकारों द्वारा नियुक्त सरकारी कर्मचारी होते थे।

कम्पनी के शासन का अन्त—१८५७ के विद्रोह ने कम्पनी के शासन का अन्त कर दिया। वैसे तो कम्पनी के शासन का विनाश केवल पूर्व से ही समझा जाता था और ब्रिटिश सरकार धीरे धीरे उसके हाथ से समस्त शक्तियां लेती जा रही थी। विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को यह स्वर्ण अवसर प्रदान किया कि वह कम्पनी के शासन का अन्त कर दे और भारत का शासन प्रबन्ध पूर्णरूप से अपने हाथ में ले ले। जान ब्राइट के शब्दों में १८५७ की घटनाओं के फलस्वरूप ब्रिटिश राष्ट्र की आत्मा अप्रत्याशित रूप से जाग उठी और उसने कम्पनी के तोड़ देने का निर्णय किया।[1] फलतः १८५८ के भारत सरकार अधिनियम ने कम्पनी के शासन का अन्त कर भारत का शासन ब्रिटिश सरकार के हाथों में सौंप दिया।

१८५८ का भारत सरकार अधिनियम प्रमुख उपबन्ध—१८५८ का भारत सरकार अधिनियम भारत के वैधानिक इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस अधिनियम के साथ ही साथ भारतीय इतिहास का एक युग समाप्त और दूसरा प्रारम्भ होता है। १८५८ के अधिनियम ने भारत के शासन को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से लेकर ब्रिटिश क्राउन के हाथों में सौंप दिया और निश्चित किया कि भविष्य में भारत का शासन हर मजेस्टी के नाम से चलेगा। अधिनियम ने कम्पनी की जल और थल सेना को क्राउन के नियन्त्रण में ले लिया और निर्धारित किया कि उनका कार्यक्षेत्र उन्हीं प्रदेशों में उन्हीं शर्तों पर और यथापूर्व वेतन पेंशन भत्ता तथा विशेषाधिकार के अनुसार होगा जैसा कि कम्पनी की सेवा में होता था।[2] अधिनियम ने बोर्ड आफ कण्ट्रोल तथा कोर्ट आफ डायरेक्टर्स (court of Directors)

---

१ कीथ द्वारा उद्धृत — स्पीचेज ऐन्ड डाक्युमेन्ट्स आन इण्डियन पालिसी खण्ड १ पृ ३२।

२ कीथ— स्पीचेज आन इण्डियन पालिसी पृ ३८०।

का अन्त कर दिया और उनके स्थान पर भारत मन्त्री (Secretary of state) के एक नए पद का सृजन किया तथा उक्त दोनों निकायों की समस्त शक्तियाँ भारत मन्त्री को हस्तान्तरित कीं। भारत मन्त्री ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य था और मन्त्रिमण्डल के दूसरे सदस्यों की भांति ही संसद के प्रति उत्तरदायी था। वह संसद की बैठकों में भाग लेता था और संसद के सदस्य भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में उससे सब प्रकार के प्रश्न पूछ सकते थे। संसद के सदस्यों को भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में अपनी इच्छानुसार विधेयक उपस्थित करने और उनके किसी पहलू को लेकर सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव तक लाने की अनुमति थी। भारतीय शासन के निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण का दायित्व भारत मन्त्री के कन्धों पर था। भारत मन्त्री का वेतन भारतीय राजस्व से दिया जाना तय हुआ।

१८५८ के अधिनियम ने भारत मन्त्री की सहायता के लिए १५ सदस्यों की एक भारत परिषद (Indian Council) बनाई। १५ सदस्यों में से ७ को तो कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स निर्वाचित करते थे और शेष ८ को ब्रिटिश सम्राट नियुक्त करता था। परिषद के आधे से अधिक सदस्यों के लिए यह आवश्यक था कि वे कम-से-कम दस वर्ष तक भारत में रह चुके हों और उन्हें अपना नए पद को सम्भालते समय अर्थात् परिषद के सदस्य बनते समय भारत छोड़े दस वर्ष से अधिक समय न बीता हो। परिषद के सदस्य सदाचार पर्यन्त अपने पद पर स्थिर रहते थे यद्यपि संसद के दोनों सदनों की प्रार्थना पर उन्हें अपदस्थ किया जा सकता था। परिषद के प्रत्येक सदस्य का वेतन १२०० पौंड प्रति वर्ष था। यह वेतन भारतीय राजस्व से दिया जाता था। परिषद का अध्यक्ष भारत मन्त्री था और उसे मताधिकार प्राप्त था। बराबर मत होने की स्थिति में वह अपना एक निर्णायक मत का प्रयोग कर सकता था। यदि परिषद् का बहुमत भारत मन्त्री के किसी प्रस्ताव से सहमत न होता तो भारत मन्त्री परिषद् की सम्मति का उल्लंघन कर सकता था लेकिन ऐसा करते समय उसे कारणों का निर्देश करना पड़ता था। भारतीय राजस्व के अनुमान और विनियोग के सम्बन्ध में भारत मन्त्री के लिए परिषद के बहुमत का निर्णय स्वीकार करना आवश्यक था। भारत के विभिन्न अधिकारियों के नाम 'डिस्पैच' अथवा पद नियुक्ति के अनुग्रहाधिकार के विभाजन और वितरण सम्बन्धी विनियम बनाने में भी भारत मन्त्री परिषद के बहुमत का निर्णय मानने के लिए बाध्य था। इसके अतिरिक्त ऋण विक्रय मोल करने और भारत सरकार के सम्पूर्ण सम्पत्तिक शासन में भी परिषद के बहुमत की ही चलती था। भारत मन्त्री को गवर्नर जनरल से गुप्त पत्र व्यवहार करने की अनुमति थी। भारत मन्त्री के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह अपने गुप्त पत्र-व्यवहार को परिषद के सामने रखे।

१८५८ के अधिनियम की एक विशेषता यह थी कि उसने पद-नियुक्ति के अनुग्रहाधिकार को क्राउन सपरिषद् भारत मन्त्री और भारतीय अधिकारियों के बीच

४ विद्रोह के पश्चात वैधानिक परिवर्तन

विद्रोह के पूर्व का भारतीय शासन—१८५७ के विद्रोह के सम्बन्ध में यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह किन्हीं वैधानिक कारणों का फल था तथापि उसने भारत की शासन प्रणाली में कई मौलिक परिवर्तन उपस्थित किए। विद्रोह के पूर्व भारतीय शासन का निरीक्षण निर्देशन और नियन्त्रण बोर्ड आफ कण्ट्रोल के हाथ में था। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स की स्थिति १८५३ के अधिनियम के फलस्वरूप परामर्शदात्री समिति के तुल्य ही रह गई थी। भारत में कार्यपालिका शक्ति सपरिषद गवर्नर जनरल में निहित थी। प्रान्तीय शासन सपरिषद गवर्नरों के कंधों पर था। सम्पूर्ण भारत के लिए विधि निर्माण का कार्य सपरिषद गवर्नर जनरल अपने छः विधायी सदस्यों की सहायता से करता था। विधायी सदस्यों में से दो तो कलकत्ता के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश तथा शेष चार सदस्य मद्रास, बम्बई, बंगाल और आगरा की स्थानीय सरकारों द्वारा नियुक्त सरकारी कर्मचारी होते थे।

कम्पनी के शासन का अन्त—१८५७ के विद्रोह ने कम्पनी के शासन का अन्त कर दिया। वैसे तो कम्पनी के शासन को विद्रोह के पूर्व भी वाञ्छनीय नहीं समझा जाता था और ब्रिटिश सरकार धीरे धीरे उसके हाथ से समस्त शक्तियां लेती जा रही थी। विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को यह स्वर्ण अवसर प्रदान किया कि वह कम्पनी के शासन का अन्त कर दे और भारत का शासन प्रबन्ध पूर्णरूप से अपने हाथ में ले ले। जान ब्राइट के शब्दों में १८५७ की घटनाओं के फलस्वरूप ब्रिटिश राष्ट्र की आत्मा अदमनीय रूप से जाग उठी और उसने कम्पनी के लोप करने का निर्णय किया।[1] फलतः १८५८ के भारत सरकार अधिनियम ने कम्पनी के शासन की अन्त्येष्टि कर भारत का शासन ब्रिटिश सरकार के हाथों में सौंप दिया।

१८५८ का भारत सरकार अधिनियम प्रमुख उपबन्ध—१८५८ का भारत सरकार अधिनियम भारत के वैधानिक इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस अधिनियम के साथ ही साथ भारतीय इतिहास का एक युग समाप्त और दूसरा प्रारम्भ होता है। १८५८ के अधिनियम ने भारत के शासन को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से लेकर ब्रिटिश क्राउन के हाथों में सौंप दिया और निश्चित किया कि भविष्य में भारत का शासन हर मजेस्टी के नाम से चलेगा। अधिनियम ने कम्पनी की जल और थल सेना को क्राउन के नियन्त्रण में ले लिया और निर्धारित किया कि उनका कार्यकाल उन्हीं प्रदेशों में उन्हीं शर्तों पर और यथापूर्व वेतन पेंशन भत्ता तथा विशेषाधिकार के अनुसार होगा जैसा कि कम्पनी की सेवा में होता था।[2] अधिनियम ने बोर्ड आफ कण्ट्रोल तथा कोर्ट आफ डायरेक्टर्स (court of Directors)

---

[1] कीथ द्वारा उद्धृत — स्पीचेज आन इण्डियन पालिसी खण्ड १ पृ ३२।

[2] कीथ— स्पीचेज आन इण्डियन पालिसी पृ० ३८।

का अन्त कर दिया और उनके स्थान पर भारत मन्त्री (Secretary of state) के एक नए पद का सृजन किया तथा उक्त दोनों निकायों की समस्त शक्तियाँ भारत मन्त्री को हस्तान्तरित कीं। भारत मन्त्री ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य था और मन्त्रिमण्डल के दूसरे सदस्यों की भांति ही संसद के प्रति उत्तरदायी था। वह संसद की बैठकों में भाग लेता था और संसद के सदस्य भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में उससे सब प्रकार के प्रश्न पूछ सकते थे। संसद के सदस्यों को भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में अपनी इच्छानुसार विधेयक उपस्थित करने और उसके किसी पहलू को लेकर सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाने की अनुमति थी। भारतीय शासन के निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण का दायित्व भारत मन्त्री के कन्धों पर था। भारत-मन्त्री का वेतन भारतीय राजस्व से लिया जाना तय हुआ।

१८५८ के अधिनियम ने भारत मन्त्री की सहायता के लिये १५ सदस्यों की एक भारत परिषद (Indian Council) बनाई। १५ सदस्यों में से ७ को तो कोर्ट आफ डायरेक्टर्स निर्वाचित करते थे और शेष ८ को ब्रिटिश क्राउन नियुक्त करता था। परिषद के आधे से अधिक सदस्यों के लिए यह आवश्यक था कि वे कम से कम दस वर्ष तक भारत में रह चुके हों और उन्हें अपने नए पद को सम्भालते समय भारत छोड़े दस वर्ष से अधिक समय न बीता हो। परिषद के सदस्य सदाचार पर्यन्त अपने पद पर स्थिर रहते थे यद्यपि संसद के दोनों सदनों की प्रार्थना पर उन्हें अपदस्थ किया जा सकता था। परिषद के प्रत्येक सदस्य का वेतन १२०० पौंड प्रतिवर्ष था। यह वेतन भारतीय राजस्व से लिया जाता था। परिषद का अध्यक्ष भारत मन्त्री था और उसे मताधिकार प्राप्त था। बराबर मत होने की स्थिति में वह अपना एक निर्णायक मत का प्रयोग कर सकता था। यदि परिषद् का बहुमत भारत मन्त्री के किसी प्रस्ताव से सहमत न होता तो भारत मन्त्री परिषद् की सम्मति का उल्लंघन कर सकता था लेकिन ऐसा करते समय उसे कारणों का निर्देश करना पड़ता था। भारतीय राजस्व के अनुदान और विनियोग के सम्बन्ध में भारत मन्त्री के लिए परिषद के बहुमत का निर्णय स्वीकार करना आवश्यक था। भारत के विभिन्न अधिकारियों के नाम निर्देशन अथवा पद नियुक्ति के [illegible] के विभाजन और वितरण सम्बन्धी विनियम बनाने में भी भारत मन्त्री परिषद के बहुमत का निर्णय मानने के लिए बाध्य था। इसके अतिरिक्त [illegible] करने और भारत सरकार की सम्पूर्ण सम्पत्ति के मामले में भी परिषद् के बहुमत का ही चलता था। भारत मन्त्री को गवर्नर जनरल से गुप्त पत्र-व्यवहार करने का अधिकार था। भारत मन्त्री के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह अपने गुप्त पत्र-व्यवहार को परिषद् के सामने रखे।

१८५८ के अधिनियम की एक विशेषता यह थी कि उसने [illegible] अनुग्रहाधिकार को क्राउन सपरिषद् भारत मन्त्री और [illegible] के बीच

बाँट दिया। अधिनियम ने निश्चित किया कि वे समस्त नियुक्तियाँ और पदोन्नति जो इस समय भारत स्थित अधिकारियों के हाथों में हैं भविष्य में भी उन्हीं के हाथों में बनी रहेगी। सिविल सर्विस की नियुक्तियाँ प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा होंगी। इन परीक्षाओं के नियम लोक सेवा आयोगों की सहायता से सपरिषद भारत मन्त्री बनायेगा। अधिनियम का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपबन्ध यह था कि उसने भारत मन्त्री के लिए प्रति वर्ष संसद के दोनों सदनों के समक्ष भारत का नैतिक और भौतिक प्रगति का लेखा उपस्थित करना अनिवार्य कर दिया। अधिनियम ने यह भी निश्चित किया कि भारत का राजस्व ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति के बिना भारतीय सीमाओं के बाहर किन्हीं सैनिक कार्यों के लिए प्रयुक्त नहीं होगा। अन्तत १८५८ के अधिनियम ने सपरिषद भारत मन्त्री को एक संयुक्त निकाय घोषित किया जो न्यायालय और भारत में अभियोग का वादी अथवा प्रतिवादी हो सकता था।

१८५८ के अधिनियम की समीक्षा—चाहे यह बात देखने में विरोधाभास ही क्यों न लगती हो फिर भी बहुत कुछ सत्य है कि जब ब्रिटिश संसद ने भारत के ऊपर नियन्त्रण प्राप्त किया उसने भारत के ऊपर नियन्त्रण रखना बन्द सा कर दिया। इसका कारण यह है कि पहले भारत का नियन्त्रण बोर्ड आफ कन्ट्रोल तथा कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के हाथों में था। यह बात संसद के लिए एक चुनौती तुल्य थी और उसे अपनी सत्ता का प्रदर्शन करने के लिए प्रेरित करती थी। विद्रोह के पश्चात् बोर्ड आफ कन्ट्रोल तथा कोर्ट आफ डायरेक्टर्स का अन्त हो गया और भारतीय प्रशासन की सम्पूर्ण शक्ति भारत मन्त्री के हाथों में आ गई। भारत मन्त्री संसद के प्रति उत्तरदायी था। इसलिए अब संसद जो कुछ पाना चाहती थी वह उसे मिल गया। ऐसी स्थिति में उसने भारतीय शासन के ऊपर निरन्तर नियन्त्रण रखने और उसकी आलोचना करने में ढील डाल दी। भारतीय प्रशासन के प्रति संसद की उपेक्षा नीति का दूसरा कारण यह था कि जिन व्यक्तियों को भारत मन्त्री के पद पर नियुक्त किया जाता था वे पर्याप्त योग्य होते थे। चूँकि वे भारत के सुचारु शासन-संचालन के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी थे अतः वे अपने कर्तव्यों तथा दायित्वों का निर्वहन अधिक से अधिक प्रवीण ढंग से करने का प्रयास करते थे। इसके अतिरिक्त १८५७ से १९१४ तक ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपनी देश की समस्याओं में ही अत्यधिक व्यस्त रहे। उनके पास इतना अवकाश नहीं था कि वे भारत जैसे विस्तृत प्रायद्वीप की जटिल समस्याओं का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन कर सकते। पुनश्च भारतीय सिविल सर्विस में इंगलैण्ड के चुने हुए सुशिक्षित और सुयोग्य व्यक्ति भाग लेते थे। स्वभावत ब्रिटिश जनता का इन व्यक्तियों के ऊपर विश्वास था और वह उनके कार्यों में टांग अड़ाना व्यर्थ समझने लगा।

यद्यपि भारत का शासन कम्पनी के हाथों से क्राउन के हाथों में जाना एक बहुत बड़ा परिवर्तन था परन्तु सर एच० एम० इल्बर्ट के शब्दों में यह परिवर्तन

सारगत ज्ञान की अपेक्षा औपचारिक ही अधिक था। इसी की पुष्टि करते हुए रमजे म्योर ने लिखा है कि भारतीय साम्राज्य के 'क्राउन' के हाथों में स्थानान्तरण ने जितना प्रतीत होता है उसकी अपेक्षा काफी कम परिवर्तन किया। १८५७ के पूर्व भी भारतीय शासन से सम्बद्ध सम्पूर्ण वास्तविक शक्ति बोर्ड आफ कण्ट्रोल के अध्यक्ष के जो ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का एक सदस्य था हाथों में आ गई थी। कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के हाथों में कोई विशेष शक्ति नहीं रही थी। उसका काम तो बोर्ड आफ कण्ट्रोल को परामर्श देना भर रह गया था। हाँ यह बात अवश्य है कि उसके हाथों में पहल करने की यथेष्ट शक्ति थी। १८५३ के अधिनियम ने उसकी स्थिति और भी दुर्बल कर दी थी। उसको नियुक्तियों के अनुग्रहाधिकार से वंचित कर दिया गया था। उसकी सदस्य संख्या २४ से घटाकर १८ ही रहने दी गई थी। इन १८ डायरेक्टरों में से भी ६ को 'क्राउन' नियुक्त करता था। १८५३ के पूर्व संसद ने जितने भी चार्टर अधिनियम पास किए थे उनका कार्यकाल २० वर्ष ही रहता था। १८५३ के अधिनियम के कम्पनी के चार्टर को २० वर्ष के लिए संशोधित नहीं किया था। उसने केवल यही कहा कि कम्पनी 'क्राउन' की ओर से उस समय तक जब तक संसद कोई अन्य व्यवस्था न करे भारतीय प्रदेशों पर धरोहर के रूप में शासन कर सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि १८५३ के अधिनियम ने भारतीय शासन को कम्पनी के हाथों से लेकर 'क्राउन' के हाथों में सौंप देने का पथ प्रशस्त कर दिया था। १८५८ के अधिनियम ने तो पूर्वकाल से ही प्रारम्भ की गई प्रक्रिया को पूर्ण भर किया। १८५८ के पश्चात् भारत मन्त्री ने बोर्ड आफ कण्ट्रोल के अध्यक्ष तथा भारत परिषद् ने कोर्ट आफ डायरेक्टर्स का स्थान ग्रहण किया।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा— क्राउन द्वारा भारतीय सत्ता के ग्रहण के समाचार से भारतीय जनता को महारानी विक्टोरिया की घोषणा ने परिचित कराया। इस सम्बन्ध में लार्ड कैनिंग ने जो 'क्राउन' की ओर से भारत के प्रथम वायसराय और गवर्नर जनरल नियुक्त हुए थे पहली नवम्बर १८५८ को इलाहाबाद में एक शानदार दरबार किया और उसमें महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र को स्वयं पढ़कर सुनाया। यह घोषणा पत्र सहृदयता, उदारता और धार्मिक सहिष्णुता की भावनाओं से परिपूर्ण था। इसमें देशी नरेशों को यह विश्वास दिलाया गया था कि 'क्राउन' उनके स्वत्वों एवं अधिकारों की रक्षा करेगा। घोषणा-पत्र ने भारत स्थित अधिकारियों को यह आदेश दिया था कि वे जनता के धार्मिक मामलों में रंचमात्र भी हस्तक्षेप न करें और उसे पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने दें। घोषणा-पत्र ने यह भी निर्धारित किया था कि भारत के लिए विधि निर्माण करते समय देश के रीतिरिवाजों परम्पराओं और लोकाचारों का निरन्तर ध्यान रखा जाएगा। उसमें यह भी विश्वास दिलाया गया था कि 'हर मजिस्टी' की भारतीय प्रजा को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों की प्रजाओं के समकक्ष ही मान्यता प्राप्त होगी। घोषणा-पत्र

ने समस्त भारतीयों को बिना किसी भेद भाव और पक्षपात के योग्यतानुसार शासन के उच्च से उच्च पद देने और समान अधिकार व अवसर प्रदान करने का वचन दिया। घोषणा पत्र में यह भी कहा गया था कि विद्रोहियों के साथ दया का व्यवहार किया जायेगा और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय की समस्त सन्धियाँ जारी रहेंगी। घोषणा पत्र के अन्त में भारतीयों को यह विश्वास दिलाया गया था कि ब्रिटिश सरकार उनकी भौतिक तथा नैतिक उन्नति करने में कुछ उठा न रखेगी।

घोषणा पत्र का महत्व—महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र का भारत के राष्ट्रीय और वैधानिक विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह घोषणा पत्र प्रायः ६ वर्षों—१९१७ तक ब्रिटिश सरकार की भारत विषयक नीति का मूल आधार बना रहा। उसने उन समस्त सिद्धान्तों को निश्चित किया जिनके अनुसार भारत का शासन प्रबन्ध होना को था। यद्यपि उसके कतिपय महत्वपूर्ण उपबन्धों पर आचरण नहीं हुआ फिर भी वह पर्याप्त दीर्घकाल तक भारत में ब्रिटिश नीति का आदर्श माना जाता रहा।

१८६१ का भारत परिषद अधिनियम—पृष्ठभूमि—१८५८ के भारत सरकार अधिनियम ने गृह सरकार की रूपरेखा में ही परिवर्तन किया था। उसने भारतीय शासन तन्त्र को यथावत रहने दिया था। युग की परिस्थिति को देखते हुए यह अत्यन्त आवश्यक था कि भारतीय शासन तन्त्र में भी परिवर्तन किए जाएं। १८५७ के विद्रोह का मुख्य कारण शासकों और शासितों के बीच सम्पर्क का अभाव था। चूंकि गवर्नर जनरल की परिषद में भारतीय सदस्यों को कोई स्थान नहीं दिया गया था अतः सरकार के पास ऐसा कोई उपाय नहीं था जिससे वह भारतीय जनमत के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सके। सर बर्टिल फ्रेयर जैसे दूरदर्शी विचारकों ने इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि शासकों और शासितों के बीच बढ़ती हुई भेद की खाई को अविलम्ब पाटा जाए। उन्होंने इसी वस्तु को विद्रोह का मूल हेतु ठहराया था। उनका कहना था कि हमारे पास विद्रोह अथवा क्रान्ति के अतिरिक्त यह ज्ञात करने के कि हमारे कानून एवं हमारा शासन जनता के मनोनुकूल है अथवा नहीं अत्यल्प साधन हैं और यहां गवर्नर जनरल की परिषद तथा प्रान्तीय परिषदों में भारतीयों को साथ मिलाना अंग्रेजों के लिए आवश्यक हो गया था क्योंकि करोड़ों लोगों के लिए कानून बनाते समय अंग्रेजों को भारतीय विद्रोह के बिना यह पता लगाने का कोई साधन नहीं था कि उनके बनाए हुए कानून भारतीयों को पसन्द हैं या नहीं। सर सैयद अहमदखां ने भी सरकार को यही परामर्श दिया था। १८६१ के अधिनियम ने इस त्रुटि को सबसे पहली बार दूर किया। १८५३ के अधिनियम ने जिस व्यवस्थापिका सभा की स्थापना की थी उसके अन्दर कई दोष थे। पहला दोष तो यह था कि विधि निर्माण के कार्य से गैर-सरकारी व्यक्ति चाहे वे यूरोपीय हों अथवा भारतीय—बिलकुल पृथक रखे गए थे। दूसरा दोष यह था कि व्यवस्थापिका सभा के पास बम्बई

और मद्रास प्रभृति दूसरे प्रान्तों के लिए आवश्यक कानून बनाने के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी नहीं था। इन प्रान्तों के प्रतिनिधियों को यह शिकायत रहती थी कि बंगाल के प्रतिनिधियों की अधिक संख्या होने के कारण हमारी एक नहीं चल पाती। तीसरा दोष यह था कि व्यवस्थापिका सभा ने कई ऐसे काम अपने हाथ में ले रखे थे जिन्हें तत्कालीन शासन व्यवस्था की दृष्टि से ठीक नहीं कहा जा सकता था। वह कार्यपालिका के कामों पर तरह तरह की आपत्ति करने लगा था और उसका यह आग्रह था कि गुप्त राजपत्रों को भी उसके सामने रखा जाए। व्यवस्थापिका सभा की यह प्रवृत्ति कार्यपालिका के लिए बड़ी असुविधाजनक थी। फलतः गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने १८६० में भारत मंत्री लार्ड चार्ल्स वुड को इन सारी कठिनाइयों और आवश्यकताओं के सम्बन्ध में एक जोरदार पत्र लिखा। ६ जून १८६१ को सर चार्ल्स वुड ने भारत परिषद् अधिनियम कामन सभा (House of Commons) के सामने प्रस्तुत किया।

प्रमुख उपबन्ध—१८६१ के भारत परिषद् अधिनियम ने पहला काम तो यह किया कि गवर्नर जनरल की कार्यपालिका परिषद् में एक और पाँचवाँ सदस्य बनाया। यह सदस्य कानूनी पक्ष से सम्बन्ध रखता था। अधिनियम ने दूसरी बात यह की कि गवर्नर जनरल को परिषद् का काय सुचारु रूप से चलाने के लिए नियम और आदेश बनाने का अधिकार दिया। गवर्नर जनरल अपनी अनुपस्थिति में परिषद् की बैठकों का सभापतित्व करने के लिए परिषद् में से ही किसी एक सदस्य को मनोनीत कर सकता था। अधिनियम ने गवर्नर जनरल को यह शक्ति दी थी कि वह भारत में विभाग व्यवस्था चला सकता है अर्थात् अपनी कार्यपालिका परिषद् के प्रत्येक सदस्य को शासन का कोई एक महत्वपूर्ण विभाग सौंप सकता है। विभाग व्यवस्था का मूल सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक विभागाध्यक्ष अपने विभाग के छोटे छोटे प्रश्नों का स्वयं ही निर्णय करे और बड़े बड़े प्रश्नों का अन्य विभागाध्यक्षों से विचार विनिमय करके तथा गवर्नर जनरल से परामर्श लेकर निर्णय करे। १८६१ के अधिनियम ने तीसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह किया कि उसने विधि और विनियम बनाने के लिए गवर्नर जनरल की परिषद् का विस्तार किया। अधिनियम ने निश्चित किया कि परिषद् में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या कम से कम ६ और अधिक से अधिक १२ रहनी चाहिए। यह आवश्यक था कि इन अतिरिक्त सदस्यों में कम से कम आधे सदस्य गैर सरकारी हों। अतिरिक्त सदस्यों का कार्यकाल दो वर्ष था। परिषद् के काय और अधिकार विधि और विनियम बनाने तक ही सीमित थे। उसे कार्यपालिका के कार्यों में हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं थी। परिषद् के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। सार्वजनिक ऋण और राजस्व धर्म और सेना आदि विषयों से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्ताव गवर्नर जनरल की पूर्व-स्वीकृति के बिना उपस्थित नहीं किए जा सकते थे। गवर्नर जनरल परिषद् द्वारा पास किए गए किसी भी कानून पर न केवल निषेधाधिकार का ही प्रयोग कर सकता था, प्रत्युत उसे आपात-काल में अध्यादेश निकालने की भी शक्ति थी।

गवर्नर जनरल व अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होता था जो कि परिषद द्वारा पास किए गए किसी कानून का।

अधिनियम ने प्रान्तीय विधि निर्माण के लिए प्रत्येक प्रसीडेन्सी के गवर्नर को यह अधिकार दिया था कि वह अपनी परिषद में एडवोकेट जनरल या प्रसीडेन्सी के महाधिवक्ता को तथा कम से कम चार और अधिक से अधिक आठ अतिरिक्त सदस्यों को नियुक्त कर सकता है। परिषद का कार्य विशुद्ध रूप से विधायी था। प्रान्तीय परिषद द्वारा पास किए गए प्रत्येक कानून पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी। अन्तत: १८६१ के अधिनियम ने गवर्नर जनरल को विधान कार्य के लिए नए प्रान्त बनाने और उनके लिए उप-गवर्नर नियुक्त करने का भी अधिकार दिया। (Right to making new province and right to appoint Lieutenant Governors) अधिनियम ने गवर्नर जनरल को यह भी शक्ति दी कि यदि वह चाहे तो किसी प्रसीडेन्सी प्रान्त या प्रदेश को विभाजित कर सकता है अथवा उसकी सीमाएं घटा-बढ़ा सकता है।

१८६१ के अधिनियम की समीक्षा—जी० जी० एन० सिंह के शब्दों में भारत के वैधानिक इतिहास में १८६१ के भारतीय परिषद अधिनियम का महत्त्व दो मुख्य कारणों से है। पहला कारण तो यह है कि उसने गवर्नर जनरल को विधान के कार्य में भारतीयों को साथ लेने का अधिकार दिया। दूसरा कारण यह है कि उसने बम्बई और मद्रास की सरकार को फिर से विधान कार्य का अधिकार दिया और अन्य प्रान्तों में भी वैसी ही विधान परिषदें बनाने की व्यवस्था की। इस प्रकार विधान की उस नीति का आरम्भ हुआ जिसमें कालान्तर में प्रान्तों को सन् १९३७ में लगभग पूर्ण आन्तरिक स्वायत्तता प्रदान की गई।[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि १८६१ का भारतीय परिषद अधिनियम भारत के वैधानिक इतिहास में एक महान सीमा चिह्न से कम महत्त्व नहीं रखता क्योंकि बाद में भारत में जो भी वैधानिक परिवर्तन हुए उन सबका मूल आधार यही अधिनियम था। यद्यपि अधिनियम ने यह तो स्पष्टत: नहीं कहा कि केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदों में भारतीयों को सम्मिलित किया जाय। उसमें तो गैर सरकारी शब्द का ही प्रयोग था। किन्तु व्यवहार में इसका अभिप्राय यही समझा गया कि विधि निर्माण के कार्य में भारतीयों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए।

१८६१ के अधिनियम की उक्त विशेषताओं का विवेचन करते समय हमें उसकी कुछ त्रुटियों का भी ध्यान न भूलना चाहिए। इस अधिनियम की एक बड़ी त्रुटि यह थी कि इसके अधीन निर्मित विधान परिषदें कार्यपालिका के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं रखती थी। उनके ऊपर प्रतिबन्ध इतने लगा दिए थे कि उनका सारा महत्त्व दिखावटी ही मालूम पड़ता था। वे सरकारी कार्यपालिका के सदस्यों से प्रश्न केवल ६ दिन का नोटिस देकर ही पूछ सकते थे। गवर्नर जनरल किसी प्रश्न को पूछने की स्वीकृति प्रदान करता

[1] जी० एन० सिंह—'भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास' पृ० ८७।

था। उन्हें पूरक प्रश्न (supplementary) पूछने का अधिकार नहीं था। गवर्नर जनरल को विधान परिषदों के कानूनों पर रोक (veto) लगाने का अधिकार था। इससे सारी अन्तिम शक्तियाँ गवर्नर जनरल के हाथ में आ गई और वह न केवल शासन सम्बन्धी मामलों में अपितु कानूनी मामलों में भी अपनी मनमानी कर सकता था। इसके अतिरिक्त जहाँ तक परिषदों में गैर सरकारी व्यक्तियों की नियुक्ति का प्रश्न था सरकार जनता के नेताओं को नहीं, प्रत्युत देशी नरेशों या पुराने कुलीन परिवारों के सदस्यों को ही नियुक्त करती थी। ये लोग भारतीय जनमत का प्रतिनिधित्व करने में सर्वथा असमर्थ थे। प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा के अनुसार 'सरकार का यह विचार नहीं था कि वे कानून निर्माण में कोई कारगर भाग लें। वे तो कानून निर्माण की प्रक्रिया साक्षी मात्र ही थे।'[1] संक्षेप में १८६१ के भारतीय परिषद् अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य यही था कि भारत में नौकरशाही जैसे-तैसे करके अपना कार्य चलाती रहे।

५ भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म-काल १८७६ १८८४

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के उद्भव एवं विकास के अध्ययन में १८७६ से १८८४ तक के समय की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। लार्ड लिटन एवं लार्ड रिपन के इस शासन काल को भारतीय राष्ट्रीयता के जन्मकाल के नाम से ठीक ही सम्बोधित किया जाता है। हम देख चुके हैं कि विप्लव के पश्चात् सरकार द्वारा प्रयुक्त अविश्वास एवं दमन की नीति, भारतवासियों को शासन में स्थान के सम्बन्ध में दिये गए वचन और जनता के बढ़ते हुए दारिद्र्य आदि तथ्य भारतीयों को विदेशी शासन के दोषों का समुचित परिज्ञान करा रहे थे। यद्यपि भारतीयों ने अभी तक ब्रिटिश शासन का विरोध स्पष्ट एवं संगठित रूप से तो नहीं किया था परन्तु उनके हृदय में विदेशी राज्य के प्रति विरक्ति की भावना दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उस समय राष्ट्रीयता का वातावरण होने के लिए भूमि तैयार हो रही थी। ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन आफ बंगाल, मद्रास नेटिव एसोसिएशन, ईस्ट इण्डियन एसोसिएशन, बम्बई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन और पूना सार्वजनिक सभा आदि राजनीतिक संस्थाएं भारत के राजनीतिक रंगमंच पर पहले से ही प्रकट हो चुकी थीं तथा शासन सुधार सम्बन्धी आन्दोलन करने में संलग्न थीं तथापि इन संस्थाओं का एक निर्धारित क्षेत्र था। राष्ट्रीय अभ्युत्थान एवं राजनीतिक स्वाधीनता के किसी सांगोपांग प्रोग्राम का उनके पास अभाव था। लार्ड लिटन के शासनकाल में कतिपय ऐसे अन्याय एवं दमन के कार्य किए गए जिनके फलस्वरूप जन साधारण और शिक्षित भारतीयों दोनों के हृदयों में समान रूप से विदेशी शासन के प्रति रोष की वह भावना जागृत हो गई जिसने १८८५ में राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) के संस्थापन का मार्ग साफ कर दिया।

---

[1] श्रीराम शर्मा—ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ९९।

देहली दरबार—लिटन डिजरली की विचारधारा का साम्राज्यवादी था एवं राजकीय शक्ति सामर्थ्य के प्रदर्शन में उसकी दृढ़ आस्था थी। राजनीतिक दूरदर्शिता का उसमें अभाव था और भारतीय जनता की भावनाओं एवं उच्चाकांक्षाओं के प्रति उसके हृदय में तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। उसके शासन काल में महारानी विक्टोरिया की नई उपाधि कैसरे हिन्द (भारत साम्राज्ञी) की घोषणा करने के लिए १८७७ में शानदार देहली दरबार किया। इसी दरबार में ब्रिटिश नौकरशाही भारतीय नरेशों सामन्तों मुखियों और अन्य राजभक्तों ने भाग लिया परन्तु यह व्यय साध्य एवं विराट प्रदर्शन अत्यन्त अनुपयुक्त अवसर पर किया गया। उस समय दक्षिण भारत में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ रहा था। देहली दरबार के आयोजन में धन को पानी की तरह बहाया गया जब कि असंख्य मानव प्राणों की रक्षा के लिए उसकी महती आवश्यकता थी। कलकत्ते के एक तत्कालीन पत्रकार ने इसका जबकि रोम जल रहा था नीरो सारंगी बजाने में तल्लीन था (Neero was fiddling while Rome was burning) कह कर उल्लेख किया था। भारतीयों के मन में यह अपेक्षावृत्ति काँटे की तरह चुभ गई। इसने उनके हृदय में अदम्य प्रभावशून्य विरोध की वेगवती धारा को उत्पन्न किया।

अफगान युद्ध और सैनिक व्यय—लार्ड लिटन के सैनिक अभियानों की वजह से जनता की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गई। काबुल के ऊपर एक अवाछनीय आक्रमण किया गया जिसके फलस्वरूप अफगान युद्ध हुआ और सैनिक व्यय में आशातीत वृद्धि हो गई। रूसी आक्रमण के काल्पनिक भय के निवारणार्थ सेना को अनावश्यक रूप से बढ़ा देना तथा वैज्ञानिक सीमान्त की स्थापना के प्रयास बहुत ही खर्चीले प्रयोग थे जो परोक्षरूप से जनता की कठिनाइयाँ बढ़ाने के उत्तरदायी थे। देहली दरबार आक्रामक अफगान युद्धों और काल्पनिक रूसी हौवे से बचने के लिए की गई कोशिशों ने भारतीयों के समक्ष इस कटु सत्य को प्रत्यक्ष कर दिया कि उनके शासक जनसाधारण की आपदाएँ दूर करने की अपेक्षा अपने साम्राज्य को बनाए रखने के लिए अधिक कृत संकल्प हैं।

भारतीय शस्त्र विधेयक—लार्ड लिटन का शासनकाल भारतीय शस्त्र विधेयक जैसे काले कानून को पास करने के लिए भी कुख्यात है। इस विधेयक के द्वारा भारतीयों को बिना आज्ञा के शस्त्र रखने अथवा धारण करने से वंचित किया गया। जिस चीज से भारतीयों को मर्मान्तक वेदना पहुँचती वह केवल निरीह एवं असहाय जनता का निःशस्त्रीकरण करना ही नहीं अपितु इस दिशा में यूरोपियनों और भारतीयों के बीच बरता गया भेदभाव था। भारतीयों के लिए तो शस्त्रों का रखना अथवा धारण करना अपराध माना गया लेकिन यूरोपियनों यूरेशियनों ऐंग्लोइण्डियनों तथा अन्यान्य विदेशियों के ऊपर ऐसा कोई अंकुश नहीं लगाया गया। यह भेदभाव भारत के स्वाभिमान के ऊपर भयंकर आघात था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में 'शस्त्र विधेयक ने हमारे ललाट पर जातीय हीनता की छाप लगा दी। संसार के सभ्य देशों

में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ नागरिकों को सैनिक होने के अधिकार से वंचित रखा जाता है। भारतीय अपने ही देश में द्वितीय श्रेणी के नागरिक बना दिए गए।"

वर्नाक्युलर प्रेस विधेयक—लार्ड लिटन के शासनकाल का तीसरा प्रतिगामी कार्य १८७८ का वर्नाक्युलर प्रेस विधेयक था। विद्रोह के पश्चात् भारतीय प्रेस ने बड़ी शीघ्रता से उन्नति की थी। १८६४ में लगभग ६४४ पत्र प्रकाशित हो रहे थे, उनमें ४०० से अधिक देशी भाषाओं के पत्र थे। देशी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले पत्र लार्ड लिटन की दमन नीति का तीव्र शब्दों में विरोध करते थे। उनके लेखों और आलोचनाओं से जनता का रोष व्यक्त होता था। वे राष्ट्रीय चेतना के विकास में एवं जनता के क्षोभ को तीव्रता देने में सहायता पहुँचा रहे थे। वर्नाक्युलर प्रेस के नित्यप्रति बढ़ते प्रभाव को देखकर नौकरशाही के सिर में दर्द होने लगा। लार्ड लिटन ने भारत मन्त्री को देशी प्रेस के इस बढ़ते हुए प्रभाव के सम्बन्ध में जो अप्रत्यक्ष विद्रोह का सूचक था लिखा। वायसराय इस बात को अच्छी तरह समझता था कि समाचार-पत्रों की स्वाधीनता और विदेशी शासन का साथ साथ निभ सकना असम्भव है। इसी के समर्थन में एक बार मुनरो ने लिखा था स्वतन्त्र प्रेस और विदेशी शासन एक साथ नहीं चल सकते। (A free press and the dominion of stranger can not go togther) परिणामतः वर्नाक्युलर प्रेस विधेयक अथवा गलाघोंट कानून —जैसा कि यह उस समय विख्यात था—अति शीघ्रता से भारतीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा एक ही बैठक में पास किया गया। यह भारतीय पत्रों की स्वाधीनता पर प्रत्यक्ष आक्रमण था। इस विधेयक के द्वारा जिलाधीशों के हाथों में यह अधिकार आ गया कि वे समाचार पत्रों के मुद्रकों और प्रकाशकों से जमानतें माँग सकते हैं और उनसे ऐसे किसी समाचार के जो शासन के प्रति अरुचि या जातियों के बीच कटुता की भावना को उत्पन्न करे प्रकाशित न करने की प्रतिज्ञा करवा सकते हैं। कानून भंग करने पर यह जमानत जब्त की जा सकती थी और इस निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती थी। वर्नाक्युलर प्रेस विधेयक इतना घातक था कि भारत परिषद के एक सदस्य सर एरस्काइन पेरी ने भी उसको अदूरदर्शी, असामयिक और भारत की भावी उन्नति के लिए घातक बताया था। इस गलाघोंट कानून ने और उस संकुचितता ने जिसके साथ वह कार्यान्वित किया गया विरोध का एक तूफान खड़ा कर दिया। सारे देश में असंतोष की एक लहर दौड़ गई। भारत के लोक-नेताओं ने इस विधेयक के विरोध में एक देशव्यापी आन्दोलन खड़ा किया। पाँच वर्षों के अविराम प्रयत्नों के पश्चात् १८८२ में यह विधेयक रद्द हुआ। इस विधेयक के निर्माण ने भारतीयों को पराधीनता के पाश से अवगत करा दिया और उनके हृदय में राष्ट्रीय जागरण की ज्योति प्रज्वलित की।

कपास आयात कर—लार्ड लिटन ने कपास की बनी वस्तुओं पर से आयात-कर हटा कर भी भारतीयों के हृदय में अंग्रेजी शासन के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न की। भारत में पहली कपास टेक्सटाइल मिल १८२१ में चालू हुई थी और प्रतिकूल परिस्थितियों

के होते हुए भी धीरे धीरे उन्नति कर रही थी। लंकाशायर और मानचेस्टर के व्यापारियों ने इसका विरोध किया। क्योंकि भारतीय टक्सटाइल उद्योग के विकास को उन्होंने अपने एकाधिकार के लिए एक चुनौती समझा उन्होंने गृह सरकार पर इस बात के लिए दबाव डाला कि वह भारत सरकार को बाहर से आए हुए कपास व कपडे पर लगाए गए ५ प्रतिशत कर को उठा देने के लिए विवश करे। भारत मन्त्री ने इस थोथी दलील के आधार पर कि इस कर से भारतीय व्यापारियों को अनुचित प्रोत्साहन मिलता है आयात-कर उठा देने के लिए गवर्नर जनरल को लिखा। लार्ड लिटन के पूर्ववर्ती लार्ड नार्थब्रुक ऐसा करने के लिए सहमत नहीं हुए क्योंकि उनके विचार से यह भारत के लिए अहितकर था। इसके विपरीत लार्ड लिटन ब्रिटिश सौदागरों के हाथों का खिलौना बन गया। उसने आयात-कर को उठा दिया और यह पग उठाते समय अपनी कार्यपालिका परिषद के बहुमत की भी परवाह नहीं की। यद्यपि भारतीय व्यापारियों ने देश के अविकसित कपास उद्योग के ऊपर किए गए इस घातक प्रहार का प्राणपण से विरोध किया परन्तु उसका कोई फल नहीं निकला। उन्होंने इंगलण्ड की कामन सभा के समीप भी इस सम्बन्ध में एक आवेदन पत्र भेजा परन्तु उससे भी कुछ नहीं बन सका।

इण्डियन एसोसिएशन १८७५—लार्ड लिटन के प्रतिगामी शासन ने भारतीयों के हृदय में उमडती हुई राष्ट्रीय जागरण की भावना को बल प्रदान किया और इस बात के लिए आवश्यक वातावरण तैयार कर दिया कि देश के विभिन्न भागों में काम करती हुई देशनिष्ठ संस्थाएं सामूहिक कदम उठाने के लिए एकता के सूत्र में गुम्फित हो जाएं। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी १८७५ में इण्डियन एसोसिएशन का संगठन कर चुके थे। लार्ड लिटन के कठोर कानूनों और न्यायहीन कार्यों ने उन्हें १८७७ में उत्तरी भारत और उसके एक वर्ष पश्चात् १८७८ में दक्षिण भारत का भ्रमण करने की प्रेरणा दी। उन्होंने अपने आकर्षक व्यक्तित्व एवं भाषण-पटुता के द्वारा विभिन्न प्रान्तों को समान कष्टों तथा समान ध्येय के आधार पर एक दूसरे के अति निकट ला दिया। सुरेन्द्रनाथ के गतिशील नेतृत्व एवं एकता के सदप्रयत्नों ने इण्डियन एसोसिएशन को अखिल भारतीय आन्दोलन का केन्द्र बनाने में सफलता प्राप्त की। एसोसिएशन का ध्येय भारतवर्ष में एक प्रभावशाली लोकमत तथा तत्कालीन महत् जन आन्दोलनों में जनसाधारण का संगठन तैयार करना था। इसके अतिरिक्त एसोसिएशन ने अपने सामने भारतवर्ष की विभिन्न जातियों के बीच सामान्य राजनीतिक हितों और आकांक्षाओं के आधार पर एकता स्थापित करने और हिन्दू मुसलमानों के बीच समवाय प्रेम एवं बन्धुत्व की भावना को विकसित करने का भी आदर्श रखा था।

इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठने की अवस्था में जो कमी कर दी गई थी उसने इण्डियन एसोसिएशन को एक अखिल भारतीय आन्दोलन खडा करने का अवसर प्रदान किया। आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठने की अवस्था २१ वर्ष से घटाकर १९ वर्ष कर देने का स्पष्ट आशय उसमें भारतीय नवयुवकों की सफलता को

जानबूझ कर असम्भव कर देना था। इससे शिक्षित समाज में जो असन्तोष उत्पन्न हुआ, उसे इसी प्रश्न पर केन्द्रीभूत करने में इण्डियन एसोसिएशन ने सफलता प्राप्त की। इंगलैण्ड की कामन-सभा (House of Commons) के पास सम्पूर्ण देश की ओर से एक स्मृतिपत्र भेजा गया और अन्त में, जिस उत्साह के साथ आन्दोलन का संगठन किया गया था उसके फलस्वरूप वह अपने उद्देश्य में सफल हुआ। इण्डियन सिविल सर्विस में बैठने की अवस्था दुबारा १९ वर्ष से बढ़ाकर २१ वर्ष कर दी गई।

इल्बर्ट बिल सम्बन्धी वाद विवाद में जो लार्ड लिटन के अनुवर्ती लार्ड रिपन के उदार शासनकाल में उठ खड़ा हुआ था भारत के राष्ट्रीय जागरण को और भी उत्तेजना दी। लार्ड रिपन के दृष्टिकोण, चरित्र एवं व्यवहार में आकाश पाताल का अन्तर था। लार्ड रिपन अत्यन्त सहृदय एवं उदाराशय वायसराय थे। इंगलैण्ड में ग्लैडस्टन के नेतृत्व में उदारवादी शासन की स्थापना हो चुकने के पश्चात वह भारतवर्ष में आए थे। भारतीयों की भावनाओं के प्रति उनके हृदय में आदर का भाव था। वर्नाक्युलर प्रेस विधेयक रद्द करके उन्होंने भारतीयों को सान्त्वना देने का प्रयत्न किया। उन्होंने अफगानिस्तान से ऐसी शर्तों पर सन्धि की जिससे कि ब्रिटिश सरकार के सम्मान में वृद्धि हुई। परिणामतः सेना के व्यय में अपने आप कमी हो गई। उन्होंने स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहन दिया और १८८२ में अपनी सुविख्यात रिपोर्ट लिखा। इस प्रकार लार्ड रिपन की नीति जनहित की भावनाओं से प्रेरित थी। इसलिए भारत के शिक्षित समाज में वे अत्यन्त लोकप्रिय हो गए। हिमालय से कन्या कुमारी तक प्रत्येक अंग्रेजी भाषाभाषी परिवार में उनका नाम अत्यन्त आदर के साथ स्मरण किया जाने लगा।

इल्बर्ट बिल—स्वाभाविक रूप से, लार्ड रिपन के उक्त सुधार जहाँ भारतीयों के सर्वथा मतानुकूल थे भारत में रहने वाले यूरोपियनों की दृष्टि में वे काँटे की तरह खटकने थे। रिपन यूरोपीय समाज के कोपभाजन बन गए। १८८३ में सर इल्बर्ट कौंसिल ने भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक बिल उपस्थित किया जिसका उद्देश्य यह था कि भारतीय एवं यूरोपीय न्यायाधीशों के बीच विद्यमान भेदभाव को दूर किया जाए। इससे पूर्व भारतीय न्यायाधीशों को चाहे वे कितने ही ऊँचे पद पर क्यों न प्रतिष्ठित हों किसी यूरोपीय के विरुद्ध अभियोग सुनने का अधिकार नहीं था।

अपने मौलिक रूप में इल्बर्ट बिल ने सभी जिलाधीशों एवं सेशन जजों को यूरोपीय अपराधियों के अभियोगों के निर्णय करने का अधिकार प्रदान किया। इस बिल में किसी को हानि पहुँचाने वाली कोई बात नहीं थी। किन्तु भारत स्थित यूरोपीय समाज इसे सहन न कर सका। लार्ड रिपन ने भारतीयों के सम्बन्ध में जो उदार नीति अपनाई थी यूरोपीय समाज उससे बहुत ही रुष्ट हो गया और इल्बर्ट बिल ने तो उसके रोषानल में घी का काम किया। यह बिल उनको अपने विशेषाधिकारों पर कुठाराघात प्रतीत हुआ और उन्होंने इसके विरोध में प्रचण्ड आन्दोलन खड़ा कर दिया। यूरोपियनों ने अपने हितों के रक्षार्थ एक सुरक्षा-संघ का निर्माण किया और यथेष्ट धन

एकत्रित करके इल्बट बिल के खिलाफ 'जिहाद' शुरू कर दिया। यह आन्दोलन जिसे कि उन्माद की सी अवस्था में चलाया गया था आगे चलकर शिष्टता की सीमाएँ भी उल्लघन कर गया। यूरोपियनों ने यह भय प्रकट किया कि भारतीय इस सुविधासे अनुचित लाभ उठायेंगे। लार्ड रिपन के ऊपर व्यंगबाणों की वर्षा होने लगी। कुछ लोगों ने तो यहां तक सोचा कि गुप्त रूप से लार्ड रिपन को सरकारी भवन से उठा कर इंगलैण्ड रवाना कर दिया जाए। कई बार लार्ड रिपन का निरादर किया गया और उनकी दावतों का बहिष्कार किया गया।

समझौता—यह झगड़ा लगातार कई महीनों तक चलता रहा जब यही जाकर समझौता हुआ। १८८४ के तृतीय विधेयक के अनुसार भारतीय जिलाधीशों और सेशन जजों को यूरोपियनों के मुकद्दमे सुनने का अधिकार तो दे दिया गया लेकिन इसमें एक शर्त लगा दी गई कि यूरोपियन अपराधियों को यह मांग करने का अधिकार होगा कि मुकदमा ज्यूरी की सहायता से सुना जाए और ज्यूरी के आधे सदस्य यूरोपियन अथवा अमरीकन हों। सर जान स्ट्रेची के शब्दों में इससे यूरोपियनों को भारत में एक ऐसी सुविधा मिल गई जो एक अंग्रेज को अपने देश में कदापि प्राप्त नहीं हो सकती थी।[1]

इल्बट बिल सम्बन्धी वाद विवाद ने भारतीय जन आन्दोलन के विकास पर भारी प्रभाव डाला। इसने भारतीयों की आँखें खोल दी। अत्यन्त मर्मान्तक वेदना के साथ उन्होंने अनुभव किया कि पराधीनता का अभिशाप कैसा कठोर होता है ?विदेशी शासकों ने हम किस प्रकार से पद दलित किया है और इस हीन अवस्था में डाल रखा है यह बात उनके सामने बिल्कुल स्पष्ट हो गई। अब उन्हें ज्ञान हुआ कि अपनी जातीय श्रेष्ठता के अभिमानी संकीर्ण मनोवृत्ति वाले शासक वर्ग से न्याय की आशा करना मृग मरीचिका से अधिक कुछ नहीं है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में कोई भी स्वाभिमानी भारतीय इस बात को सहन नहीं कर सकता था। उनके लिए जो इसकी महत्ता समझते थे यह देशभक्ति का आह्वान था। इल्बट बिल की हलचल ने भारतीयों को एक पाठ पढ़ाया और वह यह कि अपने देश में भी बराबरी का दर्जा पाने के लिए उन्हें काफी संघर्ष करना पड़ेगा। यूरोपियनों ने इसका विरोध करने के लिए जिन संगठनों का सहारा लिया उसका प्रभाव भारतीयों पर पड़ा। मजूमदार ने लिखा है इल्बट बिल विवाद के समय यूरोपीय संगठनों को देखकर भारतीय यह समझ गये कि राष्ट्रीयता का विकास सम्भव है तो केवल एक सार्वभौमिक राष्ट्रीय सभा द्वारा ही। इस सभा का सम्बन्ध प्रान्तों की स्वतन्त्र राजनीति से न होकर देश की एक व्यापक राजनीति से ही होना चाहिए।

राष्ट्रीय सम्मेलन (Indian National Conference) १८८३—इस सारी हलचल के फलस्वरूप भारतीयों को न केवल जातीय भेदभाव एवं राजनीतिक

---

[1] सरजान स्ट्रेची— इंडिया इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस पृ० १११।

पराधीनता के विरुद्ध एक प्रविराम संघर्ष की ही आवश्यकता का भान हुआ अपितु यह भी ज्ञात हो गया कि इस संघर्ष की रूपरेखा क्या हो। यूरोपियनों ने इल्बर्ट बिल के संशोधन में मनोवाञ्छित सफलता प्राप्त की थी, इससे यह स्पष्ट हो गया कि विदेशी शासन का सफल विरोध तभी सम्भव है जब कि कोई देशव्यापी संगठन ऐसे कामों को अपने हाथों में ले ले और उस जनता का सक्रिय सहयोग मिल सके। समय की यह पुकार व्यर्थ नहीं गई। इल्बर्ट बिल के सम्बन्ध में यूरोपियनों का जो दृष्टिकोण रहा था उसे भारतीय नेताओं ने विस्मृत नहीं किया। दिसम्बर १८८३ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के प्रयत्नों से प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। यह सम्मेलन कलकत्ते में तीन दिन होता रहा। इसमें विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन अपार उत्साह के वातावरण में सम्पन्न हुआ और उसमें भारत की उदीयमान राष्ट्रीयता का अच्छी तरह से परिचय मिलता था। १८८५ में बम्बई में राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) की स्थापना हुई। वास्तव में उक्त सम्मेलन को राष्ट्रीय महासभा का अगुआ प्रयत्नकर्ता अथवा निर्माता कहना उचित होगा। सम्मेलन ने अपने को राष्ट्रीय महासभा में विलीन कर लिया। ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य यही है कि १८७६ से १८८५ तक के ८ वर्षों का भारत के राष्ट्रीय इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस काल की घटनाओं ने ही उस संघर्ष की नींव डाली जिसका अन्त भारत में ब्रिटिश राज के अन्त के साथ हुआ।

सारांश

अंग्रेजों ने भारतवर्ष पर धीरे धीरे बिना किसी पूर्व निश्चित योजना के साथ काम करते हुए अधिकार किया था। १८५२ तक सम्पूर्ण देश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन हो गया। यह बात बिल्कुल गलत है कि भारत में अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य का निर्माण, मस्तिष्क की अचेतन अवस्था में किया। १८वीं शताब्दी में भारत की राजनीतिक दशा अत्यन्त अव्यवस्थित एवं शोचनीय थी अंग्रेजों ने इसका लाभ उठाया और अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में सफलता प्राप्त की।

ब्रिटिश राज्य की स्थापना से भारत की आर्थिक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अवनति हुई। प्रतिगामी ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप देश के पुराने उद्योग धन्धे चौपट हो गए और जनता दरिद्रता के दलदल में फंस गई। ब्रिटिश शासन की स्थापना के कारण पंचायतें नष्ट हो गईं। ईसाई पादरियों के धर्म प्रचार और अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार ने भारत को साम्राज्यिक दासता की बेड़ियों में जकड़ लिया।

सन् १८५७ का विद्रोह ब्रिटिश की बुराइयों के कारण जनता में बढ़ते हुए असन्तोष का भयंकर विस्फोट था। भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता का यह प्रथम युद्ध असफल हुआ और अंग्रेजों ने अत्यन्त निष्ठुरतापूर्वक उसका दमन किया। विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों ने अविश्वास तथा 'फूट डालो और राज करो' की नीति का आश्रय लिया जिसका फल यह हुआ कि भारतीयों और अंग्रेजों के बीच भेद की खाई बढ़ती चली गई।

१८५७ के विद्रोह के पश्चात् भारत की शासन प्रणाली में कई मौलिक परिवर्तन हुए। १८५८ के भारत सरकार के अधिनियम ने भारत में कम्पनी के शासन की अन्त्येष्टि कर भारत का शासन ब्रिटिश सरकार के हाथों में सौंप दिया। अधिनियम ने बोर्ड आफ कण्ट्रोल तथा कोर्ट आफ डायरेक्टर्स का अन्त कर दिया और उनके स्थान पर भारत-मन्त्री के एक नए पद का सृजन किया। भारत मन्त्री ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता था। अधिनियम ने भारत मन्त्री की सहायता के लिए १५ सदस्यों की एक भारत परिषद बनाई। कतिपय आलोचकों के अनुसार भारतीय शासन का 'क्राउन' के हाथों में जाना एक औपचारिक परिवर्तन मात्र था। नई व्यवस्था का प्रारम्भ महारानी विक्टोरिया की एक घोषणा के साथ हुआ। घोषणा में कहा गया था कि देशी नरेशों के अधिकारों की रक्षा की जायगी, विद्रोहियों के साथ दया का व्यवहार होगा और सभी धर्मों और जातियों के लोगों को बिना किसी पक्षपात के योग्यतानुसार सरकारी पदों पर नियुक्त किया जायगा।

जहाँ १८५८ के अधिनियम में केवल गृह सरकार की रूपरेखा में ही परिवर्तन किया था, १८६१ के भारतीय परिषद् अधिनियम ने भारतीय शासन में भी कतिपय सुधार किए। इस अधिनियम ने गवर्नर जनरल की कार्यपालिका परिषद् में एक पाँचवाँ विधि सदस्य और बढ़ाया। अधिनियम ने केन्द्र में गवर्नर जनरल को और प्रान्तों में गवर्नरों को यह अधिकार दिया कि वे कानून निर्माण के कार्य में भारतीयों को भी सम्मिलित कर सकते हैं। फिर भी १८६१ के अधिनियम के अधीन निर्मित भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं को कई कठोर प्रतिबन्धों के अधीन काम करना पड़ता था।

भारत के राष्ट्रीय इतिहास में लार्ड रिपन और लार्ड लिटन का शासन काल अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति, व्यय साध्य दिल्ली दरबार, अफगान युद्ध, इल्बर्ट बिल सम्बन्धी वाद विवाद, शस्त्र विधेयक, समाचार पत्रों की स्वाधीनता का अपहरण, इण्डियन सर्विस की परीक्षा में बैठने की अवस्था में कमी कर देना आदि ऐसी बातें थी जिन्होंने भारतीयों के मन में ब्रिटिश शासन के प्रति व्यापक असन्तोष की उस भावना को उत्पन्न किया जिसके फलस्वरूप १८८५ में कांग्रेस की नींव पड़ी।

अध्याय २

भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म

१ भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के कारण

(1) बहुत से कारणों का परिणाम—भारत में राजनीतिक चेतना ने मानो जागरण १८८५ में राष्ट्रीय महासभा की स्थापना के रूप में मूर्त आकार धारण कर लिया। यह स्मरणीय है कि कांग्रेस जो देशभक्ति का आकर्षण केन्द्र और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संघर्ष का अग्रणी बन गई उसका जन्म कोई आकस्मिक घटना नहीं था। सच तो यह है कि यह उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीय नवजागरण का ही एक भाग थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह उस अपार आर्थिक और राजनीतिक असन्तोष की अभिव्यक्ति थी जो ब्रिटिश शासन के अन्यायों के कारण पनप रहा था डा० पट्टाभिसीतारमैया ने भी इस तथ्य को स्पष्टतः स्वीकार किया है। इसके साथ ही साथ वह उन राष्ट्रवादी शक्तियों की अभिव्यक्ति थी जो पहले से ही धार्मिक-सामाजिक सुधार-क्षेत्र में सक्रिय थीं। बंगाल में रामगोपाल घोष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनन्दमोहन बोस ने, बम्बई में दादाभाई नौरोजी और जगन्नाथ शंकर सेठ ने, मद्रास में जी० सुब्रह्मण्य अय्यर और महाराष्ट्र में राव बहादुर के० एल० नलकर तथा एम० एच० विपलान्कर ने राष्ट्रीयता के बीज वपन के लिए भूमि अच्छी तरह तैयार कर दी थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोप के राष्ट्रीय आन्दोलनों से प्रभूत प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में राष्ट्रवाद की प्रचण्ड लहर उठी थी जिसके फलस्वरूप विशृंखलित जर्मनी और इटली का एकीकरण हुआ। यूनान और बेल्जियम को विदेशी शासन से मुक्ति मिली। मध्यकालीन अधोगति की दशा से जापान के अभूतपूर्व आकस्मिक उत्कर्ष ने भी भारत की राष्ट्रीयता को पर्याप्त प्रभावित किया। संक्षेपतः भारत का राष्ट्रवादी आन्दोलन कई शक्तियों और कारणों के संयोग का परिणाम था। नीचे हम उनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारणों पर विचार करते हैं।

(2) भारत का राजनीतिक एकीकरण—यद्यपि भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन का स्वरूप प्रतिगामी ही था फिर भी उसने भारत को राजनीतिक एकता प्रदान कर जो उसमें पहले कभी नहीं थी भारतीय राष्ट्रीयता के विकास को प्रोत्साहन दिया। वस्तुतः भारतवर्ष में विशिष्ट विषय के क्षेत्रों में, रक्त रंग भाषा वेष, रीति रिवाज और सम्प्रदाय आदि की असंख्य विभिन्नताएँ रहते हुए भी एक मौलिक एकता रही है। भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष सदैव एक इकाई रहा है। इससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण भारतवर्ष की सांस्कृतिक एकता है जो विभिन्नताओं के अविराम

आक्रमणों के बावजूद सदैव अक्षुण्ण रही है। जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही लिखा है कि 'सम्पूर्ण प्रायद्वीप के निवासियों की मानसिक पृष्ठभूमि दृष्टिकोण और विचारधारा में आश्चर्यजनक समानता रही है। शंकराचार्य द्वारा निर्धारित प्रमुख तीर्थ भारत के चार कोनों पर विराजमान थे। उत्तर में हिमालय के नीचे बद्रीनाथ दक्षिण में कन्या कुमारी के समीप रामेश्वरम पश्चिम में अरब समुद्र की ओर आँख गड़ाए हुए द्वारिका और पूर्व में बंगाल की खाड़ी के जल से अठखेलियाँ करती हुई पुरी। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के बीच सौहार्द विद्यमान था। भारत ही उनकी पुण्यभूमि थी।[१] भारतवर्ष में इस्लाम का प्रवेश इस एकता को छिन्न भिन्न करता हुआ मालूम होता था लेकिन भारतीय संस्कृति में दूसरी संस्कृतियों को मिलाने और अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता की जो भावना रही है उसने यहाँ भी संश्लेषण का भाग लिया। यह तो अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो नीति का परिणाम रहा है कि भारत की संश्लेषण शक्ति नष्ट हो गई और भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सदैव ही एक रहने वाला देश खण्ड खण्ड हुआ।

यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि ब्रिटिश शासन के पूर्व भारत में राजनीतिक एकता का अभाव था। अशोक और अकबर जैसे महान शासकों को भी भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने में पूरी सफलता नहीं मिली। भारत का जो कुछ एकीकरण वे कर सके वह अल्प जीवी रहा। इसका एक तो कारण यह है कि जनता में राजनीतिक एकता की उत्कट आकांक्षा नहीं थी। दूसरे आवागमन के आधुनिक साधन भी उस समय उपलब्ध नहीं थे। भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने का श्रेय अंग्रेजों को ही प्राप्त है।[२] वे सम्पूर्ण देश को एक दृढ़ केन्द्रित शासन व्यवस्था के अन्तर्गत लाने में सफल हुए। उन्होंने भारतवर्ष को वह राजनीतिक सत्ता प्रदान की जिसके आदेशों का देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पालन किया जाने लगा। अंग्रेजों की इस सफलता का कारण यातायात के साधनों का विकास है। यह तो स्पष्ट ही है कि अंग्रेजों ने भारत में प्रशासनिक एकता अपने साम्राज्य के हितार्थ स्थापित की आवागमन के आधुनिक साधनों का सूत्रपात करने में उनका अपना ही स्वार्थ निहित था। ऐसा होने पर इस देश का आर्थिक शोषण वे और भी सुगमतापूर्वक कर सकते थे। परन्तु इसका परिणाम सर्वथा उनके मनोनुकूल नहीं हुआ। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित भारत की राजनीतिक एकता सामान्य पराधीनता की एकता थी लेकिन उसने सामान्य राष्ट्रीयता की एकता को जन्म

---

१ जवाहरलाल नेहरू—यूनिटी ऑफ इण्डिया पृ० १६।

२ सुब्रह्मण्य अय्यर ने राष्ट्रीय महासभा के प्रथम अधिवेशन में भाषण देते समय इस महत्वपूर्ण तथ्य की कि 'देश के इतिहास में जनता के बीच एकता की भावना के दर्शन का (राष्ट्रीय अस्तित्व के भान का) यह सर्वप्रथम अवसर है' चर्चा की थी।

दिया।[1] अखण्ड और स्वतन्त्र भारत का विचार राजनीतिक एकीकरण का अनिवार्य परिणाम था। इसने लोगों के दिमागों में घर कर लिया। इस समय एकता का विचार कहीं ऊपर से नहीं लादा गया था वह स्वतः प्रेरित था। इस विचार ने प्रत्येक देशभक्त भारतीय को नई प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्रदान की और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य समर को आगे बढ़ाया। आगे चलकर एकता की इस बढ़ती हुई भावना ने अंग्रेजों को भयभीत कर दिया। अब उन्होंने इस एकता को नष्ट करने की चेष्टा की। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की उन्मुक्त शक्ति को रोकने के लिए देशवासियों के विरुद्ध देशवासियों के सन्तुलन' का सिद्धान्त प्रयुक्त किया तथा धार्मिक और साम्प्रदायिक वैमनस्य के बीज बोए। यद्यपि इस चेष्टा में अंग्रेजों को कुछ सफलता मिली परन्तु राष्ट्रीयता की वेगवती मन्दाकिनी जो एक बार बह निकली उसे न अंग्रेजों की कूटनीति ही और न उनका दमन ही रोकने में सफल हो सका।

(5) पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति—भारतीय राष्ट्रीयता के जन्म और विकास में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली ने भी बड़ी सहायता दी। अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप भारत वर्ष का पश्चिम के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ जिसके सुदूरव्यापी परिणाम हुए, सुशिक्षित भारतीय अंग्रेजी भाषा और साहित्य के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के अमृत का आपानक पान किया। एक अंग्रेज लेखक रोनाल्डशे ने स्वयं लिखा है' पश्चिमी अध्ययन की नई मदिरा ने भारतीयों के मस्तिष्क में गहराई से प्रवेश किया और भारतीयों ने भी उसका गम्भीरता पूर्वक स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता के रास्ते से पान किया जिसके फलस्वरूप उनका दृष्टिकोण क्रान्तिकारी बन गया। शिक्षित भारतीयों ने इटली की राष्ट्रीयता के अग्रदूत मैजिनी, फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के प्रवक्ता रूसो और वाल्टेयर, व्यक्तिगत स्वाधीनता उदारवाद और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के अग्रदूत टॉमस पेन, लाकयस मकाले और मिल आदि लेखकों की रचनाओं का अत्यन्त मनोयोगपूर्वक अनुशीलन किया। उन्नीसवीं शताब्दी में जो राष्ट्रीय आन्दोलन हुए थे उनसे भारतीय नवयुवकों को बड़ी प्रेरणा मिली। इन राष्ट्रीय आन्दोलनों का ही यह फल था कि तुर्की से यूनान को और हालैण्ड से बेल्जियम को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। अपने देश की अधोगति देखकर भारतीय युवकों का हृदय ग्लानि से भर गया। दादाभाई नौरोजी के अनुसार जो राष्ट्रीय महासभा की नींव डालने वालों में से एक थे पाश्चात्य शिक्षा भारत के राष्ट्रीय जागरण में एक विशिष्ट स्थान रखती है। हमें एक नूतन प्रकाश मिला है और उसने बताया है कि राजा प्रजा के लिए होता है प्रजा

---

[1] हिन्दुस्तान की राजनीतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की वृद्धि के फलस्वरूप आप से प्राप्त हुई थी। बाद में जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और साम्प्रदायिकता को जानबूझ कर बढ़ाए जाने के दृश्य आने लगे जो हमारी भावी उन्नति के मार्ग में जबरदस्त रोड़े बने।" जवाहरलाल नेहरू आत्मकहानी पृ० ४३०

राजा के लिए नहीं। सक्षपत पाश्चात्य विचार धारा और साहित्य के संसर्ग ने भारत म बुद्धिजीवियो म समस्त नवीन आदर्शों की सृष्टि की उनके प्रति प्रगाढ प्रेम की भावना उत्पन्न की।

वस्तुत भारत म ब्रिटिश शासको ने पाश्चात्य शिक्षा का सूत्रपात किसी उन्नत अथवा परहित की भावना स प्रेरित होकर नही किया था। इसम कोई सन्देह नहीं कि कुछ ऐसे भी न्युत्पन्न अग्रज थे जिनका अग्रजी भाषा और सस्कृति की अन्तवर्ती शक्ति म दृढ विश्वास था और वे सोचते थे कि भारत की उन्नति अग्रजी रीतियो को अपनाने पर ही सम्भव है। राजा राममोहन राय जसे बुद्ध देशभक्तों का भी यही विचार था कि जिस अधोगति म भारत पतन हुआ है उसमे छुटकारा पाने क लिए पाश्चात्य सस्कृति का सम्पर्क अतीव आवश्यक है। परन्तु भारत म अग्रजी शिक्षा प्रारम्भ करने के पीछे सवथा अनपेक्ष उद्देश्य नही थे। अग्रजो को उस समय सस्ते क्लर्कों की आवश्यकता थी वे शिक्षित भारतीयो का विदेशी शासन के प्रति राजभक्त और भूत कालीन सस्कृति तथा धम क प्रति विमुख करना चाहते थे। ब्रिटिश शासकों की इन एषणाओं का ही यह परिणाम था कि यहाँ पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात किया गया। भारतीय जनता क अग्रजीकरण क साथ ही साथ भारत म ब्रिटिश साम्राज्य की नीव को सुदृढ करना ही विदेशी शासको का प्रमुख उद्देश्य था। अधिकांश अग्रज मोंटस्टुअट एलफिन्स्टन क विचार स सहमत थ कि अग्रजी शिक्षा क प्रभाव से भारतीय ब्रिटिश शासन को सहष स्वीकार कर लेंगे।[1] स्पष्ट रूप स यह आशा की गई थी कि शिक्षा प्रसूत सस्कार जनता को ब्रिटिश शासन से सन्तुष्ट कर देंगे और उसक हृदय मे विदेशी शासन क प्रति अनुरक्ति का भाव उत्पन्न हो जाएगा। मोंटस्टुअट एलफिस्टन के अनुसार भारतवष मे अग्रजी शिक्षा एक राजनीतिक आवश्यकता थी। भारत म ब्रिटिश शासन की स्थापना अत्यन्त सदिग्ध और अनिश्चित वातावरण म हुई थी शासक और शासितो क बीच बहुत भेदभाव था। इन कारणों स ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिति सवथा सुरक्षित नहीं थी। उसकी सुरक्षा का एकमात्र उपाय यही हो सकता था कि अग्रजी शिक्षा क प्रचार द्वारा स्वतन्त्र विचार शक्ति को कुण्ठित कर दिया जाये। ट्रेवेलियन न १८३८ म लिखा था कि अग्रजी साहित्य का प्रभाव भारत में अग्रेजी साम्राज्य क लिए हितकर होगा। लेकिन वह यह भूल गया कि अग्रेजी साहित्य स्वतन्त्रता की उन्नत भावनाओ से परिपूर्ण है और इस द्वारा राष्ट्रीयता एव स्वाधीनता की भावना को प्रोत्साहन मिलेगा।[1]

पाश्चात्य शिक्षा का सूत्रपात करने में अग्रजो का ध्येय भारत में अपने साम्राज्य की जडो को मजबत करना था लेकिन उसने इन जडो को उखाडने में सहायता दी। भारतीयो को अपने विदेशी शासको क प्रति राजभक्ति का पाठ पढाने क बजाय अग्रजी शिक्षा ने उन्हें स्वतन्त्रता और स्वशासन का पाठ पढाया। शिक्षित भारतीयो ने

१ ओ मेले (सम्पादित)— माडन इण्डिया एण्ड दि वेस्ट' पृ० ६५८ ६।

अमेरिका इटली और आयरलण्ड के स्वातन्त्र्य संग्रामों के सम्बन्ध में पढ़ा। उन्होंने ऐसे लेखकों की रचनाओं का अनुशीलन किया जिन्होंने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वाधीनता के सिद्धान्तों का प्रचार किया है। ये शिक्षित भारतीय भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के राजनीतिक और बौद्धिक नेता हो गए।[1] यह स्मरणीय है कि सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी दादाभाई नौरोजी गोखले तथा भारत की राष्ट्रीयता के अन्य ख्याति-प्राप्त अंग्रेजी शिक्षा की ही देन थे। मकाले ने कहा था कि उस दिन को जब यूरोपियन ज्ञान में निष्णात भारतीय यूरोपियन संस्थाओं की माँग करेंगे मैं ब्रिटिश इतिहास का सर्वाधिक गौरवपूर्ण दिवस" समझूँगा। मकाले का यह स्वप्न बहुत शीघ्र साकार हो गया इतना शीघ्र जिसकी उसने कभी कल्पना भी न की होगी।

अंग्रेजी भाषा से भारत की राष्ट्रीयता को प्रभूत बल प्राप्त हुआ। प्रान्तीय सीमाओं के ऊपर उठकर उसने अखिल भारतीय भाषा का रूप धारण कर लिया। शिक्षित भारतीयों की लोक भाषा (Lingua Franca) के रूप में यह देश के विभिन्न भागों के निवासियों के बीच विचारों के आदान प्रदान का माध्यम बन गई। इसने उन्हें एक मंच पर मिलने सामान्य समस्याओं पर विचार करने और कार्य की सामान्य योजना के निर्माण का पथ प्रशस्त किया। दूसरे शब्दों में अंग्रेजी ने भारत की राजनीतिक एकता और राष्ट्रीयता के अभ्युत्थान में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

(६) भारतीय प्रेस और वर्नाक्युलर साहित्य—अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से भारत में पत्रकारिता का जन्म और प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों का विकास हुआ। विद्रोह के पश्चात् भारतीय समाचार पत्रों की आशातीत वृद्धि हुई। जब राष्ट्रीय महासभा का जन्म भी नहीं हुआ था और भारतीयों के पास कोई सामान्य मंच नहीं था समाचार पत्रों ने राष्ट्रीयता की भावना के विकास में बहुत सहायता दी। उन्होंने जनता की शिकायतों को निर्भीक भाषा में व्यक्त किया और व सरकारी कामों की तीक्ष्ण आलोचना करने में पीछे नहीं हटे। भारतीय प्रेसों ने अंग्रेजी और देशी भाषाओं दोनों में राष्ट्रीयता के शिशु-पादप का सिंचन किया और ऐंग्लोइण्डियन समाचार पत्रों का मुँहतोड़ उत्तर दिया।

भारतीय प्रेस के जन्मदाता राजा राममोहनराय ने १८२१ में 'सम्वाद कौमुदी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसका दृष्टिकोण प्रगतिशील एवं राष्ट्रवादी था। इसके एक ही वर्ष बाद फरदून जी मुर्जबान ने 'बम्बई समाचार' निकालना शुरू किया। १८३१ में भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय द्वारकानाथ टगोर और प्रसन्नकुमार टगोर द्वारा सम्स्थापित 'बंगदूत' का प्रकाशन शुरू हुआ। गुजराती 'रास्तगुफ्तार' की स्थापना १८५१ में हुई थी और कुछ काल तक उसका सम्पादन दादाभाई नौरोजी ने किया। १८५७ के विद्रोह के पश्चात् तो भारतीय

---

१ ए० आर० देसाई— सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म पृ० २६०।

समाचार पत्रों ने विद्युतगति से उन्नति की। ऐंग्लो इण्डियन टाइम्स आफ इण्डिया' (१८६५) मद्रास मेल (१८६८) स्टेट्समन (१८७५) और लाहौर के सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' (१८७६) आदि पत्र शासक वर्ग के प्रवक्ता थे। इन पत्रों की चुनौती का उत्तर देने के लिए इसी युग में अमृत बाजार पत्रिका (१८६८) ट्रिब्यून (१८७७) और पायनियर (१८७९) का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। उन्होंने राष्ट्रीयता के मार्ग को ग्रहण किया।

भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में समाचार पत्र-पत्रिकाओं का काफी हाथ रहा है। उन्होंने जनता को जागरण का सन्देश दिया है और उसे राजनीतिक रूप से शिक्षित किया है। राष्ट्रीय आन्दोलन समाचार पत्र पत्रिकाओं का कितना ऋणी रहा है यह इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि राजा राममोहनराय से लेकर केशवचन्द्र सेन गोखले तिलक फिरोजशाह मेहता दादाभाई नौरोजी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी सी० वाई० चिन्तामणि महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू तक सार्वजनिक नेताओं की एक विशिष्ट परम्परा रही है जिन्होंने अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए प्रेस का उपयोग किया है और अब भी कर रहे हैं।' [1]

इस समय देशी भाषाओं में जिस साहित्य का सृजन हुआ उसने भी राष्ट्रीयता की वेगवती धारा को शक्ति प्रदान की। बंगाल में बंकिमचन्द्र जैसे साहित्यकारों ने राष्ट्रीयता की उपासना को प्रदीप्त रखा। उनका आनन्दमठ तो आधुनिक बंगीय राष्ट्रीयता की गीता बन गया। उसने नवयुवकों को बहुत प्रभावित किया और बंगाल में क्रांतिकारी राष्ट्रीयवाद की पाठ्य पुस्तक का काम किया। [2] वन्देमातरम जो रवीन्द्र के जन मन गन के साथ साथ भारत का राष्ट्रीय गीत है बंकिम की रचना है। बहुत से भारतीय यूरोपियन अधिकृत नील के बगीचों में काम करते थे। वहां उनको जिन मुसीबतों का सामना करना पड़ता था 'नीलदर्पण नामक एक बंगाली नाटक में उनका सफल चित्रण किया गया। इस नाटक का पढ़कर देशभक्त भारतीयों की भावनाओं को उत्तेजना मिली। राष्ट्रवादी आदर्शों का प्रसार करने में बंगाल में प्रेस थियेटर और गुप्त क्रान्तिकारी समितियां विशेष रूप से सक्रिय थी। गैरीबाल्डी और मेजिनी के जीवन चरित्रों का अनुवाद किया गया और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के ध्येय को स्वप्न में हस्तगत भारत का इतिहास (History of India gained in a Dream) जैसे शब्दों में घोषित किया गया।[3]

(८) धार्मिक पुनर्जागरण और राष्ट्रीयता—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय राष्ट्रवाद की वेगवती धारा को उस युग के सुधार आन्दोलनों ने अपूर्व बल प्रदान

---

१ मार्ग्रेटा बर्न्स— दि इण्डियन प्रेस पृ० १६।

२ जी०एन सिंह— लण्डमार्क्स इन इण्डियन नेशनल एण्ड कान्स्टीट्यूशनल डवलपमेण्ट' पृ ११७।

३ हंस कोहन— ए हिस्ट्री आफ नेशनलिज्म इन दी ईस्ट पृ० ३६०।

किया। शताब्दियों तक निष्क्रियता के पराधीनता पाश में फँसे रहने के कारण हिन्दू अपने सांस्कृतिक वैभव को भूल चुके थे। भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ साथ ईसाई धर्म का भी आगमन हुआ और वह हिन्दू धर्म के अस्तित्व तक को चुनौती देता प्रतीत होने लगा। यह स्पष्ट था कि उस समय हिन्दू धर्म शनैः शनैः विनाश की ओर बढ़ रहा था और उसकी रक्षा तभी हो सकती थी जब कि वह अपनी सामाजिक कुरीतियों को दूर कर देता। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिमी ज्ञान के आलोक से आँखें खुलने पर तथा पराधीनता की पीड़ा अनुभव करने पर दूरदर्शी भारतीयों ने अपने देश की दुरवस्था देखी। उन्हें उसमें संशोधन की आवश्यकता जान पड़ी। इसी के परिणाम आधुनिक धार्मिक सुधार आन्दोलन थे। इन धार्मिक सुधार आन्दोलनों ने देश में जिस पुनर्जागरण का सृजन किया वह भारत की विकासोन्मुख राष्ट्रीयता का एक अविभाज्य अंग तथा उसके लिए अपार शक्ति का स्रोत बन गया। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इन धर्म सुधार आन्दोलनों का विशेष महत्व है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के उद्भव में इन सुधार आन्दोलनों का निर्णायक हाथ रहा है। नीचे हम सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुधार आंदोलनों तथा भारतीय जनता के राष्ट्रीय जागरण पर पड़ा उनके प्रभाव का विवेचन करेंगे।

ब्रह्मसमाज और राजा राममोहनराय—ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय (१७७२—१८३३) गत शताब्दी के अग्रगण्य सुधारकों में से थे। डा० पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में उनका दर्शन बड़ा विस्तृत और दृष्टि बिन्दु व्यापक था।[1] उन्होंने २० अगस्त १८२८ को ब्रह्मसमाज की स्थापना की। ब्रह्मसमाज के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित थे—(१) ईश्वर एक है। वह संसार का स्रष्टा पालक और रक्षक है। उसकी शक्ति, प्रेम, न्याय और पवित्रता अपरिमित है। (२) जीवात्मा अमर है। उसमें असीम उन्नति करने की क्षमता है और वह अपने कर्मों के लिए भगवान के सामने उत्तरदायी है। (३) आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रार्थना भगवान का आश्रय और उसके अस्तित्व की अनुभूति आवश्यक है। (४) किसी भी बनाई हुई वस्तु को ईश्वर समझ कर नहीं पूजना चाहिए न किसी पुस्तक या पुरुष को निर्भ्रान्त अथवा मोक्ष का एक मात्र साधन मानना चाहिए।

राजा राममोहनराय के प्रभावशाली नेतृत्व में ब्रह्मसमाज ने चहुँमुखी उन्नति की। उनकी मृत्यु के पश्चात् महर्षि देवेन्द्रनाथ और केशव चन्द्र सेन ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया। लेकिन इन दोनों व्यक्तियों के दृष्टिकोण में अन्तर था, फलतः ब्रह्मसमाज के दो भेद हो गए—आदिसमाज और साधारण समाज। आदि समाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ थे। इसकी विचार धारा कुछ संकुचित और पुराणपंथी थी। साधारण समाज अधिक आधुनिक और सुधारवादी था।

---

१ डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या—'हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस' पृ० १७।

ब्रह्मसमाज ने हिन्दू धर्म की सराहनीय सेवाएं कीं। उसने हिन्दू धर्म की मौलिक पवित्रता व श्रेष्ठता का उद्घाटन किया अन्धविश्वासों और बहुदेववाद की निन्दा की तथा बाल विवाह, सती प्रथा और विधवाओं की दुर्दशा जैसी सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में हाथ बटाया।

(ख) आर्य समाज और स्वामी दयानन्द—उन्नीसवीं शताब्दी का दूसरा महत्वपूर्ण सुधार आन्दोलन आर्यसमाज था। इसके संस्थापक स्वामी दयानन्द का जन्म काठियावाड के एक छोटे से गांव में १८२४ में हुआ था। वे २१ वर्ष की अवस्था में गौतम बुद्ध की भांति घर छोड़कर निकल गए और उन्होंने अपनी आध्यात्मिक पिपासा की शान्ति के लिए वन वन की खाक छानी। १८६० में दयानन्द जी को मथुरा में स्वामी विरजानन्द के दर्शन हुए। विरजानन्द जी ने उन्हें वेदों का सम्यक् अध्ययन कराया और प्रेरणा दी कि वे संसार में वैदिक धर्म का प्रचार करें। गुरु से दीक्षा लेकर दयानन्द जी ने भारत का भ्रमण किया और जनता को वैदिक धर्म की शिक्षा दी। उन्होंने १८७५ में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की। एक अंग्रेज विद्वान् वैलन्टाइन शिरोल ने स्वामीजी के तत्कालीन समाज पर प्रभाव के विषय में लिखा है— स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अनुयायियों पर अपूर्व राष्ट्रीयता की छाप छोड़ी और भारत को भारतीयों का घोषित किया।'

आर्यसमाज हिन्दू धर्म के अतीत गौरव की पुनः स्थापना के लिए प्रयत्नशील आन्दोलन था। उसका मन्त्र सिद्धान्त था वेद सब सत्यविद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज के धार्मिक पहलुओं में अन्तर है। आर्यसमाज में समन्वय की उस भावना का जो ब्रह्मसमाज की एक प्रमुख विशेषता थी अभाव था।

स्वामी दयानन्द की मृत्यु के पश्चात सर्वश्री लेखराम, गुरुदत्त विद्यार्थी, लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा हंसराज आदि महानुभावों ने आर्यसमाज के आन्दोलन को शक्तिशाली बनाया। शिक्षा के प्रश्न पर आर्यसमाज में कालिज तथा गुरुकुल नामक दो दल हो गए। कालिज दल ने डी० ए० वी० कालिज की स्थापना करके शिक्षा का प्रसार तथा वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार किया। गुरुकुल दल के नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने १९०२ में हरिद्वार के पास गुरुकुल कांगडी की स्थापना की। आर्य समाज ने शिक्षा, हिन्दी प्रचार, दलितोद्धार, जातिभेद के उन्मूलन, लोक सेवा तथा राष्ट्रीय जागृति के कार्यों में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लिया।

आर्य समाज के दो परस्पर विरोधी पहलू रहे हैं—एक प्रतिगामी, दूसरा प्रगतिशील। वेदों की निर्भ्रान्तता पर अत्यधिक बल, व्यक्तिगत निर्णय की उपेक्षा, अन्य धर्मों के प्रति निषेधात्मक तथा कतिपय प्रथाओं में प्रतिकूल दृष्टिकोण ने उसको सार्वजनीन अथवा सच्चा राष्ट्रीय धर्म नहीं बनने दिया। लेकिन दूसरी ओर जहां आर्यसमाज ने ब्राह्मणों की प्रभुता, मूर्तिपूजा और बहुदेववाद विषयक अंधविश्वासों का विरोध किया

है, नारी जाति के अभ्युत्थान और शिक्षा प्रसार के लिए प्रयास किया है वह एक प्रगतिशील आन्दोलन रहा है। आर्यसमाज राष्ट्रीय जागरण का वैतालिक था। एक समय राजनीतिक दृष्टि से आर्यसमाज सरकार की दृष्टि में क्रान्तिकारी आन्दोलन था और उसके दमन का प्रभूत प्रयास किया गया। सर वेलेण्टाइन शिरोल ने उसे भारत में ब्रिटिश प्रभुता के लिए बहुत बड़ा खतरा बताया था।[1]

(४) रामकृष्ण मिशन और विवेकानन्द—श्री रामकृष्ण परमहंस का जन्म १८३४ में हुगली परगने के एक अकिंचन ब्राह्मण कुल में हुआ था। बाल्यकाल से ही उनका विश्वास था कि परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं इसलिए उन्होंने कठोर-साधना का और भक्ति का जीवन बिताया। श्री रामकृष्ण का विचार था कि सब धर्म सच्चे हैं और वे ईश्वर तक पहुँचने के भिन्न भिन्न साधन मात्र हैं।

श्री रामकृष्ण के शिष्यों में नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) बहुत प्रसिद्ध हैं। गुरु की मृत्यु के बाद उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और वे ६ वर्ष तक तिब्बत में बौद्ध धर्म के अध्ययनार्थ भ्रमण करते रहे। १८९३ के सितम्बर मास में शिकागो के धर्म सम्मेलन में सम्मिलित होकर उन्होंने अपना वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक भाषण दिया जिससे अमरीका को भारत के धार्मिक महत्व का पहली बार पूरा ज्ञान हुआ। अमरीका और इंगलैण्ड में हिन्दू धर्म का प्रचार करने के बाद वे भारत वापस लौटे। विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव की शिक्षा के प्रचार के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

विवेकानन्द महान् धार्मिक नेता ही नहीं थे वे महान् राष्ट्र निर्माता भी थे। उनकी देशभक्ति के विषय में अग्रज कहा करते थे कि 'उनकी पूजा का देवी उनकी मातृभूमि थी' (The queen of his adoration was his motherland) यद्यपि उन्होंने राजनीति में पदार्पण नहीं किया, परन्तु उनकी रचनाओं में उत्कृष्ट देश भक्ति का स्वर सुनाई पड़ता है। वे पश्चिम के स्वातंत्र्य और जनतन्त्र के साथ पूर्व के आध्यात्मवाद का संयोग करना चाहते थे।

थियोसोफी—भारत के धार्मिक तथा राजनीतिक नवजागरण को थियोसाफी से जो कि एक विदेश आन्दोलन था, विपुल सहायता मिली। थियोसोफी की स्थापना मैडम ब्लैवेट्स्की तथा कर्नल अल्काट ने १८७५ ई० में अमरीका में की थी। वे १८७९ में भारत आए और उन्होंने मद्रास के निकट अडयार में अपना केन्द्र बनाया। भारत में इस आन्दोलन को व्यापक बनाने का श्रेय श्रीमती एनीबीसेण्ट को है।

थियोसोफी आन्दोलन ने हिन्दू धर्म की प्राचीन रूढ़ियों और विश्वासों का प्रबल समर्थन किया। इसका उद्देश्य प्राचीन भारतीय आदर्शों और परम्पराओं को पुनरुज्जीवित करना था। श्रीमती बीसेण्ट के प्रयत्न से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनारस में हिन्दू टेम्पुल स्कूल' की स्थापना हुई जिसने आगे चलकर हिन्दू विश्वविद्यालय का रूप धारण

१ हंस कोहन—'ए हिस्ट्री ऑफ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट' पृ०९८।

किया। थियोसोफी आन्दोलन ने हिन्दू धर्म की बड़ी सेवाएं की हैं। उसने सब धर्मों में सद्भाव बढ़ाने के लिए सहिष्णुता का प्रचार किया और हमें अपनी सभ्यता पर गर्व करना सिखाया।

मुसलमानों के धार्मिक आन्दोलन—भारतीय नवजागरण के प्रभाव से मुसलमान भी अछूते नहीं बचे और उनमें भी सुधार की भावना जागृत हुई। सैयद अहमद बरेलवी ने अरब के वहाबी आन्दोलन का सन्देश भारत में प्रसारित किया। उन्होंने ईश्वर की एकता पर पुनर्वार बल दिया और कहा कि कुरान की व्याख्या करने का सब को अधिकार है। वहाबी आन्दोलन की भावना अत्यन्त कट्टर और प्रतिक्रियावादी है।

मुस्लिम समाज सुधारकों में सर सैयद अहमद खाँ का नाम शीर्ष स्थानीय है। उन्होंने अलीगढ़ आन्दोलन चलाया। मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा व संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया। वे पर्दा प्रथा के विरोधी और स्त्री शिक्षा के समर्थक थे। उन्होंने १८७५ में मुहम्मडन ऐंग्लो ओरिएण्टल कालेज की नींव डाली जिसने बाद में अलीगढ़ विश्वविद्यालय का रूप धारण किया।

सुधार आन्दोलनों का प्रभाव—उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने राष्ट्रीय जागृति में काय में अपूर्व योग दिया। विदेशी शासन में भारत तीव्र गति से सांस्कृतिक अधःपतन की ओर बढ़ रहा था। धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने इस पतनोन्मुख प्रवृत्ति को रोका। सदियों से परतन्त्रता की चक्की में पिसते पिसते भारतवासियों में जो मानसिक और आध्यात्मिक दुर्बलता आ गई थी सुधार आन्दोलनों ने उन्हें इस दुर्बलता से उभारा।

सुधार आन्दोलनों ने भारत की कुरीतियों को दूर किया। जनता के अन्ध विश्वासों को तोड़ा और उसमें जांच पड़ताल करने की भावना भर दी। इन आन्दोलनों ने हमें बताया कि हमारे धर्म में कौन सी बातें अच्छी हैं जिन्हें हम स्वीकार करें और कौन सी बातें बुरी हैं जिन्हें हम त्यागें। यह धार्मिक सुधार आन्दोलनों का ही फल था कि भारत अन्ध विश्वासों के घने कुहरे से बहुत कुछ बाहर निकला और उसने प्रत्येक वस्तु को तर्क विज्ञान और विवेक के प्रकाश में देखना प्रारम्भ किया।

प्रायः समस्त धर्म सुधार आन्दोलनों ने भारत के अतीत वैभव का चित्र उपस्थित किया। भारतीय जनता ने जब इस चित्र से अपनी वर्तमान स्थिति का मिलान किया तो उसे अपार वेदना हुई। कहां तो भूतकाल का जगद्गुरु भारतवर्ष और कहाँ वर्तमान काल का पराधीन निर्धन और अशिक्षित भारतवर्ष। स्वभावतः धार्मिक आन्दोलनों ने भारतीय जनता के अन्तस्तल में अपनी वर्तमान दुर्दशा से छुटकारा पाने की अदम्य लालसा उत्पन्न कर दी। इस प्रकार धर्म सुधार आन्दोलनों ने राष्ट्रवाद की भावना को धार्मिक क्षेत्र में व्यक्त किया।

यह स्मरणीय है कि राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द प्रभृति सुधारक उच्चकोटि के राष्ट्रवादी थे। उन्होंने अपने अनुयायियों को देशभक्ति का पुनीत पाठ पढ़ाया। राजा राममोहनराय को आधुनिक भारत का जनक कहा गया है। यद्यपि वे ब्रिटिश शासन के प्रशंसक थे फिर भी वे उन अन्यायों से अवगत थे जिनसे भारतवर्ष पीड़ित था। स्वामी दयानन्दजी का तो राष्ट्रप्रेम असंदिग्ध है। उन्होंने अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है 'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजा पर माता पिता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।' स्वामी विवेकानन्द का हृदय जहाँ वेदान्त की शिक्षाओं से आप्लावित था वहाँ उनके हृदय में देशभक्ति की उत्ताल तरंगें भी हिलोरें लेती रहती थीं। नवयुवकों के लिए उनका सन्देश था, मेरे तरुण मित्रो! बलवान् बनो! तुम्हारे लिए मेरी यही सलाह है। तुम भगवद्गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबाल खेलकर कहीं अधिक सुगमता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। जब तुम्हारी रगें और पट्ठे अधिक दृढ़ होंगे तो तुम भगवद्गीता के उपदेशों पर अधिक अच्छी तरह चल सकोगे। गीता का उपदेश कायरों को नहीं प्रत्युत अर्जुन को दिया गया था जो बड़ा शूरवीर पराक्रमी और क्षत्रिय शिरोमणि था।

(11) आर्थिक कारण—शुरू में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी केवल मात्र वाणिज्य संस्था ही थी जिसमें मुख्य सामान लाती और उसे भारत के वस्त्र दस्तकारियों तथा अन्य विलास की चीजों में बदल लेती तब भारतीय उद्योगों को बड़ा बल मिला और कारीगरी की चीजों में भारत निर्यात वाणिज्य बहुत बढ़ गया। लेकिन उस समय हालत बिल्कुल बदल गई जब कि इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप शिल्पकारों का एक नया वर्ग तैयार हो गया। इंग्लैण्ड में सारी राजनीतिक शक्ति का आ जाना भारत की कलाओं और दस्तकारियों के लिए प्राण घातक सिद्ध हुआ। गाडगिल के शब्दों में इस आर्थिक संक्रान्ति में [illegible] एकमात्र [illegible] घटना (भारत में) पुरानी दस्तकारियों का पतन है। वास्तव में इन दस्तकारियों का आमूल विनाश आकस्मिक ढंग से हो गया।[1]

(12) भारतीय शिल्पकारों का पतन—भारतवर्ष से जिन पदार्थों का इंगलैण्ड में आयात होता था उन पर भारी कर लगा दिए जिससे यहाँ का निर्यात व्यापार नष्टप्राय हो गया। इसी समय भारत के कारीगरों को निर्मम दमन का सामना करना

१ डी० आर० गाडगिल— दि इण्डस्ट्रियल एवोल्यूशन ऑफ इण्डिया इन रीसेंट टाइम्स पृ० ६।

पड़ा। सरकार ने भारत में स्वतन्त्र वाणिज्य की भी छूट दे दी। परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन के यन्त्र उद्योगों से तैयार की हुई सस्ती चीजों की प्रतियोगिता में भारतवर्ष के छोटे मोटे उद्योग धन्धे बिल्कुल नहीं ठहर सके। रेल और सवाहन साधनों की उन्नति ने विदेशियों का भारत के सम्पूर्ण बाजार का शोषण करने और दस्तकारियों के पतन में सहायता दी।

विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश सरकार की बराबर यह कोशिश रही कि भारत इंगलण्ड के उद्योगपतियों के हितार्थ कच्चे माल का पूरक और तैयार माल का ग्राहक बना रहे। इसके लिए उसने यहाँ के उद्योग धन्धों के विरुद्ध विभेद की नीति अपनाई। इसी समय भारत में आधुनिक उद्योग धन्धे विकसित होने लगे लेकिन उनके संरक्षण का उपाय नहीं किया गया चेष्टा यह की गई कि उनका उत्कर्ष न हो सके। लार्ड लिटन के प्रतिगामी शासन-काल में कपास से ही आयात कर उठा लेना इसका उदाहरण है। भारत पुरानी दस्तकारियों पर ब्रिटिशराज का जो प्रभाव पड़ा डा० पट्टाभि सीतारामय्या ने उसका सविस्तार वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है— पुरातन कला कौशल दस्तकारियाँ नष्ट कर दी गईं। खद्दर जो ईस्ट इण्डिया द्वारा जहाजों में भर भर कर बाहर भेजा जाता था और जिसके बनाने में गाँव के जुलाहे छीपी धाबी और रंगारी आदि को पर्याप्त धन मिलता था लंकाशायर के कपड़े के आयात के साथ समाप्त होने लगा। लंकाशायर से आने वाले कपड़े का मूल्य १८०४ में तीन लाख था १८२६ में उन्नीस लाख हुआ और १९२९ में बढ़ते-बढ़ते बहत्तर करोड़ तक जा पहुँचा।[1] जब भारत में बाहर से यन्त्र निर्मित सस्ता सामान आने लगा तो देहाती कर्मियों को अपनी जीविका से हाथ धोना पड़ा। बीस लाख जुलाहे अपने कुटुम्ब के लोगों को मिलाकर जिनकी संख्या एक करोड़ तक पहुँचती थी जीविका से वंचित हो गए। इसके साथ ही साथ तीन करोड़ सूत कातने वाले जिनकी वजह से पाँच लाख करघे चलते थे अपनी रोजी से हाथ धो बैठे। इस प्रकार चार करोड़ व्यक्तियों की रोजी जाती रही। अन्यान्य शिल्प जीवियों का भी यही हाल हुआ। नगरों में कूचा हटाने वाली गाड़ी के लिए मोटर टायरों के आयात ने बढ़ई की रोटी छीन ली। बर्मिघम और एन्टवर्प से आने वाले तार खूँटी कब्जे ताला तार और जालियाँ आदि के कारण लोहार की आय मारी गई। जूते भी बाहर से ही आने लगे फलतः चमार की जीविका का भी कोई ठिकाना नहीं रहा। रोगन और चीनी के सामान की वजह से कुम्हार अपनी जीविका खो बैठा।[2] अंग्रेजों ने भारत की पुरानी दस्तकारियों का अन्त करने के साथ

---

१ पट्टाभि सीतारामय्या—हिस्ट्री ऑफ नेशनलिस्ट मूवमेंट इन इण्डिया पृ० ५

२ पट्टाभि सीतारामय्या—हिस्ट्री ऑफ नेशनलिस्ट मूवमेंट इन इण्डिया पृ० ५ ६।

ही साथ यहाँ के माल तैयार करने के कई उद्योग धन्धों को भी कुचल डालने की कोशिश की।'[1]

कृषि पर प्रभाव—निर्धनता और असंतोष—भारतीय कारीगरों की विपुल बेकारी और शिल्पकलाओं के ह्रास के कारण नगरों की जन संख्या कम हो गई। लोग शहरों को छोड़ छोड़कर गाँवों में जा बसे और जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने कृषि की शरण ली। जमीन पर बढ़ते हुए दबाव, अंग्रेजों की भूमि सम्बन्धी नीति, जमींदारी प्रथा और भारतीय कृषि की परम्परागत दुर्बलताओं से खेती को बड़ा धक्का पहुँचा। फलतः चारों ओर दरिद्रता प्रसरित हो गई और लोगों का रहन-सहन का स्तर नीचे गिर गया। इसने स्वाभाविक रूप से असंतोष को जन्म दिया। यह स्पष्ट रूप से दीखने लगा कि भारत की दुर्गम आर्थिक समस्या गरीबी को उस समय पर्यन्त नहीं सुलझाया जा सकता जब तक कि भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति नहीं पा लेता।

व्यापारियों और शिक्षित भारतीयों में असंतोष—जनता की बढ़ती हुई गरीबी के कारण जो बेचैनी फैल रही थी उसको भारत के उदीयमान बोरजुआजी (Bourgeoisie) और मध्यवर्गीय शिक्षित जनों के असंतोष से भी बल मिला। भारतीय व्यापारी यह अच्छी तरह समझ गए कि देश की औद्योगिक उन्नति में ब्रिटिश राज बहुत बड़ी बाधा है। ऊँची सरकारी नौकरियों के दरवाजे अपने लिए बन्द देख कर शिक्षित भारतीयों की भी क्रोधाग्नि भड़क उठी। विद्रोह के पश्चात महारानी विक्टोरिया ने अपने घोषणापत्र में जो आशाएं दिलाई थीं उनको निर्मूल होता देख कर उन्हें और भी परेशानी हुई। वस्तुतः आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठने की अवस्था में कमी कर देने का आशय यही था कि भारतीय शासन सम्बन्धी किसी भी महत्वपूर्ण पद को न पा सकें। ऐसे कृत्यों का जिस प्रकार देशव्यापी विरोध हुआ इसका हम पहले ही

---

१ ब्रिटेन ने भारतवर्ष के साथ कपास-वस्त्रों का जो वाणिज्य किया उसके इतिहास को 'इंगलैण्ड की ओर से भारतवर्ष के प्रति किए गए अन्याय का एक ज्वलन्त उदाहरण' बताते हुए होरेस विल्सन ने लिखा है—यदि इस प्रकार के निषिद्ध कर और व्यवधान न लगे होते तो मानचेस्टर और पेस्ले के कारखाने शुरू में ही बन्द हो जाते और फिर भाप की शक्ति से भी उन्हें चालित करना कठिन हो जाता। भारतीय शिल्प के बलिदान के बल पर उनका निर्माण हुआ। यदि भारत स्वतन्त्र होता तो वह प्रतिकार करता। उसे आत्म रक्षा के इस साधन से वंचित रक्खा गया। वह विदेशियों की दया का मुहताज रहा। बिना किसी प्रकार का कर चुकाए विदेशी माल का यहाँ स्वतन्त्रतापूर्वक आयात किया गया। विदेशी व्यापारी ने अपने इस प्रतिपक्षी को पछाड़ने और अन्त में उसका गला घोंट देने के लिए राजनीतिक अन्याय का आश्रय लिया जिसके सम्मुख बराबरी की मर्यादा पर वह बिल्कुल नहीं ठहर सकता था। जे० एस० मिल द्वारा उद्धृत— प्रिजेंटेटिव पृ० ३८५।

उल्लेख कर चुके हैं। यह स्मरणीय है कि शिक्षित मध्य वर्ग का असन्तोष जिसने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की गेंद को हिलते डुलते रखा, कुछ तो आर्थिक था और कुछ राजनीतिक। यह भी महत्वपूर्ण है कि भारतीय व्यवसायियों ने भी राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संघर्ष में सहयोग दिया। अधिकतर उन्होंने पर्दे के पीछे से काम किया परन्तु उनका प्रभाव बहुत था। स्वदेशी आन्दोलन और विदेशी चीजों का बहिष्कार करो नारे में उनका बहुत बड़ा हाथ रहा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में व्यापारी वर्ग के आर्थिक स्वार्थ निहित थे।

(८) राजनीतिक एकीकरण—भारतवर्ष के प्रशासनिक एकीकरण, आवागमन के आधुनिक साधनों की उन्नति और अंग्रेजी शिक्षा प्रदान के प्रसार ने राष्ट्रीय चेतना और एकता के लिए सहायक वातावरण तैयार कर दिया। भारतीय जनता की बढ़ती हुई गरीबी ने असन्तोष में वृद्धि की और इस तरह राष्ट्रीयता की ज्वाला को भड़का दिया।[1] परन्तु भारतीय राष्ट्रीयता के प्रवाह को सबसे अधिक शक्ति राजनीतिक कारणों से ही प्राप्त हुई।

इन सब राजनीतिक कारणों में सबसे अधिक शक्तिशाली जातीय द्वेष (racial discrimination) था। कोई भी पराधीन जाति विदेशी प्रभुता को सदैव सहन नहीं कर सकती। कभी न कभी जल्दी अथवा देर में उसके प्रति असन्तोष उत्पन्न हो ही जाता है। भारतवर्ष में विदेशी शासन ने अत्यन्त उद्धत भाव से आचरण किया अतः उसके प्रति असन्तोष की भावना शीघ्र ही जाग्रत हो गई। अंग्रेज भारतीयों को अपने से हीन नस्ल का आधा वनमानुष और आधा हब्शी (Half negro half gorrilla) समझकर घृणा की दृष्टि से देखते थे। इस प्रकार के दृष्टिकोण से भारतीयों के बीच अनिवार्य रूप से ब्रिटिश विरोधी भावनाओं का विस्तार हुआ। इसकी वजह से भारतीयों और उनके श्वेत शासकों के बीच बहुत चौड़ी खाई उत्पन्न हो गई। चूंकि सभी उच्च सरकारी नौकरियों पर यूरोपियनों की ही नियुक्ति होती थी इससे ब्रिटिश विरोधी भावनाओं में और भी वृद्धि हुई। इस जातीय भेदभाव और भारतीय प्रतिभा के तिरस्कार का शिक्षित भारतीयों ने प्रचण्ड रूप से विरोध किया। गरेट ने ठीक ही कहा है कि भारतीय राष्ट्रीयता के उदय में जातीय भेदभाव एक प्रधान कारण था।

अंग्रेजों ने जिस अविश्वास और दमन की नीति पर आचरण किया उसके कारण असन्तोष और प्रचण्ड हो उठा। लार्ड लिटन के भ्रान्तिमय शासनकाल में जो

---

[1] ड्यूक आफ आर्गील ने जो लार्ड नार्थब्रुक के शासन काल में भारत में राज मन्त्री भी थे भारत की दरिद्रता का निम्न शब्दों में वर्णन किया है "ग्रामीण भारतवर्ष की विशाल जनसंख्या में जिस दयनीय दरिद्रता और जीवन निर्वाह के निम्न स्तर के दर्शन होते हैं पाश्चात्य संसार में उसका उदाहरण कहीं नहीं मिलेगा।"

प्रतिक्रियावादी काम किए गए उन्होंने असन्तोष के ज्वालामुखी को उस स्थिति तक पहुँचा दिया कि अब उसके फटने की ही देर रह गई थी। मूर्खतापूर्ण अफगान युद्ध के कारण भारत की आर्थिक स्थिति पर कुप्रभाव पड़ा। जबकि देश भयंकर दुर्भिक्ष के पंजों में जकड़ा हुआ था जनता की कठिनाइयों की सर्वथा उपेक्षा कर लार्ड लिटन ने शानदार दिल्ली दरबार का आयोजन किया। उसने निरपराध भारतीयों के लिए हथियार रखना अपराध घोषित कर दिया जब कि यूरोपियनों के ऊपर ऐसा कोई अंकुश नहीं लगाया। समाचार पत्रों पर प्रतिबन्ध लगाकर उसने आलोचना के स्वर को बन्द करने की चेष्टा की। इन सब कामों की वजह से जनता के असन्तोष की पुञ्जीभूत ज्वाला बढ़ता ही चला गया।'[1] सर विलियम वेडरबर्न के शब्दों में रूसी पुलिस के दमन की विधियों से सयुक्त इन सभी प्रतिगामी कामों के कारण लार्ड लिटन के शासनकाल में भारत क्रान्तिकारी विस्फोट के अतीव समीप पहुँच गया था। मिस्टर ह्यूम का योग भी विलम्ब अत्यन्त घातक सिद्ध होता। लार्ड रिपन ने बिगड़ी हुई स्थिति को सम्भालने का भरसक प्रयास किया परन्तु इल्बर्ट बिल को लेकर यूरोपियनों ने विरोध का जो तूफान खड़ा कर दिया उसमें सब किया-कराया मिट्टी में मिल गया। अब भारतीयों को यह समझने देर न लगी कि यदि वे विदेशी शासन से टक्कर लेना चाहते हैं उसके दमन और शोषण से छुटकारा पाने के आकांक्षी हैं तो उन्हें संगठन के सूत्र में बंध जाना पड़ेगा। यह स्मरणीय है कि राष्ट्रीय महासभा का जन्म इल्बर्ट बिल सम्बन्धी वाद विवाद समाप्त होने के पूर्व ही हो गया था।

७ भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश शासन की देन।

ब्रिटिश शासन के द्विविध रूप क्रान्तिकारी और प्रतिगामी—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के जन्म के कारणों का उक्त विवेचन यह सुस्पष्ट कर देता है कि भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश शासन की स्वाभाविक यद्यपि अप्रत्याशित परिणाम थी। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दो परस्पर विरोधी पहलू थे। उसे कुछ अर्थों में तो क्रान्तिकारी और कुछ अर्थों में घोर प्रतिगामी कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता और न्याय प्राप्ति के लिए जो राष्ट्रीय संघर्ष छेड़ा गया उसके जन्म और विकास में ब्रिटिश शासन का भी निर्विवाद श्रेय रहा है। हम यह लिख चुके हैं कि भारत के इतिहास में प्रथम बार अंग्रेजों ने ही उसे राजनीतिक एकता प्रदान की। इसके अभाव में राजनीतिक चेतना असम्भव हो जाती। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का सूत्रपात करके अंग्रेजों ने भारतीय राष्ट्रीयता की शक्ति सामर्थ्य में वृद्धि की। अंग्रेजी शिक्षा ने भारत के बुद्धिजीवी वर्ग का पश्चिम की ओर उन्मुख कर दिया जहाँ से शिक्षित भारतीयों ने व्यक्तिगत स्वाधीनता और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के क्रान्तिकारी सिद्धान्त सीखे और अपने संघर्ष में उन्हें हस्तगत करने के लिए महती प्रेरणा भी प्राप्त की। यह सच है कि अंग्रेजों ने

---

1 ए० आर० देसाई—सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म पृ० २८९।

जान-बूझ कर भारतीय राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन नहीं दिया। देश का राजनीतिक एकीकरण और पाश्चात्य शिक्षा पद्धति का सूत्रपात करने में उनका ध्येय यही था कि यहाँ वे अपने साम्राज्य की जड़ों को सुदृढ़ कर सकें परन्तु इन सब कार्यों का परिणाम उनकी आशाओं से भिन्न हुआ।

यदि ब्रिटिश शासन के प्रगतिशील पहलू ने भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना के उद्भव के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण किया तो उसके प्रतिगामी पहलू ने भारतीय राष्ट्रीयता को उग्रता प्रदान की। यदि वास्तव में ब्रिटिश शासन उदार और व्युत्पन्न राज्य क्रम (Enlightened despotism) रहा होता तो वह असंतोष ही उत्पन्न नहीं होता जिसने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की इच्छा को जन्म दिया। यह तो सब विदित है ही कि प्रारम्भ में राष्ट्रीय महासभा राजभक्त भारतीयों और ब्र भारतीयों की संस्था थी जिनकी माँगें बहुत नरम थीं। यदि अंग्रेजों ने तनिक बुद्धि चातुर्य और दूरदर्शिता से काम लिया होता तो वे भारतवर्ष पर और अधिक समय तक शासन कर सकते थे और इसमें उन्हें जनता की सहमति भी मिल जाती। परन्तु उनके पास इन दोनों ही वस्तुओं का अभाव था। साम्राज्यवाद की तो कुछ प्रकृति ही ऐसी है कि वह न तो उदार ही होता है और न व्युत्पन्न ही। भारतीय परम्परा से ही सरल और शान्त स्वभाव के रहे हैं पर अपने जातीय दर्प के कारण अंग्रेज उनके घृणाभाजन बन गए। अंग्रेजों के अंधाधुंध आर्थिक शोषण ने भारतीय मस्तिष्क को असन्तुष्ट और अशान्त कर दिया। भारतीय राष्ट्रीयता के प्रवाह के आदि कारण अंग्रेज स्वयं ही थे उन्होंने उसे नियन्त्रित करने के लिए दमन के साधनों का प्रयोग किया। परन्तु राष्ट्रीयता का यह अजस्र प्रवाह उनके रोके नहीं रुका। भारतीय राष्ट्रवादी विदेशी शासन का समूल उन्मूलन करने के लिए बद्ध परिकर हो गए।

८ राष्ट्रीय महासभा का जन्म (Birth of Indian National Congress)

एलेन आक्टेवियन ह्यूम—हम देख चुके हैं कि, राष्ट्रीय महासभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस जिसे सुविधा के विचार से कांग्रेस ही कहेंगे) आर्थिक और राजनीतिक कारणों के संयोग और "राजनीतिक दासत्व की अनुभूति का परिणाम थी। साथ ही वह राष्ट्रीय पुनरुत्थान का प्रतिपादन करने वाली संस्था भी थी।"[1] इसकी स्थापना का विचार एलेन आक्टेवियन के मस्तिष्क में आया जो एक अवकाश प्राप्त सिविलियन थे। यद्यपि इसके लिए भूमि पहले से ही तैयार की जा चुकी थी। देश के विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय संगठनों की नींव पड़ चुकी थी। ये संगठन राजनीतिक रूप से सक्रिय भी थे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को राष्ट्रीय सम्मेलन (Indian National Conference) की स्थापना करने में सफलता मिल चुकी थी। परन्तु कांग्रेस ने इन सब सहायक नदियों को अपने में मिलाकर शीघ्र ही एक महान् तरंगिणी का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार की एक संस्था का विचार वायुमण्डल में व्याप्त था कांग्रेस ने एक अखिल

---

1 पट्टाभि सीतारामय्या— दी हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस पृ० १७।

भारतीय संस्था की उस आवश्यकता को पूर्ण किया जिसका अनुभव सभी देशभक्तों को हो रहा था।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कांग्रेस की स्थापना का विचार सबसे पहले किस व्यक्ति के मस्तिष्क में उदित हुआ। सामान्यतः ह्यूम को ही इस संस्था का जन्मदाता समझा जाता है। देश के अन्दर बढ़ते हुए असन्तोष के खतरे को पहचान कर तथा सोचकर कि यह असन्तोष कहीं क्रान्ति का रूप धारण न कर ले उन्होंने १ मार्च, १८८३ ई० को कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रेजुएटों के नाम एक पत्र लिखा जो अत्यन्त हृदयस्पर्शी था। इसमें उन्होंने ५० ऐसे निःस्वार्थ और निष्ठावान आदमियों की माँग की थी जो इस सिद्धान्त पर कि 'आत्म बलिदान और निःस्वार्थता सुख और स्वातन्त्र्य के अचूक पथप्रदर्शक हैं' काम करने के लिए तैयार हों। ह्यूम ने अपनी योजना के सम्बन्ध में नए वायसराय लार्ड डफरिन (Lord Dufforin) से वार्तालाप किया। लार्ड डफरिन ने उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुना और योजना के क्षेत्र को बढ़ा दिया। उमेशचन्द्र बनर्जी के अनुसार ह्यूम के मस्तिष्क में सबसे पहले यह विचार आया था कि भारत के प्रधान राजनीतिज्ञ साल में एक बार एकत्र होकर सामाजिक विषयों पर चर्चा कर लिया करें। वह यह नहीं चाहते थे कि चर्चा का विषय राजनीति रहे क्योंकि बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और अन्य भागों में राजनीतिक मण्डल थे ही। लार्ड डफरिन ने ह्यूम साहब के विचार को राजनीतिक दिशा प्रदान की। उन्होंने कहा कि इस संस्था को 'इंगलैण्ड की तरह यहाँ सरकार के विरोध का काम करना चाहिए।'[1] उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की कि यहाँ के राजनीतिज्ञ प्रतिवर्ष अपना सम्मेलन किया करें और सरकार को बताया करें कि शासन में क्या क्या त्रुटियां हैं और उनमें क्या सुधार किए जाएं।[2] ह्यूम ने अपनी योजना में वायसराय के निर्देशों के अनुसार सुधार किया और वे इंगलैण्ड पहुंचे। इंगलैण्ड में उन्होंने वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों लार्ड रिपन, डलहौजी, जान ब्राइट और मि० स्लेग आदि से विचार विनिमय किया। भारत लौटने से पूर्व उन्होंने इण्डियन पालियामेण्टरी कमेटी का संगठन किया जिसका उद्देश्य पार्लमेण्ट के सदस्यों से यह प्रतिज्ञा करवाना था कि वे भारत के मामलों में दिलचस्पी लेंगे।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के सम्बन्ध में यह निश्चित किया गया था कि वह पूना में २५ से २८ दिसम्बर (१८८५) तक होगा। लेकिन पूना में हैजा शुरू हो जाने के कारण उक्त निश्चय में परिवर्तन करना पड़ा। यह ठीक समझा गया कि कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बम्बई में हो। २८ दिसम्बर १८८५ को दिन के १२ बजे गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलिज के भवन में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस प्रकार कांग्रेस का जन्म हुआ जिसे 'देशी पार्लिमेण्ट का अंकुर' समझा गया। कांग्रेस की स्थापना भारत में

---

१ डब्ल्यू० सी० बनर्जी— 'इंट्रोडक्शन टू इण्डियन पॉलिटिक्स।'
२ 'वही'।

कांग्रेस का जन्म केवल ब्रिटिश साम्राज्य के रक्षणार्थ ही नहीं हुआ था—यह धारणा सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है कि कांग्रेस का जन्म ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए हुआ था और उसके मूल में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के स्वार्थ निहित थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रिटिश अधिकारियों ने उसके जन्म के अवसर पर प्रसन्नता प्रकट की थी कहना चाहिये कि कांग्रेस की स्थापना में उनका भी परिलक्षित हाथ था परन्तु उसके सम्बन्ध में अपना मत परिवर्तन करने में भी उन्हें देर न लगी। शीघ्र ही उसके सतर्क का उन्हें भान हो गया वे तुरन्त ही उसके विरोधी हो गए। उन्हीं लार्ड डफरिन ने जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना का स्वागत किया था अब उसे सूक्ष्म अल्पसंख्यक वर्ग कहकर पुकारा। सर वलेंटाइन शिरोल ने कांग्रेस के प्रति शासन की नूतन प्रतिक्रिया को इन शब्दों में संक्षिप्त रूप से व्यक्त किया 'कांग्रेस भारत की केवल शतांश जनसंख्या का ही प्रतिनिधित्व करती है। उन्होंने कांग्रेस को साम्प्रदायिक हिन्दू नेताओं की प्रवक्ता बताया। वस्तु स्थिति यह है कि कांग्रेस शुद्ध राष्ट्रीय और स्वदेशी आन्दोलन के रूप में अवतरित हुई। इस प्रकार की देश व्यापी संस्था के लिए भारत की प्रादेशिक राजनीतिक संस्थाओं ने पहले से ही भूमि तयार कर ली थी किन्तु इस एक सार्वजनिक राष्ट्रीय संस्था का रूप दान का श्रेय श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को है जिन्होंने १८८३ में इसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट किया था। जब कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बम्बई में हो रहा था राष्ट्रीय सम्मेलन का अधिवेशन कलकत्ते में हो रहा था।[१] भारतवर्ष के महान देशभक्त दादाभाई नौरोजी उमेशचन्द्र बनर्जी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी दिनशा वाचा एवं बदरुद्दीन तैयब जी प्रभृति जन प्रारम्भ में ही कांग्रेस में प्रविष्ट हो गए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस साम्राज्यवाद की पृष्ठपोषक मात्र नहीं थी।

अन्यमत —इसके अलावा कांग्रेस की उत्पत्ति के बारे में दो अन्य मत भी प्रचलित हुए हैं किन्तु उनका भी खंडन किया जा चुका है। श्रीमती एनिबेसेन्ट के अनुसार थियोसोफिकल आन्दोलन के फलस्वरूप कांग्रेस का जन्म हुआ। यह तो माना जा सकता है कि थियोसोफिकल सोसाइटी के कुछ कार्यकर्ता कांग्रेस के भी सदस्य थे किंतु एक राजनैतिक संस्था की उत्पत्ति का विषय एक सुधारवादी और आंशिक रूप से धार्मिक विचारधारा वाली संस्था से संयुक्त करना भूल होगी। इसी प्रकार लस्टर हचिन्सन ने कांग्रेस को धनिकवर्ग के हित में रचित संस्था मानते हैं। कांग्रेस के जन्म के प्रारम्भिक काल में इसके सदस्य धनिक वर्ग के अवश्य थे परंतु वह वर्ग कांग्रेस को कभी नियन्त्रित नहीं कर सका। कांग्रेस के प्रारम्भिककाल के सदस्य समाज के विद्वान व बौद्धिक व्यक्ति थे उनका संबंध साधारण जनता से बहुत कम था पर वे धनिक वर्ग के ही हितसमर्थक कभी नहीं थे। धनिक वर्ग साधारणतया सुधारनीति व परिवर्तन नीति में सक्रिय दिलचस्पी नहीं लेता है। इस वर्ग ने १९१९ तक देश की सेवा में सक्रिय भाग भी नहीं लिया।

१ ओ० एन०—"लण्डमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीटयूशनल एण्ड डवलपमेण्ट" पृ० ११२।

सारांश

मूलरूप से तो राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप राजनीतिक था परन्तु उसकी जड़ें आर्थिक, सांस्कृतिक जातीय और राजनीतिक आदि विभिन्न कारणों में निहित है। आवागमन के साधनों की उन्नति भारत के राजनीतिक एकीकरण और सामान्य पराधीनता की भावना ने जनता को राष्ट्रीयता के सूत्र में पिरो दिया। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क से नवोदित भारतीय राष्ट्रीयता को अपूर्व बल प्राप्त हुआ। पाश्चात्य शिक्षा के कारण भारतीयों का प्रशस्य मानसिक विकास हुआ। उनके हृदयों में अद्वितीय स्वाधीनता और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का उन्नति और प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिक विकास ने राष्ट्रीय आन्दोलनों को नूतन शक्ति प्रदान की। उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक धार्मिक सुधार आन्दोलनों ने भी राष्ट्रीय आन्दोलनों पर विस्मयकारी प्रभाव डाला। पुरातन शिल्पकलाओं के ह्रास कृषि की अधोगति और जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता ने व्यापक असन्तोष को जन्म दिया था। जातीय विद्वेष की भावना और अविश्वास तथा दमन की नीति के कारण भारतीय ब्रिटिश शासन से बहुत रुष्ट हो गए। शिक्षित भारतीयों ने अंग्रेजों को इस नीति से कि उन्होंने प्रयत्न तो बहुत किए, पर उन पर आचरण नहीं किया असन्तोष की प्रचण्ड लहर दौड़ गई। राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व उन्होंने ही किया। भारतवर्ष के उदीयमान बोरजुआजी (Bourgeoisise) वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन को हार्दिक सहयोग प्रदान किया क्योंकि अंग्रेजों ने भारतीय उद्योग धन्धों की प्रगति में बाधाएं पहुंचाईं।

भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश राज की उत्पत्ति थी। उसे क्रान्तिकारी और प्रतिगामी दोनों प्रकार की शक्तियों से बल प्राप्त हुआ।

कांग्रेस की स्थापना जो राष्ट्रीय आन्दोलन का अग्रगण्य बन गई १८८५ में हुई थी। इस संस्था की स्थापना का विचार एलन ऑक्टेवियन ह्यूम के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ था। ह्यूम एक अवकाश प्राप्त सिविलियन थे और उन्हें इस खतरे का भान हुआ कि भारतीय जनता का असन्तोष एक क्रान्तिकारी विस्फोट के अत्यन्त समीप पहुंच गया है। वे ब्रिटिश साम्राज्य की इस प्रकार के विस्फोट से रक्षा करना चाहते थे। लेकिन कांग्रेस को ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अवलम्बन मात्र समझना भूल है। इसके अतिरिक्त कांग्रेस जन्म के सम्बन्ध में जो दो अन्य मत प्रचलित हुए हैं उनमें आंशिक सत्यता व्याप्त है।

अध्याय ३

उदार राष्ट्रीयता—कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप

१० कांग्रेस "देश मे एक शक्ति"

कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति—वास्तव मे कांग्रेस का इतिहास ही भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास है। वह संस्था जिसने बासठ वर्षों के अविराम और कठिन संघर्ष के उपरान्त स्वतन्त्रता प्राप्त की, आरम्भ मे अत्यन्त नरम थी। इसके प्रथम अधिवेशन मे जो १८८५ के अन्त मे बम्बई मे हुआ था ७२ प्रतिनिधियो ने भाग लिया जिन्होने अपने आपको प्रतिनिधि के रूप मे चुन लिया था। परन्तु कांग्रेस की शक्ति प्रतिवर्ष बढ़ती ही गई। दूसरे अधिवेशन मे प्रतिनिधियो की संख्या ४३३ और इसमे ४००० के लगभग दर्शक भी उपस्थित थे। तीसरे मे ६०७ और चौथे मे १२४८ तक जा पहुंची। जिस प्रकार एक बड़ी नदी का मूल एक छोटे से स्रोत मे होता है उसी प्रकार महान् संस्थाओ का आरम्भ भी बहुत मामूली होता है। जीवन की शुरू-आत मे वे बड़ी तेजी के साथ दौड़ती हैं परन्तु ज्यो ज्यो व्यापक होती जाती हैं त्यो त्यो उनकी गति मन्द किन्तु स्थिर होती जाती है। ज्यो ज्यो वे आगे बढ़ती है त्यो-त्यों उनमे सहायक नदियां मिलती जाती हैं और वे उसको अधिकाधिक सम्पन्न बनाती जाती हैं। यही उदाहरण हमारी कांग्रेस पर भी लागू होता है।[1] अपने जन्म के कुछ ही वर्षों के भीतर कांग्रेस ने एक अखिल भारतीय संगठन का रूप धारण कर लिया। प० मदन मोहन मालवीय के शब्दो मे भारत ने अन्त में अपनी आवाज को इस महान कांग्रेस मे पाया। सर हैनरी काटन ने जिन्होने कांग्रेस को जन्मकाल से ही उसके विकास का निरीक्षण किया था उसको लक्ष्य करके कहा कि इसके नेता देश में एक शक्ति बन गए हैं जिनकी आवाज देश के एक कोने से दूसरे कोने तक निनादित होती है।

कांग्रेस इतिहास की तीन अवस्थाएं—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास को तीन विशिष्ट अवस्थाओ मे विभाजित किया जा सकता है। पहली अवस्था १८८५ से १९०५ तक की है। २० वर्षों के इस काल में उदार अथवा नरम राष्टीयता की प्रधानता रही। यही इस काल की विशेषता है। इस युग में कांग्रेस किसी भी प्रकार एक क्रांतिकारी संस्था नही थी। इस काल में कांग्रेस ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी राजभक्ति की बातो को बार बार दुहराती रही और उसने आशा की थी कि अंग्रेजो से

---

१ पट्टाभि सीतारामय्या— दी हिस्ट्री आफ कांग्रेस' पृ० २९।

प्रार्थना करने पर कि वे अपनी परम्पराओं और भावनाओं के प्रति सच्चे बनें, यह भारत की राजनीतिक प्रगति पथ में सफल होगी। कांग्रेस के इस काल की सबसे बड़ी सफलता १८९२ का इण्डियन कौंसिल्स ऐक्ट है। दूसरा काल (१९०६-१९१८) उग्र राष्ट्रीयता की प्रधानता का युग है। इस काल में कांग्रेस की बागडोर उग्र राष्ट्रवादियों के हाथों में रही। उन्होंने कहा कि हाथ जोड़कर या प्रार्थनाएं करके तो भारत के राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं की जा सकती। ब्रिटिश सरकार वायदे तो बहुत करती है लेकिन उन पर आचरण नहीं करती। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि भारत के राजनीतिक साध्यों की प्राप्ति के लिए कठोर और क्रान्तिकारी उपायों का अवलम्बन ग्रहण करना पड़ेगा। १९०७ में कांग्रेस दो दलों में विभाजित हो गई और वे दोनों १९१५ तक अलग अलग काम करते रहे। १९१५ में उनमें पुनः एकता स्थापित हो गया। इस काल में ब्रिटिश शासकों की प्रेरणा से मुस्लिम पृथकत्व की भावना भी बहुत बढ़ गई। कांग्रेस इतिहास का तीसरा युग जिसे गांधी युग के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है प्रथम विश्व महायुद्ध के अनन्तर प्रारम्भ होता है। यह युग उस समय से प्रारम्भ होता है जब कि गांधीजी अफ्रीका से वापस आने के पश्चात् महात्मा गांधी ने भारत की राजनीति में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया। उनके गतिशील नेतृत्व में कांग्रेस ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सत्य और अहिंसा के शस्त्रों से संघर्ष किया। १९१८ में नरम दल के नेता कांग्रेस से बाहर निकल गए और उन्होंने आल इण्डिया लिबरल फेडरेशन का संगठन किया। इस युग में हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य की पराकाष्ठा हो गई। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के लिए आन्दोलन किया और अन्त में अभूतपूर्व महत्त्वपूर्ण रक्तपात बलात्कार तथा बर्बरता के बीच भारत का विभाजन हुआ।

११ कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप और कार्यक्षेत्र

एक राष्ट्रीय संगठन—कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन ही उसके सार्वजनिक स्वरूप को व्यक्त करता है। ए० ओ० ह्यूम सर विलियम वेडरबर्न और सर हेनरी काटन जैसे कतिपय उदार अंग्रेजों के साथ ही साथ भारत की सभी जातियों के देशभक्त उसके सदस्य थे। कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष उमेशचन्द्र बनर्जी भारतीय क्रिश्चियन थे दूसरे दादा भाई नौरोजी पारसी थे तीसरे बदरुद्दीन तय्यबजी मुसलमान थे और चौथे तथा पांचवें अध्यक्ष जार्ज यूल और सर विलियम वेडरबर्न अंग्रेज थे। प्रारम्भ से ही कांग्रेस का दृष्टिकोण एवं आदर्श विशुद्ध राष्ट्रीय रहा है। दूसरी सामाजिक परिषद् के अवसर पर जिन शब्दों में गांधी जी ने कांग्रेस के राष्ट्रीय स्वरूप पर प्रकाश डाला था—सच्चे अर्थों में यह (कांग्रेस) राष्ट्रीय है। यह किसी विशेष जाति वर्ग अथवा हित की प्रतिनिधि नहीं है। यह समस्त भारतीय हितों और सब वर्गों की प्रतिनिधि होने का दावा करती है। मेरे लिए यह बताना सबसे अधिक प्रसन्नता की बात है कि इसकी उपज प्रारम्भ में एक अंग्रेज के मस्तिष्क में हुई। एलन ऑक्टेवियन ह्यूम को कांग्रेस के पिता के रूप में हम जानते हैं। दो महान् पारसियों

ने—फिरोजशाह मेहता और दादा भाई नौरोजी ने—जिन्हें सारा भारत 'वृद्ध पितामह' कहने में हर्ष अनुभव करता है इसका पोषण किया। प्रारम्भ में ही कांग्रेस में मुसलमान ईसाई ऐंग्लो-इंडियन आदि शामिल थे बल्कि मुझे यों कहना चाहिए कि इसमें सब धर्मों सम्प्रदायों और हितों का पूर्णता के साथ प्रतिनिधित्व होता था'।

कांग्रेस का सामाजिक आधार—वसे तो उपरोक्त कथनानुसार कांग्रेस का स्वरूप सदव ही राष्ट्रीय रहा है परन्तु शुरू में अपनी सबसे पहली अवस्था में उसको जन संगठन मान लेना भूल होगी। यद्यपि वह देश के सभी वर्गों की कठिनाइयों को मुखरित करती थी और राजनीतिक उत्थान के लिए उनके हृदय की उद्दाम लालसा को भी व्यक्त करती थी परन्तु मुख्यतः वह बुद्धिजीवियों, शिक्षितों और उच्च मध्य वर्गों तथा व्यापारी बोरजुआजी का ही प्रतिनिधित्व करती थी। कांग्रेस के प्रारम्भिक अधिवेशनों में वकीलों शिक्षा विशारदों पत्रकारों चिकित्सकों तथा व्यापारियों की ही संख्या अधिक रहती थी।

प्रारम्भ में कांग्रेस क्रान्तिकारी संस्था नहीं थी—कांग्रेस के कार्यक्षेत्र एवं स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरा महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रारम्भ में वह क्रांतिकारी संगठन नहीं था। उस समय उसकी बागडोर पूरी तरह से नरम राष्ट्रवादियों के हाथ में थी। अंग्रेजों की न्याय भावना में उनकी दृढ़ आस्था थी। उनका प्रमुख ध्येय यही था कि भारतीय शासन का प्रजातन्त्रीकरण हो तथा विधान सभाओं में भारतीय प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ जाय। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने किसी प्रकार के उग्र साधनों का अवलम्बन नहीं लिया अपितु सार्वजनिक भाषणों प्रचार प्रदर्शनों आवेदनों तथा प्रतिनिधिमण्डलों द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास किया।

१२ प्रारम्भिक कांग्रेस के कार्य का संक्षिप्त सिंहावलोकन

कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन १८८५—प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस के प्रोग्राम और क्रियाकलापों का संक्षिप्त विवरण हम यह समझने में सहायता देगा कि उदार राष्ट्रवादियों के क्या ध्येय थे उनकी क्या कार्य पद्धति था और उनके नेतृत्व में इस संस्था का क्या दृष्टिकोण रहा। कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बम्बई में हुआ था। उसके अध्यक्ष उमेशचन्द्र बनर्जी थे और मन्त्री ए० ओ० ह्यूम। इस अधिवेशन ने भारत की कई सुप्रसिद्ध विभूतियां दादाभाई नौरोजी फिरोजशाह मेहता दीनशा एदलजी वाचा काशीनाथ त्र्यम्बक तेलंग नारायण गणेश चन्दावरकर पी० आनन्दाचालू वी० वह राघवाचार्य और एम० सुब्रह्मण्य आदि का संगम उपस्थित कर दिया। इस अधिवेशन में कई सरकारी अफसर भी उपस्थित थे जिनमें सर विलियम वेडरबर्न और श्री रानाडे का नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है। रानाडे ने तो इस अधिवेशन के विचार विमर्श में भी भाग लिया था। सभापति श्री उमेशचन्द्र बनर्जी ने कांग्रेस की गुरुता की ओर प्रतिनिधियों का ध्यान दिलाते हुए उसके उद्देश्यों को इस तरह बतलाया—

(क) साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागों में देशहित के लिए लगन से काम करने वालों की आपस में घनिष्ठता और मित्रता बढ़ाना।

(ख) समस्त देश प्रेमियों के अन्दर प्रत्यक्ष मैत्री व्यवहार के द्वारा वंश धर्म और प्रान्त सम्बन्धी तमाम पूर्व दूषित संस्कारों को मिटाना और राष्ट्रीय ऐक्य की उन तमाम भावनाओं का, जो लार्ड रिपन के चिर स्मरणीय शासन काल में उद्भूत हुई, पोषण और परिवर्द्धन करना।

(ग) महत्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक प्रश्नों पर भारत के शिक्षित लोगों में अच्छी तरह चर्चा होने के अनन्तर प्राप्त परिपक्व सम्मतियों का प्रामाणिक संग्रह करना।

(घ) उन तरीकों और दिशाओं का निर्णय करना जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देशहित के कार्य करें।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में नौ प्रस्ताव पास किए गए थे। प्रथम प्रस्ताव में भारत के शासन कार्य के निरीक्षणार्थ एक रायल कमीशन बैठाने की मांग की गई। दूसरे में इण्डिया कौंसिल को तोड़ देने की राय दी गई। तीसरे प्रस्ताव के द्वारा धारा सभा की कमियों की ओर संकेत किया गया जिनमें अब तक नामजद सदस्य ही थे। प्रस्ताव में नामजद सदस्यों के स्थान पर निर्वाचित सदस्यों के रखने युक्तप्रान्त और पंजाब में कौंसिलें कायम की जाने और कामनसभा में स्थायी समिति की स्थापना करने की मांग की गई—इस आशय से कि कौंसिलों में बहुमत के आ विरोध हो उस पर उसमें विचार किया जाए। चौथे के द्वारा यह निवेदन किया गया कि आई० सी० एस० की परीक्षा इंगलैण्ड और भारत में एक साथ हो और परीक्षार्थियों की अवस्था में वृद्धि कर दी जाए। पांचवें एवं छठे का सम्बन्ध सैनिक व्यय से था। सातवें में अपर बर्मा का मिला लेने तथा उसे भारत में सम्मिलित कर लेने की नीति का विरोध किया गया था। आठवें के द्वारा यह आदेश किया गया कि ये प्रस्ताव राजनीतिक संस्थाओं में भेज दिए जाएं। अन्तिम प्रस्ताव में अगले अधिवेशन का स्थान कलकत्ता और ता० २८ दिसम्बर नियत हुई। विभिन्न वक्ताओं ने अपने भाषणों में ब्रिटिश राज के वरदानों का गुणगान किया, अंग्रेजों की न्याय भावना में अपना पूर्ण विश्वास व्यक्त किया और ब्रिटिश सिंहासन के प्रति अपनी राजभक्ति की उत्साहपूर्ण घोषणा की।

१८८६—कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। इसके अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी थे। इस बार प्रतिनिधि सार्वजनिक सभाओं द्वारा निर्वाचित हुए थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और पंडित मदनमोहन मालवीय ने इसी वर्ष कांग्रेस में प्रवेश किया। दूसरे अधिवेशन में विधान-सभाओं के सुधार की मांग को दुहराया गया और कहा गया कि उनमें 50 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होने चाहिए, तथापि कांग्रेस में "अप्रत्यक्ष चुनाव का सिद्धान्त मान लिया गया। कहा गया कि प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्यों का चुनाव तो म्युनिसिपल और लोकल बोर्डों, व्यापार-सभाओं तथा विश्वविद्यालयों के द्वारा हो और सर्वोच्च केन्द्रीय कौंसिल (Supreme Central Council) का चुनाव प्रान्तीय

कौंसिलों के द्वारा हो। देश के विधान मण्डलों में जनता के प्रतिनिधियों को भी स्थान मिलना चाहिए, इस माँग का समर्थन करते हुए एक डलीगेट ने स्वीकार किया हम राष्ट्रीय शासन की छत्रछाया में नहीं अपितु विदेशी नौकरशाही की अधीनता में रहते हैं। आगामी कांग्रेस अधिवेशनों में यह प्रस्ताव बार बार दुहराया गया फलतः १८९२ का इण्डियन कौंसिल एक्ट पास हो गया। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में यह प्रस्ताव भी पास किया गया कि कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग अलग कर देना चाहिए।

१८८७—कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन १८८७ में बदरुद्दीन तैयबजी की अध्यक्षता में हुआ। यह कांग्रेस के प्रथम मुस्लिम अध्यक्ष थे। इस अधिवेशन में अन्य कई प्रस्तावों के साथ-साथ एक प्रस्ताव यह भी पास किया गया कि भारतीयों को शिक्षा देने के लिए सैनिक विद्यालयों की भी स्थापना होनी चाहिए। एक नए सदस्य अर्डले नोर्टन (Eardley Norton) ने कांग्रेस के ऊपर लगाए गए इस दोषारोपण का कि वह एक राजद्रोही संस्था है इस अधिवेशन में मुँहतोड़ उत्तर दिया।[1]

१८८८ और १८८९—१८८८ का वर्ष इसलिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि ब्रिटिश नौकरशाही को कांग्रेस के प्रति मुस्लिम विरोध का संगठन करने में सफलता मिल गई। इसी वर्ष सर सय्यद अहमद खाँ ने ऐंग्लो मुस्लिम डिफेन्स एसोसिएशन (Anglo Muslim defence Association) की नींव डाली और इस दिशा में भारतीय मुसलमानों का निश्चित नेतृत्व प्रदान किया कि वे कांग्रेस को अपना सहयोग न दें। इस विरोध का उस समय कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा जो हुआ वह भी नाममात्र का और इस वर्ष के कांग्रेस अधिवेशन को जो कलकत्ते के एक व्यापारी जार्ज यूल की अध्यक्षता में हुआ था पूर्ववर्ती अधिवेशनों की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता प्राप्त हुई। गोपालकृष्ण गोखले ने इसी वर्ष कांग्रेस में प्रवेश किया। इस अधिवेशन में पास किए गए प्रस्तावों में एक यह प्रस्ताव भी था जिसमें सरकार की भूमिकर सम्बन्धी नीति में सुधार करने की माँग की गई थी।

१८९३—१८९२ के इण्डियन कौंसिल एक्ट पास हो जाने के बाद कांग्रेस की

---

१ उन्होंने कहा सज्जनो! यदि अत्याचार का विरोध करना राजद्रोह हो यदि यह कहना कि जनता का अपने देश के शासन में अधिकाधिक हाथ रहना चाहिए राजद्रोह हो यदि कभी अत्याचार का विरोध करना दमन के खिलाफ अपनी आवाज उठाना अन्यायों का मुकाबला करना व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का समर्थन करना और उत्तरोत्तर किन्तु सदैव विकासशील सुधार के सामान्य अधिकार को प्रमाणित करना राजद्रोह हो तो मैं निस्सन्देह राजद्रोही हूँ और मुझे राजद्रोही कहलाते समय अपूर्व प्रसन्नता होती है जब मैं आज अपने चारों ओर विराजमान राजद्रोहियों की गौरवपूर्ण पंक्ति में स्वयं को भी सम्मिलित पाता हूँ। —सी॰ वाई॰ चिन्तामणि द्वारा उद्धृत—'इण्डियन पालिटिक्स सिन्स म्युटिनी' पृष्ठ ४३।

माँगों में सर्वाधिक महत्त्व इस माँग को दिया गया कि आइ० सी० एस०
भारत और इंगलैण्ड में साथ-साथ हुआ करे। कांग्रेस हलचल के फलस्वरूप
की इस माँग के समर्थन में इंगलैण्ड की कामन-सभा ने एक प्रस्ताव प
परन्तु इंगलैण्ड और भारत दोनों ही जगह अधिकारियों ने इस प्रस्ताव को
स्वरूप नहीं दिया। १८९४ में कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता दूसरी बार
नौरोजी ने की जो कि इस बीच में इंगलैण्ड की कामन सभा के भी सदस्य
गए थे। कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष पद ग्रहण करने के लिए दादाभाई नौरो
भारत आए उनका अभूतपूर्व स्वागत किया गया जो कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी
में नरेशों और नृपतियों की भी ईर्ष्या का विषय है परन्तु उनकी पहुँच के बाह
कांग्रेस ने बेगार और रसदप्रथा के उन्मूलन की माँग की। इसके अलावा
ब्रिटिश भारत में तैयार होने वाले सूती माल पर कर लगाए जाने का विरोध
जो लंकाशायर के व्यवसायियों के हित संरक्षणार्थ भारत के बने हुए कपास उ
को नष्ट कर देने के लिए जानबूझ कर लगा दिया गया था। इस प्र
कांग्रेस ने प्रारम्भ से ही भारत के व्यावसायिक और औद्योगिक दोनों प्रका
पूँजीपतियों के हितों की रक्षा की है। लेकिन इसके साथ-साथ भारतीय जनता
दारिद्र्य-पंक से समुद्धार किया जाए इस आवश्यकता की ओर से भी उसने अप
आँखें नहीं मूँदी। आगामी कुछ वर्षों में कांग्रेस ने इस बात के लिए कोशिश
कि प्रवासी भारतीयों की दशा में सुधार हो प्रेस पर प्रतिबन्ध हटा दिए जाएँ औ
भारतीय कृषक जिस ऋण के भार से सदैव दबा रहता है उससे उसे मुक्ति प्राप्त हो
इसके अलावा उसने सरकार से १८९८ के राजद्रोह विधेयक (Sedition Act of 1898)
तथा १९०४ के सरकारी रहस्य विधेयक (Official Secrets Act of 1904) जैस
दमनकारी कानूनों को हटा लेने का बारम्बार विनती की। १९०५ तक कांग्रेस
समन्वय पथ पर दौड़ती रही। सार्वजनिक महत्ता का एक भी ऐसा विषय नहीं
जिसने उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट न किया हो और विभिन्न विषयों पर पास
किए गए प्रस्तावों में उसका विचार आन्दोलन के नेताओं की राजनीतिक
राजनीतिक बुद्धिमत्ता के साक्षी थे।

था। यह स्थिति सर्वथा स्वाभाविक भी थी। उनमें से अधिकांश उच्चवर्गीय थे और पाश्चात्य शिक्षा का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा था। यदि उस समय ब्रिटिश शासन का प्रचंड विरोध किया भी जाता तो प्रारम्भ से ही उसका दमन किया गया होता। अतएव हम यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं होता कि राष्ट्रीय संघर्ष के प्रभात काल में भारतीय राष्ट्रीय ब्रिटिश शासन के उत्कट प्रशंसक थे परन्तु यह भी समझ लेना भ्रम होगा कि उन्हें ब्रिटिश शासन की त्रुटियों और दुर्बलताओं का कोई ज्ञान नहीं था। ब्रिटिश राज के उपकारों के प्रति उनके हृदय में कृतज्ञता का भाव था। क्या ब्रिटिश शासन ने भारत का राजनीतिक एकीकरण नहीं किया था, उसे केवल मात्र भौगोलिक नाम से बढ़ कर कुछ वस्तु नहीं बनाया था और उसमें राष्ट्रीय चेतना का संचार नहीं किया था? वे ब्रिटिश सम्बन्ध को भारत के लिए लाभकर समझते थे। वे अंग्रेजों की इस बात के लिए जी खोलकर सराहना करते थे कि उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क से भारत के सामाजिक जीवन को समृद्ध किया था नूतन राष्ट्रीयता की वाहक अंग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात किया था और पाश्चात्य विचारधारा और साहित्य के संसर्ग से स्वाधीनता तथा प्रजातन्त्र के प्रति भारतीय नवयुवकों में प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न किया था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी कहा करते थे कि इंगलैंड हमारा पथप्रदर्शक है। ब्रिटिश शासन के सूत्रपात को एक ऐसा दैवी वरदान समझा गया जो भारत को मध्य युगीन अधोगति की दशा से ऊपर उठाकर राजनीति और आर्थिक उन्नति के शिखर पर पहुंचाने के लिए ही अवतीर्ण हुआ था।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि उदार राष्ट्रवादी ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना से प्रणत रहते थे। इस प्रकार के दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में ही मिलता था जो महारानी विक्टोरिया की जय-जयकार के साथ समाप्त हुआ था। ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति की घोषणाएं करने में नरम राष्ट्रवादियों को किसी प्रकार के संकोच अथवा हीनता के भाव का अनुभव नहीं होता था। उस समय दादाभाई नौरोजी अपने सहयोगियों की सामान्य भावना को ही व्यक्त कर रहे थे जबकि उन्होंने यह घोषणा की कि आओ हम पुरुषों की तरह बोलें और घोषणा कर दें कि हम आमूड़ राजभक्त हैं।

सरकार भी प्रारम्भिक भारतीय राष्ट्रवादियों की मैत्री एवं भक्तिभावना से अपरिचित नहीं थी। क्योंकि वह उनके साथ रियायतें करके जब जब भारतीयों को ऊंचे पद अथवा स्थान देने का अवसर आया तब तब उन्हें (राष्ट्रवादियों) को उसके लिए चुनकर यही सिद्ध करती रही है।[1] सरकार ने उनमें से कइयों को ना टहुड और प्रतिष्ठा की अन्य उपाधियां प्रदान की। गोपालकृष्ण गोखले को सी० आई ई० की उपाधि प्रदान की गई। कुछ को विधान सभा का सदस्य नामजद किया गया कुछ कार्यकारिणी के सदस्य चुन लिए गए और कुछ हाई कोर्ट के जज बना दिए गए। वस्तुतः जिन कांग्रेस नेताओं को इन उपाधियों अथवा पदों के लिए चुना गया था वे

१ पट्टाभि सीतारमय्या— दी हिस्ट्री आफ कांग्रेस' पृ० १०२

अपनी योग्यता के आधार पर इनके उचित अधिकारी भी थे, उन लोगों को पदलोलुप मानना किसी भी प्रकार तर्कसंगत नहीं है। यह तो उनकी प्रतिभाओं के प्रति श्रद्धांजलि ही है कि सरकार को या यदि योग्य भारतीयों की आवश्यकता हुई तो इसकी पूर्ति के लिए उसे भी कांग्रेसियों का ही मुँह तकना पड़ता था'। दूसरे शब्दों में सरकार की इन रियायतों से यह सिद्ध होता था कि कांग्रेस ने सर्वप्रतिभ भारतीयों को बहुत बड़ी संख्या में अपनी ओर आकृष्ट कर रखा था।

अंग्रेजों की न्याय प्रियता में विश्वास—ब्रिटिश सरकार की न्याय प्रियता में उदार कांग्रेसियों की अटल श्रद्धा थी इसी कारण उसके प्रति उनके हृदय में प्रशंसा और राजभक्ति की भावना उत्पन्न हुई थी। कांग्रेस के बारहवें अधिवेशन (१८९६) के अध्यक्षपद से भाषण करते हुए मुहम्मद रहीमतुल्ला सयानी ने कहा 'अंग्रेजों से बढ़कर ईमानदार और शक्ति सम्पन्न जाति इस भूमण्डल पर कहीं नहीं है। हमारे कांग्रेसी बुजुर्ग समझते थे कि अंग्रेज तो बड़े प्रजातन्त्रवादी हैं, उनकी तो परम्परा ही ऐसी रही है, वे भारत में प्रजातान्त्रिक संस्थाओं के विकास का स्वागत करेंगे। क्या यह सत्य नहीं था कि अंग्रेजों ने उन परिस्थितियों का निर्माण किया जो राष्ट्रीय जागरण के लिए जिसकी कि कांग्रेस प्रतीक थी आवश्यकता थी? १८९३ में अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष सरदार दयालसिंह मजीठिया ने कांग्रेस के विषय में कहा था कि 'यह भारत में ब्रिटिश शासन की कीर्ति का मुकुट है। इसी प्रकार के विचार कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में स्वागत समिति के अध्यक्ष पद से स्वागत भाषण देते हुए सर टी० माधवराव ने व्यक्त किए थे—कांग्रेस ब्रिटिश शासन का सर्वोच्च यश-शिखर और ब्रिटिश जाति का कीर्ति मुकुट है।' यह बात नहीं थी कि कांग्रेस के उदार नेताओं को ब्रिटिश नौकरशाही की गलतियों का ज्ञान नहीं था। वे उसकी त्रुटियों और गलतियों को अच्छी तरह से जानते थे फिर भी उनका यह विश्वास था कि यदि भारत की समस्या को स्पष्टता और प्रबलता पूर्वक ब्रिटेन की संसद तथा जनता के सम्मुख रख दिया जाय तो वह मांग करेगी कि भारत की परिस्थितियों में परिवर्तन होना चाहिए। यह आशा की जाती थी जैसा कि सर फिरोज शाह मेहता ने १८९० में कहा था मुझे इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अन्त में जाकर हमारी पुकार पर अवश्य ध्यान देंगे। विश्वास की इस स्थिति में शुरू के भारतीय राष्ट्रवादी पथप्रदर्शन और प्रेरणा के लिए अंग्रेजों की ही ओर ताकते थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के निम्न शब्द उदार राष्ट्रवादियों की मनोवृत्ति को भली भांति स्पष्ट कर देते हैं। अंग्रेजों के न्याय बुद्धि और दयाभावना में हमारी दृढ़ आस्था है। संसार की महानतम प्रतिनिधि सभा संसदों की जननी ब्रिटिश कॉमन सभा के प्रति हमारे हृदय में असीम श्रद्धा है। अंग्रेजों ने सर्वत्र प्रतिनिधि आधार पर ही शासन की रचना की है।

उदार राष्ट्रवादियों की विचारधारा और मांगें—इस बात को उदार राष्ट्रवादियों ने गुप्त नहीं रखा कि कांग्रेस आन्दोलन का ध्येय स्वशासन को प्राप्त करना

है। यद्यपि उन्होंने अपनी अधिकांश शक्ति और ध्यान को शासन के कभी इस ओर कभी उस पहलू म सुधार करवाने के आन्दोलन मे ही लगाया था फिर भी व उस भविष्य की कल्पना कर सकते थे जबकि भारतीयों क हाथो म अपने भाग्य निर्माण का अधिकार आ जाएगा। १८८६ में कलकत्ता अधिवेशन म सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था स्वशासन प्रकृति की व्यवस्था है विधि का विधान है। प्रकृति न अपनी पुस्तक में स्वय अपने हाथों से यह सर्वोपरि व्यवस्था लिख रखी है। प्रत्यक राष्ट्र अपने भाग्य का आप ही निर्माता होना चाहिए।'[1] दादाभाई नौरोजी ने यूनाइटेड किंगडम अथवा उपनिवेशो क जसे स्वशासन या स्वराज्य' का जिक्र किया था। उन्होंने १९०५ में काग्रेस अधिवेशन क अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा था हमारा उद्देश्य स० रा० अमरिका क समान स्वराज्य प्राप्त करना है। स्वशासन अथवा स्वराज्य से प्रारम्भिक काग्रेसियो का आशयपूर्ण स्वाधीनता नही थी जिसको १९२९ म काग्रेस न अपने ध्येय की भाँति ग्रहण किया। वास्तव म ब्रिटिश साम्राज्य स सब सम्बन्ध विच्छेद कर लन का विचार तो उदारवादियो के मस्तिष्क मे कभी आया ही नही था। सम्भवत उन्होने यह कभी सोचा भी नही था कि औपनिवेशिक स्वराज्य किस कहते हैं। प्रारम्भिक काग्रेस का उद्देश्य भारत म प्रतिनिधिक सस्थाओ की स्थापना करना था।

वास्तव म उदारवादी राजनीतिज्ञ इस बात को भली भाँति जानते थे कि प्रतिनिधिक शासन के समीप वे केवल एक ही छलांग में नही पहुच सकते इसलिए उन्होंने सरकार से भी ऐसी कोई प्रार्थना नही की थी कि वह उन्हे तुरन्त ही प्रतिनिधि शासन प्रदान कर दे। व्यवस्थित विकास मे ही उनका विश्वास था। क्रमबद्धता ही उनके दर्शन की विशायक थी। हथेली पर सरसों जमाने की नीति के वे कायल नहीं थे। उस समय के काग्रेसी नेताओ की मांगें यही होती थी कि सरकारी नौकरियो का दरवाजा भारतीयो क लिए बन्द नहीं होना चाहिए जिससे कि ऊँचे पदों के योग्य बन सकें धारा सभाओ म जनता क निर्वाचित प्रतिनिधि होने चाहिए और उन्हे प्रश्न करने तथा बजट पर चर्चा करने का भी अधिकार मिलना चाहिए सनिक व्यय में कमी की जाय कर कम हों न्याय और शासन विभाग अलग अलग हों और नौकरियों के लिए भारत तथा इगलण्ड म एक साथ परीक्षाए ली जाए, प्रान्त और केन्द्र की कार्यकारिणियो और भारत मन्त्री की कौंसिल मे भारतीयो का भी स्थान मिलना चाहिए तथा भारतवर्ष को ब्रिटिश ससद में प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व मिले। सामाजिक आर्थिक क्षत्र म काग्रेस ने नमक कर म कमी करने की प्रार्थना की सूती माल पर लगाए उत्पत्ति कर को अन्यायपूर्ण बताया। सरकारी नौकरियो और विश्वविद्यालयों के पुनर्गठन ग्रामोद्योगों क पुनरुद्धार और खेती सम्बन्धी ऋणबद्धता से किसानों को छुटकारा मिले इस बात के लिए भी कांग्रेस प्रयत्नशील रही।

---

१ एनीबीसेंट— हाउ इण्डिया रॉट फार फ्रीडम पृ० २६।

उनके साधन—उदार राष्ट्रवादियों के साधन भी उनकी विचारधारा के सर्वथा अनुरूप थे। वे इस बात में यकीन नहीं करते थे कि भारत और ब्रिटेन के हित एक दूसरे के विरोधी हैं और दोनों में वैर कर का सा है। पहले से स्थापित की हुई व्यवस्था में आकस्मिक आमूल परिवर्तन करना भी उनके विश्वास की सीमाओं से बाहर की बात थी। इसलिए स्वभावतः आन्दोलन के सभी क्रान्तिकारी साधनों को उन्होंने वर्जित कर रखा था। हिंसा के प्रति उनके हृदय में घोर घृणा की भावना थी। तीन चीजों का उन्होंने कड़ा निषेध कर रखा था—विद्रोह, किसी आक्रमण की सहायता करना और अपराध को आश्रय देना। ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति और सहयोगात्मक दृष्टिकोण के अनुकूल ही उन्होंने वैधानिक आंदोलन की टेकनीक को अपनाया। उन्होंने ऐसी प्रत्येक योजना अथवा साधन का अत्यन्त सतर्कतापूर्वक बहिष्कार किया जिसके लिए उन्हें शंका थी कि ब्रिटिश सरकार उसका विरोध करेगी। वे सरकार का कोप भाजन नहीं बनना चाहते थे। यहाँ तक कि दमन और अन्याय के कानूनों का सामना करना उन्हें ललकारना भी उनके प्रोग्राम में नहीं था। चूंकि अंग्रेजों की न्याय प्रियता में उनकी आस्था थी इसलिए उन्होंने सरकारी अधिकारियों के ध्यान को सार्वजनिक भाषणों, स्मृति पत्रों, प्रस्तावों, आवेदन पत्रों तथा शिष्टमण्डलों द्वारा जनता की उचित माँगों और कठिनाइयों की ओर आकृष्ट करना ही यथेष्ट समझा। कांग्रेस ने ब्रिटिश जनता और संसद के सामने भारत की समस्याओं को ठीक ठीक उपस्थित करने के इरादे से कई शिष्टमण्डल भेजे। इन साधनों के द्वारा नरम राजनीतिज्ञों ने भारतीय जनता को ऊपर उठाने और शिक्षित करने की कोशिश की और अंग्रेज भारतवासियों की न्याययुक्त माँगों को पूरा करना अपना कर्तव्य समझें। ब्रिटिश जनता को यह सम्यक परिज्ञान कराने के लिए कि भारत में राजनीतिक सुधारों की महती आवश्यकता है कांग्रेस ने १८८९ में एक ब्रिटिश समिति की स्थापना की और उसके संचालन के लिए पैंतालीस हजार रुपयों की स्वीकृति भी दी। चार वर्षों के उपरान्त कॉमन-सभा में जनमत को भारत के राजनीतिक विकास के पक्ष में संगठित करने के लिए सर विलियम वेडरबर्न ने भारतीय संसदीय समिति (Indian Parliamentary Committee) की रचना की। उग्र ख्याल के राष्ट्रवादियों के इन तरीकों को कभी कभी राजनीतिक भिक्षावृत्ति (Political mendicancy) कहकर वर्णित किया जाता है।

आवेदन और प्रार्थनाएँ—यह वर्णन कुछ अप्रिय अवश्य है पर असत्य नहीं है। वे सरकार के पास शिकायतों और सुधारों के लिए अत्यन्त विनीत भाव से हाथ जोड़कर जाने में यकीन रखते थे। उनको आवेदनों और प्रार्थनाओं में कितना भरोसा था व इन पर कितना बल देते थे यह पं० मदनमोहन मालवीय के निम्न शब्दों से स्पष्ट है जो उन्होंने कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में कहे थे "यद्यपि अपने प्रयत्नों में अभी तक हमें सफलता नहीं मिली है फिर भी हमें सरकार के समीप पुनः जाना

चाहिए और निवेदन करना चाहिए कि वह हमारी मांगों अथवा हमारी प्रार्थनाओं पर शीघ्रातिशीघ्र विचार करे।"[1]

१४ उदार राष्ट्रीयता का मूल्यांकन

उदार राष्ट्रवादियों की त्रुटियां—कांग्रेस के शुरू के दिनों में उदार राष्ट्रवादियों ने जो काम किया आजकल उसके महत्त्व को कम समझा जाता है। कभी कभी तो लोग उसे अत्यन्त हेय दृष्टि से देखते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनमें कुछ त्रुटियां स्पष्टरूप से विद्यमान थीं जैसे—

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति मिथ्या धारणा—भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का क्या वास्तविक आधार था अथवा उसकी क्या प्रकृति थी इस बात को उदारवादी नेता नहीं समझ सके। यह उनका मिथ्या अनुमान था कि दोनों देशों के हित परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। ब्रिटिश शासन के वरदानों के प्रति प्रशंसा और कृतज्ञता की धारणा भ्रान्तिजन्य थी। वे इस कटु सत्य को हृदयंगम करने में असफल हुए थे कि भारत ब्रिटिश पूंजीवाद के साम्राज्य अंग्रेजों का एक शोषित आर्थिक उपनिवेश था और इसलिए इंगलैण्ड के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक ही था कि वह भारत के आर्थिक और औद्योगिक अभ्युत्थान में बाधाएं उपस्थित करे और उसे अपने यहां के उद्योगों के लिए कच्चे माल का स्रोत तथा तैयार माल के लिए मंडी बनाए रखे। यदि भारत में कुछ बड़े सुधार कर दिए जाते यदि जनता को अपने भाग्य निर्माण का अधिकार दे दिया जाता यदि भारत निवासियों को अपने देश का प्रबन्ध अपने आप करने की स्वतन्त्रता दे दी जाती तो ब्रिटेन अनिश्चित काल तक भारत को आर्थिक दासता के पाशों में निबद्ध नहीं रख सकता था। यह एक स्पष्ट सी बात थी जिसे उदार राष्ट्रवादी नहीं समझ सके। अंग्रेजों की न्याय भावना पर उनका विश्वास बना रहा। वे अपने इस विश्वास से कभी नहीं डिगे कि अंग्रेज एक जनतन्त्रप्रिय जाति है भारत में धीरे धीरे जनतन्त्र की स्थापना के उद्देश्य को पूरा करने में सहायक होगी परन्तु उनका यह विश्वास कितना आधारहीन कितना भ्रान्तिजन्य था यह इसी से स्पष्ट है कि १९१८ तक उनकी प्रमुख वैधानिक मांगों की भी जो चाहे कितनी ही नरम क्यों न रही हों अंग्रेज पूर्ति नहीं कर सके।

राजनीतिक भिक्षावृत्ति की दुर्बलता—सच बात तो यह है कि इन लोगों ने जिन साधनों और उपायों का प्रयोग किया वे ही इतने हल्के थे कि उनका सारा प्रभाव जाता रहा था। वे ब्रिटेन के द्वार पर भिक्षा मांग कर वहां की जनता की आत्मा को प्रार्थनाओं और आवेदनों से जागृति कर प्रतिनिधि शासन के उद्देश्य को पूर्ण करने की आशा करते थे। यह उनकी दुर्बलता का प्रमाण है कि उन्होंने अपनी शक्ति पर भरोसा करके साम्राज्यवादी सत्ता को चुनौती देने की बजाय अपने शासकों की अनुकम्पा पर ही विश्वास किया। गुरुमुख निहालसिंह का यह कथन सर्वथा

---

१ एनीबीसेंट— 'हाउ इण्डिया रौट फार फ्रीडम' पृ० ४५।

युक्तिसंगत है कि "तिलक और सम्भवतः गोखले को छोड़कर कांग्रेस के नरम नेताओं में स्वतन्त्रता के लिए व्यक्तिगत बलिदान करने और आपत्तियाँ सहने को कोई तैयार नहीं था।"[1] उनमें ऐसे लोग बहुत कम थे जो कि दीर्घ कारावास देश निर्वासन अथवा सरकार द्वारा अपनी सम्पत्ति का हरण किया जाना शान्तिपूर्वक सहन कर लेते। ये सब चीजें उस आगामी पीढ़ी के लिए जिसने महात्मा गांधी की पताका के नीचे काम किया था अति सामान्य हो गई थीं।

उनकी सफलताएं—परन्तु यह न तो आवश्यक ही है और न उचित ही कि हम प्रारम्भिक देशभक्तों के कार्यों को अवहेलना की दृष्टि से देखें। भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन के इन मार्ग-दर्शकों के कार्य को सर्वथा निरर्थक नहीं कहा जा सकता उसके भी सुदूरव्यापी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। हम १८९२ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट का उल्लेख कर चुके हैं जो कांग्रेस द्वारा राजनीतिक सुधारों के लिए किए गए आंदोलन का ही सीधा परिणाम था। परन्तु यह और इसी प्रकार की अन्यान्य रियायतें जो उन्होंने प्राप्त कीं उनकी सफलताओं में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखतीं।

भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा—राष्ट्रीय आन्दोलन की उनकी वास्तविक देन यह है कि उन्होंने भारतीय जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान की और उसमें प्रजातान्त्रिक आदर्शों को प्रसारित किया। उन्होंने सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार विमर्श के लिए एक 'फोरम' तथा सरकार की नीतियों और कार्यों से सम्बद्ध आलोचना की। सर्चलाइट का दिशा प्रदान कर प्रबल जनमत को संगठित किया किया था। न तो उनकी प्रार्थनाओं और न आलोचना ने ही नौकरशाही पर अधिक प्रभाव डाला परन्तु सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की उस सरकार का खण्डन करते हुए पाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो कि अपने मग्नाचार्टा (Magna Charta) और हेबियस कारपस (Habias Corpus) एक्ट की शेखी बघारते हुए नहीं थकती। परन्तु भारतीय जनता को 'व्यक्तिगत स्वाधीनता का प्रारम्भ अधिकार देने से इन्कार करती है।

भारतीय राष्ट्रीयता के प्रणेता—यह बात तो हमें मुक्त कण्ठ से स्वीकार करनी ही चाहिए कि भारत की प्रथम राष्ट्रीय संस्था के प्रणेता उदार राष्ट्रवादी ही थे। उन्होंने देशवासियों को शिक्षा दी कि वे साम्प्रदायिक और प्रान्तीय धरातलों से ऊपर उठें तथा सामान्य राष्ट्रीयता की भावना को अपने हृदय में विकसित करें। गुरुमुख निहालसिंह के शब्द। "प्रारम्भिक कांग्रेस ने राजभक्ति की प्रतिज्ञाओं, नरम नीति आवेदन आवेदन ही नहीं अपितु भिक्षा वृत्ति के बावजूद भी उन्होंने राष्ट्रीय जागरण राजनीतिक शिक्षा, भारतीयों को एकता के सूत्र में ग्रथित करने और उनमें सामान्य भारतीय राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण करने में कठिन परिश्रम किया

---

१ जी० एन० सिंह— लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट' पृ० १२३।

था।[1] शुरू के कांग्रेसियों की नीति और क्रियाशक्ति को उपहास की दृष्टि से देखना अत्यन्त सुगम है परन्तु उस समय जब भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में कोई नहीं था उन लोगों ने जो रुख ग्रहण किया था उसके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। किसी भी आधुनिक इमारत की नींव में छः फीट नीचे जो ईंट पत्थर और पत्थर गड़े हुए हैं क्या उन पर कोई दोष लगाया जा सकता है? क्योंकि वही तो हैं जिनके ऊपर सारी इमारत खड़ी हो सकी है। पहले उपनिवेशों के ढंग का स्वशासन फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होमरूल इसके बाद स्वराज्य और सबके ऊपर जाकर पूर्ण स्वाधीनता की मंजिलें एक के बाद एक बन सकी हैं।'[2]

१५ राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति सरकार का रुख

कांग्रेस के जन्म और उसकी दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई शक्ति ने सरकार के ऊपर क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न की इसका अध्ययन अत्यन्त रोचक है। क्रमबद्ध के इस कथन को कि कांग्रेस के जन्म के समय ब्रिटिश अधिकारियों ने उसको आशीर्वाद दिया था हम किसी पूर्व अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं। कांग्रेस की स्थापना के अवसर पर वायसराय लार्ड डफरिन ने उसके शीश पर अपना वरदहस्त रखा था और द्वितीय अधिवेशन में प्रतिनिधियों का स्वागत भी किया था। मद्रास के गवर्नर लार्ड कोनेमारा ने भी कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में (१८८७) उसी प्रकार के सौजन्यमय व्यवहार का परिचय दिया था और स्वागत समिति को, सरकारी कोषागार से रसद आदि दिलवाकर सहायता की थी।[3]

किन्तु कुछ ही समय के पश्चात् कांग्रेस के प्रति सरकार के रुख में आमूल परिवर्तन होगया। यद्यपि कांग्रेसी नेताओं ने अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध के शासन के साथ अच्छे ही बनाए रखे परन्तु सरकारी अधिकारी कांग्रेस को सन्देह और शंका की दृष्टि से देखने लगे। लार्ड डफरिन ने ह्यूम साहब को परामर्श दिया था कि वे कांग्रेस का क्षेत्र सामाजिक न रखकर राजनैतिक भी बनावें। किन्तु वही लार्ड डफरिन कांग्रेस के शत्रु हो गए और उसे राजद्रोही संस्था कहने लगे। कुछ प्रान्तीय गवर्नर तो कांग्रेस के उग्र विरोधी थे। उत्तर पश्चिमी प्रान्त के (यू० पी०) के गवर्नर सर आकलैण्ड कॉल्विन की सम्मति में यह आन्दोलन केवल समय से पूर्व ही नहीं था अपितु खतरनाक भी था। १८८७ में एक सज्जन अपने जिलाधीश की इच्छा के विरुद्ध कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे जिसके अपराधस्वरूप उनसे २० ० ६० की जमानत मांगी गई। कांग्रेस के प्रति सरकार का कड़ा रुख उस गश्ती पत्र से अच्छी तरह प्रकट होता है जिसको बंगाल सरकार ने सब मन्त्रियों एवं सब विभागों के प्रमुख अफसरों के पास

---

१ जा एन० सिंह— लैण्डमार्क्स इन दी कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेण्ट आफ इण्डिया पृ० १२३।

२ डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या—' दी हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस पृ० १६

३ सी० वाई० चिन्तामणि— इण्डियन पालिटिक्स सिन्स म्यूटिनी पृ० २६॥

भेजा था। इसमें उन्हें हिदायत दी गई थी कि भारत सरकार की आज्ञा के अनुसार ऐसी सभाओं में दर्शक रूप में भी सरकारी अफसरों का जाना ठीक नहीं है और ऐसी सभाओं की कार्यवाही में भाग लेने में सख्त मनाही की जाती है। १८९७ में 'राजद्रोहात्मक' भाषणों और कार्यवाहियों पर अंकुश रखने के विचार से 'इण्डियन पीनल कोड'[1] में दफा १२४ (अ) तथा दफा १५३ (अ) और जोड़ दी गई। प्रेस पर बहुत से प्रतिबन्ध लगा दिए और १८९८ में गुप्त प्रेस समितियों की स्थापना हुई। देशवासियों को आपस में लड़ाने की पूर्व परिचित नीति का इस राजनीतिक क्षेत्र में खुल कर प्रयोग किया गया और कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों को संगठित करने के प्रयास किए गए। विद्रोह के पूर्व और बाद में भारतीय मुसलमान अंग्रेजों के विशेष कोप भाजन रहे थे परन्तु अब जैसे जैसे कांग्रेस की लोकप्रियता और शक्ति में वृद्धि होती गई सरकार मुसलमानों के प्रति अपने रुख में परिवर्तन करती गई। मुसलमानों को विशेष सुविधाएं देकर उन्हें अपनी विशेष मांगें रखने का प्रोत्साहन देकर नौकरशाही ने भारतवर्ष की दो प्रमुख जातियों के मध्य भेद की खाई को खोदने की कोशिश की। अविराम गति से बढ़ती हुई राष्ट्रीय एकता की भावना पर कुठाराघात करके ब्रिटिश सरकार ने शुरू शुरू में ही राष्ट्रीय आन्दोलन कुचल डालने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में कि मुसलमान कुछ भ्रष्ट पदाधिकारियों द्वारा जिनका कि 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति में विश्वास था प्रयुक्त किए जा रहे थे। हमारे पास ए० ओ० ह्यूम की साक्षी विद्यमान है।[1] कांग्रेस के चौथे अधिवेशन (१८८८) में राजा रजा हुसैन ने धड़ल्ले के साथ कहा कि मुसलमान नहीं बल्कि उनके मालिक सरकारी हुक्काम हैं जो कि कांग्रेस के विरुद्ध हैं।[2]

प्रारम्भिक भारतीय देशभक्त

२१ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1848 1925)

आधुनिक बंगाल के निर्माता और भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रगामों में अग्रगण्य सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भारत के प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्तियों में एक उच्च स्थान के अधिकारी हैं। वे उन व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में अत्यन्त शीघ्र सफलता प्राप्त कर ली थी। सन १८७१ में वे सिलहट के असिस्टेण्ट मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। दो ही वर्ष के पश्चात् सरकारी आचरण में कुछ दोष पाए जाने के कारण उन्हें नौकरी से हाथ धोना पड़ा। बाद में दो लेफ्टिनेण्ट गवर्नरों ने इस बात को स्वीकार किया था कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का नौकरी से हटाया जाना सर्वथा अन्याय पूर्ण था। परन्तु यह, इस अवसर में वरदान ही सिद्ध हुआ। सी० वाई० चिन्तामणि ने

---

1 डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या—'दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस' पृ० १०८।
2 वही पृष्ठ ११०।

ठीक ही लिखा है शासन की हानि देश का लाभ बन गई।'[1] आई० सी० एस० से हटने के पश्चात सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने स्वयं को राष्ट्रीय अभ्युदय के कार्य में ही प्राणपण से निरत कर लिया। कुछ समय तक उन्होंने विद्यासागर कालिज में जो उस समय मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट के नाम से विख्यात था, सबचरर के रूप में कार्य किया। बाद में उन्होंने रिपन कालिज की नींव डाली और उसमें अंग्रेजी के प्रोफेसर के रूप में कई वर्षों तक काम किया। तत्पश्चात् वे पत्रकार बने। इन्होंने बंगाली पत्र का सम्पादकत्व ग्रहण किया। इस पत्र के जन्मदाता उमेशचन्द्र बनर्जी थे। सरकार की तीक्ष्ण आलोचना करने के फलस्वरूप उन्हें १८८३ में दो मास के कारावास का दण्ड मिला।

१८७६ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना की जिसका मुख्य ध्येय आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठने की अवस्था को २१ वर्ष से घटा कर १९ वर्ष कर देने के विरुद्ध आन्दोलन करना था। उन्होंने सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया और शिक्षित भारतीयों में एक हलचल सी उत्पन्न कर दी। इस आन्दोलन के पक्ष में जनमत का संगठन करने में वे सफल हुए। इस प्रकार उन्होंने राष्ट्रीय चेतन की नींव डालने में सहायता दी जिसने शीघ्र ही राष्ट्रीय संगठन का रूप धारण कर लिया। कांग्रेस की स्थापना के दो वर्ष पूर्व राष्ट्रीय सम्मेलन की स्थापना करने में सुरेन्द्रनाथ का बहुत बड़ा हाथ था। राष्ट्रीय सम्मेलन प्रथम अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन और कांग्रेस का अग्रवर्ती था। १८८६ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा राष्ट्रीय सम्मेलन के अधिकांश नेताओं ने कांग्रेस में प्रवेश किया। राष्ट्रीय सम्मेलन ने भी स्वयं को कांग्रेस में विलीन कर लिया। १९१७ तक सुरेन्द्रनाथ बनर्जी कांग्रेस के अत्यन्त प्रभावशाली नेता रहे। इसके पश्चात् उग्र राष्ट्रीयता के अभ्युदय के कारण उन्होंने कांग्रेस से हाथ खींच लिया। यह भी कहा जाता है कि वे १९१९ के सुधार लागू करवाने के पक्ष में थे जबकि अन्य कांग्रेसी नेता इसका विरोध कर रहे थे। इसी तथ्य के फलस्वरूप १९१७ में उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी। किन्तु १९१७ तक वे सार्वभौमिक और प्रभावशाली नेता रहे। वे कांग्रेस के दो बार, (१८९५ और १९०३ में) सभापति बनाए गए। उन्होंने ब्रिटिश जनता और संसद के सम्मुख भारतीय समस्या को स्पष्ट करने के लिए इंगलैण्ड जाने वाले कई शिष्टमण्डलों का नेतृत्व किया था। १९०५ में जब बंगाल का विभाजन किया गया सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उसके विरुद्ध आन्दोलन करने में प्रमुख भाग लिया था। वे भारत के उन सबसे पहले देशभक्तों में से थे जिन्हें पुलिस के डण्ड खाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता थे। एक अंग्रेज ने तो यहां तक कहा था कि सार्वजनिक वक्ताओं में ग्लैडस्टन के अलावा उनसे बढ़कर और कोई नहीं

---

१ सी० वाई० चिन्तामणि—इण्डियन पालिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी पृ० ७१ ७२।

था। वे Indian Gladstone के नाम से इंगलैंड में प्रसिद्ध होगये। डॉ॰ पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में भाषा प्रभुत्व रचना नैपुण्य कल्पना प्रवणता उच्च भावुकता वाराचित हुंकार इन गुणों में आपकी वक्तृत्व कला को पराजित करना कठिन है। आज भी कोई आपकी समता तो क्या आपकी निकटता को भी नहीं प्राप्त कर सकता।[1] मकॉले की तरह सुरेन्द्रनाथ की भी विलक्षण स्मरणशक्ति थी। दोनों ही अवसरों पर जबकि उन्होंने कांग्रेस की अध्यक्षता की बिना मुद्रित प्रति की सहायता के, भाषण दिए जिनमें मुद्रित प्रति से एक शब्द की भी गलती नहीं थी। यह उनकी अद्भुत स्मरण शक्ति का ही परिचायक था।[2]

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी दृष्टिकोण और कार्य पद्धति दोनों में ही नरम राष्ट्रवादी थे। मजिनी के ग्रंथों द्वारा प्रभावित होने पर भी उन्होंने उसके क्रान्तिकारी कार्यक्रम को नहीं अपनाया। अंग्रेजी सभ्यता और संस्थाओं के प्रति उनके हृदय में बहुत अनुराग था। एक अवसर पर उन्होंने कहा था "अंग्रेजी सभ्यता संसार में सर्वोच्च है। यह इंगलैंड और भारत की शाश्वत एकता का चिन्ह है। यह सभ्यता भारतवासियों के प्रति अपूर्व आशीर्वादों तथा प्रसादों से परिपूर्ण है और अंग्रेजों के सुनाम को अपूर्व ख्याति दिलाने वाली है। उनकी आशा थी कि अंग्रेजों और भारतीयों का यह सम्पर्क अविच्छिन्न रहेगा तथा 'भारत समय आने पर चरित्र में अंग्रेजी और संस्थाओं में अंग्रेजी, स्वतन्त्र राज्यों के महान् संघ में अपना स्थान पा सकेगा।" इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति सुरेन्द्रनाथ की विचारधारा का केन्द्र बिन्दु था। उन्होंने कहा "राजभक्ति कर्तव्यों के उच्च क्रम में इंगलैण्ड हमारा राजनीतिक पथप्रदर्शक और नैतिक गुरु है।" कांग्रेस के १८ वें अधिवेशन में उन्होंने भारत में ब्रिटिश राज के स्थायित्व के लिए प्रार्थना की। लेकिन वे भारत में ब्रिटिश नौकरशाही की गम्भीर त्रुटियों से भी भली तरह से परिचित थे और उन्होंने उनके निवारण का भी यथाशक्ति प्रयत्न किया। तो भी उनका प्राथमिक ब्रिटिश सम्बन्ध के प्रति अटल राज भक्ति के साथ काम करना था क्योंकि उनका उद्देश्य भारत में ब्रिटिश शासन का अवरोध करना नहीं अपितु उसके आधार का विस्तार करना उसकी घटना को उदार बनाना उसके चरित्र की प्रतिष्ठा वृद्धि तथा उसे राष्ट्र के प्रेम की अपरिवर्तनीय आधार शिला पर स्थित करना था।

१७ दादाभाई नौरोजी (1825-1917)

भारत के पितामह दादाभाई नौरोजी जिनकी स्मृति भारतवासियों के प्रेम मंदिर में विराजती है हमारे प्रारम्भिक राष्ट्र निर्माताओं में मुख्य थे। सोलह वर्ष की आयु में उन्होंने स्वयं को सार्वजनिक सेवा के लिए समर्पित कर दिया। 'भारत का

---

१ पट्टाभि सीतारमय्या—दी हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस पृ॰ १६३।
२ सी॰ वाई॰ चिन्तामणि—इण्डियन पॉलिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी पृ॰ ७२।

सार्वजनिक जीवन कोटिक [illegible] गर्जों और निःस्वार्थ देश भक्तों की आकाश-गंगा से अलंकृत रहा है परन्तु हमारे समय में दादाभाई नौरोजी के समकक्ष कोई दूसरा नहीं हुआ।''[1] उन्होंने भारतवर्ष में तीस सार्वजनिक संस्थाओं की स्थापना की। उन्होंने इंगलैण्ड में 'इण्डिया सोसाइटी' और 'ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी' नामक संस्थाएँ स्थापित कीं। उन्होंने अपनी जीवनवृत्ति को प्रोफेसर के रूप में प्रारम्भ किया था परन्तु वे शीघ्र ही राजनीति की ओर मुड़ गए। वे एक सुविख्यात पत्रकार थे और उन्होंने बम्बई में प्रथम समाचार पत्र की स्थापना की थी।

कांग्रेस के साथ दादाभाई नौरोजी का सम्पर्क उसके जन्मकाल से ही रहा था और बीस वर्ष से अधिक काल तक यह सम्पर्क बना रहा। पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में दादाभाई नौरोजी कांग्रेस की शुरुआत से लेकर अपने जीवन पर्यन्त उसकी सेवा करते रहे और उन्होंने कांग्रेस को सर्वसाधारण की शासन सम्बन्धी शिकायतें दूर कराने का प्रयत्न करने वाली जन सभा से बढ़ाते-बढ़ाते स्वराज्य प्राप्ति (कलकत्ता १९०६) के निश्चित उद्देश्य से काम करने वाली राष्ट्रपरिषद पर पहुँचा दिया।[2]

---

१ सी० वाई० चिंतामणि—'इण्डियन पालिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी' पृष्ठ २०।

२ टिप्पणी—यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि दादाभाई नौरोजी और उनके समकालीन दूसरे नरम राष्ट्रवादियों की स्वराज्य अथवा स्वशासन सम्बन्धी मान्यता उस स्वतन्त्रता से भिन्न था जिसे कि भारत ने १५ अगस्त, १९४७ को प्राप्त किया। उन्हें इस बात की कल्पना नहीं थी कि भारत निकट भविष्य में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। उनकी आकांक्षा यह थी कि भारत धीरे धीरे औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) की दिशा में प्रगति करे। १९०६ के कांग्रेस अधिवेशन में जो स्व शासन-सम्बन्धी प्रस्ताव पास हुआ वह इस प्रकार है—

इस कांग्रेस की राय है कि स्वराज्य प्राप्त ब्रिटिश उपनिवेशों में जो शासन प्रणाली है वही भारतवर्ष में भी चलाई जाए और उसके लिए नीचे लिखे सुधार तुरन्त किए जाएँ—

(क) जो परीक्षाएँ केवल इंगलैण्ड में होती हैं वे भारतवर्ष और इंगलैण्ड में साथ साथ हों तथा भारतवर्ष में ऊँची नौकरियों पर जितनी नियुक्तियाँ होती हैं वे सब केवल प्रतिस्पर्द्धी परीक्षा द्वारा हों।

(ख) भारतमन्त्री की कौंसिल, वायसराय और मद्रास तथा बम्बई के गवर्नरों की कार्यकारिणियों में भारतीय प्रतिनिधि पर्याप्त संख्या में हों।

(ग) भारतीय और प्रान्तीय कौंसिलें बढ़ाई जाएँ, उनमें जनता के अधिक और वास्तविक प्रतिनिधि रहें और उन्हें देश के आर्थिक एवं शासन सम्बन्धी कार्यों में अधिक अधिकार रहें।

(घ) स्थानीय और म्युनिसिपल बोर्डों के अधिकार बढ़ाए जाएँ और उन पर सरकारी नियन्त्रण उससे अधिक न हो जितना ऐसी संस्थाओं पर इंगलैण्ड में लोकल गवर्नमेण्ट बोर्ड का रहता है।

१८८६, १८९३ और १९०६ में क्रमशः तीन बार वे कांग्रेस के सभापति निर्वाचित किए गए। दादाभाई नौरोजी का चरित्र अत्यन्त दृढ़ था। अपने परिचितों को वे प्रशंसा, ईर्ष्या और निराशा' से परिपूर्ण कर देते थे। यदि किसी से कोई भूल हो जाती तो वे क्रुद्ध नहीं होते थे, उनका व्यवहार बड़ा सदय बना रहता था। उनका कभी कोई व्यक्तिगत शत्रु नहीं रहा। चिन्तामणि ने लिखा है, 'उनसे अधिक सज्जन पुरुष का मैंने कभी दर्शन नहीं किया। उनकी तो उपस्थितिमात्र ही श्रद्धा का संचार करती है।' गोखले ने लिखा था, 'यदि कभी मनुष्य में दिव्यता का वास रहा तो वह दादाभाई नौरोजी में'। अधिकांश प्रारम्भिक राष्ट्रवादियों की तरह दादाभाई नौरोजी का भी अंग्रेजों की स्वाभाविक न्यायप्रियता और युक्तियुक्त व्यवहार में दृढ़ विश्वास था और यह विश्वास मृत्युपर्यन्त अविचल बना रहा। उनको इस बात में सन्देह लेशमात्र भी नहीं था कि भारत अपने राजनीतिक ध्येय को शांतिपूर्ण दबाव के उपायों और ब्रिटिश जनमत के शिक्षण द्वारा प्राप्त कर सकता था। उन्होंने घोषणा की थी, हम भारतीय एक बात में यकीन करते हैं और वह यह कि यद्यपि जान बूझकर सनिक मन्दबुद्धि है लेकिन यदि एक बार उसे कोई बात समझा दी जाय कि वह अच्छी और उचित है तो आप उसके कार्य रूप में परिणत किए जाने के प्रति विश्वस्त हो सकते हैं। सार्वजनिक नेता के रूप में दादाभाई नौरोजी की आवाज और भाषा बड़ी नरम रही थी परन्तु बाद के वर्षों में अंग्रेजों की प्रतिगामी नीति ने उन्हें कठोर भाषा का प्रयोग करने के लिए विवश कर दिया। दादाभाई नौरोजी ने भारतीयों की बढ़ती हुई दरिद्रता व गरीबी की ओर आँखें खोलीं। उनका कहना था कि अंग्रेज जाति भारत का आर्थिक शोषण कर रही है। उन्होंने इस संबंध में एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया (Poverty & Unbritish Rule in India)' वे अंग्रेजी शासकों को भी उनके अन्यायों के प्रति जागरूक कराना चाहते थे। नौरोजी साधारणतया लार्ड सैलिसबरी के इस वाक्य को उद्धृत किया करते थे कि 'अन्याय एक सर्वशक्तिशाली राज्य को पतन के गर्त में डाल देता है।' (Injustice will bring down the mightiest to ruin) नौरोजी ने इन बातों पर जोर दिया—(१) भारतीयों को प्रतिनिधि सभाओं में प्रतिनिधित्व मिले (२) भारतीयों का प्रशासकीय सेवाओं में प्रवेश। १९०६ में जब दादाभाई कलकत्ता में कांग्रेस अधिवेशन के सभापति हुए सारा देश बंगविच्छेद के कारण 'मानों एक खौलते हुए कड़ाह में था। बंगाल असन्तोष से उबल रहा था। सरकार ने स्वदेशी आन्दोलन को विशेष कानूनों (आर्डिनेंसों) फौज और सशस्त्र पुलिस की तैनाती, व्यापक गिरफ्तारियों और अन्धाधुन्ध लाठी प्रहारों द्वारा कुचल डालने का प्रयास किया। इस जन आन्दोलन और नौकरशाही दमन के अवसर पर यह व्यक्ति दादाभाई नौरोजी ही थे जिन्होंने 'स्वराज्य' को कांग्रेस का ध्येय घोषित किया। किन्तु उन्होंने कभी भी क्रान्ति का पक्ष नहीं लिया।

१८ गोपालकृष्ण गोखले (1866 1915)

गोपालकृष्ण गोखले महाराष्ट्र के एक बीर पुत्र और महानतम राष्ट्रवादी नेताओं में से थे। उनका जन्म १८६६ में कोल्हापुर में हुआ था। उनका मस्तिष्क समुन्नत था और हृदय सुविशाल इन गुणों के कारण उन्होंने अपने जीवन में बड़ी शीघ्रता से उन्नति की। १८ वर्ष की वय में प्रोफेसर, ३२ वर्ष की वय में बम्बई विधान परिषद के सदस्य और ३९ वर्ष की वय में कांग्रेस के अध्यक्ष हुए। अपनी तरुणावस्था मे ही उन्होंने अपने जीवन को राष्ट्र देवता के चरणों में समर्पित कर दिया था। नंगे भूखे झुरिया पड़े हुए ठिठुरते और सिकुड़ते हुए सुबह से शाम तक दो रोटियों के लिए रात में कड़ा श्रम करने वाले चुपचाप धीरज के साथ न जाने कितना सहने वाले अपने मालिकों के पास जिनकी आवाज जरा भी नहीं पहुंचती, और ईश्वर तथा मनुष्यों के द्वारा जो कुछ भी बोझ उनकी पीठ पर लाद दिया जाता है और उसे बिना की चपड़ किए सदा सहने के लिए तैयार किसानों के लिए गोखले के हृदय में प्रेम का स्थान था। गोखले ने निर्धन और शोषित कृषक वर्ग के हितार्थ एक मन होकर एकनिष्ठा से काम किया। गोखले ने नमक कर का खण्डन किया था जिसके लिए बाद में महात्मा गांधी ने स्पष्ट रूप से कहा था कि यह कर तो गरीबी पर लगा हुआ कर है क्योंकि इससे तीन पाई वाली नमक की टोकरी की कीमत पांच आने हो जाती है। पांच गांवों में से चार गांव बिना किसी पाठशाला के हैं और बच्चों का विकास अज्ञान में ही होता है यह उन्होंने घोषणा की। गोखले इस अशिक्षा के लिए सरकार को ही उत्तरदायी ठहराते थे।

१८८६ में गोखले ने कांग्रेस में प्रवेश किया और वे शीघ्र ही अग्रिम पंक्ति में आ विराजे। जब वे कांग्रेस के २१ वें अधिवेशन (१९०५) के सभापति चुने गए इस गौरवपूर्ण पद पर पहुंचने वाले व्यक्तियों में उनकी अवस्था सबसे कम थी। सूरत विच्छेद (१९०७) के पश्चात् उन्होंने कांग्रेस के कामों में महत्वपूर्ण भाग लिया। वास्तव में वे तिलक के प्रतिकूल नरम दल के नेता और कई वर्षों तक कांग्रेस के कर्णधार का काम करते रहे। मुख्यतः यह उनके ही विरोध का परिणाम था जिससे कि उनके जीवन काल में गरम दल और नरम दल के बीच मेल होने के सारे प्रयास निष्फल हुए। भारतवर्ष के प्रतिनिधि के रूप में गोखले कई बार इंगलैण्ड गए और वहाँ के कई सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों के प्रशंसा भाजन बने। सी० वाइ० चिंतामणि ने नेशन पत्र के सम्पादक श्री मैसिंघम को यह कहते हुए उद्धृत किया कि इंगलैण्ड में गोखले के समकक्ष कोई राजनीतिज्ञ नहीं था। १८८८ में गोखले बम्बई विधान परिषद के सदस्य हो गए। बाद में उन्होंने भारतीय विधान परिषद (Indian Legislative Council) में प्रवेश किया और कई वर्षों तक उसके प्रभावशाली सदस्य बने रहे।

१९०५ में गोखले ने भारत सेवक समिति नामक संस्था स्थापित की जो उनकी देश को सबसे बड़ी देन है। संस्था का उद्देश्य ऐसे सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को

शिक्षित करना था "जो अल्प पारिश्रमिक पर मातृभूमि की सेवार्थ कठोर अनुशासन के पालनार्थ साम्राज्य के प्रति राजभक्ति के लिए वचनबद्ध हों। समिति के विधान की प्रस्तावना में गोखले ने लिखा था, "अब हमारे देशवासियों को काफी संख्या में आगे आजाना चाहिये और देशहित के कार्य में स्वयं को उसी भावना से समर्पित कर देना चाहिये जिस भावना से कि धार्मिक कृत्य किया जाता है। सार्वजनिक जीवन को आध्यात्मिकतामय होना चाहिए। देश प्रेम हृदय को इस प्रकार आप्यायित कर दे कि उसके सामने अन्यान्य सभी वस्तुएँ अत्यन्त तुच्छ मालूम पड़ने लगें।' वे दक्षिण अफ्रीका भी गए थे और उन्होंने कुछ समय तक महात्मा गांधी के साथ काम भी किया था। गांधीजी के सत्याग्रह धर्म के वे प्रशंसक हो गए थे। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन के लिये फंड भी एकत्रित किया। १९१२ में वे सार्वजनिक सेवाओं से सम्बन्धित नियुक्त इसलिंगटन आयोग के सदस्य नियुक्त हुये।

गोखले का चरित्र और उनकी विचारधारा—गोखले के चरित्र में कई दुर्लभ गुण थे। अपनी स्पष्ट सत्यवादिता और बौद्धिक साहस के लिए वे विख्यात थे। वे अपनी राय को उस समय तक कभी प्रकट नहीं करते थे जब तक उसकी सच्चाई में उनका पूर्ण विश्वास न हो जाता था। जब वे एक बार कोई राय कायम कर लेते थे अथवा किसी आदर्श को अपना लेते थे तब न तो आलोचना और बदनामी ही उन्हें अपने निर्धारित पथ से विमुख कर पाती थी। वे एक निःस्वार्थ देशभक्त थे जिनके हृदय में कदापि कोई हीन विचार नहीं आया। यद्यपि उनका व्यवहार कभी-कभी रूखा प्रतीत होता था फिर भी उनका व्यक्तित्व आकर्षक था जो हृदय में उनके प्रति न केवल आदर अपितु प्रेमभाव का भी संचार करता था। यद्यपि उनके आदर्श बहुत ऊँचे थे परन्तु यथार्थ को भी वे अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देते थे। वस्तुतः वे व्यावहारिक आदर्शवादी थे। वे एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे जो स्पृहणीय आदर्श और ऐसे आदर्श के बीच, जो स्पृहणीय हो परन्तु साथ ही साथ प्राप्तव्य भी हो भेद समझ सकते थे। लार्ड मार्ले के कथनानुसार इनका मस्तिष्क राजनीतिज्ञ का मस्तिष्क था और इनमें शासन के उत्तरदायित्व की भावना थी। मैकियावली (Machiavelli) की भाँति वे उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी भी साधन को ठीक न समझते थे वरन् जीवन में प्रत्येक कार्य को नैतिकता के आधार पर रखते थे। लार्ड कर्जन ने उनको एक बार लिखा था "ईश्वर ने आपको असाधारण योग्यताओं से आभूषित किया है और आपने उन योग्यताओं को देश के हितार्थ प्रयुक्त किया है।'

गोखले नौकरशाही के विरोधी थे। वे जनतंत्र सरकार के समर्थक थे। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया था। उनकी माँग थी कि भारत में भारतीयों को सेवाओं में प्रवेश मिले। निर्वाचन प्रणाली की शुरुआत हो और विकेन्द्रियकरण किया जाए। गोखले का उग्र राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं था। वे नरम राष्ट्रीयता के अनुयायी थे। अंग्रेजों ने भारतवर्ष को जो सहायता प्रदान की इसके वे प्रशंसक थे। ब्रिटिश

शासन के प्रति राज भक्तिपूर्ण सहयोग और भारत की नीति का व समर्थन किया करते थे। साम्राज्य गोखले जनता और सरकार के बीच मध्यस्थ का काम करते थे। व जनता की आकांक्षाएं वायसराय तक पहुंचाते थे और सरकार की कठिनाइयाँ जनता तक।' स्वभावतः इसके कारण इनकी स्थिति कभी कभी विषम हो जाती थी। उनके सहयोगी उनको बहुत नरम समझते थे और सरकार इनके ऊपर उग्र होने का दोषारोपण करती थी तथापि अपनी सारी नरमी के बावजूद भी गोखले दादाभाई नौरोजी अथवा फीरोजशाह मेहता की अपेक्षा कहीं अधिक निर्भीक वक्ता और नौकरशाही के कटु आलोचक थे। पट्टाभि सीतारामय्या के अनुसार उनमें बड़ी से बड़ी बात को भी मधुर भाषा में कहने का बड़ा गुण था।[1] परन्तु यदि वे आलोचना में कोमल शब्दावली का प्रयोग करते थे उनके मन में सन्देह का गुंजायश नहीं रहती थी। जब लार्ड कर्जन के प्रतिगामी कार्यों ने अंग्रेजों की नेकनीयती में उनके सारे विश्वास को नष्ट कर दिया तब उनकी भाषा भी कुछ कठोर हो गई। उन्होंने अपने स्वभाव के विरुद्ध तनिक बिगड़ कर यह कहा था तो अब मैं इतना ही कह सकता हूं कि लोक हित के लिए नौकरशाही से किसी तरह के सहयोग की तमाम आशाओं को नमस्कार। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में गोखले का सरकार के ऊपर से विश्वास हटने लगा था और वे शिकायतें करने लगे थे कि नौकरशाही स्पष्टतः स्वार्थसाधु और खुल्लम खुल्ला राष्ट्रीय आकांक्षाओं के विरुद्ध होती जा रही है।' इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि १९०५ के कांग्रेस अधिवेशन में जिसके कि वे अध्यक्ष थे उन्होंने स्वशासन के ध्येय पर समुचित प्रकाश डाला उसकी सुविस्तृत व्याख्या की राजनीतिक शस्त्र के रूप में बहिष्कार का समर्थन किया और कहा कि इसका प्रयोग तभी करना चाहिए जबकि अन्य कोई चारा न रह गया हो।

१६. युग के अन्य राष्ट्रवादी

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में कई असाधारण सार्वजनिक व्यक्ति हुए जिनका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। उनके अलावा उमेशचन्द्र बनर्जी दीनशा एदल जी वाचा फिरोजशाह मेहता बदरुद्दीन तयबजी सत्याघोश रानाडे आनन्दमोहन बोस जी० सुब्रह्मण्य एयर और सी० विजय राघवाचार्य आदि नक्षत्रों से देश गगन का आकाश जगमगा रहा था। वैसे तो बाल गंगाधर तिलक भी इसी युग में हुए परन्तु उनमें और नरम राष्ट्रीयता के उपासकों में अन्तर था। उनके वक्तृत्व और चरित्र का हम अगले अध्याय में वर्णन करेंगे।

उमेशचन्द्र बनर्जी (1844 1906)—उमेशचन्द्र बनर्जी का यहाँ पर उल्लेख करना केवल इसलिए ही आवश्यक नहीं है कि वे कांग्रेस की नींव डालने वालों में से थे और उन्होंने कांग्रेस के प्रथम अध्यक्षपद को सुशोभित किया था अपितु सुरेन्द्रनाथ

[1] पट्टाभि सीतारामय्या—'दी हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस' पृ० १४८

बनर्जी की भाँति कांग्रेस की स्थापना करने में उन्होंने भी कठिन परिश्रम किया था। कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष पद से दिया गया उनका भाषण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। डाक्टर पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में "यदि प्रामाणिक रूप से जानना हो कि कांग्रेस का प्रारम्भिक उद्देश्य क्या था तो उसके प्रथम अधिवेशन के सभापति उमेशचन्द्र बनर्जी के भाषण की ओर ही निगाह दौड़ानी पड़ेगी।

दीनशा एदलजी वाचा—दीनशा एदलजी वाचा कांग्रेस के सर्वाधिक आदरणीय बुजुर्गों में से थे। पच्चीस वर्षों से अधिक काल तक वे कांग्रेस की राजनीति में प्रमुख भाग लेते रहे। वसे वे बहुत ही नरम थे और सरकार उन पर विश्वास करती थी लेकिन फिर भी वे कांग्रेस के फादर ग्रांड' के नाम से विख्यात हो गए थे। शासन की ओर से उन्हें 'नाइटहुड' की उपाधि प्रदान की गई थी और वे भारतीय विधान परिषद (Indian Legislative council) के लिए नामजद किए गए थे।

फिरोजशाह मेहता (1845 1915)—फिरोजशाह मेहता पारसी 'त्रिदेव' में से एक थे—दूसरे दादाभाई नौरोजी और तीसरे दीनशा एदलजी वाचा थे जिन्होंने प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस का सेवा की और उसे शक्तिशाली बनाया। १९१५ में अपनी मृत्युपर्यन्त वे सार्वजनिक कार्यकर्ता रहे और उन्होंने अपने देश की प्रमुख सेवा की। अपनी रचनात्मक राजनीतिक मेधा के लिए वे सुविख्यात थे और उन्होंने बम्बई कार्पोरेशन बम्बई विधान परिषद तथा वायसराय की परिषद् के सदस्य के रूप में विशेष यश अर्जित किया। उन्होंने कांग्रेस के छठे अधिवेशन (१८९०) का सभापतित्व किया था और अपने भाषण में लार्ड सेलिसबरी के इस विचार का खण्डन किया कि प्रतिनिधि शासन पूर्वी परम्पराओं अथवा पूर्व के निवासियों की मनःस्थिति के अनुकूल नहीं है अपनी बात की पुष्टि में मि० चिसहोम एस्टे (Chisohm Aust y) का यह उद्धरण पेश किया कि "स्थानिक-स्वराज्य का जनक तो पूर्व ही है क्योंकि स्वशासन का अधिक से अधिक विस्तृत जो रूप हो सकता है उस रूप में यह प्रारम्भ से ही पूर्व मौजूद रहा है' अन्य नरम राष्ट्रवादियों की तरह अंग्रेजी शिक्षा तथा संस्कृति के प्राणवान् और उदार सिद्धान्तों में फिरोजशाह मेहता की भी असीम आस्था थी। वे 'समयानुकूल राजनीतिज्ञता दिखाने की प्रार्थना और बहुत ही नम्रता और संयम के साथ' करने के विश्वासी थे। इस विषय में उन्हें तनिक भी सन्देह नहीं था कि 'अन्त में ब्रिटिश राजनीतिज्ञ हमारी पुकार को अवश्य सुनेंगे।' नरम दल और गरम दल के बीच सूरत विच्छेद के पश्चात् मेहता धीरे धीरे कांग्रेस से ओझल हो गए और १९१० में उन्होंने दुबारा कांग्रेस के सभापति का आसन ग्रहण करने से इन्कार कर दिया।

महादेव गोविन्द रानाडे (1842 1901)—भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में महादेव गोविन्द रानाडे का नाम भी महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। बहुत बारीकी में उतरें तब तो उन्हें कांग्रेसी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे बम्बई सरकार के न्याय विभाग के उच्चाधिकारी थे सक्रिय यदि वे कांग्रेस के रंगमंच पर दिखाई नहीं देते

थे या बहुत कम दिखाई देते थे तो वर्षों तक पीछे से कांग्रेस का सूत्र संचालन करने वाली शक्ति वे बने रहे थे। अपने युग के ये महानतम भारतीय विचारक थे और कांग्रेस आन्दोलन के नेताओं पर उन्होंने अक्षुण्ण प्रभाव डाला था। गोखले उनके बहुत से शिष्यों में से एक थे। वे अविश्रान्त उत्साही सामाजिक कार्यकर्ता और भारतीय अर्थशास्त्र पर निबन्ध (Essay in Indian Economics) और मराठों का उत्थान (The Rise of the Maharatta Power) जैसी स्मरणीय पुस्तकों के लेखक थे जो कि अब भी अपने विषयों पर 'क्लासिक्स' मानी जाती हैं।

बदरुद्दीन तय्यबजी—तय्यबजी का भी उल्लेख करना आवश्यक है। वे कांग्रेस में प्रवेश करने वाले सर्वप्रथम मुस्लिम थे। कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन (१८८७) का उन्होंने सभापतित्व किया था। बम्बई हाईकोर्ट के जज होने पर वे कई वर्षों तक कांग्रेस से अलग रहे लेकिन १९०४ में कांग्रेस में पुनः लौट आए और इसके दो वर्ष बाद तक अपनी मृत्युपर्यन्त अत्यन्त उत्साहपूर्वक काम करते रहे।

२० १८९२ का इण्डियन कौंसिल्स एक्ट

कांग्रेस का एक कर्तृत्व—१८३३ में मैकॉले ने आशा व्यक्त की कि एक दिन वह आएगा जब भारतीय 'यूरोपीय संस्थाओं' की मांग करेंगे। मैकॉले ने तो किसी भावी युग की भाषा में बात की थी परन्तु वह दिन इतनी शीघ्र आ पहुँचा जिसका मैकॉले को स्वप्न में भी भान न रहा होगा। कांग्रेस की स्थापना १८८५ में हुई थी और उसने अपने प्रथम अधिवेशन में ही, 'यूरोपीय संस्थाओं' की मांग की। सरकार के तत्कालीन रवैये के प्रति उसने घोर असन्तोष प्रगट किया १८६१ के एक्ट के अन्तर्गत विधान परिषदों के सुधार और विस्तार की तथा संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) और पंजाब के लिए परिषदों को स्थापित करने की मांग की। एक प्रस्ताव द्वारा प्रान्तीय और केन्द्रीय परिषदों में अधिक निर्वाचित सदस्यों के प्रवेश' की मांग की गई। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में जो प्रस्ताव पास किए गए थे उनमें कहा गया था—

(१) परिषदों के कम-से-कम आधे सदस्य निर्वाचित होने चाहिए।

(२) परिषदों को बजट समेत सभी आर्थिक प्रश्नों के विवेचन का अधिकार होना चाहिए।

(३) सुरक्षा की सीमाओं में रहते हुए परिषद के सदस्यों को शासन सम्बन्धी सभी मामलों में प्रश्न पूछने का अधिकार होना चाहिए।

इन मांगों को लेकर कांग्रेस ने दो शिष्टमण्डल इंगलैण्ड भेजे। इन शिष्टमण्डलों को भेजने में कांग्रेस का उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को इस बात का विश्वास दिलाए कि भारत में प्रतिनिधि शासन के ध्येय की ओर पग बढ़ाने की गम्भीर आवश्यकता है। १८९२ का एक्ट स्पष्टतः इन प्रयासों का ही परिणाम था।

प्रतिनिधित्व का श्रीगणेश—भारतीय शासन में प्रतिनिधित्व के सूत्रपात की ओर प्रथम पग १८६१ के इण्डियन कौंसिल एक्ट के अन्तर्गत ही उठा लिया गया था।

इस एक्ट के अनुसार कानून बनाने के लिए गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई और गवर्नर जनरल को कम से-कम छः तथा अधिक-से अधिक बारह सदस्यों के मनोनीत करने का अधिकार मिला। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि मनोनीत सदस्यों में कम से-कम आधे गैर सरकारी होंगे। इसी एक्ट में प्रान्तों में भी विधान परिषदों के संस्थापन की बात कही गई थी जिनमें कम-से-कम चार और अधिक से अधिक आठ मनोनीत सदस्यों को प्रवेश करने का अधिकार दिया गया था। इनमें कम से-कम आधे सदस्यों का गैर सरकारी होना आवश्यक था। इस एक्ट के अन्तर्गत निर्मित विधान परिषदों को विधान परिषद कहना उचित नहीं मालूम पड़ता वस्तुतः वे तो दरबार थी। इसमें भारतीय जनता को अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार नहीं दिया गया था। वस्तुतः अधिकांश निर्वाचित गैर सरकारी सदस्य यूरोपियन ही होते थे। इसके अलावा परिषदों के अधिकार बड़े परिमित थे। उन्हें न तो बजट पर ही बहस करने का और न शासन सम्बन्धी मामलों में कार्यकारिणी से प्रश्न करने का अधिकार था।

१८६२ के एक्ट के उपबन्ध—भारतीय शासन विधान सम्बन्धी एक्टों में १८६१ के एक्ट के पश्चात् १८९२ का ही एक्ट महत्त्व का है। इस एक्ट के अनुसार (१) भारतीय और प्रान्तीय विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई। भारतीय विधान परिषद में गवर्नर जनरल की कौंसिल के अतिरिक्त, कम से कम दस और अधिक से अधिक सोलह सदस्य बढ़ाए जा सकते थे और प्रान्तीय विधान परिषदों में कम-से-कम आठ और अधिक-से अधिक बीस (२) गवर्नर जनरल को यह अधिकार मिला कि वे परोक्ष निर्वाचन प्रणाली का सूत्रपात करें—यद्यपि निर्वाचन शब्द का प्रयोग सब अथवा कुछ अतिरिक्त सदस्यों के चुनने के लिए नहीं हुआ था। वस्तुतः यह निश्चित किया गया कि कुछ गैर सरकारी स्थान तो नाम निर्देशन (Nomination) द्वारा ही पूर्ण किए जाते रहें और शेष स्थानों की पूर्ति उन नामजद किए गए व्यक्तियों में से कुछ को चुनकर की जाय जिनकी सिफारिश म्युनिसिपल कमेटियाँ डिस्ट्रिक्ट बोर्ड कार्पोरेशन, विश्वविद्यालय अथवा व्यापारिक मण्डल आदि करें। (३) कौंसिल के सदस्यों को बजट पर बहस करने का अधिकार मिला यद्यपि वे उस पर वोट देने के अधिकार से वंचित रह गए। जनहित के मामलों में उन्हें प्रश्न पूछने का भी अधिकार नहीं दिया गया।

एक्ट की आलोचना—एक्ट ने कुछ रियायतें तो दीं परन्तु वे बहुत अपूर्ण और अपर्याप्त थीं। परिषदों के आकार की वृद्धि 'शून्य और तुच्छ थी।' १८९२ के अपने अधिवेशन में कांग्रेस ने इस बात की शिकायत की कि 'स्वयं इस एक्ट के द्वारा लोगों को परिषदों के लिए अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार नहीं दिया गया है। नई परिषदों को सरकार की आर्थिक नीति पर तो सामान्य ढंग से बहस करने का अधिकार दिया गया परन्तु उन्हें बजट पर मतदान का अथवा संशोधन उपस्थित करने का अधिकार नहीं दिया गया। सदस्यों को प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया, परन्तु

वे पूरक प्रश्न (Supplementary qu stions) करने के अधिकार से वंचित रखे गए।

साराश

१८८५ में स्थापित कांग्रेस ने प्रभाव और लोकप्रियता में शीघ्र उन्नति की तथा यह देश म एक शक्ति बन गई। प्रारम्भ से ही उसका दृष्टिकोण और स्वरूप विशुद्ध राष्ट्रीय था और उसने देश के सभी हितों वर्गों जातियों और धर्मों का प्रतिनिधित्व किया।

अपनी पहली अवस्था म कांग्रेस एक क्रान्तिकारी नहीं अपितु सुधारवादी सगठन था। इस पर उदार अथवा नरम राष्ट्रवादियों का प्रभुत्व प्रभुत्व था जिनका ब्रिटिश जनता की ज म जात न्यायप्रियता तथा प्रजातान्त्रिक भावनाओं में असीम विश्वास था। ब्रिटिशराज से भारत को जो लाभ हुए उनकी वे प्रशसा करते थे और ब्रिटिशराज के प्रति राजभक्ति की घोषणाए करना शपथ लेना उनका स्वभाव था। इसम कोई सन्देह नहीं कि भारत म नौकरशाही के वे आलोचक थे परन्तु उनका विश्वास था कि वैधानिक उपायों से सहयोग की नीति द्वारा ही भारतवर्ष धीरे धीरे स्वशासन (ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत) के लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जायगा और सब अव्यवस्था एव अशान्ति ठीक हो जाएगी। प्रार्थनाओं और आवेदनों के प्रोग्राम में ही उनकी दृढ़ आस्था थी जिसे कि बाद में राजनीतिक भिक्षावृत्ति के नाम से अभिहित किया गया।

यह नरम राष्ट्रवादियों का भ्रम था कि उन्होंने भारत और इगलैण्ड के हितों को परस्पर सम्बद्ध समझा। साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष करने मे विशुद्ध वैधानिकवाद की दुर्बलता का अनुभव करने म वे असफल सिद्ध हुए। परन्तु उनका कार्य भी निष्प्रयोजन नहीं था। वे भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माता थे और उन्होंने उसे अपूर्व बल प्रदान किया। सार्वजनिक भाषणों और सार्वजनिक महत्व के प्रश्नो पर विचार विमर्श के द्वारा उन्होंने जनता को राजनीतिक शिक्षा दी। इसके अलावा १८९२ का इण्डियन कौंसिल्स एक्ट नरम राष्ट्रवादियों के उद्योगों का ही फल था।

कांग्रेस की स्थापना शासकों के सहयोग से हुई थी परन्तु ब्रिटिश अधिकारियों को शीघ्र ही कांग्रेस की मांगें और आलोचनाए अरुचिकर और असह्य प्रतीत होने लगी। परिणामत उन्होंने उसकी उन्नति मे रोड़े अटकाने शुरू किए। लार्ड डफरिन तक भी जिन्होंने कि कांग्रेस की स्थापना म योग दिया था अब उसके विरुद्ध हो गए और उन्होंने भारतीयों की अतिसूक्ष्म अल्प मत (Microscopic Minority) का प्रतिनिधित्व करने वाला राजनीतिक सस्था बताया। फिर भी सरकार ने कांग्रेस को असन्तुष्ट रखना उचित न समझा उसे राजी करने की कोशिश की और १८९२ का एक्ट उसकी उक्त नीति का फल था।

अध्याय ४

उग्र राष्ट्रीयता का विकास

२१ भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में नूतन प्रवृत्तियाँ

उग्रवादी (Extremists)—१८९२ के तुरन्त बाद ही, जब कि नया इण्डियन कौंसिल एक्ट पास किया गया था, भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नूतन प्राणधारा का विकास हुआ। इसने ब्रिटिश शासन के प्रति उग्र विरोध का स्वरूप धारण किया। यद्यपि कांग्रेस पर प्रभुत्व तो उदार दल का ही बना रहा, परन्तु संगठन के अन्तर्गत लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में एक नूतन शक्ति का आविर्भाव हुआ। इसके कुछ समय पश्चात् बंगाल के राजनीतिक नभमण्डल में भी विपिन चन्द्र पाल और अरविन्द घोष जैसे नेता चमके जिन्होंने कि भारत के राष्ट्रीय संघर्ष में नवीन जीवन धारा का संचार किया। महाराष्ट्र और बंगाल के जिन नेताओं ने कांग्रेस आन्दोलन की रागिनी में नया स्वर भरा, उसे नयी गति और नयी दिशा प्रदान की वे उग्रवादी (Extremists) के नाम से विख्यात थे क्योंकि उनका दृष्टिकोण क्रान्तिकारी था और वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सक्रिय प्रतिकार पर बल देते थे।

उग्रवादी और उदारवादियों की तुलना—उदारवादियों से उनका मतभेद न केवल भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति अपने दृष्टिकोण के ही सम्बन्ध में था अपितु भारत के राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वे जिन साधनों का समर्थन करते थे उनकी दृष्टि से भी दोनों में मतभेद था। उदारवादी जैसा कि हम पूर्व ही देख चुके हैं ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अपनी राजभक्ति की स्पष्ट घोषणा करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में ब्रिटिश-नौकरशाही के वे आलोचक थे परन्तु अंग्रेज जाति की तथाकथित उदात्त लोकतन्त्रात्मक भावनाओं में उनकी अपार अटल श्रद्धा थी। फलतः वे विश्वास करते थे कि अंग्रेजों की छत्रछाया में भारत राजनीतिक उन्नति और आर्थिक समृद्धि प्राप्त कर सकता है और भारत के राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विशुद्ध वैधानिक उपायों का ही प्रयोग करना चाहिए। उग्रवादी ब्रिटिश शासन का खुल्लम खुल्ला विरोध करते थे, उसे प्रतिगामी बताते थे, देश की आर्थिक अवनति व सांस्कृतिक अधोगति का उत्तरदायित्व उसके सिर मढ़ते थे। राजनीतिक भिक्षा वृत्ति की नीति में उनकी बहुत कम आस्था थी। अंग्रेजों की कृपाकार पर निर्भर रहने के बजाय वे चाहते थे कि भारतीय अपनी शक्ति पर ही भरोसा करें। उग्रवादी भारतीयों में स्वावलम्बन, आत्मनिर्भरता और आत्माभिमान उत्पन्न करना चाहते थे। उन्होंने स्वराज्य को अपना लक्ष्य घोषित किया और कहा कि इस लक्ष्य को राजशक्ति के

पारितोषिक के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता। उन्होंने सहकारिता के प्रतिकूल प्रवज्ञा की नीति का प्रचार किया। उन्होंने अपने देश के लिए बलिदान करने और कष्ट सहने के लिए भारतीय जनता का आह्वान किया। उग्र और उदार दल के विरोध पर तिलक का कहना था राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ना पड़ेगा। उदार दल सोचता है कि वे समझाने से प्राप्त हो सकते हैं। हम सोचते हैं कि वे तीव्र दबाव से ही प्राप्त हो सकते हैं।'

आतंकवादी (Terrorists)—१८९२ के सुधारों के बाद के वर्षों में उग्र राष्ट्रीयता की एक अन्य धारा आतंकवादियों (Terrorists) का जन्म हुआ। उग्रवादी उदारवादियों के विशुद्ध वैधानिकवाद (Constitutionalism) का खण्डन करते थे परन्तु उन्होंने हिंसा के प्रयोग का कदापि समर्थन नहीं किया। वे राजनीतिक आन्दोलन व शान्तिपूर्ण विरोध में भरोसा करते थे। परन्तु आतंकवादी उग्र प्रकृति के राष्ट्रवादी थे। उन्होंने हिंसा का आश्रय ग्रहण किया। वे भारत की सम्पूर्ण साम्राज्यवादी व्यवस्था को कत्लों और डकैतियों आदि के प्रोग्राम द्वारा अस्त-व्यस्त करने की आशा रखते थे। राष्ट्रवादी आन्दोलन के एक भाग के रूप में हम आतंकवाद के अनुक्रम का इस अध्याय के अन्त में अध्ययन करेंगे।

२२ उग्रवाद के प्रादुर्भाव के कारण

१ नौकरशाही कुशासन और दमन—भारतीय राष्ट्रवादियों में क्रान्तिकारी भावना के विकास के प्रमुखतम कारणों में से एक ब्रिटेन नौकरशाही की असाध्य प्रतिगामी नीति के प्रति बढ़ता हुआ असन्तोष था। १८९२ का इण्डियन कौंसिल एक्ट (Indian Councils Act) उदारवादियों तक को सन्तुष्ट करने में असफल हुआ था। सरकार राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचलने की नीति का कठोरता पूर्वक अन्धाधुन्ध अनुकरण करती रही। १८९२ में गोखले को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि वे अधिकारियों को यह चेतावनी दें कि सरकार की जो प्रतिगामी नीति है उसके भयानक परिणाम हो सकते हैं। १८९७ में सरकार ने तिलक को गिरफ्तार किया और राजद्रोह के अपराध में उन्हें १८ मास के लिए कठोर कारावास का दण्ड दिया। दक्षिण के सुप्रसिद्ध और प्रभावशाली जमींदार—नाटु बन्धुओं को देश निकाला दे दिया गया और उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई उनके ऊपर सन्देह यह किया गया था कि वे प्रान्त के राजनीतिक आन्दोलन से सम्बद्ध हैं। इन्होंने और इस प्रकार के दूसरे क्रूरतापूर्ण कृत्यों ने सम्पूर्ण देश में क्रोध तथा प्रतिशोध की लहर फैला दी। रमेशचन्द्र दत्त के शब्दों में ब्रिटिश शासकों की न्याय और सम दृष्टि भावना में भारतीय जनता का जो विश्वास था वह ऐसा हिल गया, जैसा कि पहले कभी नहीं।

२ अकाल और महामारी—बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में उग्र राष्ट्रीयता के विकास का एक सहायक कारण अकाल और महामारी जैसी प्राकृतिक आपदाओं का प्रभाव भी था। शासकों ने उनके निवारण करने के प्रयासों में जिस उदासीनता और सुस्ती का परिचय दिया, उससे सम्पूर्ण भारतीय जनता सरकार के प्रति अतीव रुष्ट

हो गई। १८९६-९७ में दक्षिण में अत्यन्त भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। इससे जनता को अत्यनाय कष्टों का सामना करना पड़ा और जन-जीवन की अपार हानि हुई। अकाल से छुटकारा पाने के लिए सरकार ने जिस मन्दगति से काम किया और लगान क्षमा कर देने के सम्बन्ध में जो शिथिलता दिखाई उसके कारण जनता ने बहुत से एसे कष्टों के लिए जिनका निवारण किया जा सकता था सरकार को ही दोषी ठहराया। १८९९-१९०० में पुन वर्षा न हुई व एक और अकाल पड़ा जो पहले अकाल की अपदा कहीं अधिक भीषणतर था। १८९७-९८ में पूना में प्लेग बड़े जोरों से फैली। एक तो लोग अकाल के मारे ही परेशान थे, प्लेग ने तो उनकी कमर ही तोड़ दी। सरकारी रिपोट में कहा गया था कि १७३००० व्यक्ति इस बीमारी के कारण काल कवलित हो गए। परन्तु यह तो सरकारी रिपोट की बात है जब कि यथार्थत इससे कहीं बड़ी संख्या में लोगों की मृत्यु हुई थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस संकट का सामना करने में अधिकारियों ने अपनी ओर से कुछ उठा न रखा परन्तु इस बीमारी को दूर करने के साधनों में सरकार ने जन साधारण की धार्मिक धारणाओं का कोई ध्यान न रखा इनके प्रयोग में बड़ी कठोरता से काम लिया और इस प्रकार से जनता के धार्मिक विश्वासों को चोट पहुँचाई। जनता बड़ी असन्तुष्ट हुई। पूना की प्लेग कमेटी के सभापति मि० रण्ड से जिन्होंने कि प्लेग विरोधी उपायों के लागू करने में ब्रिटिश सैनिक दस्तों को नियुक्त किया था जन साधारण विशेष रूप से क्रुद्ध था। इस बात का समाचार पत्रों और भाषणों के द्वारा तीव्र विरोध किया गया। एक दिन मि० रैण्ड और एक सैनिक अधिकारी लेफ्टिनेंट आयस्ट को गोली से मार दिया गया। इससे सारे भारत में सनसनी फैल गई। सरकार ने कठोर दमन नीति से काम लिया। फलत जनता में और भी असन्तोष बढ़ा।

(3) आर्थिक असन्तोष—आम तौर पर भारत में यह अनुभव किया जाता था कि जनता को जिन कष्टों व कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, व ब्रिटिश शासन की भारत के सम्बन्ध में अपनाई गई उस आर्थिक नीति के अनिवार्य परिणाम हैं जिसमें कि भारत के हितों की अपेक्षा इंगलैण्ड के हितों को ही अधिक प्रधानता दी जाती है। इसका स्वाभाविक फल यह हुआ कि जनता के हृदय में तीव्र से तीव्रतर ब्रिटिश विरोध भावनाएँ जागृत हुईं। दादाभाई नौरोजी रमेशचन्द्र दत्त दीनशा एदलजी वाचा आदि की रचनाओं ने यह सिद्ध किया कि भारत की बढ़ती हुई गरीबी का एक एकमात्र कारण विदेशी शासन की यह नीति है जिसके फलस्वरूप देश का धन खींचकर विलायत में पहुँचता जा रहा है। उन्होंने हमारी राष्ट्रीयता को आर्थिक व राजनीतिक नींव प्रदान करने में सहायता दी। भारतवर्ष के विनाशोन्मुख व्यापारीवर्ग को देश की औद्योगिक उन्नति की वेदी पर बलि किया जा रहा था इससे भारत की निर्धनता में वृद्धि न होती तो और क्या होता? कपास की बनी चीजों पर पहले ५% आयात कर था यह घटाकर ३.५ ही कर दिया गया। भारतवर्ष में तैयार किए गए कपास के कपड़ों आदि पर तथाकथित सुल्यसूचक शुल्क (Counter Vailing Excise duty)

लागू कर दिया गया। सब कृत्य प्रकट रूप से सरकार के साम्राज्यवादी घोषणा की नीति का परिचय देते थे।

सुशिक्षित मध्यवर्ग का शासन के उच्च पदों से निष्कासन कर दिया गया अतः उनके हृदयों में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति विरोधी भाव की चिंगारी सुलग रही थी। लार्ड कर्जन के शासनकाल में इस चिंगारी ने और भी तीव्र रूप धारण किया। १९०४ में लार्ड कर्जन ने घोषणा की कि उच्च सरकारी पदों पर केवल अंग्रेजों की ही प्रतिष्ठा होनी चाहिए। वह इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ उन्होंने यह कहकर कि आनुवंशिकता, शिक्षा, योग्यता और कार्यक्षमता आदि की दृष्टि से शासन के उत्तरदायित्व का भार वहन करने के लिए भारतीयों की अपेक्षा अंग्रेज अधिक उपयुक्त हैं कटे पर नमक छिड़का। लार्ड कर्जन की यह दर्पोक्ति भारत के जातीय अभिमान के ऊपर घातक प्रहार के तुल्य थी। देशभक्त भारतीयों के लिए यह सर्वथा असहनीय थी और १८५८ में महारानी विक्टोरिया ने जो घोषणा की थी, उसके बिल्कुल प्रतिकूल थी। अतः आश्चर्य नहीं कि नवयुवकों ने बहुत बड़ी संख्या में इस चुनौती को स्वीकार करने और स्वयं को भारतीय भूमि से ब्रिटिश शासन को जड़ से उखाड़ फेंक देने के महत्कार्य में संलग्न कर देने का दृढ़ निश्चय किया।

धार्मिक पुनरुत्थान और सांस्कृतिक नवजागरण—उग्र राष्ट्रीयता की नूतन चेतना को उन धार्मिक पुनरुत्थान के आन्दोलनों से भी प्रभूत प्रेरणा मिली जिन्होंने कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारतीय जन जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया था। विवेकानन्द, रामतीर्थ, दयानन्द और एनीबीसेण्ट की शिक्षाओं ने उग्र राष्ट्रीयता के नेताओं के ऊपर गम्भीर प्रभाव डाला। उग्रवादियों में धार्मिक उत्साह विशेष रूप से था। वे भारत और उसकी जनता के पश्चिमीकरण के घोर विरोधी थे। विपिन चन्द्र पाल, बाल गंगाधर तिलक और लाला लाजपतराय आदि की उग्र राष्ट्रीयता हिन्दू धर्म की कट्टरता पर आश्रित थी। धार्मिक पुनरुत्थान को उस समय के सांस्कृतिक नवजागरण से अप्रतिहत वेग प्राप्त हुआ। बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, तिलक तथा अन्यान्य सामर्थ्यवान् विचारकों की रचनाओं ने भारतीयों को अपने देश पर और उसकी संस्कृति पर अभिमान करना सिखाया। उन्होंने भारत की राष्ट्रीय तरंगिणी को नूतन प्रवाह से आप्लावित कर दिया। पाश्चात्य संस्कृति का प्रवेश, प्रचार और प्रसार भारतीय जनता के हृदय में हीन भाव का संचरण कर सकता है अतः उसके प्रति सजग रहने की आवश्यकता है। भारत की आध्यात्मिक श्रेष्ठता में उनकी अपार निष्ठा थी और भारत के उच्च मन शिखर के सम्मुख वे पश्चिम को एक बच्चे के समान ही समझते थे। वे चाहते थे कि भारतीय अपने देश के अतीत गौरव से प्रेरणा ग्रहण करें। राष्ट्रीयता और धार्मिक पुनरुद्धार का गठबंधन पूर्णतः प्रगतिशील विकास नहीं था और हिन्दू संस्कृति पर दिया गया जोर भी खतरे से खाली नहीं था। परन्तु इतना असंदिग्ध भाव से कहा जा सकता है कि इससे जनता को एक नवीन चेतना अथवा

पुरुषोचित आत्म निर्भरता और विदेशी शासन के प्रतिकार करने का कष्ट सहने का और यदि आवश्यकता हो तो उत्सर्ग करने का दृढ़ निश्चय प्रदान किया।

कर्जन का प्रतिगामी शासन—लार्ड कर्जन के प्रतिगामी शासन ने भारत में सबसे अधिक असन्तोष उत्पन्न किया। उन्होंने जिस साम्राज्यवादी नीति का आश्रय लिया, उससे रुष्ट होकर नवयुवक बहुत बड़ी संख्या में ब्रिटिश शासन के तीव्र विरोधी हो गए। कर्जन तेज-तर्रार प्रकृति के व्यक्ति थे और वे अपने कुछ श्रेष्ठ प्रशासनिक सुधारों के लिए याद किए जाते हैं। परन्तु भारत में उनका शासनकाल सतत भारत विरोधी नीति से परिपूर्ण था। कर्जन सिर से पैर तक कट्टर साम्राज्यवादी थे भारतीयों के प्रति उनके हृदय में तीव्र अविश्वास की भावना थी और वे भारत में ब्रिटिश नौकरशाही के पांवों को अधिक से अधिक मजबूत करना चाहते थे। वे शासन में यंत्रतुल्य कुशलता का संचरण करना चाहते थे। अपने इस लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए उन्होंने केन्द्रीयकरण की नीति को अति तक पहुंचा दिया और समस्त महत्वपूर्ण पदों पर अंग्रेज पदाधिकारियों की नियुक्ति की। यद्यपि, शिक्षा सफाई और सिंचाई आदि विषय प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण में थे कर्जन ने उनका केन्द्रीयकरण करके और बहुत से विशेषज्ञों की नियुक्ति के द्वारा शासन में एकरूपता लाने का प्रयास किया। इसके अलावा वे नम्बर एक के नौकरशाह थे वे कुशलता को सरकारी नियंत्रण का पर्याय मानते थे। उनका पहला प्रहार स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के ऊपर हुआ। ये संस्थाएं लार्ड रिपन के पश्चात् से अत्यन्त तीव्र गति से उन्नति कर रही थी। लार्ड रिपन ने यह आशा व्यक्त की थी कि स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं भारतीयों को अपने देश का शासन स्वयं करने की कला में महत्वपूर्ण शिक्षण प्रदान करेंगी। इसके प्रतिकूल कर्जन ने यह अनुभव किया कि भारतीयों को इस प्रकार की शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे लोक उपक्रम (Popular Initiative) को अनुत्साहित करने और स्थानीय संस्थाओं के नौकरशाहीकरण में भरोसा रखते थे।

कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट १८९९—कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट (Calcutta Corporation Act of 1899) के द्वारा उनकी सरकार ने स्थानीय स्वशासन के विकास को अवरुद्ध करने का प्रयास किया। कार्पोरेशन के सदस्यों की संख्या ५० से घटा कर २५ कर दी गई। इस परिवर्तन का कारण सरकारी नीति के अनुसार यह था कि कार्पोरेशन के सदस्य व्यर्थ के वाद विवाद में लगे रहते थे और काम करने में आवश्यकता से अधिक विलम्ब लगता था। जनता के दृष्टिकोण से यह एक्ट कार्पोरेशन को सरकारी प्रभाव में रखने के लिए पास किया गया था और उसका उद्देश्य यह था कि भारतीय कर देने वालों का रुपया अंग्रेज मनोनीत सदस्य मनमाने ढंग से खर्च कर सकें और कार्पोरेशन की नौकरियों में यूरोपियन व यूरेशियन कर्मचारी भर दिए जाएं।

भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट १९०४—लार्ड कर्जन ने कुशलता और प्रबन्ध योग्यता के नाम पर विश्वविद्यालयों का भी सरकारीकरण किया था। उन्हें भा

सरकारी नियन्त्रण में लेने की चेष्टा की। भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट के द्वारा लार्ड कर्जन ने सीनेट के सदस्यों की संख्या को कम कर दिया, सिण्डीकेट और दूसरी प्रबन्ध समितियों के सगठन में सशोधन किए, किसी कॉलिज को विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का अन्तिम निर्णय सरकार के हाथ में रखा और कालिजों के सरकारी निरीक्षण की व्यवस्था की। इस एक्ट ने विश्वविद्यालयों की अधिकाश स्वतन्त्रता या स्वायत्तता का अपहरण कर लिया और उन्हें कठोर नौकरशाही नियन्त्रण में ला पटका। फ्रेजर के अनुसार इस कार्य ने देश के अन्दर शक्तिशाली विरोध को जन्म दिया और शिक्षित भारतीयों को अनुभव हुआ कि 'वॉयसराय का अभिप्राय विश्वविद्यालय प्रणाली पर एक प्रहार करने का है।'[1]

(६) सैनिक व्यय—कर्जन की सैनिक नीति भी सतोषप्रद न थी। उनकी सीमान्त नीति, तिब्बत और फारस की खाड़ी के सैनिक अभियान और भारतीय सैनिक दस्तों को चीन भेजना आदि कार्य ऐसे थे जिनका कि भारतीय जनता ने विरोध किया क्योंकि इनका ध्येय भारतीय धनागार के मूल्य पर ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करना था।

(१०) सरकारी गुप्त समितियों का कानून १९०४ (Official Secrets Act)—लार्ड कर्जन के शासनकाल के छठे वर्ष अर्थात् सन् १९०४ में सरकारी गुप्त समितियों का कानून पास हुआ। लार्ड कर्जन के शासनकाल का यह कार्य भी देशभक्त भारतीयों की भावनाओं पर एक कुठाराघात था। १८८६ और १८९८ के प्रारम्भिक सरकारी गुप्त समितियों के कानूनों ने शासन के हाथों में जो अधिकार प्रदान किए थे इसने उनमें और वृद्धि कर दी। इसके द्वारा सैनिक गुप्त बातों के अतिरिक्त सरकार की सार्वजनिक गुप्त बातों का भी प्रकाशन दण्डनीय निर्धारित हुआ और पत्रकारों की वे आलोचनाएं भी अपराधी बतलाई गईं जिनके कारण सरकार के प्रति सन्देह या घृणा उत्पन्न होती हो। मिस्टर नेविन्सन (Nevinson) के कथनानुसार इस विधेयक के फलस्वरूप भारतीय पत्र और पत्रकार केवल वे ही बातें प्रकाशित कर सकते थे जिनको सरकार पसन्द करे। १८९८ के कानून में राजद्रोह की जो परिभाषा की गई थी १९०४ के कानून ने उस परिभाषा में और अधिक विस्तार उत्पन्न किया।

(११) कर्जन का अभिमान और भारत विरोधी दृष्टिकोण—भारतीय जनता के प्रति अपने अभिमानी और घृणामूलक दृष्टिकोण द्वारा कर्जन ने रोष का तूफान खड़ा कर दिया और ब्रिटिश विरोधी भावनाओं में वृद्धि की। उन्होंने भारतीयों के प्रति अपना अविश्वास को अत्यन्त उद्धत भाषा में व्यक्त किया और खुल्लम खुल्ला इस बात की घोषणा की कि शासन के उत्तरदायित्वों के लिए भारतीय सर्वथा अनुपयुक्त हैं। सन् १९०४ में लार्ड कर्जन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में हिन्दू और मुसलमानों के चरित्र पर भयंकर आक्षेप किए और इस बात पर जोर दिया कि

---

१ रोनाल्ड शे— लाइफ आफ लार्ड कर्जन खण्ड २ पृ० ३२२ गुरमुख निहाल सिंह द्वारा लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट से उद्धृत।

पाश्चात्य देशों के नैतिक आचरण में सत्य का विशेष स्थान है और पौर्वात्य देशों के नैतिक आचरण में सत्य के स्थान पर मक्कारी और कूटनीतिज्ञता का प्रचार है। उनके विचारानुसार भारतीय साहित्य में भी इसी आचरण की प्रतिष्ठा है। प्राच्य देशों पर इस प्रकार का दोषारोपण नीतिमत्ता के विरुद्ध था विशेषकर उस भाषण में जिसे उन्होंने विश्वविद्यालय के कुलपति के पद से दिया था। भाषण के विरोध में समस्त देश में सार्वजनिक सभाएं की गई। कर्जन ने भारतीयों के गर्व और आत्म-सम्मान को पैरों तले रौंदा और यह घोषणा करके कि 'भारतीय राष्ट्र' नामक कोई वस्तु नहीं है असीम रोष को जन्म दिया। कांग्रेस के प्रति अपने विरोध भाव को छिपाने की उन्होंने कोई परवाह नहीं की और आशा प्रकट की कि उसका शीघ्र ही अन्त हो जाएगा।

(10) बंगाल का विभाजन १९०५—लार्ड कर्जन के उक्त सभी कार्यों से भारतीय जनता के हृदय में क्षोभ का दावानल सुलग रहा था और असन्तोष के बादल बड़ी तीव्रगति से घुमड़ रहे थे। परन्तु जिस चीज से तूफान उमड़ा, वह बंगाल का विभाजन था और इसको लार्ड कर्जन की सबसे बड़ी भूल के नाम से पुकारा गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सरकारी पक्ष में जो यह बताया गया कि बंगाल का प्रान्त बहुत बड़ा हो गया है सुशासन की दृष्टि से उसका दो भागों में बाँटा जाना आवश्यक है इस कथन में कुछ सत्यता अवश्य थी। उस समय बंगाल में उड़ीसा व बिहार भी शामिल थे और सब मिलाकर कुल प्रान्त की आबादी ८ करोड़ थी। यदि केवल मात्र सुशासन की ही दृष्टि से प्रान्त का विभाजन किया होता, तो औचित्यपूर्ण ठहराया जा सकता था परन्तु कर्जन का वास्तविक उद्देश्य यह न होकर कुछ और था। कर्जन भाषा के आधार पर भी प्रान्त के विभाजन की आकांक्षा न रखते थे। लार्ड कर्जन की स्कीम के अनुसार बंगाल दो हिस्सों में बँटा हुआ था, असली बंगाल जिसकी आबादी ५ करोड़ ४० लाख थी और जिसमें बंगला भाषा भाषी जनों की संख्या केवल १ करोड़ ८० लाख थी तथा पूर्वी बंगाल व आसाम जिसकी आबादी ३ करोड़ १० लाख थी और जिसमें २ करोड़ ५० लाख बंगाली बसते थे। महत्वपूर्ण बात यह है कि पूर्वी बंगाल में मुसलमानों का बहुमत था (उनकी जनसंख्या १ करोड़ ८० लाख थी)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बंगाल का विभाजन करने में कर्जन का प्रमुख उद्देश्य एक मुस्लिम-बहुल प्रान्त का निर्माण करना था। स्वभावतः बंगाल की जनता ने विभाजन को बंगाली राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई दृढ़ता के ऊपर एक गुप्त आक्रमण[1] समझा। वस्तुतः कर्जन देशवासियों को आपस में लड़ाने की, उनमें फूट डालने की नीति पर ही आचरण कर रहे थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बंगाल का विभाजन एक दण्ड था, जो बंगाल को दिया गया, इस अपराध पर कि उसने राष्ट्रीय आन्दोलन में बढ़ कर भाग

---

१ माडर्न इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल मूवमेण्ट से उद्धृत।

सरकारी नियन्त्रण में लेने की चेष्टा की। भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट के द्वारा लार्ड कर्जन ने सीनेट के सदस्यों की संख्या को कम कर दिया सिण्डीकेट और दूसरी प्रबन्ध समितियों के संगठन में संशोधन किए किसी कालिज को विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का अन्तिम निर्णय सरकार के हाथ में रखा और कालिजों के सरकारी निरीक्षण की व्यवस्था की। इस एक्ट ने विश्वविद्यालयों की अधिकांश स्वतन्त्रता या स्वायत्तता का अपहरण कर लिया और उन्हें कठोर नौकरशाही नियन्त्रण में ला पटका। प्रो० जकर के अनुसार इस कदम ने देश के अन्दर शक्तिशाली विरोध को जन्म दिया और शिक्षित भारतीयों का अनुभव हुआ कि वायसराय का अभिप्राय विश्वविद्यालय प्रणाली पर एक प्रहार करने का है।[1]

(९) सैनिक व्यय—कर्जन की सैनिक नीति भी सन्तोषप्रद न थी। उनकी सीमान्त नीति, तिब्बत और फारस को खाड़ी के सैनिक अभियान और भारतीय सैनिक दस्तों को चीन भेजना आदि कार्य ऐसे थे जिनका कि भारतीय जनता ने विरोध किया क्योंकि इनका ध्येय भारतीय धनागार के मूल्य पर ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करना था।

(१०) सरकारी गुप्त समितियों का कानून १६०४ (Official Secrets Act)—लार्ड कर्जन के शासनकाल के छठे वर्ष अर्थात् सन् १६०४ में सरकारी गुप्त समितियों का कानून पास हुआ। लार्ड कर्जन के शासनकाल का यह कदम भी देशभक्त भारतीयों की भावनाओं पर एक कुठाराघात था। १८८६ और १८९८ के प्रारम्भिक सरकारी गुप्त समितियों के कानूनों ने शासन के हाथों में जो अधिकार प्रदान किए थे इसने उनमें और वृद्धि कर दी। इसके द्वारा सैनिक गुप्त बातों के अतिरिक्त सरकार की सार्वजनिक गुप्त बातों का भी प्रकाशन दण्डनीय निर्धारित हुआ और पत्रकारों की वे आलोचनाएं भी अपराधी बतलाई गई जिनके कारण सरकार के प्रति सन्देह या घृणा उत्पन्न होती हो। मिस्टर नेविन्सन (Nevinson) के कथनानुसार इस विधेयक के फलस्वरूप भारतीय पत्र और पत्रकार केवल वे ही बातें प्रकाशित कर सकते थे जिनको सरकार पसन्द करे। १८९८ के कानून में राजद्रोह की जो परिभाषा की गई थी १६०४ के कानून ने उस परिभाषा में और अधिक विस्तार उत्पन्न किया।

(११) कर्जन का अभिमान और भारत विरोधी दृष्टिकोण—भारतीय जनता के प्रति अपने अभिमानी और घृणामूलक दृष्टिकोण द्वारा कर्जन ने रोष का तूफान खड़ा कर दिया और ब्रिटिश विरोधी भावनाओं में वृद्धि की। उन्होंने भारतीयों के प्रति अपने अविश्वास को अत्यन्त उद्धत भाषा में व्यक्त किया और खुल्लम खुल्ला इस बात की घोषणा की कि शासन के उत्तरदायित्वों के लिए भारतीय सर्वथा अनुपयुक्त हैं। सन् १६०५ में लार्ड कर्जन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में हिन्दू और मुसलमानों के चरित्र पर भयंकर आक्षेप किए और इस बात पर जोर दिया कि

---

1 रोनाल्ड शे— लाइफ आफ लार्ड कर्जन खण्ड २ पृ० ३२२ गुरमुख निहाल सिंह द्वारा लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेण्ट से उद्धृत।

पाश्चात्य देशों के नैतिक आचरण में सत्य का विशेष स्थान है और पौर्वात्य देशों के नैतिक आचरण में सत्य के स्थान पर मक्कारी और कूटनीतिज्ञता का प्रचार है। उनके विचारानुसार भारतीय साहित्य में भी इसी आचरण की प्रतिष्ठा है। प्राच्य देशों पर इस प्रकार का दोषारोपण नीतिमत्ता के विरुद्ध था विशेषकर उस भाषण में जिसे उन्होंने विश्वविद्यालय के कुलपति के पद से दिया था। भाषण के विरोध में समस्त देश में सार्वजनिक सभाएं की गई। कर्जन ने भारतीयों के गर्व और आत्म-सम्मान को पग तल रौंदा और यह घोषणा करके कि 'भारतीय राष्ट्र' नामक कोई वस्तु नहीं है असीम रोष को जन्म दिया। कांग्रेस के प्रति अपने विरोध भाव को छिपाने की उन्होंने कोई परवाह नहीं की और आशा प्रकट की कि उसका शीघ्र ही अन्त हो जाएगा।[1]

(c) बंगाल का विभाजन १९०५—लार्ड कर्जन के उक्त सभी कार्यों से भारतीय जनता के हृदय में क्रोध का दावानल सुलग रहा था और असन्तोष के बादल बड़ी तीव्रगति से घुमड़ रहे थे। परन्तु जिस चीज से तूफान उमड़ा वह बंगाल का विभाजन था और इसको लार्ड कर्जन की सबसे बड़ी मूर्खता के नाम से पुकारा गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सरकारी पक्ष में जो यह बताया गया कि बंगाल का प्रान्त बहुत बड़ा हो गया है सुशासन की दृष्टि से उसको दो भागों में बाँटा जाना आवश्यक है इस कथन में कुछ सत्यता अवश्य थी। उस समय बंगाल में उड़ीसा व बिहार भी शामिल थे और सब मिलाकर कुल प्रान्त की आबादी ८ करोड़ थी। यदि केवल मात्र सुशासन की ही दृष्टि से प्रान्त का विभाजन किया होता, तो औचित्यपूर्ण ठहराया जा सकता था परन्तु कर्जन का वास्तविक उद्देश्य यह न होकर कुछ और था। कर्जन भाषा के आधार पर भी प्रान्त के विभाजन की आकांक्षा न रखते थे। लार्ड कर्जन की स्कीम के अनुसार बंगाल दो हिस्सों में बंटा हुआ था असली बंगाल जिसकी आबादी ५ करोड़ ४० लाख थी और जिसमें बंगला भाषा भाषी जनों की संख्या केवल १ करोड़ ८० लाख थी तथा पूर्वी बंगाल व आसाम जिसकी आबादी ३ करोड़ १० लाख थी और जिसमें २ करोड़ ४० लाख बंगाली बसते थे। महत्वपूर्ण बात यह है कि पूर्वी बंगाल में मुसलमानों का बहुमत था (उनकी जनसंख्या १ करोड़ ८० लाख थी)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बंगाल का विभाजन करने में कर्जन का प्रमुख उद्देश्य एक मुस्लिम-बहुल प्रान्त का निर्माण करना था। स्वभावतः बंगाल की जनता ने विभाजन को बंगाली राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई दृढ़ता के ऊपर एक सुगम आक्रमण[1] समझा। वस्तुतः कर्जन देशवासियों को आपस में लड़ाने की, उनमें फूट डालने की नीति पर ही आचरण कर रहे थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बंगाल का विभाजन एक दण्ड था जो बंगाल को दिया गया इस अपराध पर कि उसने राष्ट्रीय आन्दोलन में बढ़ चढ़ कर भाग

---

१ भारत इन इंडियन कांस्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेंट से उद्धृत।

लिया था। ए० सी० मजुमदार के अनुसार मुसलमानों को एक बहुत बड़ी सभा भजन ने इस बात की स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि बगाल का विभाजन करने में उसका लक्ष्य शासन म हो सहूलियत उत्पन्न करना नहीं था अपितु एक मुस्लिम प्रान्त का निर्माण करना था जहाँ कि इस्लाम प्रबल हो। बगाल ने इसको अपनी वेइज्जती समझा उनका मान भग किया था और उनके साथ धूर्तता का व्यवहार किया गया था। न केवल बगाल म ही अपितु आसतु हिमाचल सारे देश मे सनसनी फैल गई। लार्ड कर्जन के इस दुष्कृत्य का सवत्र ही प्रचण्ड रूप से विरोध किया गया। जनता के व्यापक विरोध का ही यह फल था कि १९११ म बगाल के विभाजन को रद्द कर दिया गया।

११ उपनिवेशों म भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार—भारतीयों के साथ केवल भारत वर्ष म ही दुर्व्यवहार होता हो यह बात न थी अग्रेजी उपनिवेशों म उनके साथ और भी अधिक अभद्र व्यवहार किया जाता था उनकी अवस्था और भी अधिक शोचनीय थी। नटाल ट्रासवाल और दक्षिणी अफ्रीका के दूसरे उपनिवेशों म उनके साथ जो दुर्व्यवहार होता था वह अवर्णनीय है। नाना प्रकार के कठोर और अमानवीय प्रतिबन्धों के साथ उन्हें अपना जीवनयापन करना पड़ता था। नटाल म वे मताधिकार स वचित थ उन्हें पोल टक्स देना पड़ता और निर्धारित स्थानों मे रहना पड़ता था। वे सड़क की पटरियों पर न चल सकते थे रेल के डिब्बों म अग्रेजों के साथ न बैठ सकते थे और निर्धारित काल के पश्चात् अपने घर से बाहर न निकल सकते थे। विदेशों में भारतीयों के साथ जो दुर्व्यवहार होता था उसका कारण क्या था? देश भक्त भारतीयों को इस प्रश्न का यही उत्तर ज्ञात होता था कि चूकि भारत पराधीनता के पाश म आबद्ध है इसलिए विदेशों म उसकी सन्तति का अनादर अपमान व लाछन सहने के लिए विवश होना पड़ता है। दक्षिणी अफ्रीका म महात्मा गांधी के नेतृत्व म जिस सत्याग्रह आन्दोलन का सचालन किया गया भारत म उसकी भूरि भूरि प्रशसा हुई। इसके साथ ही साथ ब्रिटिश विरोधी भावनाए भी तीव्र से तीव्रतर होती गई।

१२ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव—जिन तत्वों ने भारतीय राष्ट्रीयता को उग्रता प्रदान की उनमे कतिपय महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव भी था। गोरी जातियों की अजेयता और भारतीयों की असहायता के विचार सन् १८९४ में इटली के अबीसीनिया से और सन १९०५ मे रूस के जापान द्वारा पराजित होने से सर्वथा दूर हो गए। मिस्र ईरान और टर्की आदि सभी एशियाई राष्ट्र अपनी आलस्यमयी और तन्द्रामयी निद्रा का त्याग कर अगड़ाई ले रहे थे इन सभी देशों में स्वतन्त्रता आन्दोलन का जोर था भारत इनसे कैसे अछूता रह सकता था? जापान ने रूस को पराजित कर सम्पूर्ण एशिया के ललाट को उन्नत कर दिया। जापान की गौरवपूर्ण विजय का कारण यही ठहराया गया कि वहा के निवासी उग्र रूप से राष्ट्रवादी है। भारतवर्ष के राष्ट्रवादियों को इन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने एक नूतन

आशा और नूतन निश्चय प्रदान किया। भारतीयों के हृदय में जिस आत्महीनता की भावना ने घर कर रखा था वह धीरे धीरे नष्ट होने लगी और उसके स्थान पर विदेशी शासन को विध्वंस करने की भावना बलवती होती गई।

(१) उदारवादियों के उपायों में विश्वास की कमी एवं तत्कालीन नेताओं का व्यक्तित्व—यह तथ्य, उपर्युक्त घटनाओं के आलोक में स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन घटनाओं से न केवल ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को ही तीव्र बल प्राप्त हुआ अपितु उन्होंने उदार प्रतिपादित उपायों में भी अविश्वास उत्पन्न कर दिया। नई राष्ट्रीयता को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला कारण था आगन्तुक नेताओं का नेतृत्व। लाल, पाल, बाल हरदयाल अरविन्द घोष आदि नेताओं ने सरकार के इस असद व्यवहार व स्वार्थपूर्ण नीति का तीव्र विरोध किया। इन नेताओं ने स्पष्टत कहा कि यदि हम अपने राष्ट्रीय लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं तो हम ब्रिटिश नौकरशाही को राजभक्तिपूर्ण सहयोग देने की नीति का परित्याग करके अपने पैरों पर अपने आप खड़ा होकर विदेशी साम्राज्यवाद का प्राणपण से प्रतिकार करने के लिए प्रतिबद्ध रहना चाहिए। इस प्रकार इन्होंने जनता में सरकार के प्रति घृणा का वातावरण निर्मित कर सरकार विरोधी जनमत का निर्माण किया। रियायतों के लिये याचना करने की अपेक्षा राजनीतिक अधिकारों के लिए ताल ठोककर संग्राम करने की तत्परता उग्र राष्ट्रीयता का विधायक तत्व था।

२३—महाराष्ट्र में राष्ट्रीयता

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (1880 1920) उग्र राष्ट्रीयता सर्वप्रथम महाराष्ट्र में उद्भूत हुई और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के रूप में उसने एक श्रेष्ठ नेता प्राप्त किया। तिलक असंदिग्ध रूप से देशभक्तों के हृदयहार' थे। उनकी विलक्षण बुद्धि, अप्रतिहत इच्छा शक्ति और देशसेवा की वेदी पर किए गए उनके अभूतपूर्व बलिदानों ने उन्हें पहले महाराष्ट्र का और बाद में सम्पूर्ण भारत का धन रहित सम्राट बना दिया था। अपनी गहन विद्वत्ता और अनन्य अभक्त धर्म निष्ठा के लिए तिलक सुविख्यात थे। पाश्चात्य दृष्टिकोण एवं संस्कृति के प्रति उनके हृदय में घोर विरक्ति थी। १८८० में उन्होंने केसरी मराठी में (साप्ताहिक) और मराठा' (अंग्रेजी साप्ताहिक) का प्रकाशन प्रारम्भ किया। राष्ट्रीयता की नूतन ज्योति को विकीर्ण करने में ये समाचार पत्र बहुत सहायक सिद्ध हुए। सन १८८१ में कोल्हापुर राज्य के तत्कालीन कुप्रबन्ध के सम्बन्ध में मराठा और केसरी में कुछ लेख निकले थे जिनके मूल लेखक तिलक या उनके सहयोगी आगरकर में से कोई न था। उनके कारण उक्त पत्रों के सम्पादक होने के नाते तिलक और आगरकर दोनों को १०१ दिन के कारावास का दण्ड मिला। इस कारावास ने जनता की आँखों में तिलक और उनके पत्रों का सम्मान बहुत बढ़ा दिया।

तिलक १८८६ में कांग्रेस में सम्मिलित हुए। उस समय उदारवादियों ने ही कांग्रेस पर प्रभुत्व जमा रखा था। तिलक उदारवादियों की नीति से सन्तुष्ट नहीं

थे। उन्होंने अपनी शक्तियों को महाराष्ट्र के राष्ट्रीय आन्दोलन को सुसंगठित करने में लगाया। उन्होंने महाराष्ट्र के नवयुवकों में आत्म निर्भरता आत्म बलिदान और आत्म विश्वास की भावना को जागृत करने के विचार से (Anti cow soci ties) गोवध विरोधी समितियों अखाड़ों और लाठी क्लबों की स्थापना की। वे चाहते थे कि भारतीय जो स्वतन्त्रता प्राप्त करें वह किसी की कृपाकोर के बल पर नहीं अपितु अपनी ही सामर्थ्य के बूते पर। उन्होंने स्वयं भी अपार कष्ट सहे और अपने अनुयायियों का प्रेम प्राप्त किया। यह भी स्मरणीय है कि तिलक के विरोधी उनकी कठोर और दृढ़ प्रवृत्ति के कारण उनसे बहुत खार खाते थे।

गणपति-उत्सव—१८९३ में तिलक ने गणपति उत्सव को संगठित किया। ऐसा करने में उनका लक्ष्य राजनीतिक भी उतना ही था जितना कि धार्मिक नवयुवकों और देशभक्तिपूर्ण प्राणवाही जीवनधारा से आप्लावित करने व उन्हें साहस उत्साह एवं अनुशासनपूर्वक मिल जुलकर काय करने की शिक्षा देने के साधन के रूप में इस उत्सव का उपयोग किया गया। उत्सव को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता मिली।

शिवाजी-उत्सव—१८९५ में तिलक ने शिवाजी उत्सव प्रारम्भ किया। इस महान वीर की स्मृति को पुन प्रतिष्ठापित करने की योजना मे जिसने कि महाराष्ट्र को मुगल शासन की अधीनता से मुक्त कर स्वतन्त्रता के स्वर्णिम प्रभात मे ला खड़ा किया था स्पष्ट रूप से राजनीतिक उद्देश्य था। यह देश के नवयुवकों के लिए एक प्रत्यक्ष आह्वान था कि वे शिवाजी महाराज के उदाहरण को अपने सामने रखें उस पर आचरण करें और ब्रिटिश शासन के बन्धन से भारत को मुक्ति दिलाए। भाषण लाठी प्रदर्शन जलूस कवाएद और संगीत दल इन उत्सवों के अनिवार्य साज-बाज थे और स्वयं तिलक के अनुसार ही उन्होंने न केवल जनता के अन्तस्तल में धार्मिक उत्साह ही जाग्रत किया अपितु उसमे राष्ट्रीय चेतना का संचार किया और उन दिनों के जो महत्वपूर्ण प्रश्न थे उनके प्रति जनता के अन्तस्तल में अभिरुचि उत्पन्न की।

रंड और आयर्स्ट की हत्या व तिलक की कारावास यात्रा १८९७—इस प्रकार एक तो महाराष्ट्र पहले से ही क्रान्तिकारी और उग्र राष्ट्रीयता का गढ़ बना हुआ था कि तभी दुर्भिक्ष और प्लेग जसी प्राकृतिक आपत्तियों ने जनता को धर दबाया। सरकार ने जनता के कष्टों के प्रति उदासीनता का परिचय दिया और यदि उसने इस व्यापक रोग—प्लेग—के निवारण में कुछ साधनों का प्रयोग भी किया तो उसमें बहुत कठोरता बरती। यह एक प्रकार से जनता के क्रोधानल पर घृत छिड़कने का काम हुआ। चापेकर बन्धुओं जसे क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों के प्रति जनता के रोषानल को अधिकाधिक तीव्र किया उसे हिंसा के लिए और पृथ्वी को अपने शत्रुओं के जीवन रक्त से रंजित कर देने के लिए' उकसाया। इस प्रकार के विध्वंसात्मक भावनाओं से परिपूर्ण वातावरण में मि० रंड और लेफ्टिनेंट आयर्स्ट के वध की घटनाएँ घटित हुई। इस सम्बन्ध में दामोदर और बालकृष्ण चापेकर को गिरफ्तार किया गया और उन्हें प्राण-दण्ड हुआ। तिलक का इस जघन्य कृत्य से

किसी प्रकार का भी कोई सम्बन्ध नहीं था उन्होंने वस्तुतः केसरी में इ
खण्डन भी किया था। परन्तु अंग्रेजी समाचारपत्रों ने तिलक के विरोध में
तूफान खड़ा कर दिया और वह इस आधार पर कि ऐसा वातावरण उत्पन्न क
के लिए जिसमें आतंकवादी के कार्यों को प्रोत्साहन मिला तिलक ही उत्तरदायी
उनके ऊपर अभियोग चलाने की मांग की। २७ जुलाई १८९७ को राजद्र
अपराध पर तिलक गिरफ्तार किए गए। एक नवयुवक अंग्रेज न्यायाधीश (स्ट
स्ट्रैची) ने उनके अभियोग की सुनवाई की। जज ने पक्षपात शून्यता का कोई ख
भी नहीं रखा और तिलक को १८ मास के कठोर कारावास का दण्ड दि
तिलक के साथ होने वाले अन्याय ने न केवल महाराष्ट्र को ही अपितु सारे भार
और भी अधिक उग्र कर दिया। वेलेन्टाइन शिरोल ने इस विषय में लिखा है
तिलक की गिरफ्तारी के पश्चात् अनेक स्थानों पर दंगे हुए और जन साधार
भारी विरोध एवं रोष प्रकट किया। इससे ऐसा आभास होता है कि तत्का
समय में तिलक का जनता में कितना प्रभाव था।

तिलक और सूरत की फूट १९०७—तिलक ने इस बात की बारम्बार
की थी कि कांग्रेस 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' वाली दब्बूपन नीति को त्यागकर
सशक्त और सुदृढ़ नीति को अपनाए परन्तु चूंकि उस समय उदार वादियों का कांग्र
प्रभुत्व था अतः उन्हें अपने प्रयत्नों में सफलता प्राप्त न हो सकी। तिलक और
उग्र राष्ट्रवादियों एवं उदारवादियों के मध्य जो मतभेद था वह इतना तीव्र हो गया
१९०७ में कांग्रेस के सूरत अधिवेशन के अवसर पर दोनों में फूट पड़ गई। इसके
१९१६ तक जब तक कि दोनों दलों में पुनः ऐक्य स्थापित न हो गया का
बाहर ही रहे पर कार्य करते रहे। जब कि बंगाल और दूसरे स्थानों में ब
विरोध आन्दोलन उग्रता की चरम सीमा पर पहुंच रहा था, जन १९०८ में
को राजद्रोह के अपराध में पुनः पकड़ लिया गया क्योंकि 'केसरी' के 'देश का
और ये उपाय टिकाऊ नहीं हैं' आदि कुछ लेख आपत्तिजनक समझे गये। त
तिलक को ६ वर्ष का कारावास-दण्ड दिया गया और उन्हें मांडले भेजा गया।[1]
जेल में तिलक ने अपने दो सुप्रसिद्ध ग्रन्थरत्नों 'दि आर्कटिक होम आफ दि वेदा
'गीतारहस्य' की रचना की। इन दोनों ही ग्रन्थ रत्नों से तिलक के सुविस्तृत
ऐतिहासिक शोध-सम्बन्धी विचारोत्कृष्टता का परिचय मिलता है।

---

1 टिप्पणी—तिलक के प्रति होने वाले इस अन्याय ने जनता के
मात्रा में विक्षुब्ध कर दिया था। पुलिस के खास प्रबन्ध होने के बावजूद कई
पर दंगे हो गए। सर वैलेन्टाइन शिरोल ने लिखा है—"अभियोग के बाद ब
दंगे हुए। कभी-कभी तो इन दंगों ने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया। ब
की यूरोपियनों को अपनी पिस्तौल व सैनिक दस्तों की आत्म रक्षार्थ मदद प
चलानी पड़ती थी .... । दंगों की पृष्ठभूमि से इस बात का पता चलता था
केवल उच्चवर्गीय लोगों के ही ऊपर अधिक प्रभाव [illegible] निम्न वर्गों के ऊपर भी ति

तिलक और होमरूल आन्दोलन—तिलक सरकार की आंखों में बाट की तरह खटकते थे वे बार बार उनके कोप भाजन बन कर कारागार भेजे गए परन्तु वे अपने निश्चय पर सदैव अडिग रहे। अपने देश की स्वतन्त्रता के प्रति उनके हृदय में जो भक्ति भाव था कठिनाइयों उसे डिगाने में असमर्थ सिद्ध हुई। तिलक ने ही देश के स्वातन्त्र्य योद्धाओं को यह अविस्मरणीय नारा दिया "स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूंगा।" चिरोल ने अपनी पुस्तक मैन्स अदर रिलीजन (Man's Other religion) के एक भाग में टू तिलक्स (Two Tilaks) दो तिलकों का वर्णन किया, एक साधारण वायन तिलक जो एक क्रिश्चियन कवि थे और दूसरे बाल गंगाधर तिलक जो स्वराज्य का अधिकारी था। तिलक स्वराज्य को गीता का कर्मयोग मानते थे। उनके शब्दों में स्वराज्य भारत की नींव है न कि भावी उन्नति की चरम सीमा। होमरूल आन्दोलन के काल में जब कि उन्होंने श्रीमती एनीबीसेंट के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य किया वे भारत के प्रमुखतम नेता थे।

तिलक का चरित्र और दृष्टिकोण—तिलक एड़ी से चोटी तक राष्ट्रवादी थे। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में उनके विराट व्यक्तित्व ने भारत के सम्पूर्ण राजनीतिक नभो मण्डल को आच्छादित कर रखा था। वे एक जन्मजात योद्धा एवं आदर्शभूत मराठे थे। तिलक का यदि कोई एक मात्र जीवन ध्येय था तो यही कि "इस महादेश की सुषुप्त आत्मा को अपनी गहरी नींद में से जगाकर पुन उसके जर्जरीभूत कलेवर में उस प्राणवाही जीवन धारा का संचार किया जाय जिसके प्रताप से किसी समय उसके अतीत का भव्य निर्माण हुआ था।"[1] अपने राजनीतिक विचारों और कार्यों के लिए तिलक ने जितने कष्ट सहे उतने उनके समकालीन अन्य किसी राजनीतिज्ञ ने नहीं। उनका दृष्टिकोण धार्मिक था और प्राचीन भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी श्रेष्ठ है उन सबका वे हार्दिक समर्थन करते थे। भारत के पश्चिमीकरण में उन्हें घृणा थी और प्राचीनकाल में भारत जिस गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित था उससे उसको पदच्युत करने का उत्तरदायित्व वे अंग्रेजों के सिर मढ़ते थे। तिलक को हम आधुनिक भारत का कृष्ण अथवा कौटिल्य कह सकते हैं। उनमें संगठन करने की अपूर्व क्षमता थी। वे साध्य वस्तु के सम्मुख साधनों को गौण समझते थे। उन्होंने अपने इस विश्वास को गीता की शिक्षाओं पर आधारित किया था। उनका कथन था— "यदि हमारे शिक्षक और निकट से निकट सम्बन्धी भी अन्याय का पक्ष ग्रहण करें तो उनका भी वध कर देने में दोष नहीं है बशर्ते कि हम यह कार्य अनासक्त भाव से करें।" तथापि तिलक ने हिंसा का प्रतिपादन कदापि नहीं किया क्योंकि वे इस बात का अनुभव करते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में हिंसा सफल नहीं हो सकती थी। तिलक के विचारों और उनके राजनीतिक साधनों ने

1 कृष्ण वल्लभ द्विवेदी— भारत निर्माता' भाग दो पृ० ६२।

उन्हें क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं का ढियहार बना दिया। मांटग्यू (Montagu) ने एक बार कहा था 'भारत में केवल एक ही अकृत्रिम उग्र राष्ट्रवादी था और वे थे तिलक'।[1] तिलक उदारवादियों के इस विचार से सहमत नहीं थे कि भारत अपने लक्ष्य को स्मरण-पत्रों व प्रार्थनाओं द्वारा प्राप्त कर सकता है। उनकी यह मान्यता थी कि यदि भारत अपनी स्वतन्त्रता का प्रयत्न करना चाहता है तो उसके लिए सतत संघर्ष करते रहने की आवश्यकता है। उदारवादी नेता सी० वाई० चिन्तामणि के अनुसार उदारवादियों के चाहे कितने भी धनी हों परन्तु उनमें से अधिकांश जन वैयक्तिक त्याग करने से पीछे भागते थे। तिलक में यह बात न थी। वे बड़े से बड़ा वैयक्तिक त्याग करने को प्रस्तुत थे। उन्होंने तीन बार कारावास की यात्रा की और अपने लिए महान् का ताज हासिल किया।[2]

तिलक और गोखले का तुलनात्मक अध्ययन—तिलक और गोखले का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक है। दोनों ही महाराष्ट्र के यशस्वी सुपुत्र थे। परन्तु दोनों की विचारधारा और दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का अन्तर था। राजनीति पर इन दोनों नेताओं की जो छाप पड़ी वह स्मरण रखने योग्य है। तिलक उन्हें हिमालय की तरह उच्च तथा अगम्य दिखाई पड़े परन्तु गोखले गंगा की पवित्र धारा के समान प्रतीत हुए जिसमें कि वे आसानी से गोता लगा सकते थे। पट्टाभि सीतारामय्या ने दोनों के अन्तर को निम्न शब्दों में अत्यन्त हृदयग्राही ढंग से स्पष्ट किया है। यदि हम स्थूल भाषा का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि गोखले नरम' थे और तिलक गरम'। गोखले चाहते थे कि वर्तमान विधान में सुधार कर दिया जाय परन्तु तिलक उसके पुनर्निर्माण के पक्षपाती थे। गोखले को नौकरशाही के साथ काम करना पड़ता था तो तिलक की नौकरशाही से निरन्तर टक्कर रहती थी। गोखले कहते थे—जहाँ सम्भव हो सहयोग करो जहाँ आवश्यक हो विरोध करो। तिलक का झुकाव अड़ंगा-नीति की तरफ था। गोखले शासन और उसके सुधार की ओर मुख्य ध्यान देते थे तिलक राष्ट्र और उसके निर्माण को सबसे मुख्य समझते थे। गोखले का आदर्श था प्रेम और सेवा तिलक का आदर्श था सेवा और कष्ट-सहन। गोखले विदेशियों का जीतने का उपाय करते थे तिलक उनको हटाना चाहते थे। गोखले दूसरे की सहायता पर आधार रखते थे तिलक स्वावलम्बन पर। गोखले उच्च वर्ग और बुद्धि-जीवियों की तरफ देखते थे तिलक सर्वसाधारण और करोड़ों की ओर। गोखले का अखाड़ा था कौंसिल भवन—तो तिलक का था गाँव की चौपाल। गोखले अंग्रेजी में लिखते थे परन्तु तिलक मराठी में। गोखले का उद्देश्य था स्वशासन जिसमें योग्य लोग अपने को अंग्रेजों की कसौटियों पर कस कर बनावें किन्तु तिलक का उद्देश्य था स्वराज्य जो कि प्रत्येक भारतवासी का जन्म सिद्ध

१ सी० वाई० चिन्तामणि— इण्डियन पोलिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी पृ० ११७।

२ जी० एन० सिंह— लैंडमार्क्स इन इण्डियन कांस्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेंट पृ० १२७।

परिवार है और जिसे वह विदेशियों की सहायता या बाधा की परवाह न करते हुए प्राप्त करना चाहते थे।[1] इस प्रकार गोखले समय के साथ थे और तिलक समय से आगे।

तिलक और गांधी—एक तुलना—राजनीतिक नेतृत्व एवं राष्ट्रमुक्ति आन्दोलन के देन की दृष्टि से लोकमान्य तिलक की महात्मा गांधी के साथ तुलना भी अत्यन्त समीचीन एवं रोचक है। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी दोनों ही अपने अपने युग की सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रवादी विभूतियाँ थी। दोनों ही नेताओं के व्यक्तित्व अपने अपने काल स्वतन्त्रता संग्राम के जीवित प्रतीक थे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत के राजनीतिक रंगमंच पर महात्मा गांधी का जिस प्रकार एकछत्र आधिपत्य रहा प्रायः उसी प्रकार प्रथम महायुद्ध के पूर्व लोकमान्य तिलक भारतीय लोकमत के मुकुटरहित सम्राट थे। लोकमान्य तिलक जन्मजात योद्धा थे। राजनीति में उनके आदर्श श्रीकृष्ण कौटिल्य शिवाजी और पेशवा थे। उनकी जैसे को तैसा नीति में आस्था थी। वे साधुता को राजनीति के लिए अनुपयुक्त मानते थे। भारत में ब्रिटिश शासन के कृष्ण रूप को उन्होंने खूब अच्छी तरह समझा था। उनका अंग्रेजों की न्यायपरायणता में बिलकुल विश्वास नहीं था। वे कहा करते थे कि हम स्वराज्य अंग्रेजों से दान के रूप में नहीं मिल सकता प्रत्युत स्वराज्य को प्राप्त करने के लिए हमें विदेशी शासकों से डट कर संघर्ष करना है। वे राजनीति में साध्य और साधन के प्रभेद को स्वीकार नहीं करते थे। उनका मत था कि यदि हमारे आदर्श श्रेष्ठ हैं तो हम उनको हस्तगत करने के लिए चाहे जैसे साधनों का प्रयोग कर सकते हैं। यद्यपि तिलक का व्यक्तिगत जीवन गांधीजी के जीवन की भांति ही विमल और निष्कलंक था फिर भी उनके लिए राष्ट्र हित की वेदी पर सत्य का बलिदान करना कोई बड़ी बात नहीं था।

गांधीजी की राजनीतिक विचारधारा और कार्यपद्धति इससे भिन्न थी। वे स्वभाव से राजनीतिज्ञ नहीं प्रत्युत धार्मिक पुरुष थे। राजनीति में तो उन्हें आवश्यकतावश आना पड़ा था।[2] राजनीतिक जीवन के प्रारम्भिक काल में गांधीजी का भी उदारवादी नेताओं की भांति अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अटल विश्वास था। यद्यपि बाद में उन्होंने भी ब्रिटिश शासन के कृष्णस्वरूप को तिलक के समान ही हृदयंगम कर लिया था। बाद में तिलक की भांति गांधीजी भी यह कहने लगे थे कि हमें स्वराज्य दान के रूप में नहीं मिल सकता उसे प्राप्त करने के लिए हमें संघर्ष करना होगा यद्यपि वह संघर्ष अहिंसात्मक होना चाहिए। तिलक के विपरीत गांधीजी साध्य और साधन के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं मानते थे। उनका मत था कि हमें श्रेष्ठ साधनों का प्रयोग करना चाहिए। गांधीजी का साध्य और साधन के प्रश्न

१ पट्टाभि सीतारामय्या— दी हिस्ट्री आफ कांग्रेस पृ० १६६।
२ रोम्यां रोलां— महात्मा गांधी पृ० २३।

पर इतना प्रबल आग्रह रहता था यद्यपि उनकी देश निष्ठा में किसी को रत्तीमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। वे यह कहते नहीं थकते थे कि मेरी दृष्टि में सत्य का स्थान देशभक्ति से ऊपर है।

गांधीजी और तिलक दोनों के ही हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा थी। परन्तु उनकी संस्कृति विषयक मान्यताओं में थोड़ी भिन्नता है। तिलक कट्टर हिन्दू थे। उनकी कट्टरता इतनी बढ़ी हुई थी कि वे हिन्दू धर्म के नाम पर बालविवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों को भी सह लेते थे। उनका हिन्दू धर्म कर्मकाण्डमय हिन्दू धर्म था। गांधीजी के साथ यह बात नहीं थी। उनके धार्मिक विश्वासों में पुराणप्रियता अथवा अन्धविश्वासों के लिए कोई स्थान नहीं था। उनका जीवन सर्व धर्म सम भाव का जीता जागता उदाहरण था। तिलक गांधीजी की भांति पाश्चात्य जनतन्त्र व प्रतिनिधि सरकार के आलोचक नहीं थे। वे गांधी के अहिंसा शस्त्र को निरंकुश व अविचलित रूप में नहीं देखते थे। तिलक महान गणितज्ञ थे। उनका संख्या में अधिक विश्वास था। गांधीजी संख्या के उतने कायल नहीं थे। यदि वे किसी बात को ठीक समझते थे तो फिर इस बात की परवाह नहीं करते थे कि कोई उनके साथ है या नहीं। वे अकेले ही अपनी अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार काम करने के लिए तैयार हो जाते थे क्योंकि अन्तरात्मा सम्बन्धी मामलों में बहुमत के लिए स्थान नहीं है।[1] बहुमत के निर्णय पर सीमित रूप में व्यवहार हो सकता है अर्थात् तफसीली मामलों में व्यक्ति को बहुमत की बात माननी चाहिए। किन्तु बहुमत का निर्णय चाहे जिस प्रकार का हो उसे मान लेना दासता है। बहुमत का यह अर्थ नहीं कि वह एक व्यक्ति की भी राय को यदि वह ठीक है कुचल दे। एक व्यक्ति की राय को यदि वह ठीक है बहुतों की राय की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना चाहिये।[2]

कतिपय आधारभूत मतभेदों के होते हुए भी तिलक और गांधी दोनों ही भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के अप्रतिहत सेनानी थे। दोनों ने ही अपने प्रचण्ड व्यक्तित्व से राष्ट्रीय आन्दोलन को नूतन गति और नूतन दिशा दी। तिलक के पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन केवल कुछ मध्यमवर्गीय पढ़े लिखे अभिजात्य लोगों तक ही सीमित था। तिलक की राष्ट्र व आन्दोलन को सबसे बड़ी देन यह है कि वे अपने साथ मध्यम वर्ग को राष्ट्रीय आन्दोलन में खींच लाए और इस प्रकार उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया। गांधीजी ने तिलक के काम को और आगे बढ़ाया। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को न केवल जन आन्दोलन ही अपितु क्रान्तिकारी आन्दोलन भी बना दिया। महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन का सन्देश देश के कोने-कोने में एक-एक किसान और एक-एक मजदूर के कानों में पहुँच गया। यह भारत का दुर्भाग्य

---

१ यंग इण्डिया भा० १ ८० ।

२ डा० जी० एन० धावन द्वारा उद्धृत — सर्वोदय तत्वदर्शन पृ० १२१

ही मानना चाहिए कि जब ही महात्मा गांधी ने भारत की सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया तिलक गोलोकवासी हो गए।

२४ बंगाल में उग्र राष्ट्रीयता

यस तो भारत में समस्त राष्ट्रीयता की लहर उठी बंगाल आगे आगे रहा था परन्तु लार्ड कर्जन के शासनकाल में उग्र राष्ट्रीयता की ओर उसका झुकाव स्पष्ट दृष्टि गोचर होने लगा। कर्जन के भारत विरोधी विचारों और दमनमूलक कार्यों ने जनता के असंतोष की अग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित किया। कर्जन के शासनकाल के अंतिम दिनों में बंगाल के अधिकांश जनता असंतोष की परिस्थिति में था। श्रीमती एनीबेसेन्ट ने भी उग्र राष्ट्रीयता के जागरण के लिए कर्जन को ही उत्तरदायी ठहराया था। उन्होंने लिखा था "कर्जन द्वारा बोए गए बीजों का प्रसार के दानों का फसल के रूप में पकना अवश्यम्भावी था।"[1] बंगाल के विभाजन ने जनता के साथ को एकदम से झटका दिया। बंग भंग को राष्ट्रीय एकता के ऊपर एक भयंकर कुठाराघात समझा गया। सरकार के इस दुष्कृत्य के विरोध में जो तूफान उत्पन्न हुआ वह तब तक शान्त न हो सका जब तक कि १९११ में बंग भंग को रद्द न कर दिया गया।

विभाजन विरोधी आन्दोलन—लार्ड कर्जन ने बंगाल का जो विभाजन किया था उसके पीछे एक कूटनीति काम कर रही थी। बंगाल विभाजन का उद्देश्य बंगाली जनता की राजनीतिक एकता और राष्ट्रीयता की नूतन प्राणधारा को अवरुद्ध कर देना था। बंगाल के विभाजन के मूल में सरकार की असली मंशा क्या है बंगाली राष्ट्रवादियों ने इसको अच्छी तरह से जान लिया था। वे इस बात को भली भांति समझ गए थे कि प्रान्त को दो भागों में विभाजित करके सरकार हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालना चाहती है। कूटनीतिज्ञ कर्जन ने इस बात को अच्छी तरह से समझ लिया था कि भारतवर्ष में साम्प्रदायिक भेद भाव के बीज बो देना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। नूतन निर्मित पूर्वी बंगाल और आसाम प्रान्त के गवर्नर सर बैम्फील्ड फुलर के आचरण और नीति ने बंगाल विभाजन के वास्तविक उद्देश्य के सम्बन्ध में बचे खुचे सन्देहों का भी निराकरण कर दिया। उन्होंने हिन्दुओं के प्रति विरोध और मुसलमानों के प्रति पक्षपात की तुष्टीकरण नीति अपनाई। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह कहकर कि हिन्दू और मुसलमान मेरी दो पत्नियाँ हैं जिनमें मुसलमान मुझे अधिक प्रिय है राष्ट्रीय भावनाओं को अधिकाधिक उत्तेजना प्रदान की। विभाजन की योजना को १९ जुलाई १९०५ को घोषित किया गया और जनमत के सभी वर्गों के विरोध किए जाने के बावजूद भी १६ अक्टूबर १९०५ को उसे क्रियान्वित कर दिया गया। वह दिन सम्पूर्ण बंगाल में राष्ट्रीय शोक का दिन माना गया। बहुत से लोगों ने उस दिन उपवास रखा।

---

१ एनीबीसेण्ट— हाऊ इण्डिया राट फार फ्रीडम पृ० २६।

विभाजन विरोधी आन्दोलन—बंगाल विभाजन के विरोध में सारे देश में सार्वजनिक सभाएं की गईं और जलूस निकाले गए। प्रत्येक कण्ठ से 'वन्दे मातरम्' का स्वर सुनाई देता था और सारा गगन इस ध्वनि से गुंजित हो उठता था। स्वदेशी आन्दोलन उग्रवादियों के प्रोग्राम में शामिल था। यह जनता के दृढ़ निश्चय का प्रतीक था। जब तक ब्रिटिश प्रान्त को पुनः एक नहीं कर लिया जाता संग्राम जारी रहेगा। जिन उग्र राष्ट्रवादी नेताओं ने बंगाल विभाजन विरोधी आन्दोलन का नेतृत्व किया उनमें विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष, उनके भाई बरीन्द्र घोष व अश्विनीकुमार दत्त आदि व्यक्ति प्रमुख थे।

विपिन चन्द्र पाल—(१८५८-१९३२) विपिन चन्द्र पाल ने १८८७ में कांग्रेस में प्रवेश किया। यह और ये राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उदारवादियों के साधनों से सन्तुष्ट नहीं थे। वे एक प्रतिभाशाली वक्ता एवं पत्रकार थे। बंगाली नवयुवकों के ऊपर उनका असाधारण प्रभाव था। उनकी कलम में अद्भुत शक्ति थी। वे अपने द्वारा सम्पादित 'न्यू इण्डिया' और अरविन्द घोष द्वारा सम्पादित 'वन्दे मातरम्' में अपनी रचनाएँ प्रकाशित किया करते थे। विपिनचन्द्र ने अपने विचार अपनी पुस्तक 'दी सोल ऑफ इण्डिया' (The soul of India) में प्रकट किए हैं। उनकी रचनाओं से उग्र राष्ट्रवादियों को प्रचुर प्रेरणा प्राप्त होती थी। जनसाधारण के ऊपर उनका जो गूढ़ गम्भीर प्रभाव था उसके कारण सरकार उनसे डरती थी और उन्हें राजद्रोही मानती थी। १९०७ में उन्हें मद्रास प्रान्त छोड़ने के लिए विवश किया गया। इसका कारण यह था कि अधिकारियों ने उनके भाषणों को बहुत ही उत्तेजक एवं अशान्तिजनक समझा। विपिन चन्द्र पाल अपने उग्र राजनीतिक विचारों के अनुसार औपनिवेशिक स्वराज्य के आदर्श को अव्यावहारिक मानते थे। अरविन्द घोष के साथ वे [illegible] पर निर्भर पूर्ण स्वतन्त्रता के ध्येय का वे प्रचार करते थे। बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन के पीछे वे एक महान शक्ति थे। भारतीय राष्ट्रीयता के स्वरूप पर उन्होंने स्पष्ट कहा है। वे स्वावलम्बन के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने के पक्ष में थे। सन् १९०७ में उन्हें अरविन्द घोष के अभियोग में गवाही न देने के कारण छः मास कारावास भी भुगतना पड़ा।

अरविन्द घोष—(१८७२-१९५०)—अरविन्द घोष का राजनीतिक जीवन अपनी संक्षिप्तता में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अरविन्द ने राजनीतिक जीवन में बहुत थोड़े दिन कार्य किया था परन्तु जो भी कार्य किया उसके लिए इनका नाम भारत के राष्ट्रीय इतिहास में सदा अमर रहेगा। अरविन्द घोष के विचारों का ज्ञान हम उनकी रचनाओं—'दी लाइफ डिवाइन', 'एसेज ऑन गीता', 'दी सिन्थेसिस ऑफ योग' आदि से प्राप्त कर सकते हैं। अरविन्द आंतरिक आध्यात्मिक एकता में भरोसा करते थे। वे आधुनिक युग के श्रेष्ठ ऋषि और चिन्तक थे। उन्हें विश्व का राजनीतिक सन्त कहा जाता है। वह एक महान् योगी, साधु, मानवता का प्रेमी, और

महान् दार्शनिक माने जाते हैं। अरविन्द उच्च से उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ थे परन्तु उनका झुकाव उग्रता की ओर अधिक था। 'वे राजनीति के आकाश में एक चमकते तारे के समान प्रकट और लुप्त हो गए।'[1] राष्ट्रीयता उनके लिए एक आध्यात्मिक मिशन और धार्मिक कर्तव्य था। कतिपय आतंकवादियों के साथ सम्बद्ध होने के आरोप पर उन्हें गिरफ्तार किया गया और उन पर मुकदमा चलाया गया। परन्तु जिस आरोप पर उन्हें गिरफ्तार किया गया था वह सच्चा साबित नहीं हुआ और इसलिए उन्हें छोड़ दिया गया। इसके पूर्व ही कि अधिकारी पुनः प्रयत्न में उन्हें जकड़ सकें उन्होंने ब्रिटिश भारत को त्याग कर पाण्डीचेरी में आश्रय ग्रहण किया। वहाँ पहुँचकर श्री अरविन्द ने राजनीति से संन्यास ले लिया एवं आश्रम की स्थापना की और स्वयं को आध्यात्मिक साधना में तल्लीन कर दिया।

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन—राष्ट्रवाद की नूतन प्राणधारा ने बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलनों में अभिव्यक्ति प्राप्त की। इन दोनों आन्दोलनों को बंगाल विभाजन के विरोध में प्रारम्भ किया गया था। इन्होंने विदेशी शासन के विरुद्ध भारत के राष्ट्रीय संघर्ष में एक नए अध्याय की सृष्टि की। विपिन चन्द्र पाल और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे नेताओं ने दोनों बंगालों का दौरा किया, बड़ी बड़ी सभाओं में भाषण दिए और जनता से यह प्रतिज्ञा करवाई: 'ईश्वर को साक्षी देकर और भावी पीढ़ियों की उपस्थिति में खड़े होकर हम यह गुरु गम्भीर शपथ लेते हैं कि जहाँ तक व्यावहारिक होगा हम घर की बनी चीजों का प्रयोग करेंगे और विदेशी वस्तुओं के उपयोग का बहिष्कार करेंगे।' बहिष्कार और स्वदेशी के जुड़वां प्रोग्राम को धार्मिक उत्साह के साथ आगे बढ़ाया गया। ये आन्दोलन अपने प्रमुख उद्देश्य में राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्तेजित करने में यथेष्ट रूप से सफल हुए। उन्होंने नवयुवकों को अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया। स्कूल और कालिजों के विद्यार्थी इन आन्दोलनों से सर्वाधिक प्रवाहित हुए। उन्होंने बड़ी बड़ी सभाएं कीं, खूब जोशीले भाषण दिए, वन्देमातरम् गाया, राष्ट्रीय नारे लगाए, विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर धरने दिए और स्थान स्थान पर विदेशी वस्त्रों की होली जलाई।

सरकार की दमन नीति—इस आन्दोलन का दमन करने में सरकार ने भी अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। राष्ट्रीय नेताओं और नवयुवकों की गिरफ्तारी उन दिनों एक आम बात हो गई। १९०८ में लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक और विपिन चन्द्र पाल जैसे नेताओं को १८१८ के रेग्युलेशन के अन्तर्गत जिसे कि कानून रहित कानून के नाम से सम्बोधित किया गया, निर्वासन दे दिया। नवयुवक और विद्यार्थी नौकरशाही निर्दयता के विशेष भाजन थे। शिक्षा संस्थाओं के प्रधानों को इस बात की धमकी दी गई कि यदि उन्होंने विद्यार्थियों को सरकार विरोधी हलचलों में

---

१ जी. एन. सिंह— लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट पृ. १५२।

भाग लेने से नहीं रोका तो उनको जो सरकार की ओर से सहायता मिलती है उसे बन्द कर दिया जायगा व विश्वविद्यालयों से उनका जो सम्बन्ध है उसे तोड़ दिया जाएगा। पूर्वी बंगाल में नौकरशाही का दमन चक्र बहुत तीव्र गति से घूमा। वहाँ की सार्वजनिक सभाओं में 'वन्देमातरम्' का गान भी गैर कानूनी घोषित किया गया। अप्रैल १९०६ में बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन को बल प्रयोग द्वारा तितर बितर कर दिया गया और प्रतिनिधियों को पुलिस के द्वारा मारा गया। परन्तु ज्यों ज्यों सरकार का दमन तीव्र होता गया राष्ट्रीय आकांक्षा व उत्साह में वृद्धि हुई। सरकार ने अपनी दमन नीति द्वारा उत्साह को नष्ट नहीं किया जितनी की कि दमन ग्रस्त न किया। यह आन्दोलन तीव्र गति से न केवल बंगाल में ही अपितु सारे देश में उस समय तक चलता रहा जब तक कि १९११ में उस अपने उद्देश्य में सफलता न मिल गई अर्थात् बंगाल का विभाजन रद्द न कर दिया गया।

बंगाल विभाजन का अन्त १९११—बंगाल विभाजन के अन्त की घोषणा १२ दिसम्बर, १९११ को दिल्ली में हुए शाही राज्याभिषेक महोत्सव के अवसर पर स्वयं सम्राट जार्ज पंचम ने की। उसी समय भारत की राजधानी भी कलकत्ते से हटाकर दिल्ली ले जाई गई। नूतन व्यवस्था के अनुसार बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर को बंगाल से अलग कर दिया गया। यद्यपि इस नाग... ...न थी परन्तु फिर भी बंगाल में और सारे देश में कर्जन की शरारत पूर्ण योजना की विफलता पर आम खुशियाँ मनाई गई।

२५ लाला लाजपतराय (१८६५–१९२८)

भारत में उग्र राष्ट्रीयता के विकास का विवरण लाला लाजपतराय के बारे में कुछ शब्द कहे बिना तो अधूरा ही रह जाता है। वे न केवल निर्भीक एवं देशभक्त ही थे अपितु उच्चकोटि के परोपकारी, शिक्षा शास्त्री, धार्मिक सुधारक और सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। वे आर्य-समाज के प्रमुखतम स्तम्भों में से एक थे और डी० ए० वी० कालिज लाहौर की स्थापना करने में उन्होंने महत्वपूर्ण भाग लिया था। कांग्रेस के अन्दर ही राष्ट्रीय दल की स्थापना करने में उन्होंने विपिन चन्द्रपाल और बाल गंगाधर तिलक के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम किया था। 'लाल-बाल-पाल' की त्रिमूर्ति उन दिनों राष्ट्रीय भारत में अत्यन्त लोक प्रिय थी। लाजपतराय ने कांग्रेस में १८८८ में प्रवेश किया था और वे शीघ्र ही अपने समय के सुविख्यात सार्वजनिक कार्यकर्ता हो गए। वे उच्चकोटि के सार्वजनिक वक्ता थे। सी० वाई० चिन्तामणि ने उनके बारे में लिखा है "मैं सार्वजनिक वक्ता के रूप में सरोजिनी नायडू और लाजपतराय का एक साथ स्मरण करता हूँ। जनता के जोश को जाग्रत कर देने की दोनों में समान क्षमता थी।"[1] अपने देश के राष्ट्रीय आदर्श के प्रति लाला लाजपतराय

१ सी० वाई० चिन्तामणि— इण्डियन पालिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी, पृ० ११८।

में जो निर्भीक मतिभाव था उसने उन्हें पंजाब केसरी बना दिया। १९२० में वे कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

१९०५ में एक शिष्टमण्डल का नेतृत्व लाला लाजपतराय ने गोखले के साथ इंगलैण्ड गए परन्तु वहाँ से लौट कर उन्होंने घोषणा की। बनारस अधिवेशन पर कांग्रेस अधिवेशन (दिसम्बर १९०५) में उन्होंने साफ साफ बता दिया कि यदि भारत स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपने पैरों के ऊपर ही खड़ा होना पड़ेगा। अपने उग्र राष्ट्रवाद के कारण उन्हें असह्य कष्ट सहन पड़े। १९०८ में तिलक के साथ ही साथ उन्हें भी निर्वासित किया गया। जब वे छूटे तो सी० आई० डी० कुत्तों के समान उनके पीछे लगे रहते थे। फलतः अपने ही देश में उनका जीवन दूभर हो गया। युद्धकाल के बीच वे अमरिका और इंगलैंड में रहे। मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों के पास होने के पश्चात् उन्होंने स्वराज्य दल के कौंसिल प्रवेश कार्यक्रम का समर्थन किया। उन्होंने महात्मा गांधी द्वारा प्रारम्भ किए गए असहयोग आन्दोलन का कदापि हार्दिक अनुमोदन नहीं किया। पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में— लाजपतराय एक योद्धा थे सत्याग्रही नहीं।[1] साइमन कमीशन विरोधी आन्दोलन में भी उन्होंने खुलकर हिस्सा लिया था। सन १९२८ में ही साइमन कमीशन के प्रति विरोध प्रदर्शन के समय एक गोरे सार्जेंट की लाठी के छाती पर हुए घातक प्रहार से उसके कुछ दिनों उपरान्त उनकी मृत्यु हो गई। जिस दिन कि उन पर यह लाठी प्रहार हुआ था उसी दिन सन्ध्या के समय भाषण देते हुए उन्होंने कहा था मेरे ऊपर किया गया लाठी का एक एक प्रहार ब्रिटिश साम्राज्य के ताबूत की कील बनेगा।

२६ उग्र राष्ट्रवादियों के सिद्धान्त और साधन

उग्र राष्ट्रवादी नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह—जैसा कि हम देख चुके हैं उग्र राष्ट्रीयता उदारवादी अथवा नरम कांग्रेसी नेताओं के विरुद्ध भी उतना ही बड़ा विद्रोह था जितना कि स्वयं साम्राज्यवाद के विरुद्ध। उदारवादियों के प्रतिकूल उग्रवादियों का यह विश्वास था कि भारत और इंगलैंड के बीच में 'बेर केर' का सम्बन्ध है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ चाहे कितना भी समझौता क्यों न किया जाये उसके द्वारा भारत अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। विपिन चन्द्र पाल का कथन था कि ब्रिटेन के आर्थिक हितों की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक था कि भारत पर उसका अंकुश निरंतर बना रहे। उनके मत से युद्ध के बिना स्वतन्त्रता प्राप्त होना असम्भव था।

उग्रवादियों का राजनीतिक लक्ष्य—सम्भवतः तिलक ही वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कि स्वराज्य को राष्ट्रीय संघर्ष का लक्ष्य बतलाया परन्तु उनके स्वराज्य की मान्यता दादाभाई नौरोजी के 'स्वराज्य' अथवा गोखले द्वारा घोषित स्वायत्त शासन

---

१ डा० पट्टाभि सीतारामय्या— हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस पृष्ठ १७३।

की धारणा से बहुत भिन्न नहीं थी। नेविनसन ने तिलक को यह कहते हुए उद्धृत किया है—"अपने उद्देश्य के कारण नहीं वरन उसे प्राप्त करने के उपायों के कारण हम उग्रवादियों को उपाधि मिली है। निःसन्देह यहाँ एक ऐसा भी छोटा दल है जो ब्रिटिश शासन के तात्कालिक और सम्पूर्ण अन्त की बात करता है। वह हमसे सम्बद्ध नहीं वह अभी बहुत दूर है।"[1] इस दिशा में उग्रवादी [illegible] अधिक क्रान्तिकारी थे। वे ब्रिटिश शासन का सुधार करना नहीं, उसका अन्त करना चाहते थे। सर हेनरी काटन के अनुसार वे भारत राष्ट्र में सब प्रकार से मुक्त और स्वतन्त्र राष्ट्रीय शासन प्रणाली की स्थापना करना चाहते थे। विपिन चन्द्र पाल का औपनिवेशिक स्वराज्य में कतई विश्वास नहीं था यद्यपि उनके मन में औपनिवेशिक स्वराज्य उनके अपने स्वराज्य के आदर्श से भी बहुत अधिक व्यावहारिक था। वे ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध तोड़ देने की कल्पना करते थे यद्यपि उनका यह विचार अवश्य था कि पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद शायद भारत के लिए इंग्लैण्ड का मित्र बन कर रहना सम्भव हो सकता है।

उग्रवादियों के उपाय—अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उग्रवादी जिन उपायों और साधनों का समर्थन करते थे उनकी दृष्टि से उनमें और उदारवादियों में आकाश पाताल का अन्तर था। उदारवादी ब्रिटिश जनता की लोकतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों में विश्वास रखते थे। उनका विचार था कि विशुद्ध वैधानिकवाद का आश्रय लेकर भारत को स्वतन्त्र किया जा सकता है। उग्रवादी इन सब बातों को आत्म प्रवंचना के अतिरिक्त कुछ न समझते थे। उग्रवादियों का यह तर्क था कि भारत जैसे पराधीन राष्ट्र में वैधानिक आन्दोलन के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने का स्वप्न देखना अपने आपको धोखा देना है। वैधानिक आन्दोलन इंग्लैण्ड में सफल हो सकता है क्योंकि वहाँ का शासन और शासक वहाँ की जनता द्वारा नियंत्रित है और शासक सत्ता वहाँ की जनता के प्रति उत्तरदायी भी होता है। भारत में वैधानिक आन्दोलन कैसे सफल होगा? यहाँ का शासन विदेशी है, स्वेच्छाचारी है, वह जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं। जनता चाहे कितना भी शोर क्यों न मचाए उनके कानों में जूँ भी नहीं रेंगती। तिलक ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने का निषेध किया। उन्होंने कहा कि विदेशी शासन एक अभिशाप है और नौकरशाही की नाक को झुकाने के लिए आत्म निर्भर व स्वतन्त्र कार्य करने की आवश्यकता है। विपिन चन्द्र पाल का मत था कि "स्वराज्य स्वावलम्बन के द्वारा ही प्राप्तव्य है।"[1] उग्र राष्ट्रवादी

---

1 नेविनसन—दी न्यू स्पिरिट इन इण्डिया पृष्ठ ७२।

टिप्पणी—विपिन चन्द्र पाल कहा करते थे कि हमें अपनी राष्ट्रीय शक्तियों का संगठन इस प्रकार से करना चाहिए कि जिससे 'कोई भी वह शक्ति जो हमारे विरुद्ध खड़ी हो हमारी इच्छा के सम्मुख झुकने को विवश हो जाए।' पुनः उनका कथन

उदारवादियों द्वारा प्रतिपादित निवेदनों, प्रार्थनाओं, स्मरणपत्रों और प्रतिनिधि मण्डलों की नीति में अणुमात्र भी विश्वास न करते थे। वस्तुतः वे उन्हें राजनीतिक भिक्षावृत्ति के नाम से पुकारते थे। कांग्रेस के बनारस अधिवेशन (१९०५) के अवसर पर लाला लाजपतराय ने कहा था, "अंग्रेज को भिखारी से बड़ी घृणा और विरोक्त होती है। मेरा विचार है कि भिखारी है ही इस योग्य कि उससे घृणा की जाए। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है हम अंग्रेजों को दिखा दें कि हम भिखारी नहीं हैं।" तिलक ने उग्रवादी दृष्टिकोण को निम्न शब्दों में व्यक्त किया, "हमारा आदर्श दया याचना नहीं, आत्म निर्भरता है।"[1] शासकों के साथ राजभक्ति पूर्ण सहयोग करने के बजाय उग्रवादियों ने निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Res st nce) का क्रियात्मक प्रयोग राष्ट्र के सम्मुख रखा।

बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा—बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन ब्रिटिश शासन के प्रति निर्भीक विरोध का नवीन प्राण धारा के प्रतीक थे। यद्यपि बहिष्कार आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्ति विदेशी वस्तुओं के ही विरुद्ध निर्दिष्ट था परन्तु उसमें सरकार के साथ असहयोग और सरकारी नौकरियों, प्रतिष्ठाओं तथा उपाधियों का बहिष्कार भी शामिल था। उग्रवादी नेता दृढ़तापूर्वक स्वदेशी में विश्वास करते थे और जन साधारण में उसका प्रचार करने के उद्देश्य से उन्होंने देश व्यापी आन्दोलन का संगठन किया था। लाजपतराय इसको स्वदेश की मुक्ति का मार्ग समझते थे। उनकी मान्यता थी कि बहिष्कार विदेशी शासन की प्रतिष्ठा के ऊपर एक सीधा आघात है। इसके अलावा उनका यह भी विचार था कि दुकानदारों की जाति को नैतिकता के ऊपर आश्रित तर्कों की अपेक्षा व्यापार में घाटा होने की बात अधिक प्रभावित कर सकती है।

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलनों को अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई। कलकत्ते के एक ऐंग्लो इण्डियन समाचार पत्र 'दि इंग्लिशमैन' ने लिखा था, "यह बिल्कुल सत्य है कि कलकत्ते के गोदामों में कपड़ा इतना भरा हुआ है कि वह बेचा नहीं जा सकता। बहुत सी मारवाड़ी फर्में बिल्कुल नष्ट हो गई हैं और कई बड़ी से बड़ी यूरोपीय निर्यात दुकानों को या तो बन्द कर देना पड़ा है अथवा उनका व्यापार बहुत ही मन्द गति पर आ गया है। बहिष्कार के रूप में राज के शत्रुओं ने देश में ब्रिटिश हितों पर कुठाराघात करने का एक अत्यन्त प्रभावशाली शस्त्र पा लिया है।"[1] इसके साथ ही साथ आन्दोलन ने भारतीय उद्योग को अपूर्व बल प्रदान किया और कपड़ा बुनने के उद्योग

था कि "यदि सरकार मेरे पास आकर कहे कि स्वराज्य ले लो तो मैं उपहार के लिए धन्यवाद देते हुए उससे कहूंगा कि मैं उस वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकता जिसको प्राप्त करने की सामर्थ्य मेरे हाथों में नहीं है।"

१ ए० आर० देसाई द्वारा उद्धृत, सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म, पृ० २०७।

की सहायता देने के लिए एक राष्ट्रीय कोष संगठित किया गया। कलकत्ते की एक ही सार्वजनिक सभा में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को तुरन्त ही ७०,००० रु० एकत्रित करने में सफलता मिली।[1] बहिष्कार और स्वदेशी का उद्भव या आन्दोलन राष्ट्रीय चेतना के विकास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। यह आन्दोलन असहयोग आन्दोलन का अग्रदूत था जिसको बाद में महात्मा गांधी ने शुरू किया था। इसने सिद्ध किया कि राजनीतिक दृष्टि से भारत जाग्रत हो चुका है।

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलनों की महत्ता—बहिष्कार और स्वदेशी ने राष्ट्रीय आन्दोलन को सचमुच एक जन आन्दोलन के रूप में परिवर्तित कर दिया। बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन जनता की सक्रिय सहायता पर आश्रित थे। लाला लाजपतराय ने इस आन्दोलन की महत्ता को लिखा है। "मैं व्याख्या करूँ तो हम सरकारी भवनों से अपने मुखों को हटा कर जनता की झोपड़ियों की ओर करना चाहते हैं। जहाँ तक सरकार से प्रार्थना करने का सम्बन्ध है अपने मुखों को बन्द करना चाहते हैं और उन्हें अपनी जनता में एक नई प्रवीन करने के लिए खोलना चाहते हैं। यही बहिष्कार का मनोविज्ञान है यही उसकी नैतिकता और आध्यात्मिक महत्ता है।"[2] स्वदेशी आन्दोलन ने यह सिद्ध किया कि उग्रवादियों के पास एक विध्वंसात्मक और रचनात्मक प्रोग्राम है। इतने से ही उग्रवादियों ने सन्तोष नहीं माना। उन्होंने देखा कि शासन द्वारा नियन्त्रित शिक्षा प्रणाली के विदेशी वातावरण में पल कर भारतीय नवयुवकों का मस्तिष्क अधिकाधिक दासतामय होता जा रहा है। भारतीय नवयुवकों को अंग्रेजी शिक्षा के इस दुष्प्रभाव से बचाने के लिए उन्होंने शिक्षा की एक ऐसी राष्ट्रीय प्रणाली की योजना प्रस्तुत किया जो कि राष्ट्र के द्वारा नियन्त्रित हो, देश के हितों के अनुकूल हो और नवयुवकों में राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का विकास करे।

उग्र राष्ट्रीयता और हिन्दू-पुनरुत्थान—वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के उग्रराष्ट्रवाद की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि वह धार्मिक भावना के साथ सम्बन्धित था। अरविन्द ने घोषणा की कि राष्ट्रीयता एक धर्म है और वह ईश्वर के पास से आता है। उग्रवादी नेताओं के मस्तिष्कों पर हिन्दू धर्म के गौरव व पुनरुत्थान की गहरी छाप थी। उग्रवादी नेताओं ने हिन्दुओं के समक्ष प्राचीन चन्द्रगुप्त और अशोक के स्वर्णिम युग, राणा प्रताप एवं शिवाजी के वीरतापूर्ण कृत्यों तथा सन् १८५७ की झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के देश प्रेम की स्मृति को पुनः ताजा किया।[3] यह हम पहले ही देख चुके हैं कि महाराष्ट्र में तिलक ने जो कि पाश्चात्य सभ्यता के विरोधी

---

१ जी० एन० सिंह—'लैंडमार्क्स इन इण्डियन कांस्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट' पृ० १६२।

२ बुध द्वारा उद्धृत—'राइज ऑफ इण्डियन मिलिटेंट नेशनलिज्म' पृ० १४६।

३ ए० आर० देसाई—'सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म' पृ० ३०।

थे और भारत की गौरवमयी संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण करना चाहते थे शिवाजी और गणपति महोत्सवों का पुनरुद्धार किया। विपिन चन्द्र पाल राष्ट्रीय चेतना व पुनर्जागरण को शक्ति-पूजा के प्राचीन आदर्श का पुनर्जागरण समझते थे। उन्होंने लिखा "दुर्गा काली जगद्धात्री भवानी आदि हिन्दू शक्ति पूजकों द्वारा प्रयुक्त गमा प्रतीकों ने नूतन आशय ग्रहण किया है। उन सभी पुरातन और परम्परागत देवी देवताओं को जो आधुनिक मस्तिष्क पर अपना प्रभाव खो चुके थे अब भारतीय की आत्मा और मस्तिष्क पर एक नूतन ऐतिहासिक राष्ट्रीय निर्वाचन सहित पुनर्प्रतिष्ठापित किया गया है।"[1] अरविन्द के मत से हमारे सभी आन्दोलनों में स्वतन्त्रता ही जीवन का ध्येय है और हिन्दू धर्म ही हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता है।

हिन्दू धर्म और विचार दर्शन पर यह जो विशेष बल दिया गया उसे सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। उसमें कई कमियां थीं। जहाँ इसने हिन्दुओं में देश प्रेम की प्राणधारा का संचार किया वहाँ इसने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति मुसलमानों में उदासीनता ला दी। सरकारी कर्मचारियों ने मुसलमानों के खूब कान भर उनसे कहा कि यह जो ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन खड़ा किया जा रहा है इसका उद्देश्य हिन्दू राज्य की स्थापना करना है। मुस्लिम जनता विदेशी नौकरशाही के इस बहकावे में आ गई और राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति बहुत कुछ निरपेक्ष सी रही। जवाहरलाल नेहरू के अनुसार उग्र राष्ट्रीयता सामाजिक रूप से निश्चित प्रतिक्रियावादी थी।

२७ उग्र राष्ट्रीयता और कांग्रेस

इसने राष्ट्रीय आन्दोलन का क्षेत्र विस्तृत किया—वैसे तो उग्र राष्ट्रीयता कांग्रेस आन्दोलन के एक अविभाज्य अंग के ही रूप में उदभावित हुई थी परन्तु उग्र-वादियों का इस संगठन में था अल्पमत ही तथापि वे राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाने में समर्थ हुए। वे राष्ट्रीय आन्दोलन की वेगवती धारा में मध्यम वर्गों को समाविष्ट करने में कृतकृत्य हुए और उन्होंने जनसाधारण के बीच राष्ट्रीय चेतना का प्रचार करने में सहायता दी। विपिन चन्द्रपाल बाल गंगाधर तिलक और लाला लाजपतराय एक नूतन ग्रंथ में लोकनायक थे। १९०८ में तिलक को गिरफ्तार करने और उनके साथ किए गये अन्याय ने जनता को इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि कई जगह दंगे हो गये। बम्बई की मिलों के मजदूरों ने सरकार के इस कार्य के विरोध में एक व्यापक हड़ताल की। लेनिन ने इस हड़ताल को भारत के श्रमिक वर्ग की पहली राजनीतिक कार्यवाही बताया था। कांग्रेस के अन्दर रह कर उग्रवादियों ने इस बात की चेष्टा की कि संगठन ब्रिटिश शासन के प्रति अपने रुख में परिवर्तन करे कुछ उग्र रूप धारण करे और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति सक्रिय विरोध की व आत्म निर्भरता की नीति अपनाये। कांग्रेस के अन्दर कोई क्रान्ति लाने में तो वे असफल सिद्ध हुए परन्तु बनारस अधिवेशन (१९०५) के अवसर पर उन्होंने अपने अविराम प्रयत्नों के फल-

१ जी० एन० सिंह द्वारा उद्धृत—लैण्ड मार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेण्ट पृ० १६५ ६६।

स्वरूप कांग्रेस को बहिष्कार और स्वदेशी का आन्दोलन स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया। यहाँ तक कि गोखले ने भी स्वदेशी के बारे में एक महत्वपूर्ण वक्तृता दे डाली। उन्होंने कहा, 'मातृभूमि के प्रति भक्ति भाव जो कि स्वदेशी में उच्चतम रूप से सुप्रतिष्ठित है एक प्रभाव है—इतना गुरुगम्भीर और इतना उत्तेजक कि इसका विचार मात्र ही स्फुरण पैदा कर देता है और इसका यथार्थ संस्पर्श व्यक्ति के मन [illegible] शिरा को [illegible] में उच्च कर देता है।'

स्वराज्य—२२वीं कांग्रेस (कलकत्ता १९०६) ने बहिष्कार और स्वदेशी के प्रस्तावों के अनुमोदन को दुहराया और सभापति दादाभाई नौरोजी ने 'उपनिवेशों के तुल्य स्वशासन अथवा स्वराज्य' को कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह उग्रवादियों के ही दबाव का फल था परन्तु उदारवादी नेता स्वतन्त्रताप्राप्ति के लक्ष्य का नेतृत्व करने को प्रस्तुत नहीं थे। वे वर्तमान शासन-व्यवस्था में सतत सुधार के द्वारा वैधानिक उपायों से स्वशासन के आदर्श को प्राप्त करने में अपने पूर्ण विश्वास पर अडिग रहे। इसके प्रतिकूल उग्रवादी ब्रिटिश शासन के समूल उन्मूलन का प्रतिपादन करते थे वे केवल शासन सम्बन्धी सुधारों से ही सन्तुष्ट नहीं थे। कांग्रेस के इन दलों के बीच में राजनीतिक आदर्श को प्राप्त करने के उपायों के सम्बन्ध में जो मतभेद था वह बराबर बढ़ता ही चला गया। वैसे तो १९०६ में ही कांग्रेस में फूट पड़ जाती परन्तु यह तो दादाभाई नौरोजी की प्रतिष्ठा और चतुरता का फल था कि उस अवसर पर जैसे-तैसे करके यह बला टल गई। परन्तु दूसरे वर्ष यह मतभेद पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

सूरत विच्छेद (१९०७)—उग्रवादी १९०७ के कांग्रेस अधिवेशन (सूरत) का सभापति तिलक को बनाना चाहते थे, परन्तु उदारवादी जिनका कि कांग्रेस में बहुमत था इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे। उन्होंने अपने बहुमत का प्रयोग कर अपने मनोनीत डा० रास बिहारी घोष को कांग्रेस का सभापति बनाने में सफलता प्राप्त की। उग्रवादियों को यह भी आशंका थी कि उनके विरोधी बहिष्कार और स्वदेशी पर पास किए गए पहले वर्ष के प्रस्तावों को मुलतवी करना चाहते हैं। दोनों ही पक्षों में उत्तेजना की वृद्धि होती गई और समझौते के सारे प्रयास निष्फल हुए। अधिवेशन बड़े गुलगपाड़े के वातावरण में प्रारम्भ हुआ। अधिवेशन के दूसरे दिन की कार्यवाही पुलिस की उपस्थिति में सम्पन्न हुई परन्तु सभापति अभी अपने भाषण का ठीक से शुरू भी नहीं कर पाये थे कि प्रतिनिधियों में से एक प्रतिनिधि ने अपना जूता उठा कर फेंका, जो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को छूता हुआ सर फिरोजशाह मेहता को लगा। फिर क्या था मानों एक युद्ध प्रारम्भ हो गया कुर्सियाँ फेंकी गईं और डंडे चलने लगे जिससे कांग्रेस उस दिन के लिए स्थगित हो गई। पुलिस को बल प्रयोग से पंडाल खाली करना पड़ा। इसके बाद नरम दल के नेता जमा हुए, उन्होंने एक पृथक 'कनवेन्शन' का निर्माण किया और कांग्रेस का एक ऐसा नूतन विधान बनाया कि उग्रदल के लोग [illegible] संगठन में

था । ऐसे मत । [illegible] प्रवास में माण्डले जेल में भेज दिये गये और वहाँ सरकार के [illegible] तक [illegible] ज्ञात हुआ जब तक कि १९१६ में [illegible] के बीच पुनः [illegible] आरम्भ न हो गया ।

२८ उग्र राष्ट्रीयता और शासन

उग्र राष्ट्रवादियों का नेतृत्व और दमनमूलक कानूनों का निर्माण — [illegible] उदारवादियों के प्रति भी शासन किसी प्रकार का अनिच्छापूर्ण सहिष्णुता प्रदर्शित करता रहा परन्तु उग्रवादियों का कड़वी गोली को निगलना उसके लिए दुःसाध्य था । उसका तो सतत मनोरंजन ही दमन था । क्रान्तिकारियों का दमन करने में जो नीति [illegible] की सरकार ने अपनाई थी अर्थात् जिन पर षड्यन्त्रकारी होने का अनुमान भी न हो होता उन्हें गाड़ियों में भर भर कर [illegible] वर्षों के लिये जेलों में भेज दिया जाता था करीब करीब यही नीति भारत में उग्र राष्ट्रवादियों का दमन करने में ब्रिटिश शासन ने अपनाई* ।

शासन ने कितने ही राष्ट्रभक्तों को देशनिर्वासन का दण्ड दिया और ऐसा करने में जनता की भावनाओं का कोई ख्याल नहीं रखा । नौकरशाही ने इस बात का पक्का निश्चय कर लिया था कि जैसे भी हो सके उग्र राष्ट्रीयता को फौलादी पंजे से कुचल देना है । इसी आदर्श को अपने सामने रखते हुए सरकार ने अपने दमन शस्त्रागार को कई नूतन कानूनों का निर्माण कर परिपूर्ण किया । जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं तिलक के प्रथम कारावास के पश्चात् इण्डियन पीनल कोड में १२४ अ और १५३ अ धाराएं जोड़ी गई । जब कि बंगाल विभाजन विरोधी आन्दोलन तूल पकड़ रहा था और देश के विभिन्न भागों में आतंकवादी हलचलों का जोर बढ़ता जा रहा था सरकार की ओर से एक से एक बढ़कर दमनमूलक कानूनों का निर्माण भी जोर शोर से होने लगा । एक विशेष अपराध अधिनियम (Crimes Act) ने अधिकारियों को यह शक्ति दी कि वे जिन राजनीतिक संगठनों की राजद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को संदेहास्पद समझें उन पर प्रतिबन्ध लगा दें । इन्हें राजनीतिक अपराधियों की संक्षिप्त सुनवाई (Summary Trials) करने का भी अधिकार दिया गया । १९०७ में लार्ड मिण्टो ने सभाओं के नियम के अध्यादेश को सार्वजनिक सभाएं करने के अधिकार का अतिक्रमण करते हुए घोषित किया । १९१० का प्रेस विधेयक भी एक ऐसा दमनापूर्ण कृत्य था जिसने कि स्वतन्त्र और स्वस्थ प्रेस के विकास मार्ग को अवरुद्ध कर दिया ।

मार्ले मिण्टो सुधार—सरकार इस बात को जानती थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन केवलमात्र दमन से ही नहीं कुचला जा सकता । जब से सरकार ने यह अनुभव किया कि उग्रवादियों से किसी प्रकार भी मेल नहीं किया जा सकता तो मुस्लिम साम्प्रदायवादियों और उदार राष्ट्रवादियों को उसने अपनी ओर करके अपना इष्ट साधन करना चाहा । १९०९ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट को जो कि मार्ले मिण्टो सुधारों के नाम से अधिक प्रख्यात है पास करके उसने इस आदर्श की पूर्ति की । उदारवादियों ने स्वशासन

मन का और एक दूसरे पग के रूप में इन सुधारों का स्वागत किया। परन्तु इन तथा कथित सुधारों ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सूत्रपात करके राष्ट्रीय संघर्ष को जटिल कर दिया। इस प्रकार नौकरशाही ने एक ही तीर से दो पक्षी मारने का यौगिक था। उसने उदारवादियों को अपनी ओर करके और राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उनके विरोध में खड़ा करके उसे कमजोर करने की चेष्टा की।

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद पर एक दृष्टि

२६ क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की प्रकृति और साधन प्रणाली

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद और राजनीतिक उग्रवाद—प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में हम भारत में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद अथवा आतंकवादी आन्दोलन की वृद्धि पर एक गहरी निगाह डाल चुके हैं। आतंकवादी उग्र राष्ट्रवाद का ही एक पहलू था यद्यपि साधन प्रणाली की दृष्टि से वह तिलक, विपिनचन्द्र पाल और लाजपतराय के राजनीतिक उग्रवाद से सर्वथा भिन्न था। उग्रवादी उदार राष्ट्रवादियों की राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति से असन्तुष्ट थे। उनका विचार था कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए कुछ सीमा तक त्याग का अवलम्बन आवश्यक है। परन्तु वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध बहिष्कार का प्रतिपादन करते थे। लेकिन यह संघर्ष शान्तिमय नीति से होना था और इसमें हिंसा को कोई स्थान न था। इसके विपरीत क्रांतिकारियों का विचार था कि केवल शान्तिपूर्ण ढंग ही पर्याप्त नहीं है। वे हिंसा में और आतंकवाद में विश्वास रखते थे।

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की साधन प्रणाली—क्रांतिकारी राष्ट्रवाद कई कारणों का परिणाम था जिन्होंने कि राजनीतिक उग्रवाद को उत्पन्न किया। इसने उन नवयुवकों को जो उदार राष्ट्रवादियों के ढुलमुल दृष्टिकोण से सहमत न थे और साथ ही साथ लाल-बाल-पाल द्वारा प्रतिपादित शान्तिपूर्ण आन्दोलन की साधन प्रणाली में भी विश्वास न रखते थे अपनी ओर आकृष्ट किया। क्रांतिकारियों का विचार था कि पाशविक बल पर आधारित साम्राज्यवाद को हिंसा के बिना जड़ से उखाड़ फेंकना असम्भव है। ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी और दमनमूलक नीति ने उनके इस विचार को और पुष्ट कर दिया था। उन्होंने यूरोप के क्रान्तिकारी आन्दोलनों की कार्य प्रणाली का अध्ययन किया और वे तत्कालीन रूस के गुप्त क्रांतिकारी संगठनों की निहिलिस्टिक विचारधारा से विशेष रूप से प्रभावित हुए। उनका प्रमुख कार्यक्रम हिंसक वारदातें और राजनीतिक हत्याएं करना था। ऐसा करने से वे समझते थे कि ब्रिटिश अधिकारियों और उनके भारतीय पिट्ठुओं के हृदय में आतंक उत्पन्न हो जायगा और समस्त शासन यन्त्र अस्त-व्यस्त हो जायगा। अपने आन्दोलन को चलाने

के लिए सरकारी खजाने लूट लेना और सशस्त्र डकैतियाँ डालना, बम गिराना व हिंसात्मक षड़यन्त्र रचना भी उनके कार्यक्रम में शामिल था।

३० क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का प्रथम चरण

महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद-क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का सबसे प्रारम्भिक केन्द्र महाराष्ट्र था जहाँ उसने स्वयं को १८६६ में रण्ड और आयर्स्ट की हत्याओं में व्यक्त किया। श्याम जी कृष्ण वर्मा, वी० डी० सावरकर और उनके भाई गणेश सावरकर व चापेकर बन्धु इस आन्दोलन के नेता थे। उनका कहना था प्राण देने से पूर्व प्राण ले लो। यह प्रतीत होता है कि रण्ड की हत्या में श्याम जी कृष्ण वर्मा का हाथ था। वे इस हत्या के तुरन्त बाद ही लन्दन चले गये। सावरकर बन्धुओं ने क्रान्तिकारी अभिनव भारत समाज की स्थापना की। १९०६ में विनायक दामोदर सावरकर लन्दन पहुंचे और वहां श्यामजी कृष्ण वर्मा का हाथ बटाने लगे। उन्होंने लन्दन से अपने भाई गणेश को जो महाराष्ट्र में आंदोलन का कार्य कर रहा था हथियार भेजने की कोशिश की हथियारों का पार्सल रवाना कर दिया गया लेकिन इसके पूर्व कि वह गणेश के पास पहुंचा गणेश को सम्राट के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के अपराध में आजीवन देश निकाले का दण्ड दे दिया गया। प्रतिशोध की भावना से अभिनव समाज के एक सदस्य ने डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मि० जकसन को अपनी गोली का निशाना बना डाला। अभिनव समाज कई वर्षों से अत्यन्त क्रियाशील था और पड़ोस के कई राज्यों व पश्चिमी भारत के बहुत से भागों में उसकी शाखाओं का एक जाल सा बिछा हुआ था।

बंगाल में आतंकवाद-बंगाल के विभाजन ने बंगाल में आतंकवाद का विस्फोट कर दिया। प्रान्त में बेकारी पहले से ही फैली हुई थी विभाजन ने आग में घी का काम किया और भावुक युवक बंगालियों को हिंसा पथ का पथिक बना दिया। इस आन्दोलन के नेता बारीन्द्र घोष और भूपेन्द्रनाथ दत्त थे। उन्होंने हथियार उठाने और विदेशी शासन से युद्ध करने के लिए बंगाल के युवक वर्ग का आह्वान करते हुए जोरदार क्रान्तिकारी प्रचार किया। उनका कथन था इस देश में अंग्रेजों की संख्या १.५ लाख से अधिक नहीं है। प्रत्येक जिले में अंग्रेज पदाधिकारियों की संख्या कितनी है? यदि आप अपने संकल्प में दृढ़ हैं तो एक ही दिन में ब्रिटिश शासन का अंत कर सकते हैं। अपने प्राण दे दीजिये लेकिन पहले प्राण ले लीजिये। उन्होंने अनुशीलन समिति का संगठन किया जिसका मुख्य कार्यालय ढाका और कलकत्ते में था व जिसकी शाखाएं सम्पूर्ण बंगाल में फैली हुई थी। बंगाल में आतंकवादी आन्दोलन ने एक समय बहुत जोर पकड़ लिया था और इसके फलस्वरूप कई राजनीतिक हत्याएं हुई थीं।

पंजाब में- १९०७ में आतंकवाद की अग्नि शिखा पंजाब में भी चमक उठी। यहां सरदार अजीतसिंह भाई परमानन्द, उनके अनुज बाल मुकुन्द व लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारियों का संगठन किया। १९१२ में लार्ड हार्डिंग के प्राण हरण का प्रयास

इन्हीं क्रान्तिकारियों का हाथ था। पंजाब में क्रान्तिकारी हलचलों को अमरिका से वापस आये हुए कुछ सिक्खों ने और भी मजबूत किया।

विदेशों में भारतीय क्रान्तिकारी—(१) इंगलैण्ड में—भारत के बाहर भी भारतीय क्रान्तिकारी सक्रिय थे। इंगलैण्ड में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने इण्डिया होम रूल सोसाइटी स्थापित की और इण्डियन सोशियोलोजिस्ट नामक एक मासिक पत्र निकालना शुरू किया। उन्होंने क्रान्तिकारियों का एक छोटा सा सुसंगठित दल बनाया जिसका केन्द्र इण्डिया हाउस था। बाद में वी०डी० सावरकर भी उनका हाथ बटाने के लिए इंगलैण्ड पहुंच गये। इन नवयुवकों ने भारत में काम करने वाले क्रान्तिकारियों को हथियार व क्रान्तिकारी साहित्य भेजने का प्रयास किया। पहली जुलाई १९०९ को इस दल के एक सदस्य मदनलाल ढींगड़ा ने इण्डिया हाउस के सर विलियम विली की हत्या कर डाली। अधिकारियों के तुरन्त ही कान खड़े हो गए और उन्होंने इन युवक क्रान्तिकारियों का पीछा करना शुरू कर दिया व इस छोटे से दल को छिन्न भिन्न करने में सफलता प्राप्त की।

(२) यूरोप में—श्यामजी कृष्ण वर्मा के नेतृत्व में भारतीय क्रान्तिकारी यूरोप के अन्य देशों में भी क्रियाशील थे। उन्हें यूरोप की कतिपय विभूतियों का भी समर्थन प्राप्त था। पेरिस की मैडम कामा का नाम इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मैडम कामा वन्दे मातरम् का सम्पादन करती थी। ये क्रान्तिकारी भारत में काम करने वाले क्रान्तिकारियों को पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं आदि भेजा करते थे ताकि शिक्षित युवकगण में क्रान्तिकारी विचारधारा का प्रचार किया जा सके।

(३) अमेरिका में—अमेरिका में लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारियों का संगठन किया व १९१३ में सान फ्रांसिस्को से 'गदर' नामक एक पत्र निकालना शुरू किया। यद्यपि परिस्थितियों से विवश हो लाला हरदयाल को अमेरिका छोड़कर स्विटजरलैण्ड चला जाना पड़ा लेकिन गदर आन्दोलन में शिथिलता नहीं आने पाई और क्रान्तिकारी अमेरिका में रहने वाले भारतीयों के बीच खूब प्रचार करते रहे। (गदर आन्दोलन पंजाब में भी सक्रिय था। यहां उसका नेतृत्व बाबा गुरुदत्तसिंह और अमेरिका से लौट कर आये हुए दूसरे क्रान्तिकारियों ने किया)। सर वलण्टाइन शिरोल ने इण्डो अमेरिकन एसोसिएशन' और यंग इण्डिया एसोसिएशन' नामक दो संस्थाओं की भी चर्चा की है। इनमें पहली तो एक प्रचार संस्था थी और फ्री हिन्दुस्तान' नामक पत्र निकालती थी व दूसरी एक गुप्त संस्था थी जो आयरलैण्ड के क्रान्तिकारी दलों की पद्धति पर बनी हुई थी। सर वलेण्टाइन शिरोल का कथन है कि इन दोनों ही संस्थाओं का भारत की समस्त राजद्रोही संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित था।

३१ क्रान्तिकारी आन्दोलन का उत्तरकाल

सत्याग्रह के सम्मुख आतंकवाद की निःसारता—भारत के राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी के अवतरण से क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद की प्रभा धीरे-धीरे क्षीण होने लगी थी।

गांधीजी की रणनीति ने देशभक्त भारतीयों को अधिक प्रभावित किया और आतंकवाद का निरूपण कर दिया। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि क्रांतिकारी आतंकवादी कार्यवाहियों का पूर्ण उन्मूलन कर दिया। क्रांतिकारी भावना सतत समाप्त नहीं हुई और समय समय पर पुनर्जीवित रूप में संगठित पद्धति से राजनीतिक आतंकवाद की छिपाई हुई हलचलों में उसका विस्फोट होता रहा। भगतसिंह और हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी ने कुछ समय तक काम किया और पंजाब में आतंकवाद का सामना करने की कोशिश की। सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद और यतीन्द्रनाथ दास जैसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के उत्कृष्ट साधकों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्त करने की असफल चेष्टा में अपना सर्वस्व स्वाहा किया।

यह ठीक है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध महात्मा गांधी के शांतिमय आन्दोलन ने भारत की जनता को बहुत बड़े पैमाने पर अपनी ओर आकृष्ट किया लेकिन फिर भी हिंसा या उसकी धमकी राष्ट्रवादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि में सदैव विद्यमान रही और उसने अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए विवश करने में निर्णायक रूप से भाग लिया। १९४२ की क्रांति, सुभाष बोस की आजाद हिन्द फौज के स्वातन्त्र्य समर और भारतीय नौ सेना के विद्रोह ने इस बात की स्पष्ट चेतावनी दे दी थी कि यदि अंग्रेज समय रहते स्वेच्छा से भारत छोड़कर नहीं चले जाते तो उन्हें क्रान्ति विस्फोट द्वारा भारत से निकाल दिया जाता।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में एक नवीन उग्रवाद की उत्पत्ति हुई। इससे भारत के राष्ट्रीय रंगमंच पर नूतन नेताओं का प्रादुर्भाव हुआ। जन साधारण के मन में जो असन्तोष व्याप्त हो रहा था उसको उन्होंने व्यक्त किया। वे उदारवादियों द्वारा प्रतिपादित राजभक्तिवाद और वैधानिक आन्दोलन की नीति में विश्वास नहीं करते थे। वे सहयोग, प्रार्थनाओं और आवेदनों के उपायों का विरोध करते थे और उन्हें राजनीतिक भिक्षावृत्ति के नाम से पुकारते थे। वे विदेशी शासन को जड़ से उखाड़ फेंक देने के लिये सक्रिय संघर्ष का समर्थन करते थे। कुछ स्थानों में उग्र राष्ट्रीयता ने आतंकवाद का भी स्वरूप धारण किया।

उग्र राष्ट्रीयता की उद्भावना कई कारणों का परिणाम थी। नौकरशाही कुशासन, दुर्भिक्ष और प्लेग जैसी प्राकृतिक आपदाओं, बुद्धिजीवी वर्ग के आर्थिक असंतोष, विनाशोन्मुख मध्यमवर्ग के प्रभाव और धार्मिक पुनरुत्थान ने जनता के अंतराल में विदेशी शासन के प्रति घोर घृणा की भावना उत्पन्न कर दी। लार्ड कर्जन के दमन मूलक दुष्कृत्यों ने जनता के प्रचण्ड रोषानल पर घृत छिड़कने का काम किया। उन्होंने १९०५ में जनता की भावनाओं की अणुमात्र भी परवाह न करते हुए बंगाल को दो हिस्सों में बांट दिया। इसके विरुद्ध सारे देश में आन्दोलन का एक तूफान उठ खड़ा हुआ और वह तब तक शांत नहीं हुआ जब तक कि १९११ में बंग भंग को पुनः रद्द न कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार की नीतियों से भारतीयों के साधु उ

दुर्व्यवहार किया जाता था उससे भी भारतवासियों के राष्ट्रीय अभिमान पर चोट पहुँचती थी। १८९६ में अबीसीनिया के हाथों इटली और १९०४-५ में जापान के हाथों रूस पराजित हुआ। इससे यूरोपियनों की अजेयता की कल्पना नष्ट हो गई। इन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भारतीयों को अपूर्व उत्साह प्रदान किया।

सर्वप्रथम उग्रवाद प्रमुखतः तिलक के काम के फलस्वरूप महाराष्ट्र में विकसित हुआ। तिलक महान् देशभक्त थे और उन्होंने स्वतन्त्रता देवी पर बड़े बड़े बलिदान किए। उन्होंने केसरी और मराठा पत्रों का सम्पादन किया और इनके द्वारा राष्ट्रीयता की नूतन प्राणधारा को प्रसारित किया। उन्होंने गणपति उत्सव (१८९३) और शिवाजी उत्सव (१८९५) प्रारम्भ किये। इन उत्सवों के द्वारा तिलक ने महाराष्ट्र के नवयुवकों को शिक्षित, संगठित और अनुशासित किया व उनमें देश हित के लिए बद्ध परिकर रहने की अदम्य भावना का संचरण किया। तिलक को कई बार कारावास का दण्ड मिला। तिलक एक गम्भीर विद्वान, चतुर राजनीतिज्ञ और जनता के अघोषित सम्राट थे। उन्होंने जनता को अंग्रेजों से कृपाकोर की भिक्षा माँगने के बजाय आत्म-निर्भरता और स्वतन्त्र कार्यवाही का पाठ पढ़ाया। उनका उग्रवाद उन्हें गोखले के विरोध में रखता था।

बंगाल में उग्रवाद जनता द्वारा प्राणपण से विरोध किए जाने के बावजूद भी अक्टूबर, १९०५ में प्रान्त को दो भागों में विभाजित कर देने के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। बंगाल के दोनों भागों में एक तीव्र आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। बहिष्कार और स्वदेशी का पालन बंग भंग विरोधी आन्दोलन के ही अंग थे। विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष और अश्विनीकुमार दत्त बंगाली उग्रवाद के प्रमुख नेताओं में से थे। पंजाब केसरी लाला लाजपतराय एक दूसरे महत्त्वपूर्ण उग्रवादी नेता थे।

उग्रवाद उस उदारवाद के नेतृत्व के प्रति जो ब्रिटिश जाति की न्यायनिष्ठा में विश्वास करता था और अपनी राजभक्ति की घोषणा करते न थकता था, एक प्रखर क्रान्ति थी। उदारवादियों का विश्वास था कि वे विशुद्ध वैधानिक उपायों से ही भारत के राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। उग्रवादी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सक्रिय विरोध का समर्थन करते थे और वे स्वतन्त्रता के पक्ष के वाहक थे। उग्रवादियों द्वारा प्रारम्भ किए गए बहिष्कार और स्वदेशी के आन्दोलनों ने भारत के राष्ट्रीय इतिहास में एक नूतन अध्याय की सृष्टि की। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि भारतीय दासता के बन्धनों में बंधे रहने के लिए तैयार नहीं हैं और वे अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संग्राम करने को बद्ध परिकर हैं। उग्र राष्ट्रीयता का हिन्दू पुनरुत्थान से घनिष्ठ सम्बन्ध था, इस कारण उसका स्वरूप कुछ-कुछ प्रतिक्रियावादी-सा हो गया था।

उदारवादियों और उग्रवादियों के बढ़ते हुए मतभेद के ही कारण १९०७ में सूरत विच्छेद हुआ।

उग्र राष्ट्रवाद का एक पहलू क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद था। क्रान्तिकारियों का शान्तिपूर्ण आन्दोलन में विश्वास नहीं था। वे हिंसक कार्यक्रम के अनुयायी थे। यह आन्दोलन सबसे पहले महाराष्ट्र में प्रकट हुआ। श्यामजी वर्मा और सावरकर बन्धुओं ने इसका संगठन किया। बंगाल में इसका विस्फोट बंग भंग के दिनों में हुआ। बारीन्द्र घोष और भूपेन्द्रनाथ दत्त इसके शक्तिशाली नेता थे। इसी समय के आसपास पंजाब में भी क्रान्तिकारी समितियाँ स्थापित हुईं। भारतीय क्रान्तिकारियों ने भारत के बाहर यूरोप और अमरीका में भी काम किया। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के क्षेत्र में महात्मा गांधी के अवतीर्ण होने पर क्रान्तिकारी आन्दोलन धीरे धीरे समाप्त हो गया।

अध्याय ५

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का प्रवेश

३२ फूट डालो और राज्य करो : औपनिवेशिक शासन का आधार

यदि भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देन थी तो भारत के परवर्ती राजनीतिक जीवन की विषपूर्ण साम्प्रदायिकता भी ब्रिटिश राज की ही प्रसूति थी। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिनिधियों ने राष्ट्रीय महासभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस) की स्थापना में इस आशा से भाग लिया था कि भारतीय जनता में जो असन्तोष घुमड़ रहा है और जो कालान्तर में एक भयंकर विस्फोटक शक्ति का स्वरूप धारण कर सकता है उसे निरन्तर उसका भान हो सके और जहाँ तक सम्भव हो उसी दिशा में उसका पोषण होने से रोका जाए। उनका विश्वास था कि यह कांग्रेस का मंच एक सुरक्षा वाल्व (Safety valve) के रूप में काम करेगा जिससे कि जनता का असन्तोष और ... विस्फोट से ब्रिटिश शासन की रक्षा हो सके। परन्तु नौकरशाही की यह धारणा भ्रान्त सिद्ध न हुई। कांग्रेस ने शीघ्र ही सरकार की कड़ी आलोचना शुरू कर दी और कुछ ऐसी माँगें प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया जो सरकार के लिए बड़ी असुविधाजनक थीं। फलतः ब्रिटिश शासन को भारत में अपना प्रभाव डालना कठिन होने लगा। फलस्वरूप अब उन्हें इस बात की आवश्यकता का अनुभव होने लगा कि कोई ऐसी तरकीब की जाए जिससे कि राष्ट्रीयता के वेगवान् प्रवाह में विघ्न पड़े और उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाए। इस विधायक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 'फूट डालो और राज्य करो' (Divide and Rule) के उस परम्परागत सिद्धान्त का ही आश्रय लिया जो कि सदा से ही औपनिवेशिक राज्य का आधार रहा है। भारतवर्ष में अपने शासन की जड़ों को मजबूत रखने के लिए अंग्रेजों ने इस कूट नीति का प्रारम्भ से ही प्रयोग किया था। हिन्दुओं और मुसलमानों के पृथक् मत में भेद ... ब्रिटिश अधिकारियों ने उनका लाभ उठाया और राष्ट्रीयता के प्रभाव को कम करने के लिए उनका उपयोग किया। कतिपय ब्रिटिश लेखकों ने ऐसा ... का जोर लगाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतवर्ष में साम्प्रदायिकता के विस्तृत के लिए ब्रिटिश शासक लेशमात्र भी दोषी नहीं हैं। उदाहरणार्थ कूपलैण्ड का कथन है : "न तो ब्रिटिश ने यह आग सुलगाई और न वह उसे प्रज्वलित रखने का ही दानवीय कृत्य करता रहा है ?"[1] यह कहना भी ठीक नहीं है कि साम्प्रदायिकता के जन्म और विस्तार का सारा का सारा दोष ही अंग्रेजों के सिर मढ़ा जा सकता है

---

1 कूपलैण्ड — दी इण्डियन प्रॉब्लम (१८३३-१९३५) पृ ३५।

परन्तु इतना अवश्य कहा जाता है कि भारतीय राजनीति के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता के उद्भव और विकास का मुख्य उत्तरदायित्व अंग्रेजों के कन्धों पर ही डाला जाता है। [illegible] के अवसर पर [illegible] था [illegible] साम्प्रदायिकता की समस्या ब्रिटिश आगमन की परवर्ती है। [illegible] एक दूसरे के साथ मिलजुल कर निवास करते रहे थे [illegible] हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक दूसरे के अनुरूप बनने और एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता की स्वस्थ भावना को सुविकसित कर लिया था। यद्यपि कभी कभी [illegible] संघर्ष भी हो जाता था फिर भी दोनों ही जातियों ने एक दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित करने का तथा पारस्परिक आदान [illegible] सुविकसित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। अंग्रेजों ने स्वयं का इस [illegible] कर लिया। उन्होंने समस्त [illegible] कौशल के साथ [illegible] कि [illegible] कूटनीति का [illegible] सर्वाधिक शक्तिशाली [illegible] अंग्रेज शासकों ने सर्वप्रथम हिन्दू और मुसलमानों के मध्य में [illegible] करने एवं ऐसे साम्प्रदायिक त्रिभुज की रचना का निश्चय किया जिसके आधार वे स्वयं रहे।[2]

३३ ब्रिटिश शासन में भारतीय मुसलमानों की अधोगति

ऐंग्लो हिन्दू सहयोग का युग—भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना इस देश में मुसलमानों की स्थिति पर एक महान कुठाराघात था। अंग्रेजों की प्रभुता के पूर्व मुसलमान ही इस देश के भाग्य विधाता थे। अपनी इस गौरव पूर्ण स्थिति से वे स्वच्युत हो गये और निरन्तर निर्धनता और अधोगति के महार्णव में डूबते गए। अपने शासन के प्रारम्भ से ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी मुसलमानों से भय खाती थी और उसे आशंका थी कि मुसलमान अपनी अपहृत सत्ता को पुनः प्राप्त करने का स्वप्न देखते हैं। फलतः ब्रिटिश शासकों ने जैसे भी हो सका हर सम्भव उपाय से मुसलमानों का दमन करने की चेष्टा की और वे अपने प्रशासन के संचालनार्थ हिन्दुओं की सहायता और राजभक्ति पाने की ओर अधिकाधिक उन्मुख हुए। भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन का प्रथम युग ऐंग्लो हिन्दू सहयोग का युग था।[3] १९वीं शताब्दी के अंतिम चरण तक अंग्रेजों ने हिन्दुओं के ऊपर अपनी कृपाकोर का वर्षण किया और जानबूझ कर मुस्लिम विरोधी नीति अपनाई। सीमन के अनुसार ब्रिटिश अधिकारियों ने यह निश्चय कर लिया था कि अपनी नूतन शक्ति के विस्तार और [illegible] के लिए एकमात्र उपाय यही है कि मुसलमानों का दमन कर दिया जाय और उन्होंने जानबूझकर ऐसी स्थितियों का आश्रय ग्रहण किया था जिनका उद्देश्य ही यह था कि मुसलमानों में बौद्धिक जड़ता आ जाये उनका अधःपतन

---

१ कूपलैण्ड— दी इण्डियन प्राब्लेम (१८३३-१९३५) पृ ६५।
२ मेहता और पटवर्धन— दी कम्यूनल ट्रायंगल पृ ५२।
३ डी० सेन— रेवाल्यूशन बाई कॉन्सेंट पृ १६९।

व आर्थिक विनाश हो जाय।[1] भारतवर्ष में अपने शासनकाल के पहले दौर में ब्रिटिश अधिकारियों ने मुसलमानों का विरोध करने और हिन्दुओं के साथ पक्षपात करने की जो नीति अपनाई थी उसकी सत्यता लाड एलनबरो के इस कथन से भी प्रकट होती है मुसलमान जाति मौलिक रूप से हमारे विरुद्ध है और इसलिए हमारी सच्ची नीति हिन्दुओं को प्रसन्न रखने की है।[2]

भारतीय मुसलमानों का आर्थिक विनाश—हिन्दुओं को अपना अनुकूल और मुसलमानों का दमन करने की ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति ने अपना स्वाभाविक परिणाम प्राप्त किया। इससे मुसलमानों के आर्थिक और सांस्कृतिक अधःपतन का पथ प्रशस्त हुआ। १८७१ में सर विलियम हंटर ने लिखा था— आर्थिक दृष्टि से व (भारतीय मुसलमान)ब्रिटिश शासन में एक विनष्ट जाति है।[3] उनकी दयनीय दशा का उसने निम्न प्रकार से वर्णन किया है— १७४ वर्ष पूर्व अच्छे घराने में उत्पन्न मुसलमान का गरीब होना असम्भव था अब उसका अमीर बने रहना असम्भव है।[4] बंगाल में भूमि के स्थाई बन्दोबस्त ने मुसलमानों के आर्थिक आधार पर घातक प्रभाव डाला। भारतीय दस्तकारियों का भी पतन हो गया। ब्रिटिश शासन ने मुसलमानों के लिए सरकारी नौकरियों का द्वार बन्द कर दिया। इससे उनकी गरीबी में और भी तीव्रगति से वृद्धि होने लगी। भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व शासन के सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर मुसलमान ही आसीन थे और सेना में भी उनका ही जोर था। परन्तु भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की स्थापना ने इस स्थिति को उलट डाला। ऊँचे ऊँचे पदों पर तो यूरोपियनों की प्रतिष्ठा की गई और छोटे पदों पर हिन्दुओं की। सभी भूमिकाओं में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं के ऊपर अधिक अनुग्रह प्रदर्शित किया जाता था। जब कभी कोई जगह खाली होती थी बहुधा यह बात स्पष्ट कर दी जाती थी कि इन जगहों पर केवल हिन्दुओं को ही नियुक्त किया जाएगा।[5] इस सम्बन्ध में मोमन ने स्पष्ट आंकड़े दिए हैं। १८७१ में बंगाल में २१४१ गजटेड पद थे। इनमें से १३३८ पर यूरोपियन नियुक्त थे। ७११ पर हिन्दू नियुक्त थे और मुसलमान केवल ९२ पर।[6] यह स्पष्ट ही है कि अपने इस साम्राज्यवादी उद्यम में हिन्दुओं को केवल छोटे साझीदारों के रूप में ही प्रयुक्त कर रहे थे उन्होंने विश्वास और महत्त्व के समस्त पदों से हिन्दुओं को काफी दूर रखा था। बंगाल में आई० सी० एस० के समस्त २६३ पदों

१ मोमन—मुस्लिम इण्डिया पृ० २१।

२ आर०मेहताई द्वारा उद्धृत— सान्ज बैकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म' पृ० ३५४।

३ सर विलियम हंटर— दी इण्डियन मुसलमान्स' पृ० १५५।

४ सर विलियम हंटर— दी इण्डियन मुसलमान्स पृ० १५५।

५ कलकत्ते के तत्कालीन पत्र (दूर्बीन फारसी) ने सुन्दरवन के कमिश्नर के कार्यालय में भेदभाव की इस नीति पर आचरण होने का उदाहरण दिया था।

६ मोमन द्वारा उद्धृत— मुस्लिम इण्डिया' पृ० २१।

पर केवल यूरोपियन ही नियुक्त थे। बाग विभाग के ४७ उच्च पदों पर भी उन्हीं की सुप्रतिष्ठा थी। परन्तु मुसलमान कठोर अन्याय के भाजन थे। उच्च सत्ता में जो कि उनकी प्राचीन जीवन वृत्ति रही थी कहीं भी उन्हें नौकरी नहीं मिलती थी। हण्टर ने लिखा है कोई भी मुसलमान फौज में प्रवेश नहीं कर सकता। कुछ मुसलमान गवर्नर जनरल के अधीनस्थ द्वारा अवश्य चुने जाते हैं परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ महारानी के कमान्डर द्वारा एक भी नहीं।[1]

अंग्रेजी शिक्षा और मुस्लिम अवनति—अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के सूत्रपात ने मुसलमानों के आर्थिक और सांस्कृतिक अधःपतन को और भी तीव्र कर दिया। मेहता और पटवर्धन के मत में मुसलमानों के साथ सबसे अधिक अन्याय शिक्षा के मामले में किया गया।[2] १८३७ में अरबी और फारसी के स्थान पर अंग्रेजी अनिवार्य भाषा हो गई। इस परिवर्तन से मुसलमानों को बहुत धक्का पहुँचा। न्यायालयों और दफ्तरों में भी परम्परागत भारतीय शिक्षा प्रणाली को सब प्रकार की सहायता से वंचित कर दिया गया। भारतवर्ष में प्राचीन काल से यह रिवाज चला आता था कि यहाँ के राजा शिक्षा और देश सेवा के लिए कुछ भूमि अनुदान में अवश्य देते थे। मि० जेम्स ग्रान्ट एक लगान पदाधिकारी के अनुसार जब अंग्रेजों ने बंगाल का शासन सूत्र सम्हाला प्रान्त का चतुर्थांश शैक्षणिक उद्देश्यों के लिए मन्दिरों और मस्जिदों के अधिकार में था।[3] यह भूमि जो मन्दिरों और मस्जिदों के अधिकार में रहती थी उससे जो आय होती वह शिक्षा के कार्यों में लगती थी। अब मन्दिरों और मस्जिदों को मिली सम्पूर्ण भूमि को अंग्रेजों ने अपने आधीन कर लिया। फलतः ये पुरानी शिक्षण संस्थाएँ आर्थिक दृष्टि से अपाहिज हो गईं। मकतबों और पाठशालाओं को भूखे रख रख कर मार डालने का इससे अधिक प्रभावशाली अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता था। दानशील मुसलमान पहले जो दान परम्परागत इस्लामी शिक्षा के प्रचारार्थ दिया करते थे अंग्रेजों ने उन्हें यह पाठ पढ़ाया कि वे उसको नूतन मिशन स्कूलों और कालिजों के सुधारार्थ के लिए दें। ब्रिटिश अधिकारियों का इस आचरण में भी भारतीय मुसलमानों को कुचल डालने का उद्देश्य क्रियाशील था। इस प्रकार के

---

१ हंटर—दी इण्डियन मुसलमान्स पृ० १६६।

२ मेहता और पटवर्धन—दी कम्युनल ट्रायंगल पृ० ८७।

३ मेहता और पटवर्धन—दी कम्युनल ट्रायंगल पृ० ५२।

एकत्रित दान द्वारा ही हुगली कालिज प्रारम्भ हुआ।[1] स्पष्ट है कि इस कालिज से जिसका कि संस्थापन और संधारण उस आय से होता था जो कि मुसलमानों के हित की दृष्टि से दान में दिया गया था मुसलमान बहुत ही कम लाभ उठाते थे। यहाँ तक कि १८७२ में भी उस कालिज में मुसलमान विद्यार्थी केवल तीन ही थे जबकि उसमें अन्य जाति के छात्रों की संख्या तीन सौ थी।[2] नूतन शिक्षा ने जिन सुयोगों की सृष्टि की थी मुसलमान उनसे लाभ उठाने की बहुत कम उत्सुकता प्रदर्शित करते थे। इसका कारण कुछ तो उनकी पुरानी शिक्षा थी और कुछ ब्रिटिश शासकों के प्रति रोष की भावना। इसके विपरीत हिन्दू नूतन शिक्षा के प्रति सुगमतापूर्वक आकृष्ट हो गए। यही कारण है जिससे सार्वजनिक व्यवसाय में [illegible] मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू बहुत आगे बढ़ गए। हावन के अनुसार १८५२ और १८६८ के बीच में २४० देशी वकीलों को वकालत द्वारा कोर्ट में प्रविष्ट किया गया। इनमें मुसलमान केवल एक ही था।[3] इन्हीं सब कारणों से हिन्दुओं में राजनीतिक चेतना का विकास मुसलमानों की अपेक्षा कहीं अधिक शीघ्रता से हो गया। सर्वथा ब्रिटिश शासन ही मुसलमानों की अधोगति का तथा नौकरशाही में हिन्दू जाति की बढ़ती की वृद्धि और मुसलमानों के लिए उन्नति मार्ग बन्द कर देने का उत्तरदायी था। सेना में उनकी भर्ती बहुत ही परिमित थी तथा नौसेना के क्षेत्र में उन्हें पंगु और असहाय कर दिया था।[4]

इस प्रकार मुसलमानों का अकारण दमन किया गया उससे वे ब्रिटिश शासन के प्रति घोर असन्तोष की भावना से आन्दोलित हो उठे। १८५७ का विप्लव इस असन्तोष का प्रकटीकरण था ही परन्तु उसके पूर्व बहावी आन्दोलन के रूप में भी यह व्यक्त हुआ।

---

१ टिप्पणी—हुगली ट्रस्ट की स्थापना हाजी मोहम्मद मोहसिन और उनकी बहन की विशाल धनराशि से हुई थी। यह निर्धारित किया गया था कि ट्रस्ट की आय शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए प्रयुक्त की जाय। १८१७ में ट्रस्ट का नियन्त्रण सरकार ने अपने हाथों में ले लिया और इसी आय से हुगली कालिज को संस्थापित किया। १०५,००० का संचित कोष भवन निर्माण में व्यय किया गया। ५,००० पौंड की वार्षिक आय का अधिकांश भाग साधारणतया व्यय किया जाने लगा। इतना सब हो जाने के पश्चात् मुस्लिम शिक्षा के एक छोटे से स्कूल के लिए केवल ३५० पौंड ही अवशिष्ट रह गये। यह कथन मेहता और पटवर्धन के द्वारा उद्धृत किया गया है। दी कम्युनल ट्रायंगल पृ० ८७-८८।

२ एच० सी० मारटन— इस्लामिज्म इन इण्डिया पृ० ८८।

३ मेहता और पटवर्धन—दी कम्युनल ट्रायंगल पृ० ४४।

४ मायन— मुस्लिम इण्डिया पृ० १६३।

नियुक्त हुये थे। ब्रिटिश शासन के प्रति उनके हृदय में प्रशंसा का भाव था। सर सय्यद अहमद खाँ राजभक्त अवश्य थे परन्तु अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक भाग में वे कट्टर राष्ट्रवादी भी थे। विद्रोह के पश्चात् उन्होंने ईसाइयों और मुसलमानों के बीच धार्मिक सामीप्य लाने के लिये अनथक परिश्रम किया। उन्होंने अपने सह-धर्मियों को ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति का दृष्टिकोण अपनाने और अंग्रेज शासकों का संरक्षण तथा अनुग्रह प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित किया। इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिये उन्होंने अलीगढ़ आन्दोलन प्रारम्भ किया और मोहम्मेडन ऐंग्लो ओरियन्टल कॉलिज की स्थापना की। परन्तु यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि सर सय्यद अहमद खाँ अपनी दृष्टि में उस राजभक्ति को रखते थे जो ब्रिटिश शासन की घोर आधीनता से नहीं अपितु श्रेष्ठ शासन के कार्यों की निष्कपट प्रशंसा से उत्पन्न होती है।[1] वे नौकरशाही नीतियों की कठोर आलोचना करने से नहीं डरते थे और भारतीयों के प्रति ब्रिटिश अधिकारियों के दुर्व्यवहार की कठोर रूप से भर्त्सना करते थे। एक बार उन्होंने घोषणा की "इन अधिकारियों का मत यह है कि कोई भी भारतीय सज्जन नहीं हो सकता।[2] वे विधान मण्डलों में भारतीयों के प्रवेश का प्रतिपादन करते थे और जनता से कहते थे कि वह भय को त्याग दे और पुरुषोचित रूप से स्पष्टता और सभ्यतापूर्वक अंग्रेजों से कह दे कि उनकी क्या कठिनाइयाँ हैं।' सर सय्यद अहमद खाँ हिन्दू मुस्लिम एकता के भी समर्थक थे और इन दोनों जातियों को भारत माता की दो आँखें बताते थे।[3] इसी प्रकार के विचार उन्होंने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में व्यक्त किये और अपने एक भाषण में यहाँ तक कहा कि हिन्दू शब्द में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समाविष्ट हैं।[4] इसका कारण उन्होंने यह बताया कि दोनों ही हिन्दुस्तान के निवासी हैं। २७ जनवरी १८८४ को गुरुदासपुर

---

१ जी० एन० सिंह—लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेंट पृ० १९९।

२ मेहता और पटवर्धन—'दी कम्युनल ट्रायंगल इन इण्डिया' पृ० २३।

३ मेहता और पटवर्धन—वही पृष्ठ २३।

४ "राष्ट्र शब्द से मैं हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को सम्मिलित करता हूं क्योंकि इसका केवल यही वह अभिप्राय है जिसे मैं ग्रहण कर सकता हूं। मैं इस बात को विचारने योग्य नहीं समझता कि उसका धार्मिक विश्वास क्या है क्योंकि हम इसमें ऐसी कोई चीज नहीं देखते। हम देखते हैं वह यह है कि हम एक ही देश के निवासी हैं हम एक ही शासन के भाजन हैं लाभ के स्रोत सबके लिए एक से हैं और अकाल की पीड़ाओं को भी हम सब समान रूप से भोगते हैं। यही वे विभिन्न कारण हैं जिनके आधार पर मैं इन दोनों ही जातियों को जो हिन्दुस्तान में निवास करती हैं, हिन्दू शब्द से अभिहित करता हूँ यह कहने का अभिप्राय यह है कि वे हिन्दुस्तान के निवासी हैं।' मेहता और पटवर्धन द्वारा उद्धृत।

में दिये गये एक सार्वजनिक भाषण में उन्होंने कहा था 'हम (हिन्दुओं और मुसलमानों) को एक मन एवं प्राण हो जाना चाहिए और मिल जुल कर कार्य करना चाहिए। यदि हम संयुक्त हैं तो एक दूसरे को सम्भाल सकते हैं। यदि नहीं तो एक का दूसरे के विरुद्ध प्रभाव दोनों का ही अधःपतन और विनाश कर देगा।'[1]

जब कांग्रेस की स्थापना हुई और भारत की राष्ट्रीयता ने एक मत रूप धारण किया तब सर सय्यद अहमद खाँ के विचारों में अकस्मात् ही घोर परिवर्तन हो गया। वे कांग्रेस से पृथक ही नहीं रहे अपितु उन्होंने खुल्लम-खुल्ला उसका विरोध किया। उन्होंने इस बात की भी चेष्टा की कि मुसलमान इस राष्ट्रीय आन्दोलन को सहायता देने में कतई हाथ साथ लें। निःसन्देह यह एक महान परिवर्तन था। यह कैसे हुआ? भारतीय राजनीति के समस्त विद्यार्थियों के सम्मुख यह एक जटिल समस्या रही है। परन्तु अब इस समस्या का समाधान हो गया है। सर सय्यद अहमद खाँ के इस [illegible] के पीछे ब्रिटिश नौकरशाही का हाथ क्रियाशील था। जिस व्यक्ति ने सर सय्यद अहमद खाँ को राष्ट्रीय आन्दोलन से विमुख करके उन्हें एक पृथकतावादी आन्दोलन का अग्रदूत बना दिया वे एम० ए० ओ० कालिज के सर्वप्रथम प्रिंसिपल मि० बेक थे।

१८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। यद्यपि कांग्रेस को वायसराय लार्ड डफरिन का अनुमोदन प्राप्त हो गया था और उसकी माँगें भी बहुत नरम थीं फिर भी ब्रिटिश सरकार और उसके पिट्ठुओं को उसमें विरोध की चेष्टाएं, घोर असन्तोष की काना फूसियाँ और निश्चित रूप से नई चुनौतियाँ दिखाई पड़ती थीं। जिस बात से उन्हें सबसे अधिक परेशानी हुई वह माँगों का अधिकार पत्र नहीं अपितु वह संगठित साम्प्रदायिक स्थान था, जिसका प्रतीक कांग्रेस थी।'[2]

भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति भार (Counter weight) के रूप में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का संगठन—ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अपने लिए एक सम्भावित खतरा जान पड़ती थी। प्रति तोलन (Counter Poise) के सिद्धान्त पर आचरण करते हुए उत्साही पदाधिकारियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति भार (Counter weight) के रूप में मुस्लिम-साम्प्रदायिकता का संगठन करना प्रारम्भ कर दिया। 'फूट डालो और राज्य करो' के इस खेल में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हें सर सय्यद अहमद खाँ के से प्रभाव और प्रतिष्ठा वाले मनुष्य के सहयोग को प्राप्त करने में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने सर सय्यद अहमद खाँ को यह विश्वास दिला दिया कि 'अंग्रेजों और मुसलमानों का गठबन्धन मुसलमानों की दशा को उन्नत करने में सहायक होगा और उनका राष्ट्रवादियों से मिलना उन्हें पुनः खेद, श्रम और अश्रु में डुबा देगा। फलतः उनके (सर सय्यद अहमद खाँ के) अतुलनीय प्रभाव का उपयोग मुसलमानों को विशेष रूप से उत्तरी भारत में कांग्रेस से विमुख रखने में किया

१ बी० एन० सिंह— दि इन इ० कॉ० एण्ड ने० ब०" पृष्ठ २००।

२ बी० बेक—'रेवोल्यूशन बाई कान्सेंट" पृ० १६९-७०।

गया।[1] ब्रिटिश अधिकारियों ने सर सय्यद अहमद खाँ के जो मत बन कर गया गये कि कांग्रेस तो गर्म हिन्दू गरमपंथी है यह बात बिल्कुल गलत थी। गरम दल उग्र और मध्यम और नरम दल की रचना नहीं किया। कांग्रेस गैर हिन्दू संस्था के रूप में विकसित हुई[1]। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में दो मुसलमान प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। पुनः दूसरे अधिवेशन में कुल प्रतिनिधियों की संख्या ४४ थी जिनमें ३ मुसलमान थे। १८६० में कुल प्रतिनिधियों की संख्या ७०२ थी जिनमें १५ मुसलमान थे। कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन के सभापति एक मुसलमान बदरुद्दीन तैयबजी थे। उसी वर्ष दार श्री हुमायूं जाह ने कांग्रेस को ५०० रु का दान दिया।[3] इस पर भी सर सय्यद ने अपने मुसलमान साथियों को चेतावनी दी कि कांग्रेस ने भारतवर्ष में ब्रिटिश पद्धति के प्रतिनिध्यात्मक शासन की माँग की है उसमें मुसलमानों को बिल्कुल सहयोग नहीं देना चाहिए। भारतवर्ष में प्रतिनिध्यात्मक शासन का अभिप्राय है बहुमत का शासन और बहुमत के शासन का अभिप्राय है हिन्दुओं का शासन। सर सय्यद अहमद खाँ का तर्क था कि चूँकि हिन्दुओं का अधिकतर भाग में बहुमत है अतः वही सत्ता सत्तारूढ़ रहेगा और मुसलमानों को उनकी अधीनता सहनी पड़ेगी। मौलाना शिबली के अनुसार प्रकृति उन्हें (सर सय्यद को) सम्पूर्ण भारतवर्ष का नेता बनाना चाहती थी परन्तु उनकी परिस्थितियों और वातावरण ने उन्हें मुसलमानों को राष्ट्रीय ... केवल मुसलमानों के बीच नेता का साधन बना दिया।[2] यह अब एक खुला रहस्य है कि इस प्रकार की परिस्थितियाँ और वातावरण के निर्माण में जिन्होंने कि एक राष्ट्रद्रोही का पथ पकड़वा दिया मि० बेक का बहुत बड़ा हाथ था। यह भी अब सन्देहातीत है कि मि० बेक ने जो कुछ भी यह कार्य किया उसमें ब्रिटिश अधिकारियों का उनके ऊपर वरद हस्त रहा। इंग्लैण्ड के लोग भी जिन्हें कि भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य के निर्माण में रुचि थी उनके इस कार्य से अनभिज्ञ नहीं थे। १८६६ में जबकि मि० बेक की मृत्यु हुई सर जान स्ट्रेची ने लन्दन टाइम्स में उनके निम्नलिखित श्रद्धांजलि भेंट की थी "एक ऐसे अंग्रेज का जो एक ऐसे सुदूर देश में साम्राज्य निर्माण के कार्य में व्यस्त था देहावसान हो गया है। उसने वस्तुतः एक डटे रहने वाले एक सैनिक की मृत्यु पाई है। मुसलमान सशंकित लोग होते हैं। उन्होंने शुरू में मि० बेक को ब्रिटिश भेदिया समझकर उनका विरोध किया परन्तु उनकी (मि० बेक की) निष्कपटता और निस्वार्थता ने उन्हें मुसलमानों का विश्वास प्राप्त करने में सफलता प्रदान की।"[4]

---

१ मेहता और पटवर्धन— दी कम्यु० ट्रा इन इण्डिया ॥ २३।

२ इन आँकड़ों को कूपलैण्ड कृत— दी इण्डियन प्रोब्लेम (१८ ३–३५) पृ ३३ से उद्धृत किया गया है।

३ मेहता और पटवर्धन—वही पृ ४।

४ मेहता और पटवर्धन द्वारा उद्धृत—वही पृ २४।

५ जी एन सिंह द्वारा उद्धृत—पृ २ १–२०२।

मुसलमान रक्षा-परिषद—मि० बेक के निष्कपट और निःस्वार्थ प्रयत्नों का फल १८८७ में स्पष्ट हुआ जबकि सर सय्यद अहमद खाँ ने खुलम खुल्ला कांग्रेस की आलोचना की। १८८६ में जब भारतवर्ष में प्रतिनिध्यात्मक शासन की स्थापना के उद्देश्य से ब्रिटिश पार्लियामण्ट में चार्ल्स ब्रैडला का बिल उपस्थित हुआ उसके विरोध में मि० बेक ने मुसलमानों का संगठन किया। उन्होंने इस आधार पर कि भारतवर्ष में प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्त का सूत्रपात अनुपयुक्त है, क्योंकि भारतवर्ष एक राष्ट्र नहीं मुसलमानों की ओर से बिल का विरोध करते हुए एक स्मृति-पत्र तैयार किया।[1] १८९३ में मुसलमान ऐंग्लो ओरिएण्टल रक्षा परिषद (Mohammedan Anglo-oriental Defence Association) की स्थापना में भी मि० बेक का बहुत बड़ा हाथ था। मि० बेक स्वयं इस संस्था के सेक्रेटरी बने। इस संस्था का उद्देश्य मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करना था परन्तु यह तो केवल दिखावा मात्र था। वस्तुतः इस संस्था का वास्तविक उद्देश्य मुसलमानों को कांग्रेस में सम्मिलित होने से रोकना था। इस कथन की पुष्टि मि० बेक के एक निबन्ध से भी होती है जो किसी अंग्रेज पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने लिखा था— कांग्रेस का उद्देश्य यह है कि देश का राजनीतिक प्रभुत्व अंग्रेजों के हाथों से हिन्दुओं के हाथों में आ जावे। मुसलमान इन माँगों से कोई सहानुभूति नहीं रख सकते। मुसलमानों और अंग्रेजों के लिए यह वांछनीय है कि वे इन आन्दोलन कर्त्ताओं से लड़ने और देश की आवश्यकताओं व परम्पराओं के अनुपयुक्त लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की स्थापना को रोकने के उद्देश्य से परस्पर संयुक्त हो जाएं इसलिये हम शासन के प्रति राज भक्ति और ऐंग्लो-मुस्लिम सहयोग का समर्थन करते हैं।'[2]

बंगाल का विभाजन—इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटिश शासकों की नीति में आमूल परिवर्तन ही हो गया। कहाँ तो उनका वरदहस्त हिन्दुओं के शीश पर था और मुसलमान उनकी दृष्टि में राजद्रोही थे और कहाँ अब उन्होंने अपना वरदहस्त मुसलमानों के शीश पर रखा और हिन्दू उनकी दृष्टि में राजद्रोही हो गए। बंगाल का विभाजन "देशवासियों के विरुद्ध देशवासियों के सम-बल" (Counter Poise of natives against natives) के कार्यक्रम में एक दूसरा कदम था। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कर्जन ने शासन सम्बन्धी सुविधाओं के आधार पर बंगाल विभाजन का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा की, परन्तु सत्य तो यह है कि बंगाल विभाजन के मूल में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विभाजन की खाई खोदकर राष्ट्रीयता की प्रवाह मान धारा को अवरुद्ध करने की नीति काम कर रही थी।

मुस्लिम शिष्ट-मण्डल और पृथक निर्वाचन (Separate Electorate) की माँग—१९०६ के अन्त में उग्रवादियों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। अब वे इस बात

---

[1] मेहता और पटवर्धन दी कम्युनल ट्रायंगल इन इण्डिया, पृ० ५८-९।
[2] मेहता और पटवर्धन वही पृ० ५९०।

का आन्दोलन करने लगे थे कि ब्रिटिश शासन का शीघ्रातिशीघ्र अन्त हो जाना चाहिये। उनकी शक्ति को अवरुद्ध करने के लिए सरकार का यह प्रयत्न प्रतीत होने लगा कि उग्र राष्ट्रवादियों को वैधानिक सुधारों की एक और खुराक दी जाय और इस प्रकार उन्हें सन्तुष्ट रखा जाय। अक्टूबर १९०६ में आगा खाँ के नेतृत्व में, मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड मिण्टो की सेवा में उपस्थित हुआ। शिष्टमण्डल ने मुसलमानों को भारतीय शासन में जनसंख्या के अनुपातानुसार नहीं वरन् उनकी वास्तविक महत्ता और साम्राज्य की रक्षा में उनकी सेवाओं के आधार पर स्थान देने का आग्रह किया और इस बात पर जोर दिया कि उन्हें स्वयं अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन का अधिकार होना चाहिये। शिष्टमण्डल ने इस बात का भी आग्रह किया कि राज्य की नौकरियों में मुसलमानों का अधिक प्रतिनिधित्व होना चाहिये, वायसराय की कौंसिल में हिन्दुस्तानी सदस्यों की नियुक्ति के समय उनके हितों की रक्षा तथा एक मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना होनी चाहिए। शिष्टमण्डल ने यह विश्वास दिलाया कि सरकार मुसलमानों के हितों की वृद्धि करके उनकी राजभक्ति को और भी अधिक दृढ़ बना सकेगी। इस शिष्टमण्डल का वायसराय की सेवा में उपस्थित होने का अभिप्राय था कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेद की खाई निरन्तर चौड़ी होती जा रही है। परन्तु इसके लिए भी भारत ब्रिटिश नौकरशाही और उन पृथकतावादी तत्वों के निकट हो जाती है जो कि उनके हाथों में खिलौने बनकर रहे। १९२३ में मौलाना मोहम्मद अली ने ठीक ही कहा था कि यह शिष्टमण्डल सरकारी आदेशानुसार निर्मित हुआ था। इस सारी कार्यवाही का प्रबन्ध मि० आर्चिबोल्ड ने जो कि मि० बैक के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे और जिनके कन्धों पर मि० बैक के अधूरे कार्य को पूरा करने का उत्तरदायित्व आ पड़ा था, किया था। मि० आर्चिबाल्ड और वायसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी कर्नल डनलप स्मिथ ने आपस में सारी लिखा पढ़ी कर रखी थी। शिष्टमण्डल के सम्बन्ध में प्रारम्भिक प्रबन्ध की जो बातें थीं, उन सबको इन व्यक्तियों ने आपस में अच्छी तरह से तय कर रखा था। उन दोनों ने यह भी निश्चित कर लिया था कि शिष्टमण्डल को वायसराय से क्या कहना है। यह मान लेना स्वाभाविक है कि वायसराय भी इन सारी कार्यवाहियों से अनभिज्ञ नहीं थे। १० अगस्त १९०६ के अपने पत्र में मि० आर्चिबोल्ड ने नवाब मोहसिनुल मुल्क को सारी हिदायतें दे दी थीं।[1] इसके अनुसार ही शिष्टमण्डल वायसराय की सेवा में उपस्थित हुआ। वायसराय का प्रत्युत्तर पूर्णतः सहानुभूतिमय था।[2] उन्होंने तुरन्त ही उनकी माँगों को स्वीकार कर लिया। अपने उत्तर में उन्होंने बलपूर्वक इस बात का समाश्वासन दिया कि मुसलमानों के राजनीतिक हितों की अवश्यमेव रक्षा की जाएगी। उन्होंने गुरुभार की माँग को पूर्णतः स्वीकार किया और कहा— आपका यह दावा न्याययुक्त है कि आपकी स्थिति का मूल्यांकन आपकी संख्या शक्ति के आधार पर नहीं

---

१. कूपलैण्ड— दी इण्डियन प्राब्लेम १८३३-१९३५ पृ० ३४।

२ टिप्पणी—अपने पत्र में मि० आर्चिबाल्ड ने लिखा— हिज एक्सेलेंसी दी

अपितु आपकी जाति की राजनीतिक महत्ता और उसकी सेवा के आधार पर जो उसने साम्राज्य के प्रति की है, होना चाहिए। मैं आपसे पूर्णतः सहमत हूँ।[1] लार्ड मिन्टो ने यह भी कहा कि [illegible] मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि भारतवर्ष में चलाई गई कोई भी निर्वाचन प्रणाली उपरोक्त असफलता को प्राप्त होगी यदि वह इस महाद्वीप की जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के विश्वासों और परम्पराओं की अवहेलना करके जनता को व्यक्तिगत निर्वाचनाधिकार प्रदान करेगी।[2]

मिन्टो साम्प्रदायिक निर्वाचन के वास्तविक जन्मदाता थे—भारत मंत्री लार्ड मार्ले के साथ किये गये अपने पत्र-व्यवहार में वायसराय ने इस बात पर बारम्बार जोर दिया था कि मुसलमानों को संतुष्ट करने का एकमात्र उपाय पृथक निर्वाचन ही है। मार्ले उदारवादी दृष्टिकोण के व्यक्ति थे। साम्प्रदायिक निर्वाचनों के सम्बन्ध में लार्ड मिन्टो की नीति से वे सन्तुष्ट नहीं थे। उनका विचार था कि इस नीति से

वायसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी कर्नल डनलप स्मिथ ने मुझे लिखा है कि हिज़ एक्सेलेंसी मुस्लिम शिष्ट मण्डल से भेंट करने के लिए प्रस्तुत हैं। उनकी राय है कि श्रीमान को एक औपचारिक पत्र लिख देना चाहिए जिसमें कि उनसे उनकी सेवा में उपस्थित होने की आज्ञा माँगी जाए। इस विषय में मैं कतिपय सुझाव उपस्थित करना चाहूँगा। औपचारिक पत्र को मुसलमानों के कतिपय प्रतिनिधियों के हस्ताक्षरों सहित भेजा जाना चाहिए। शिष्ट मण्डल में सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि होने चाहिए। दूसरी विचारणीय बात प्रतिवेदन का विषय है। मैं यहाँ यह सुझाव देना चाहूँगा कि प्रतिवेदन के प्रारम्भ में राजभक्ति का गम्भीर समाश्वासन दिया जाना वांछनीय है। [illegible] इस कदम के सरकारी निर्णय की प्रशंसा होनी चाहिए परन्तु अपना इस आशय का [illegible] पर दिया चाहिए कि यदि निर्वाचन के सिद्धान्त का सूत्रपात कर दिया जाता है तो वह मुस्लिम अल्पमत के हितों में बाधक सिद्ध होगा। अत्यन्त विनम्रतापूर्वक यह सुझाव होना चाहिए कि मुस्लिम लोकमत [illegible] के लिए धर्म के आधार पर नोमिनेशन (Nomination) या प्रतिनिधित्व का सूत्रपात होना वांछनीय है। हमें यह भी कह देना चाहिए कि भारत जैसे देश में जमींदारों के मतों को काफी वजन देना वांछनीय है परन्तु [illegible] दृष्टिकोणों में भी पृष्ठभूमि में ही रहे। इस बात का आप ध्यान रखें। [illegible] आवश्यक है। मैं आपके लिए प्रतिवेदन का प्रारूप तैयार कर सकता हूँ। [illegible] उसका संशोधन कर सकता हूँ। यदि यह बम्बई में तैयार किया जाता है तो उसे मैं पूरा देख सकता हूँ। यह तो आप जानते ही हैं कि इन चीजों का ठीक-ठीक भाषा में [illegible] का शुभ ज्ञान है। हमारे पास समय थोड़ा है। यदि इस थोड़े से समय में हम एक सफलतापूर्ण आन्दोलन का सम्पन्न करना चाहते हैं तो हमें अविलम्ब काम करना चाहिए।

१ मेहता और पटवर्धन—"दी कम्युनल ट्रायंगल इन इंडिया" पृ० ६२।
२ जी० एन० सिंह—"लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट" पृ० २०८।

हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच वमनस्य की वृद्धि होगी। व्यक्तिगत रूप से वे ऐसे मिले जुले निर्वाचनों के पक्ष में थे जिससे कि मुसलमानों को भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाये परन्तु इसके साथ ही साथ साम्प्रदायिक विद्वेष भी नहीं बढ़े परन्तु यह भारत का दुर्भाग्य था कि उन्होंने लार्ड मिन्टो की योजना को स्वीकार ही कर लिया वे अपनी बात पर अड़े नहीं। ६ सितम्बर १६०६ के अपने पत्र में लार्ड मार्ले ने साम्प्रदायिक निर्वाचन और उनके कुपरिणामों के लिए लार्ड मिन्टो को ही उत्तरदायी ठहराया था। उन्होंने लिखा था मुसलमानों के झगड़े में मैं पुनः आपका अनुसरण नहीं करूंगा। मैं आपको एक बार फिर सिर्फ इतना याद दिलाए देता हूं कि उनके (मुसलमानों के) अतिरिक्त दावों के बारे में आपका ही एक प्रारम्भिक भाषण था जिसने कि उन्हें इसके लिए लालायित कर दिया। मुझे इस बात का दृढ़ विश्वास है कि मेरा ही निर्णय सर्वश्रेष्ठ था। अपनी इस आशातीत सफलता पर नौकरशाही ने जी खोलकर खुशियाँ मनाई। साम्प्रदायिक निर्वाचन का बीजवपन ब्रिटिश अधिकारियों की दृष्टि में एक बहुत बड़ी विजय थी।[१] मिन्टो को अपनी योजना की सफलता पर अपूर्व हर्ष हुआ था। जिस दिन मुस्लिम शिष्टमंडल उनसे मिला था उसे उन्होंने भारतीय इतिहास का एक युग विधायक दिन कह कर सम्बोधित किया था। यद्यपि बाद में लार्ड मार्ले ने पृथक निर्वाचनों की योजना को बहुत कुछ युक्तिमूलक करने की चेष्टा की थी परन्तु अब यह बात अच्छी तरह से ज्ञात है कि इस योजना के जन्मदाता लार्ड मिन्टो ही थे।

एक सहानुभूतिपूर्ण वायसराय से प्रोत्साहन पाने पर मुस्लिम शिष्टमण्डल के नेताओं ने ३ दिसम्बर १६ ६ को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की (भारतीय मुसलमानों के प्रथम साम्प्रदायिक राजनीतिक संगठन की) स्थापना की। इस संगठन के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार निश्चित थे।

(१) भारतीय मुसलमानों में अंग्रेजी सरकार के प्रति राजभक्ति बढ़ाना।

(२) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना, और उनकी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं को नम्र भाषा में सरकार के आगे रखना और

(३) यथासम्भव (१) और (२) के अन्तर्गत उल्लिखित उद्देश्य से बिना सम्बन्ध मुसलमानों तथा अन्य भारतीय जातियों में मैत्री स्थापित करना।

---

१ टिप्पणी—वायसराय के उच्च पदाधिकारी ने उनको इस सम्बन्ध में जो सन्देश भेजा था उसमें समस्त रहस्य स्पष्ट करते हुए उसने लिखा था— मेरे लिये श्रीमान् की सेवा में एक पंक्ति लिखकर भेजना अतीव आवश्यक है कि आज एक बहुत बड़ी घटना घटित हो गई है। राजनीतिज्ञता का एक ऐसा कार्य हो गया है जो कि भारत और भारतीय इतिहास को कई वर्षों तक प्रभावित करता रहेगा। ५ करोड़ २० लाख व्यक्तियों को राजद्रोही विरोध में सम्मिलित होने से पीछे खींच लिया गया है। लेडी मिन्टो की डायरी पृ० ४७–४८।

१९०९ के मार्ले मिण्टो सुधारों में साम्प्रदायिक निर्वाचन अंगीकृत—साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर मुस्लिम लीग का अपने जन्मकाल से ही बहुत हठधर्मी का दृष्टिकोण रहा है। पृथक निर्वाचनों और नौकरियों में ज्यादा हिस्से के लिए १९०८ में मांग की गई और १९०९ में उसको दुहराया गया। लार्ड मार्ले इन मांगों के विरुद्ध थे उन्हें भी अपने अनुकूल करने के लिए शिष्ट मण्डल इंग्लैण्ड भेजे गए। लार्ड मिण्टो की सक्रिय सहायता के द्वारा इस उद्देश्य में भी सफलता प्राप्त हो गई। राष्ट्रवादी नेताओं ने इस नीति का घोर विरोध किया। रमजे मैकडानल्ड के अनुसार कुछ दूरदर्शी मुसलमान भी इस बात का अनुभव कर रहे थे कि यह कदम गलत दिशा की ओर उठाया गया है। उनमें से बहुतों ने इस योजना की कटु आलोचना की और कहा कि उनके कुछ नेता ब्रिटिश अधिकारियों के हाथों में कठपुतली की तरह नाच रहे हैं। परन्तु यह सारा विरोध निरर्थक साबित हुआ। भारत की राष्ट्रीय एकता को भंग करने पर तुले हुए ब्रिटिश अधिकारी टस से मस नहीं हुए। उन्होंने १९०९ में इण्डियन कौंसिल्स एक्ट (मार्ले मिण्टो-सुधार) में पृथक निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर भारतीय राजनीति के आगार में साम्प्रदायिक विष का इन्जेक्शन लगा दिया।

३५ साम्प्रदायिकता के उद्भव का सामाजिक आर्थिक पहलू

प्रारम्भ से ही ब्रिटिश शासकों ने भारतीय समाज के एक वर्ग को दूसरे वर्ग से लड़ाया और इस प्रकार से अपने हित को सुरक्षित रखा। पहले-पहल उन्होंने मुसलमानों के सामन्ती और व्यावसायिक वर्गों की स्थिति को पतनोन्मुखी करने के लिए हिन्दू पूंजीपतियों और बुद्धिजीवियों को अपने कार्य-साधन में प्रयोग किया। इसके बाद जब उन्होंने देखा कि औद्योगिक पूंजीपतियों की उन्नति हो रही है, तो उसे रोकने के लिए सामन्ती हितों को बीच में ला खड़ा किया। जब राष्ट्रवादी शक्तियों ने अधिकाधिक बल पकड़ना प्रारम्भ किया तब ब्रिटिश शासकों ने मुस्लिम पृथकता की नीति को जन्म दिया। गदर के बाद सरकार की मुस्लिम विरोधी और हिन्दू परस्ती की नीति जिस पर वह १८७० तक चलती रही 'वर्ग आधार' पर सेना का पुनर्गठन, बंगाल का विभाजन और साम्प्रदायिक निर्वाचनों की स्वीकृति आदि कृत्य 'फूट डालो और राज्य करो' की ही नीति के सूचक थे। इन सारे कार्यों के करने में शासकों का उद्देश्य यही था कि ब्रिटिश साम्राज्य पर किसी प्रकार की आंच न आने पाए वह निरन्तर सुरक्षित बना रहे। अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन के शब्दों में 'पृथकतावादी प्रवृत्तियों को उद्योगपूर्वक उत्पन्न किया गया और ब्रिटिश राज की सुरक्षा को समाश्वस्त करने के लिए कुशलतापूर्वक प्रयुक्त किया गया।'[1] भारतवर्ष में जहां भेदभाव थे, ब्रिटिश शासकों ने वहां उन्हें तीव्र किया और जहां भेदभाव नहीं थे, वहां उन्हें उत्पन्न किया। जातीय और सांस्कृतिक संश्लेषण की प्रक्रिया भारतवर्ष में शताब्दियों से चल रही थी अंग्रेजों ने उसमें बाधा पहुंचाई। अंग्रेजों ने भारतवर्ष के एक वर्ग को

१ मेहता और पटवर्धन—द कम्युनल ट्रायंगल इन इंडिया पृ० ९१।

दूसरे वर्ग के खिलाफ, एक बिरादरी को दूसरी बिरादरी के खिलाफ और एक जाति को दूसरी जाति के खिलाफ किया। उन्होंने भारत में सद्भावना और उसके नाम पर ब्रिटिश शासन की जड़ों को मजबूत किया। इन्होंने साम्राज्य विरोधी एक संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे के निर्माण को रोकने के लिए ब्राह्मणों, अब्राह्मणों, हिन्दुओं, मुसलमानों तथा स्पृश्य अस्पृश्यों के बीच भेद की दीवारें खड़ी कर दीं।[1]

इस प्रकार भारतीय राजनीति के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता के विष-बीज बोने का उत्तरदायित्व मुख्य रूप से अंग्रेजों पर ही सिर पड़ता है। परन्तु इतना कह देने से ही भारतीय राजनीति की इस जटिल समस्या का समाधान नहीं हो जाता। साम्प्रदायिकता केवल एक राजनीतिक समस्या ही नहीं है, वरन् एक सामाजिक समस्या भी है। अंग्रेजों को एक संयुक्त राष्ट्रीय जनता के विकास को अवरुद्ध करने के अपने प्रयत्नों में भारत के सामाजिक धार्मिक जीवन के कतिपय तत्त्वों से भी सहायता मिली।

हिन्दुओं और मुसलमानों के विकास में भेदभाव—यह तो स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासनकाल में प्रशासन, व्यवसाय, वाणिज्य और उद्योग के क्षेत्र में हिन्दू मुसलमानों से आगे बढ़ गए थे। यद्यपि यह हुआ दोनों जातियों की अपनी अपनी नीति के ही कारण, कोई किसी के निकट दोषी नहीं था—परन्तु अंग्रेजों ने इस बीच में लाभ उठाकर मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित होने से रोकने की चेष्टा की। सर सय्यद अहमद खाँ ने भी नौकरशाही के मोहक संगीत को सुना और यह विश्वास कर लिया कि मुस्लिम जाति का हित कांग्रेस के साथ मिलकर विदेशी साम्राज्य को उखाड़ फेंकने में नहीं अपितु ब्रिटिश सरकार की कृपा और प्राप्त करने में है। आत्मरक्षा की भावना ने मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार द्वारा भीख में डाले गए रोटी के टुकड़ों को लेने की ओर प्रेरित किया। सर सय्यद अहमद खाँ ने अपने अनुयायियों से कहा—"सेना में हमें ऊँचे पद मिलें, सरकार हमारी इस माँग की ओर अवश्य ध्यान देगी। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि हम ऐसा कोई कार्य न करें जिससे कि सरकार को हमारी राजभक्ति में किसी प्रकार का भी सन्देह हो।"[2]

---

१ टिप्पणी—प्रतिभार की ब्रिटिश नीति के ऊपर ए० आर० देसाई ने लिखा है, "गदर के बाद राजाओं और जमींदारों ने प्रतिभार के रूप में काम किया। लार्ड लिटन ब्रिटिश राज को भारतीय कुलीनवर्ग की सहायता के ऊपर आधारित करना चाहते थे। लार्ड डफरिन ने जन विप्लव की बढ़ती हुई शक्तियों को रोकने के लिए उदार बुद्धिजीवी वर्ग का जो भारतवर्ष में विकसित हो रहा था प्रयोग करना चाहा और उस कांग्रेस की स्थापना करने में सहायता दी। तथापि उन्हें शीघ्र ही अनुभव हुआ कि कांग्रेस राजद्रोही होती जा रही है। उन्होंने बढ़ते हुए मुस्लिम व्यावसायिक वर्गों में उग्रराष्ट्रवादियों के विरुद्ध जिनमें कि मुख्यतः हिन्दू व्यावसायिक वर्ग और कांग्रेस के मध्यवर्ग समाविष्ट थे प्रतिभार प्राप्त किया।"—सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म, पृ० ३६।

२ हिन्दुस्तान रिव्यू, जनवरी १९०९, पृ० ५३।

उग्र राष्ट्रीयता और हिन्दू विचारधारा पर बल—१९वीं शताब्दी के अन्त में कांग्रेस के अन्तर्गत जिस उग्रवादी दल ने बहुत अधिक जोर पकड़ा वह भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच की भेदभाव की खाई को चौड़ा करने में सहायक सिद्ध हुआ। तिलक, पाल, अरविन्द घोष और लाजपतराय आदि उग्रवादी नेता केवल प्रखर देशभक्त ही न थे वे कट्टर हिन्दू भी थे। दयानन्द और विवेकानन्द की शिक्षाओं का उन पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। हिन्दू संस्कृति और हिन्दू धर्म के गौरव का बखान करते उनकी वाणी न थकती थी। हिन्दू संस्कृति और हिन्दू धर्म राष्ट्र के ऊपर इस प्रकार से बल देना मुसलमानों के लिए रुचिकर नहीं था। यही कारण है कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत कुछ शंका की दृष्टि से देखने लगे। उन्होंने सोचा कि ब्रिटिश शासन को नष्ट कर दल का अभिप्राय हिन्दुओं के शासन की स्थापना करना है। यह सत्य है कि उग्रवादियों का कोई संकुचित साम्प्रदायिक लक्ष्य नहीं था परन्तु ब्रिटिश नौकरशाही को राष्ट्रीय आन्दोलन का मिथ्या रीति से वर्णन करने में क्या कठिनाई हो सकती थी जब कि ऐसा करने से उनका अपना स्वार्थ सिद्ध होता हो? उन्होंने मुसलमानों के खूब कान भरे। उन्होंने कहा राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य हिन्दुओं की सर्वोच्चता की प्रतिष्ठापना करना है। कुछ तो मुसलमानों को स्वतः ही शंका थी, अंग्रेजों के कान भरने ने रही सही कमी को भी पूरा कर दिया। इन्हीं कारणों से उग्रवादियों के स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलनों ने भी मुसलमानों के बीच बहुत ही कम उत्साह जाग्रत किया। हिन्दू उद्योगपतियों ने ही उनसे अधिकतर आर्थिक लाभ उठाया। फलतः अंग्रेजों ने जिनके कि आर्थिक हितों को स्वदेशी से सीधा खतरा उत्पन्न हो गया था मुसलमानों को अपनी ओर फोड़ने में कुछ उठा न रखा। उन्होंने मुसलमानों को बहकाया कि ऐंग्लो मुस्लिम हित परस्पर एक रूप हैं और इसलिए वे राष्ट्रवादियों के विरुद्ध हैं।

सारांश

महात्मा गांधी के शब्दों में भारतवर्ष की साम्प्रदायिक समस्या ब्रिटिश-शासन की समकालिक है। अंग्रेजों ने प्रारंभ से ही देशवासियों के विरुद्ध देश-वासियों के भेद-भाव की नीति पर आचरण किया। भारतवर्ष में अपने शासन के प्रथम चरण में उन्होंने उच्चवर्गीय हिन्दुओं का समर्थन प्राप्त किया और मुसलमानों का दमन किया। उस समय वे मुसलमानों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। उन्हें आशंका थी कि मुसलमान अपने खोए हुए मुगल साम्राज्य को पुनर्स्थापित करने का स्वप्न देखते हैं। फलतः प्रशासन और सेना से मुसलमानों को बिल्कुल बाहर रखा गया, सांस्कृतिक दृष्टि से नष्ट प्राय कर दिया गया। विद्रोह के तुरन्त बाद ही अंग्रेजों की मुस्लिम विरोधी नीति और भी स्पष्ट दिखाई देने लगी थी।

१८७० के पश्चात् अंग्रेजों के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन दिखाई देने लगा। भारतीय राष्ट्रीयता के उद्भव ने साम्राज्यवादियों को विवश कर दिया कि वे

मुसलमानों का प्रतिभार के रूप में प्रयोग करें। एम० ए० ओ० कॉलिज के प्रथम प्रिन्सिपल मि० बेक ने इस कार्य में प्रमुख भाग लिया। सर सय्यद अहमद खां को राष्ट्रीयता के पथ से विमुख कर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का मुखोपजीवी बना देने में मि० बेक का महत्वपूर्ण हाथ था। उनके अनवरत प्रयत्नों के फलस्वरूप सर सय्यद अहमद खां ने कांग्रेस का विरोध करने का और अपने प्रभाव का प्रयोग कर मुस्लिम समाज को उससे दूर रखने का कार्य अपने जिम्मे ले लिया। १८९३ में उन्होंने मुस्लिम रक्षा परिषद् की स्थापना की। मि० बेक भी इसके एक मन्त्री थे।

बंगाल का विभाजन मुस्लिम पृथक्तावाद को दृढ़ करने की दिशा में जानबूझ कर उठाया गया एक कदम था। मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व देने की मांग के द्वारा मांग कराने के लिए वायसराय के निजी मन्त्री कर्नल डनलप स्मिथ ने स्वयं अलीगढ़ कालिज के तत्कालीन प्रिन्सिपल आर्चिबोल्ड को मुसलमानों का एक शिष्ट मण्डल वायसराय के पास भेजने को लिखा। तदनुसार आगा खाँ की अध्यक्षता में भारत के विभिन्न प्रान्तों से आए ३५ मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल अक्तूबर १९०६ में वायसराय से मिला और उसने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की वही मांग की जिसको कि वायसराय लार्ड मिण्टो ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। तत्कालीन भारत मन्त्री लार्ड मार्ले इस नीति के विरुद्ध थे वे संयुक्त निर्वाचनों और कुछ रक्षित स्थानों के पक्ष में थे परन्तु लार्ड मिण्टो ने उन्हें अपनी बात पर राजी कर लिया। अखिल भारतीय मुस्लिम लीग (स्थापित १९०६) ने पृथक्तावादी मांग को चालू रखा और कांग्रेस व कई दूरदर्शी मुसलमानों के विरोध के बावजूद भी १९०९ के मार्ले मिण्टो सुधारों के अन्तर्गत साम्प्रदायिक निर्वाचनों को भारत के ऊपर लागू कर दिया गया।

इस प्रकार साम्प्रदायिकता के उद्भव के लिए मुख्यतः अंग्रेजों की ही 'फूट डालो और शासन करो' की नीति उत्तरदायी थी तथापि यह भी स्मरणीय है कि अंग्रेजों को इस नीति में जो सफलता प्राप्त हुई उसका बहुत कुछ कारण ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत दोनों जातियों हिन्दुओं और मुसलमानों का विषम विकास भी है। इससे मुसलमानों के हृदय में आत्म रक्षा की भावना जागृत हुई। ब्रिटिश शासकों ने मुसलमानों की इस भावना का लाभ उठाकर उन्हें राष्ट्रवाद के विरुद्ध ला खड़ा कर दिया। इसके अलावा कांग्रेस में जिस उग्र राष्ट्रीयता का विकास हुआ और जिसके नेता तिलक विपिनचन्द्र पाल और लाजपतराय थे वह भी राष्ट्रीय आन्दोलन से मुसलमानों को विमुख करने में सहायक हुआ। उक्त उग्रवादी नेता कट्टर हिन्दू थे और हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति के गौरव का बखान करते न थकते थे। मुसलमानों ने समझा कि राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य हिन्दू राज्य की स्थापना करना है। अंग्रेजों ने उनके खूब कान भरे और उन्हें बहकाया कि ऐंग्लो मुस्लिम हित परस्पर एकरूप हैं और इसलिए वे राष्ट्रवादियों के विरुद्ध हैं। इसलिये अंग्रेजों की कुटिल नीति के कारण भारत का सारा राजनैतिक वायुमण्डल दूषित हो गया और १९४७ ई० में देश का बटवारा करने पर भी न सुधरा।

अध्याय ९

मार्ले-मिण्टो-सुधार

३६ सुधारों का उद्देश्य

(क) भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति का सामना करने की चेष्टा—१८९२ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट के पास होने के पश्चात् भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति में बहुत परिवर्तन हो गए थे। १८६१ के एक्ट के अन्तर्गत जिन व्यवस्थापिका सभाओं का निर्माण हुआ और १८९२ के एक्ट के अन्तर्गत जिन्हें बढ़ा दिया गया था उनसे उदार राष्ट्रवादी भी सन्तुष्ट नहीं थे। १८९२ के पश्चात् भारतवर्ष की राष्ट्रीय तरंगिणी ने भी प्रचण्ड रूप धारण कर लिया था। जन साधारण के ऊपर उग्रवादियों का प्रभाव दिन-दूना रात चौगुना बढ़ता जाता था। वे अब इस बात को खुल्लम खुला कहने लगे थे कि ब्रिटिश शासन भारतवर्ष के लिए एक घृणित अभिशाप है जितनी शीघ्र इसका अन्त हो जाए उतना ही भारतवर्ष की जनता के लिए हितकर है। आतंकवादी आग भी फैल रही थी। ये सब चीजें भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्यशाही के लिए भयंकर खतरे की सकेत थीं। इनकी अवहेलना न की जा सकती थी। लार्ड मिण्टो जो लार्ड कर्जन के पश्चात् भारतवर्ष के वायसराय नियुक्त हुए थे भारतीय राजनीतिक मनोवृत्ति के इस परिवर्तन से अनभिज्ञ न थे। १९०९ के मार्ले मिण्टो-सुधार भारतवर्ष की इस परिवर्तित राजनीतिक परिस्थिति का सामना करने के लिए ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों की एक प्रभावशाली चेष्टा थी। इन सुधारों के द्वारा लार्ड मिण्टो उग्र राष्ट्रवादियों को दबाना नरम राष्ट्रवादियों को उनके विरुद्ध प्रतिभार के रूप में प्रयुक्त करना चाहते थे।

(ख) बढ़ती हुई राष्ट्रीय एकता पर कुठाराघात—भारतवर्ष की राष्ट्रीय शक्तियों को दुर्बल करने के लिए बढ़ती हुई राष्ट्रीय एकता पर भी कुठाराघात करने का निश्चय किया गया। भारत-सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री सर हेराल्ड स्टूअर्ट के हस्ताक्षरों सहित प्रकाशित प्रथम-सुधार-योजना ब्रिटिश इरादों को स्पष्ट रूप से सूचित करती थी। "यह स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि शिक्षित भारतीयों के प्रभाव के विरुद्ध एक प्रति-तोलन (Counter-poise) को प्राप्त किया हो जाना चाहिए, तथाकथित प्रसिद्ध पुरुषों की परिषद् में व अति तब से लाए गए वर्ग और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व में खोजा गया।"[1] अन्ततः सरकार ने जो योजना सामने रखी वह इससे भी आगे बढ़ गई। उसने न केवल जातियों के ही लिए, अपितु बिरादरियों और व्यवसायों के लिए भी पृथक प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव किया। लार्ड मिण्टो स्वयं भी

---

[1] सी० वाई० चिन्तामणि—"इण्डियन पालिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी" पृ० ९४।

कांग्रेस के विरुद्ध एक उपयुक्त प्रतिभार (Counter weight) को बनाने में थे। अपने २८ मई १९०६ के पत्र में उन्होंने लार्ड मार्ले को लिखा था "कांग्रेस के उद्देश्यों के विरुद्ध एक प्रतिभार के विषय में मैं कुछ समय से बराबर सोच में रहा हूँ। मेरा विचार है कि एक राज परिषद अथवा एक वायसराय कौंसिल में जिसमें न केवल देशी नरेश हों अपितु कुछ और बड़े लोग भी सम्मिलित हों व जिनकी बन्द मीटिंग जब भी एक बार एक सप्ताह या पखवाड़े में होती हो निजी विचार-विमर्श के लिए बुलाकर हम इस समस्या का समाधान पा सकते हैं।"[1] तथापि राज परिषद के विचार ने उस समय मूर्तरूप धारण नहीं किया परन्तु जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं वाइसराय मिण्टो कांग्रेस के उग्रवाद के विरुद्ध इसमें (राज परिषद में) के अधिक शक्तिशाली प्रतिभार का निर्माण करने में सफल हुए। यह थी मुस्लिम साम्प्रदायिकता। १९०९ के सुधारों ने इस विषबीज के संवर्द्धनार्थ पृथक निर्वाचनों और प्रतिनिधित्व में मुस्लमानों के पक्ष में पासंगों-वाली लगा दी। संक्षेप में सुधारों से ब्रिटिश शासन के दो उद्देश्य सिद्ध हुए। एक ओर तो इन्होंने उदारवादियों से मेल करके उग्रवादियों को दबाने की चेष्टा की। दूसरी ओर इन्होंने मुस्लिम पृथकतावाद को दृढ़ करके भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर लिया।

३७ १९०९ के एक्ट के मुख्य उपबन्ध

१९०९ का इण्डियन कौंसिलस एक्ट "जो कि कतिपय लेखकों की सम्मति में भारतीय प्रशासन के इतिहास में एक सीमा चिह्न था"[2] १८९२ के एक्ट से अवश्य कुछ आगे बढ़ा हुआ था। इस एक्ट के आधीन कौंसिलों के सदस्यों की संख्या वृद्धि की गई, प्रश्नोत्तर के अधिकार को बढ़ाया गया और सदस्यों को बजट के ऊपर प्रस्ताव उपस्थित करने की अनुमति मिल गई। प्रान्तों में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत स्थापित किया गया।'[3] नीचे इन बातों पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डाला जाता है।

१ विधान मण्डल का विस्तार (क) अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि—नए एक्ट के अनुसार विधान मण्डलों में और अधिक विस्तार किया गया। गवर्नर जनरल की व्यवस्थापिका सभा में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या १६ से बढ़ाकर ६० कर दी गई। बम्बई (पूर्वी) बंगाल और यू० पी० की व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक ५० और बर्मा व पंजाब की व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक ३० रखी गई। प्रत्येक विधान मण्डल तीन प्रकार

१ लेडी मिण्टो— इण्डिया मिण्टो एण्ड मार्ले पृ० २८-२९।

२ एम० आर० पाल— इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन पृ० ३३।

३ सी० वाई० चिन्तामणि— इण्डियन पालिटिक्स सिंस दी म्युटिनी पृ० ५६।

कांग्रेस के विरुद्ध एक उपयुक्त प्रतिभार (Counter weight) की तलाश में थे। अपने २८ मई १९०६ के पत्र में उन्होंने लार्ड मार्ले को लिखा था "कांग्रेस के उद्देश्यों के विरुद्ध एक प्रतिभार के विषय में मैं कुछ समय से बराबर सोच में रहा हूँ। मेरा विचार है कि एक राज परिषद् या एक लिया कौंसिल, जिसमें केवल वाइसराय ही न रहें हों अपितु कुछ और बड़े लोग भी सम्मिलित हों व जिसकी बैठक मान लो कि वर्ष में एक बार एक सप्ताह या कुछ दिन के लिए दिल्ली में हुआ करे, इस समस्या का समाधान हो सकता है।"[1] यद्यपि राज परिषद् के विचार ने उस समय मूर्तरूप धारण नहीं किया परन्तु जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं लार्ड मिंटो कांग्रेस के उद्देश्यों के विरुद्ध इसके (राज परिषद के) स्थान पर साम्प्रदायिकता की प्रतिभार का निर्माण करने में सफल हुए। यह भी मुस्लिम साम्प्रदायिकता। १९०९ के सुधारों ने इस विष बीज के संवर्द्धनार्थ पृथक निर्वाचनों और प्रतिनिधित्व में गुरुभार का प्रावधान कर अच्छी खासी खुराक दी। वस्तुतः इन सुधारों से ब्रिटिश सरकार के दो उद्देश्य सिद्ध हुए। एक ओर तो इन्होंने उदारवादियों से मेल करके उग्रवादियों को दबाने की चेष्टा की। दूसरी ओर इन्होंने मुस्लिम पृथकतावाद को जन्म देकर भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर दिया।

३७ १९०९ के एक्ट के मुख्य उपबन्ध

१९०९ का इण्डियन कौंसिल्स एक्ट जो कि कतिपय लेखकों की सम्मति में भारतीय प्रशासन के इतिहास में एक सीमा चिह्न था[2] १८९२ के एक्ट से अवश्य कुछ आगे बढ़ा हुआ था। इस एक्ट के अधीन कौंसलों के सदस्यों की संख्या वृद्धि की गई प्रश्नोत्तर के अधिकार को बढ़ाया गया और सदस्यों को बजटों के ऊपर प्रस्ताव उपस्थित करने की अनुमति मिल गई। प्रान्तों में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत स्थापित किया गया।"[3] नीचे इन बातों पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डाला जाता है।

१ विधान मण्डल का विस्तार (क) अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि— नए एक्ट के अनुसार विधान मण्डलों में और अधिक विस्तार किया गया। गवर्नर जनरल की व्यवस्थापिका सभा में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या १६ से बढ़ाकर ६० कर दी गई। बम्बई (पूर्वी) बंगाल और यू० पी० की व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों की संख्या अधिक-से अधिक ५० और बर्मा व पंजाब की व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक ३० रखी गई। प्रत्येक विधान मण्डल तीन प्रकार

---

१ लेडी मिण्टो— इण्डिया मिण्टो एण्ड मार्ले पृ० २८-२९।

२ एम० आर पालन्दे— इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन पृ० ३३।

३ सी० वाई चिन्तामणि— इण्डियन पालिटिक्स सिंस दी म्यूटिनी

इस प्रकार के प्रस्ताव को उपस्थित करने के अधिकार का होना न होना बराबर ही था। यदि ये प्रस्ताव व्यवस्थापिका सभा में पास हो जाते तब भी उनका लागू किया जाना अवश्यम्भावी न था। उन्हें केवल सिफारिश ही समझा जा सकता था। इसके अलावा यदि अध्यक्ष समझता कि अमुक प्रस्ताव सार्वजनिक हित के अनुकूल नहीं पड़ता तो वह उसे रोक सकता था।

(ग) प्रश्न और पूरक प्रश्न—१८९२ के एक्ट में प्रश्न करने का अधिकार स्वीकार कर लिया था। मार्ले मिण्टो-सुधारों ने व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को पूरक प्रश्न करने का और अधिकार देकर उक्त अधिकार में वृद्धि कर दी। यदि किसी सदस्य को अपने मौलिक प्रश्न का उत्तर से सन्तोष न होता तो वह पूरक प्रश्न उत्तर के स्पष्टीकरण की मांग कर सकता था तथापि सम्बद्ध कार्यकारिणी परिषद को इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। अध्यक्ष को भी यह अधिकार था कि वह प्रश्नों को रोक दे।

कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों की नियुक्ति—१९०९ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट के अनुसार भारतवासी सबसे पहली बार इण्डिया कौंसिल और गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्य नियुक्त किए जाने लगे। भारतवर्ष में नौकरशाही ने इस सुधार का घोर विरोध किया। परन्तु लार्ड मिण्टो ने इस सुधार को दो कारणों से स्वीकार कर लिया। एक कारण तो सुधार के अस्वीकृत किए जाने पर भारतवर्ष में तीव्र आन्दोलन के सूत्रपात हो जाने का भय था। दूसरा कारण यह था कि ब्रिटिश मन्त्रि मण्डल ने इसे सर्वसम्मति से पास किया था। इसके दबाव के कारण भी लार्ड मिण्टो ने इस सुधार को स्वीकार कर लेना ही,उचित समझा। फलत: एस० पी० सिन्हा को(बाद में लार्ड सिन्हा) गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी-परिषद का विधि सदस्य नियुक्त किया गया। दो वर्ष पूर्व अगस्त १९०७ में दो भारतीयों को [1] भारत मन्त्री की कौंसिल का सदस्य नियुक्त किया जा चुका था।

३८ मार्ले मिण्टो सुधारों के दोष

व्यवस्थापिका सभाएं कार्यकारिणी पर नियन्त्रण स्थापित करने में असमर्थ थीं—कुछ लोगों की धारणा थी कि १९०९ के सुधारों के द्वारा भारतवर्ष को महत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार दिए गए हैं। कांग्रेस के नरम नेताओं का भी प्रारम्भ में यही विचार था। शुरू शुरू में तो उन्होंने इन सुधारों का स्वागत किया परन्तु कुछ ही दिनों बाद उन्हें भी इन सुधारों के खोखलेपन का भान हो गया। मार्ले मिण्टो सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार ने जिन नियमों उपनियमों की सृष्टि की वे

---

१ इनमें से एक हिन्दू (के० जी० गुप्त) और दूसरे मुसलमान (सय्यद हुसन बिलग्रामी) थ।

सुधारों के आधारभूत सिद्धान्तों के इतने विरुद्ध थे कि उन्होंने सुधारों का सफल होना कठिन कर दिया। भारतीय नेताओं ने इन नियमों और उप नियमों की तीव्र आलोचना की। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने घोषणा की कि सुधारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए निर्मित नियमों और उपनियमों ने तो व्यावहारिक रूप में सुधार योजना का नष्ट प्राय ही कर डाला है। उनका प्रश्न था—भारत नौकरशाही ने अपनी इच्छानुसार उन अधिकारों का अपहरण करके अपना बदला लिया है जो हमें सुधारों से मिले हैं।[1] लेकिन केवल नियम और उपनियम ही दोषी न थे। सुधारों में स्वयं भी कई बड़े दोष थे। यह तो इस एक्ट ने, कतिपय अंशों में भारतवासियों को भी प्रशासन कार्य में भाग दिया परन्तु उससे देश के राष्ट्रवादी तत्वों को बिल्कुल सन्तोष नहीं हुआ। इस एक्ट ने व्यवस्थापिका सभाओं में विस्तार तो कर दिया परन्तु उनकी असली प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं किया वह पहले की तरह बनी रहीं। उन्हें अभी सभा नहीं अपितु दरबार ही समझा था।[2] वे कार्यकारिणी को केवल सलाह ही—सलाह दे सकती थीं यह आवश्यक नहीं था कि कार्यकारिणी उनकी सलाह को मान ही ले। कार्यकारिणी की नीतियों पर उनका किसी प्रकार का अंकुश न था। वे कार्यकारिणी सत्ता के हाथों में खिलौना थीं उसके कार्यों और नीति पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं था।[3] चूंकि उनके अधिकार बहुत सीमित थे अतः वे अनुत्तरदायी कार्यकारिणी के किसी काम में रुकावट नहीं डाल सकती थीं। वे प्रश्न पूछ सकती थीं परन्तु कार्यकारिणी को उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। इसके अलावा अध्यक्ष इस अधिकार में कमी कर सकता था। यदि वह उचित समझता तो प्रश्नों को रोक सकता था। व्यवस्थापिका सभाएं प्रस्ताव पास कर सकती थीं परन्तु उनका लागू किया जाना बिल्कुल आवश्यक नहीं था। सरकार यदि चाहती तो उन्हें ताक में रख सकती थी। व्यवस्थापिका सभाएं बजट पर वाद विवाद कर सकती थीं परन्तु केन्द्रीय सरकारों या प्रान्तीय सरकारों की एक पाई की भी आय या व्यय उनके नियन्त्रण में नहीं था।[4]

गैर सरकारी बहुमत प्रभाव शून्य था—सरकार को कानून पास करने के लिए व्यवस्थापिका सभा के अनुमोदन की आवश्यकता होती थी परन्तु इस प्रकार का अनुमोदन प्राप्त करने में सरकार को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़ता था सरकारी और मनोनीत गैर सरकारी सदस्यों में किसी प्रकार की फूट नहीं हो सकती थी। वे हमेशा सरकार का साथ देते थे अतएव कार्यरूप में व्यवस्थापिका सभाओं में गैर सरकारी सदस्यों का उतना प्रभाव न हो सका जितनी कि नरम नेताओं को आशा

---

१ एनी बीसेंट— 'हाउ इण्डिया रौट फौर फ्रीडम'—पृ० ४६५।
२ कूपलैण्ड—'दी इण्डियन प्राब्लेम १८३३–१९३५' पृ० २५।
३ पालन्दे— 'इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन' पृ० ३३–३४।
४ पालन्दे—"इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन" पृ० ३४।

थी। इस विषय में सन् १९१० में स्वर्गीय गोखले ने भारतीय व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया था— "माई लार्ड, हम लोग इस बात से भलीभाँति परिचित हैं कि जब सरकार किसी विषय में अपना रास्ता निश्चित कर लेती है तो गैर सरकारी सदस्य चाहे कुछ हों क्या न कहें, वह अपने रास्ते से जरा भी नहीं हटती।"

साम्प्रदायिक और विशेष निर्वाचन—मार्ले मिण्टो सुधार का सबसे बड़ा दोष यह था कि उन्होंने साम्प्रदायिक निर्वाचन को जन्म दिया। वास्तव में इस विष बेल ने भारतीय राजनीति के क्षेत्र में अत्यन्त विनाशकारी कार्य किया। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "हिन्दुस्तान के भविष्य पर यह एक असर डालने वाली चीज थी। भविष्य में मुसलमान सिर्फ पृथक मुसलमान निर्वाचन क्षेत्रों से ही खड़े हो सकते थे और चुने जा सकते थे। उनके चारों तरफ एक राजनीतिक दीवार खड़ी कर दी गई और उनको बाकी हिन्दुस्तान से अलहदा कर दिया गया। इस तरह आपस में घुल मिल कर एक हो जाने की वह प्रक्रिया जो सदियों से चल रही थी और जो स्वाभाविक प्रगति से लाजिमी तौर पर तेज हो रही थी अब उलट दी गई। यह दीवार शुरू में छोटी थी क्योंकि निर्वाचन क्षेत्र संकुचित था लेकिन जैसे जैसे मताधिकार बढ़ता गया यह दीवार बढ़ती गई और उसका सार्वजनिक और सामाजिक जीवन के सारे ढाँचे पर इस तरह असर पड़ा मानो सारे ढाँचे में घुन लग गया हो। इसका म्युनिसिपल और स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में जहर फैला और आखिर में यह दूषित ढंग का विभाजन हुआ। काफी बाद पृथक मुस्लिम श्रमिक संघों, विद्यार्थी संघों और व्यापार मण्डलों की स्थापना हुई। पृथक निर्वाचन क्षेत्र मुसलमानों से शुरू हुए और बाद में ये दूसरे अल्पसंख्यकों और दूसरे समुदायों में भी फैल गये। यहाँ तक कि भारतवर्ष छोटे छोटे अलग अलग हिस्सों का एक जमघट बन गया। उनसे हर ढंग की अलहदगी की प्रवृत्तियाँ पैदा हुई हैं और आखिर में भारतवर्ष के ही बटवारे की माँग की गई है।"[1] गाँधीजी ने उचित ही कहा था कि यदि यह अधिनियम पारित नहीं होता तो हम (हिन्दू मुस्लिम) स्वयं इस जातिगत मालिन्य का समाधान कर लेते। भारतवर्ष में ऐसे अधिष्ठित स्वार्थों की कमी नहीं थी जिनको कि ब्रिटिश सरकार ने जान बूझ कर पैदा किया और उनकी रक्षा केवल ऐसा करने में उसका स्वयं अपना स्वार्थ था। अब पृथक निर्वाचन क्षेत्रों का भी शक्तिशाली स्वार्थ पैदा किया गया जिसका उद्देश्य यह था कि अलहदगी की भावना को बढ़ावा मिले और राष्ट्रीय एकता की उन्नति में बाधा पड़े। इसी उद्देश्य को सामने रख कर यूरोपियनों, जमींदारों, उद्योगपतियों और व्यापारियों आदि विशेष वर्गों के लिए भी पृथक निर्वाचन स्वीकार किया गया। स्पष्ट है कि इस योजना का वास्तविक लक्ष्य यही था कि ब्रिटिश साम्राज्यशाही के पिट्ठुओं की शक्ति को बढ़ाया जाय और इस प्रकार राष्ट्रीय तरंगिणी की गति को अवरुद्ध कर दिया जाय।

---

१ जवाहरलाल नेहरू— दी डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ० ३९५-९६।

संसद शासन की अस्वीकृति—१९०९ के सुधारों ने भारतवर्ष को संसदीय शासन (वह शासन जिसमें कि कार्यकारिणी पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने हुए प्रतिनिधियों का नियन्त्रण होता है) कैसे भी स्पष्ट स्वीकार नहीं किया। वैसे तो कांग्रेस ने भी स्पष्ट भाषा में ऐसे शासन की माँग नहीं की थी परन्तु स्वशासन के चरम लक्ष्य का तात्पर्य जिसकी कि १९०५ और १९०६ में परिभाषा की गई थी स्पष्ट रूप से यही था। किन्तु ब्रिटिश अधिकारियों ने इस दिशा में एक कदम तक उठाने से इन्कार कर दिया। जब से १८३३ में मेकाले ने यह घोषित किया था कि भारतवर्ष संसदीय शासन के योग्य नहीं है ब्रिटिश अधिकारियों की नीति इस प्रकार की माँग का प्रतिरोध करने की ही रही थी। लार्ड मिण्टो और जान मार्ले जिन्हें कि इन सुधारों का निर्माता कहा जा सकता है दोनों भारतवर्ष में संसदीय प्रजातन्त्र प्रणाली की स्थापना के विरोधी थे। लार्ड मिण्टो ने घोषणा की—"मैंने इसी आशा में जो कि उत्तम (सर्वजनीन मताधिकार) समानता रखता हो अपना मुख फेर लिया था। हम संसद बनाई नहीं चाहते थे हम कौंसिलें चाहते थे परन्तु ऐसी कौंसिलें नहीं जो कि संसदीय प्रणाली पर निर्वाचित हों।"[1] लार्ड मार्ले का इस दृष्टिकोण से पूर्ण सम्मत थे। उन्होंने लार्ड सभा को बताया "यदि यह कहा जाता कि ये सुधार प्रत्यक्ष या आवश्यक रूप से भारतवर्ष में संसदीय प्रणाली की स्थापना करेंगे तो मैं उनसे दूर से ही नमस्कार कर देता।" लार्ड मार्ले की दृष्टि में यह तर्क कि यदि कनाडा में भी स्वशासन की स्थापना आवश्यक है तो वह भारतवर्ष में भी आवश्यक होनी चाहिए कोई महत्त्व नहीं रखता था। वे इस तर्क को बिल्कुल गलत और बेकार समझते थे। उनका मत था कि यह तर्क तो कपड़ों के व्यापार से सम्बन्ध रखता है जैसे कि यदि कनाडा में फरकोट की आवश्यकता हो तो कोई तर्क दे कि दक्षिण भारत में भी उसकी आवश्यकता होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि १८९२ में भारतवासियों को शासन कार्य में सम्मिलित करने की जिस नीति का प्रारम्भ किया था १९०९ का एक्ट उसमें किंचित विस्तार मात्र ही था। इस एक्ट से ऐसा ब्रिटिश सरकार ने अपनी ऐसी कोई इच्छा प्रकट नहीं की जिससे पता चलता हो कि वह भारतवासियों को अपना शासन स्वयं करने का उत्तरदायित्व सौंपने का अधिकार प्रदान करना चाहती है।[2] इसके विपरीत इस एक्ट ने तो ब्रिटिश सरकार के इसी इरादे को सूचित किया कि वह समस्त प्रतिगामी और प्रतिष्ठित स्वार्थों को अपना साथ देकर जनता में उठ रही राष्ट्रीयता की शक्तियों का हनन करना चाहता है।

सारांश

१९०९ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट (मार्ले-मिण्टो-सुधार) का निर्माण चार वर्ष पहले के उपवाद के विकास और आतंकवादी दौर से उत्पन्न भारतवर्ष की राजनीतिक

---

1. जी॰एन॰ सिंह—लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेन्ट' पृ॰ २२३
2. कूपलैण्ड — दी इण्डियन प्राब्लेम १८३३-१९३५" पृ॰ २६।

परिस्थिति का सामना करने की दृष्टि से हुआ था। इन सुधारों को पास करने में सरकार का उद्देश्य यह था कि कांग्रेस के नरम नेताओं को खुश कर लिया जाय और साम्प्रदायिकता की भावना को दृढ़ करके उग्रवाद और आतंकवाद की राष्ट्रीय शक्तियों को कुचल दिया जाय। उदारवादी नेताओं की धारणा थी कि इन सुधारों के द्वारा कौंसिल में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ जायगी। प्रारम्भ में तो इन सुधारों का नरम नेताओं ने सहर्ष स्वागत किया परन्तु कुछ ही काल के उपरान्त यह हर्ष विषाद में बदल गया। इस एक्ट ने मुसलमानों जमींदारों उद्योगपतियों और व्यापारियों के लिए पृथक निर्वाचनों की सृष्टि की। इस प्रकार सुधारों ने एक हाथ से जो चीज दी दूसरे हाथ से वही ले ली।

नये एक्ट ने व्यवस्थापिका सभाओं के आकार और कार्य दोनों में वृद्धि कर दी। १९०९ के एक्ट ने १८९२ के एक्ट में निहित अप्रत्यक्ष चुनावों का अन्त कर दिया और प्रत्यक्ष चुनावों की परिपाटी को जन्म दिया। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत स्थापित किया गया। १९०९ के एक्ट के अनुसार व्यवस्थापिका सभाओं को बजट पर वाद विवाद करने सार्वजनिक हित के विषयों पर प्रस्ताव उपस्थित करने और पूरक प्रश्न पूछने का भी अधिकार मिल गया।

परन्तु ये सुधार प्रगतिशील होने के स्थान पर प्रतिगामी ही अधिक थे। १८९१ में भारतवासियों को शासनकार्य में सम्मिलित करने की जिस नीति का सूत्रपात किया गया था १९०९ का एक्ट उस नीति का किंचित विस्तार मात्र ही था और वह ऐसा विस्तार जो कि सरकार को अनिच्छापूर्वक परिस्थितियों की बाध्यता के कारण करना पड़ा था। कांग्रेस के सम्मुख भारतवर्ष में संसदीय प्रणाली की स्थापना करने का उद्देश्य था। इस एक्ट में इस उद्देश्य की ओर कोई ध्यान नहीं रखा गया उसे पैरों तले डाल दिया गया। इस एक्ट के अनुसार जो नई व्यवस्थापिका सभायें बनीं वे भी दरबार ही थीं संसद नहीं। अनुत्तरदायी कार्यकारिणी का उन पर कोई नियंत्रण नहीं था। व्यवस्थापिका सभाओं का सरकारी दल सदैव सरकार का साथ देता था। उसमें फूट और मतभेद को कोई स्थान न था। गैर सरकारी सदस्यों में एका था। अतः व्यवस्थापिका सभाओं में गैर सरकारी सदस्यों का कोई विशेष प्रभाव नहीं था। व्यवस्थापिका सभाओं को जो नये अधिकार मिले थे उन पर प्रतिबन्ध इतने अधिक लगा दिए थे कि उन अधिकारों का मिलना न मिलना बराबर ही था। इन सुधारों का सबसे बड़ा दोष यह था कि उन्होंने पृथक व साम्प्रदायिक निर्वाचनों की सृष्टि की जिन्होंने कि भारतवर्ष के सार्वजनिक जीवन को विषाक्त कर दिया असहृदयी की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया और अन्त में भारतवर्ष के बटवारे की मांग को जन्म दिया। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि १९०९ के सुधार अपने तात्कालिक उद्देश्य (भारतीयों को सन्तुष्ट करने) में असफल रहे।

अध्याय ७

प्रथम महायुद्ध के बीच भारतीय राजनीति

३९ भारतीय राजनीतिक जीवन का शान्त स्वर

भारतीय राजनीति का शान्तिकाल—मार्ले मिण्टो-सुधारों के उद्घाटन और तिलक तथा एनी बीसेण्ट द्वारा प्रवर्तित होमरूल आन्दोलन के बीच के वर्षों में भारतीय राजनीतिक जीवन का ज्वार उतार पर था। इसका कारण यह नहीं था कि सुधारों ने भारतवर्ष में सांविधानात्मक शासन का सूत्रपात कर दिया हो और यहां के देशभक्तों को सन्तोष हो गया हो। असली बात यह है कि नौकरशाही तो इस समय भी पहले की तरह बलवान थी और इन सुधारों के आधीन जिन परिषदों का निर्माण हुआ था वे भी वाद विवाद क्लबों से अधिक महत्व नहीं रखता था। जनता के वे निर्वाचित प्रतिनिधि, जो कि इन परिषदों में पहुँचते थे अब भी अपनी असहायता की भावना का निवारण न कर पाते थे। वे सरकार की आलोचना कर सकते थे परन्तु उसे नियन्त्रित नहीं कर सकते थे उनका विरोध निष्फल और निर्बल था। कूपलैण्ड का कथन है कि बहुधा गैर सरकारी दबाव कार्यकारिणी के कार्यों को प्रभावित करता था, परन्तु इस बात को वह भी स्वीकार करता है कि बहुधा का अभिप्राय सर्वदा नहीं है और प्रभाव को शासन नहीं कहा जा सकता।

राजनीतिक क्षेत्र से उग्रवादियों का तिरोहण—इस युग की भारतीय राजनीति में जो निष्प्राणता सी आ गई थी, उसका मुख्य कारण यह है कि सूरत विच्छेद (१९०७) के पश्चात् कांग्रेस की बागडोर पूर्णतया नरम दल वालों के हाथ में आ गई थी। तिलक माण्डले में निर्वासित कष्टों का जीवन बिता रहे थे। बंगाल के बहुत से उग्रवादियों को देश निकाले की सजा दे दी गई थी। अरविन्द घोष ने राजनीतिक जीवन से संन्यास ग्रहण कर लिया था और अब वे पाण्डीचेरी में योग साधन कर रहे थे। उग्रवादी नेताओं की अनुपस्थिति में कांग्रेस अपने यथास्थितिवाद के पुराने ढर्रे पर चल पड़ी थी। इस काल में कांग्रेस का नेतृत्व फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, पं० मदनमोहन मालवीय और तेज बहादुर सप्रू जैसे उदार राष्ट्रवादियों के हाथों में था। यद्यपि ये मार्ले मिण्टो सुधारों की दुर्बलताओं से अवगत थे, साम्प्रदायिक निर्वाचनों का उन्होंने खुलकर विरोध किया, उन्हें लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता दोनों का दुश्मन बताया था और उन्हें समाप्त कर देने के लिए भारतीय व्यवस्थापिका में एक प्रस्ताव भी उपस्थित किया था। फिर भी वे इन सुधारों को सद्भाव की भावना के साथ कार्यान्वित कर रहे थे।

लार्ड हार्डिंग की सौमनस्य स्थापित करने की नीति—भारतीय राजनीतिक क्षेत्र की इस शान्ति का दूसरा कारण यह था कि लार्ड मिण्टो के उत्तराधिकारी लार्ड हार्डिंग ने जिस नीति को अपनाया वह सौमनस्य स्थापित करने की नीति थी। हार्डिंग ने कांग्रेस की मांगों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बहुत अच्छे ज्ञाता थे और इस बात को जानते थे कि यूरोप युद्ध की ओर पग बढ़ा रहा है। लड़ाई में इंगलैण्ड को कांग्रेस समर्थन की बहुत आवश्यकता थी। दूरदर्शी हार्डिंग ने कांग्रेस के समर्थन को प्राप्त करने का रास्ता साफ कर लिया।

देहली दरबार (१९११) और बंगभंग का रद्द होना—उनके शासन-काल में सम्राट जार्ज पंचम भारत पधारे और उन्होंने देहली दरबार में घोषित किया कि अब भारत की राजधानी कलकत्ते से हटाकर दिल्ली स्थानान्तरित की जाती है और बंगाल विभाजन को रद्द किया जाता है।[1] इस राष्ट्रीय अन्याय के निराकरण का आंग्ल ब्रिटिश सम्बन्धों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। इससे उदार राष्ट्रवादी बहुत प्रभावित हुए उन्होंने सम्राट की भूरि भूरि प्रशंसा की और अपनी राजभक्ति की भावना को व्यक्त किया। सम्राट जार्ज पंचम का स्वागत बड़े जोरों से हुआ और उन्हें भारत का 'मुक्तिदाता' कहा गया।

इस युग के बीच कांग्रेस का दृष्टिकोण और उसकी मांगें—इस युग के उदार वादियों का क्या दृष्टिकोण था अम्बिकाचरण मजूमदार के निम्न शब्दों से उस पर समुचित प्रकाश पड़ता है "प्रत्येक हृदय ब्रिटिश राजनीतिज्ञता के प्रति पुनर्जागरित कृतज्ञता व विश्वास से परिपूर्ण होकर भक्ति और श्रद्धा के संयुक्त स्वर में ब्रिटिश सिंहासन के गुणगान कर रहा है। हममें से कुछ लोगों ने ब्रिटिश न्याय और सत्यता की अन्तिम विजय में अपनी आशा कदापि विसर्जित नहीं की। अपनी परीक्षाओं और क्लेशों के तमतोम से भरे हुए दिनों में भी यह निश्चय यह आशा यह विश्वास हमारे हृदयों में निरन्तर बना रहा कि ब्रिटिश न्याय और सत्यता एक-न-एक दिन अवश्य ही विजयी होगी।" मद्रास कांग्रेस में भी यही भावना दृष्टिगत हुई। गवर्नर ने जब पण्डाल में प्रवेश किया तब सम्पूर्ण सभा ने खड़े होकर उनका जयकार किया। सभा की कार्यवाही रोक दी गई और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति कांग्रेस की राजभक्ति के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव उपस्थित किया।[2]

तथापि कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार की अपर्याप्त सुधार देने की नीति का विरोध बन्द नहीं किया। भारत की राजनीतिक प्रगति के प्रति ब्रिटिश सरकार जिस उपेक्षा वृत्ति से काम ले रही थी कांग्रेस ने उसकी निरन्तर कठोर आलोचना की। कांग्रेस ने स्वाभाविक रूप से १९११ के भारत सरकार-पत्रक का स्वागत किया। इस पत्रक में

---

१ विभाजन की समाप्ति के साथ ही साथ बिहार को बंगाल से पृथक कर दिया गया।

२ पट्टाभि सीतारामय्या—'दी हिस्ट्री आफ कांग्रेस' पृ० १०१।

प्रान्तीय क्षेत्र में स्व शासन के क्षेत्र का विस्तार करने की सिफारिश की गई थी। कांग्रेस ने इस सिफारिश का विवेचन इस प्रकार किया कि प्रान्तीय सरकारों के ऊपर न केवल केन्द्र का नियन्त्रण कम होना चाहिए, वरन् प्रान्तीय परिषदों का नियन्त्रण बढ़ना चाहिए। स्पष्ट है कि कांग्रेस ने अब उत्तरदायी शासन की भाषा में सोचना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि गोखले यह कहने के लिए तैयार थे कि उत्तरदायी शासन को प्राप्त करने की मंजिल बहुत लम्बी और भारवाही होगी।"[1] परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि इस दिशा में पग उठाने के लिए यह उचित समय है। १९१३ में कांग्रेस ने यह मांग की कि भारतीय व्यवस्थापिका परिषद में गैर सरकारी सदस्यों का और प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होना चाहिए। उसने इस बात पर बल दिया कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों का 'कार्यकारिणी शासन के ऊपर प्रभावशाली नियन्त्रण होना चाहिए।'[2]

40 होमरूल आन्दोलन

श्रीमती बीसेण्ट—१९१४ में भारतीय राजनीतिक जीवन ने पुनः करवट बदली। अब तक भारतीय राजनीतिक जीवन सरकार की 'दमन और सुधार की जुड़वां नीति'[3] के कारण जो निरपेक्ष और निष्प्राण पड़ा हुआ था अब पुनः अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ। १९१४ में तिलक अपने कारावास से छुटकारा पाकर स्वदेश वापस आ गए। इस समय उनकी लोकप्रियता का कुछ ठिकाना नहीं था व भारतीय जन जीवन के हृदय हार बने हुए थे। उन्होंने तुरन्त ही नेशनलिस्ट पार्टी का पुनर्गठन करके उग्रवादियों में नव प्राण फूंकना प्रारम्भ कर दिया।

इसी वर्ष श्रीमती एनीबीसेण्ट भी भारत के राजनीतिक अखाड़े में कूद पड़ीं और उन्होंने भारतवर्ष के राष्ट्रवादी आन्दोलन में नूतन प्राणधारा का संचार किया। थियासाफिकल आन्दोलन के नेता के रूप में उनका नाम पहले से ही विश्व विश्रुत हो चुका था। भारतवर्ष के धार्मिक, शैक्षणिक और सामाजिक पुनर्जागरण के लिए जो काम उन्होंने किया उसके कारण उनका नाम देश के घर घर में रोशन हो गया। वे भारतवर्ष को अपनी मातृ भूमि के रूप में मानती थीं। भारतवर्ष के राजनीतिक पुनरुत्थान के लिए संघर्ष करने के उद्देश्य को सम्मुख रखकर वे कांग्रेस में सम्मिलित हो गईं। इस प्रकार श्रीमती बीसेण्ट ने अपने सम्मुख चतुर्मुखीय कार्यक्रम रखा। वे इसके लिए सर्वथा उपयुक्त भी थीं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी शिक्षा अथाह थी और बुद्धि अलौकिक। उनकी इच्छा शक्ति हिमालय की तरह अटल और अचल थी। खतरों से जूझना उनका स्वभाव था और सहन उनका सबसे बड़ा गुण था। उनमें

[1] बुकलैण्ड—'दी इण्डियन प्राब्लेम्स' पृ० ४५।

[2] श्रीनिवास शास्त्री—'सेल्फ गवर्नमेण्ट फॉर इण्डियन अण्डर दी ब्रिटिश फ्लैग' उपयुक्त पुस्तक में उद्धृत पृ० ४५।

[3] बी० एन० सिंह—वही, पृ० २९३।

लार्ड हार्डिंग की सौमनस्य स्थापित करने की नीति—भारतीय राजनीतिक क्षेत्र की इस शान्ति का दूसरा कारण यह था कि लार्ड मिण्टो के उत्तराधिकारी लार्ड हार्डिंग ने जिस नीति को अपनाया वह सौमनस्य स्थापित करने की नीति थी। हार्डिंग ने कांग्रेस की मांगों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बहुत अच्छे ज्ञाता थे और इस बात को जानते थे कि यूरोप युद्ध की ओर पग बढ़ा रहा है। लड़ाई में इंगलैण्ड को कांग्रेस समर्थन की बहुत आवश्यकता थी। दूरदर्शी हार्डिंग ने कांग्रेस के समर्थन को प्राप्त करने का रास्ता साफ कर दिया।

देहली दरबार (१९११) और बंगभंग का रद्द होना—उनके शासन-काल में सम्राट जार्ज पंचम भारत पधारे और उन्होंने देहली दरबार में घोषित किया कि अब भारत की राजधानी कलकत्ते से हटाकर दिल्ली स्थानान्तरित की जाती है और बंगाल विभाजन को रद्द किया जाता है।[1] इस राष्ट्रीय अन्याय के निराकरण का आंग्ल ब्रिटिश सम्बन्धों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। इससे उदार राष्ट्रवादी बहुत प्रभावित हुए उन्होंने सम्राट की भूरि भूरि प्रशंसा की और अपनी राजभक्ति की भावना को व्यक्त किया। सम्राट जार्ज पंचम का स्वागत बड़े जोरों से हुआ और उन्हें भारत का 'मुक्तिदाता' कहा गया।

इस युग के बीच कांग्रेस का दृष्टिकोण और उसकी मांगें—इस युग के उदार वादियों का क्या दृष्टिकोण था अम्बिकाचरण मजूमदार के निम्न शब्दों से उस पर समुचित प्रकाश पड़ता है प्रत्येक हृदय ब्रिटिश राजनीतिज्ञता के प्रति पुनर्जागरित कृतज्ञता व विश्वास से परिपूर्ण होकर भक्ति और श्रद्धा के संयुक्त स्वर में ब्रिटिश सिंहासन के गुणगान कर रहा है। हममें से कुछ लोगों ने ब्रिटिश न्याय और सत्यता की अन्तिम विजय में अपनी आशा कदापि विसर्जित नहीं की। अपनी परीक्षाओं और क्लेशों के तमतोम से भरे हुए दिनों में भी यह निश्चय यह आशा यह विश्वास हमारे हृदयों में निरन्तर बना रहा कि ब्रिटिश न्याय और सत्यता एक-न-एक दिन अवश्य ही विजयी होगी। मद्रास कांग्रेस में भी यही भावना दृष्टिगत हुई। गवर्नर ने जब पण्डाल में प्रवेश किया तब सम्पूर्ण सभा ने खड़े होकर उनका जयकार किया। सभा की कार्यवाही रोक दी गई और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति कांग्रेस की राजभक्ति के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव उपस्थित किया।

तथापि कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार की अपर्याप्त सुधार देने की नीति का विरोध बन्द नहीं किया। भारत की राजनीतिक प्रगति के प्रति ब्रिटिश सरकार जिस उपेक्षा वृत्ति से काम ले रही थी कांग्रेस ने उसकी निरन्तर कठोर आलोचना की। कांग्रेस ने स्वाभाविक रूप से १९११ के भारत सरकार-पत्रक का स्वागत किया। इस पत्रक में

---

१ विभाजन की समाप्ति के साथ ही साथ बिहार को बंगाल से पृथक कर दिया गया।

२ पट्टाभि सीतारामय्या— दी हिस्ट्री आफ कांग्रेस पृ० १०१।

प्रान्तीय स्तर में स्वशासन के क्षेत्र का विस्तार करने की सिफारिश की थी। कांग्रेस ने इस सिफारिश का विवेचन इस प्रकार किया कि प्रान्तीय सरकारों के ऊपर न केवल केन्द्र का नियंत्रण कम होना चाहिए, वरन् प्रान्तीय परिषदों का नियंत्रण बढ़ना चाहिए। स्पष्ट है कि कांग्रेस ने अब उत्तरदायी शासन की भाषा में सोचना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि गोखले यह कहने के लिए तैयार थे कि उत्तरदायी शासन को प्राप्त करने की मंजिल बहुत लम्बी और कष्टसाध्य होगी।"[1] परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि इस दिशा में पग उठाने के लिए यह उचित समय है। १९१२ में कांग्रेस ने यह माँग की कि भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् में गैर सरकारी सदस्यों का और प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होना चाहिए। उसने इस बात पर बल दिया कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों का "कार्यकारिणी शासन के ऊपर प्रभावशाली नियंत्रण होना चाहिए।'[2]

40 होमरूल आंदोलन

श्रीमती बीसेण्ट—१९१४ में भारतीय राजनीतिक जीवन ने पुनः करवट ली। अब तक भारतीय राजनीतिक जीवन सरकार की "दमन और सुधार की दोहरी नीति" के कारण जो शिथिल और निष्प्राण बना हुआ था, वह पुनः अंगड़ाई लेकर उठ बैठा। १९१४ में तिलक अपने कारावास से छुटकारा पाकर स्वदेश वापस आ गए। इस समय उनकी लोकप्रियता का कुछ ठिकाना न था। वे भारतीय जन जीवन के हृदय हार बने हुए थे। उन्होंने पुरानी राष्ट्रवादी पार्टी का पुनर्गठन करके उग्रवादियों में नव प्राण फूंकना प्रारम्भ कर दिया।

इसी वर्ष श्रीमती एनीबीसेण्ट भी भारत के राजनीतिक क्षेत्र में कूद पड़ीं और उन्होंने भारतवर्ष के राजनीतिक आन्दोलन में नूतन प्राणधारा का संचार किया। थियोसॉफिकल आन्दोलन के नेता के रूप में उनका नाम पहले से ही विश्व विश्रुत हो चुका था। भारतवर्ष के धार्मिक सांस्कृतिक और सामाजिक पुनर्जागरण के लिए जो कार्य उन्होंने किया उसके कारण उनका नाम देश के घर घर में रोशन हो गया। वे भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि के रूप में मानती थीं। भारतवर्ष के गौरव के पुन-रुत्थान के लिए संघर्ष करने के उद्देश्य को सम्मुख रखकर वे कार्य में संलग्न हो गईं। इस प्रकार श्रीमती बीसेण्ट ने अपने सम्मुख अनुकरणीय आदर्श रखा। वे इसके लिए सर्वथा उपयुक्त भी थीं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी विद्वत्ता अगाध थी और बुद्धि अलौकिक। उनका व्यक्तित्व हिमालय की तरह उच्च और महान था। खतरों से जूझना उनका स्वभाव था और साहस उनका सच्चा साथी था। उनमें

१ कूपलैण्ड— "दी इण्डियन प्राब्लम" पृ० ८५।

२ श्रीनिवास शास्त्री— "[illegible] और [illegible] दी ब्रिटिश प्लान" उपयुक्त पुस्तक में उद्धृत पृ० ४५।

३ पी० एन० सिंह—वही, पृ० २१३।

कार्य करने की अनथक शक्ति थी और वे उस समय तक विश्राम करना नहीं जानती थीं जब तक कि उद्देश्य सिद्ध न हो जाए। इन गुणों के साथ-ही साथ उनकी अद्वितीय और अतुलनीय वक्तृत्व कला सोने में सुगन्धि का कार्य करती थी। उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक चुम्बकमय था। वस्तुतः वे शक्ति की साक्षात् प्रतिमा थीं।

आयरलैण्ड में उस समय जो होमरूल आन्दोलन चल रहा था एनीबीसेण्ट उससे बहुत अधिक प्रभावित हुई थीं। उन्होंने नौकरशाही के इस तर्क का कि भारतीय स्वशासन के योग्य नहीं है खुलकर विरोध किया। उनका कथन था कि भारतवर्ष अब वह शिशु नहीं रहा जो कि साम्राज्य की शिशुशाला में पलता रहे। उनका विश्वास था कि देश को जितनी शीघ्र स्व शासन प्राप्त हो जाए उतना ही श्रेष्ठ है। कांग्रेस का कार्य जिस मन्द गति से चल रहा था उससे वे सन्तुष्ट न थीं।[1] और उन्होंने कांग्रेस से निवेदन किया कि वह होमरूल आन्दोलन को प्रारम्भ करे। परन्तु उन्होंने देखा कि नरम दल के नेता तो पराङ्मुख शङ्कालु स्वभाव के हैं वे होमरूल आन्दोलन को चलाने में झिझकते हैं। इसलिए उन्होंने औपनिवेशिक स्व शासन अथवा डोमीनियन होमरूल का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए एक पृथक संगठन का निर्माण करने का निश्चय किया। तिलक की तरह उनका भी यह विश्वास था कि युद्धकाल इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वैधानिक आन्दोलन प्रारम्भ करने का अत्यन्त समुपयुक्त अवसर है। एनीबीसेण्ट ने गरम दल और नरम दल में मेल कराने के लिए भी अनथक उद्योग किया। परन्तु जब तक गोखले जीवित थे उनको अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। १९१५ में गोखले का स्वर्गवास हुआ। इस वर्ष के कांग्रेस अधिवेशन में श्रीमती बीसेण्ट को कांग्रेस संविधान में ऐसा संशोधन पास करवाने में जिससे कि तिलक और उनके अनुयायी पुनः संस्था में आ सकें सफलता प्राप्त हुई। १९१६ में कांग्रेस के दोनों दलों में पुनरैक्य स्थापित हो गया।

तिलक और बीसेण्ट का सहयोग व कांग्रेस द्वारा आन्दोलन का अनुमोदन—एनीबीसेण्ट ने पहली सितम्बर १९१६ को मद्रास में अखिल भारतीय होमरूल लीग की स्थापना की। इसके छः मास पूर्व तिलक महाराष्ट्र होमरूल लीग की स्थापना कर चुके थे। इसका केन्द्र पूना था। तिलक ने एनीबीसेण्ट को पूरा सहयोग दिया और दोनों नेताओं ने अपने सामान्य उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य किया। दिसम्बर १९१६ में कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने सुधारों की एक सामान्य योजना को ग्रहण किया। उन्होंने अपनी योजना को जनता में लोकप्रिय बनाने के लिए होमरूल लीग के उपयोग करने का निश्चय किया।[2] तिलक और एनी बीसेण्ट ने इस आन्दोलन के लिये अनथक शक्ति से कार्य किया।

होमरूल आन्दोलन के उद्देश्य—होमरूल आन्दोलन के प्रवर्तकों ने अपने आन्दोलन को उसके उद्देश्यों और आदर्शों को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिये

---

1 पट्टाभि सीतारामय्या— दी हिस्ट्री आफ कांग्रेस' पृ० २१२।
2 बी० एन० सिंह—वही पृ २९५।

अपूर्व उत्साह और प्रेरणा से कार्य किया। एनीबीसेण्ट के दैनिक पत्र 'न्यू इण्डिया' और साप्ताहिक पत्र 'कामन वील' ने इस दिशा में विशेष सेवा की। होमरूल लीग ने बड़े धड़ाके के साथ काम किया। श्रीमती बीसेण्ट ने सारे देश का तूफानी दौरा किया। अपने जोरदार भाषणों से जनता के अन्दर एक नई स्फूर्ति पैदा कर दी। वे भारतवर्ष को उसकी युग-युग व्यापी निद्रा से जगाना चाहती थी। 'मैं भारत में वैतालिक का कार्य कर रही हूं' उन्होंने घोषणा की 'और सोने वालों को जगा रही हूँ ताकि वे उठ बैठें और अपनी मातृभूमि के लिये कार्य कर सकें।' तिलक के पत्रों दैनिक 'केसरी' और साप्ताहिक 'मराठा' ने भी महाराष्ट्र में डटकर प्रचार कार्य किया।

होमरूल आंदोलन एक वैधानिक संघर्ष था। जिस समय यह चल रहा था उस समय महायुद्ध जारी था और भारत सुरक्षा अध्यादेश भी क्रियाशील थे। आंदोलन का यह उद्देश्य नहीं था कि सरकार को खामखाह परेशान किया जाये अथवा उसके युद्ध प्रयत्नों में बाधा डाली जाये। सच तो यह है कि एनीबीसेण्ट और तिलक दोनों ने ही भारतीयों को इस बात का परामर्श दिया था कि वे जर्मनी के खिलाफ सरकार की यथासम्भव सहायता करें परन्तु उन्होंने इस बात पर भी निरंतर बल दिया कि स्वशासित भारत साम्राज्य रक्षा के लिये अधिक सहायक हो सकेगा। एनीबीसेण्ट ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शत्रु नहीं थी। उस समय उग्रदल क्रान्तिपथ की ओर झुक रहा था और वह क्रान्तिकारियों के साथ गठबन्धन स्थापित करने के लिये प्रवृत्त हो रहा था। श्रीमती बीसेण्ट ने उसे क्रान्तिपथ से अलग किया। उनकी योजना यह थी कि उग्रवादी भारतवर्ष को साम्राज्य में ही बनाये रखने को राजी हो जाए।[1] उग्रदल और नरमदल में पुनः ऐक्य हो तथा वे संयुक्त कांग्रेस में मिलकर साथ साथ काम करें यह भी उनका उद्देश्य था। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उन्होंने प्राणपण से कार्य किया और उसमें उन्हें सफलता भी मिली। श्रीमती बीसेण्ट की यह आकांक्षा थी कि इंगलैण्ड और भारत एक दूसरे के समीप आएं, एक दूसरे को समझें। परन्तु उन्होंने इस बात पर बल दिया कि साम्राज्य का भाग्य भारत के भाग्य के साथ जुड़ा हुआ है और भारत को होमरूल देकर उसे सन्तुष्ट कर देना ब्रिटिश शासकों के लिये बुद्धिमानी की बात है।

श्रीमती बीसेण्ट का कथन था 'होमरूल भारतवर्ष का अधिकार है और राजभक्ति के पुरस्कार के रूप में उसे प्राप्त करने की बात कहना मूर्खतापूर्ण है।'

---

१ डा जकरिया— रिनेसेण्ट इण्डिया पृ १६५।

२ टिप्पणी—भारतवर्ष ने अपने पुत्रों और पुत्रियों के रक्त को इसलिए नहीं बहाया है कि उसके बदले में उसे स्वतन्त्रता मिले अधिकार मिलें। यह सौदेबाजी नहीं है। भारत एक राष्ट्र की हैसियत से साम्राज्य की जनता के बीच न्याय पाने के अधिकार का दावा करता है। भारतवर्ष ने इसे युद्ध के पूर्व मांगा था भारत इसे युद्ध के बीच मांगता है भारत इसे युद्ध के बाद मांगेगा परन्तु वह इसे एक पारितोषिक के रूप में नहीं अधिकार के रूप में मांगता है।

हाउ इण्डिया रॉट फॉर फ्रीडम पृ ५७५-५७६।

एनीबीसेण्ट के होमरूल का लक्ष्य वही था जो कि दादा भाई नौरोजी के स्वराज्य या स्वशासन का था। उन्होंने 'कॉमनवील' के प्रथम अंक में ही अपने लक्ष्य की व्याख्या की। उन्होंने लिखा था— राजनीतिक क्षेत्र में हमारा उद्देश्य ग्राम परिषदों से डिस्ट्रिक्ट और म्युनिसिपल बोर्डों तथा प्रान्तीय विधान सभाओं द्वारा एक राष्ट्रीय संसद तक जो कि शक्तियों में उपनिवेशों की स्वशासित विधान सभाओं के तुल्य हो पूर्ण स्वशासन का निर्माण करना है। हमारा यह भी लक्ष्य है कि जब इम्पीरियल पार्लियामेण्ट का अधिवेशन हो और उसमें साम्राज्य के स्वशासित राज्यों के प्रतिनिधि भाग लें तब भारतवर्ष को भी सीधा प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिये।[1] इस प्रकार होमरूल कोई नया आन्दोलन नहीं था साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन के उत्तर लक्ष्य के लिये केवल एक नया नाम पा लिया गया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस नये नाम की प्रेरणा आयरलैण्ड के स्वतन्त्रता संग्राम से प्राप्त हुई थी।

नौकरशाही का दमनचक्र और एनीबीसेण्ट की नजरबन्दी—१९१७ में होम रूल आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। यद्यपि यह आन्दोलन विशुद्धतः वैधानिक था और उसके नेताओं ने इस आन्दोलन को व्यापक बनाने में शान्तिपूर्ण उपायों का ही अवलम्ब किया, परन्तु फिर भी इसके प्राणवान प्रचार संघर्ष ने जनता के बीच एक नूतन हलचल पैदा कर दी। सरकार इससे घबरा उठी और उसके आन्दोलन को कुचल डालने का निश्चय किया। तिलक और एनीबीसेण्ट के कार्य-कलापों के ऊपर कई कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। १९१६ में तिलक से कहा गया कि वे साल भर तक बिलकुल शान्त रहें। उनको कुछ भारी जमानतें जमा करने का भी आदेश दिया गया। परन्तु बाद में जब तिलक की ओर से हाईकोर्ट में अपील की गई तब इस आदेश को वापस ले लिया गया। होमरूल प्रचार को रोकने के लिये दमनमूलक प्रेस एक्ट का खुलकर प्रयोग किया गया। श्रीमती बीसेण्ट से जिनका न्यू इण्डिया नामक दैनिक और कामन वील नामक साप्ताहिक पत्र होमरूल आन्दोलन का खूब धड़ल्ले से प्रचार कर रहा था प्रेस और पत्र के लिये २० ०) की जमानत मांगी गई और वह जब्त भी कर ली गई। परन्तु इन दमनकार्यों से आन्दोलन दबा नहीं वह और प्रचण्ड हुआ। १९१७ के प्रारम्भ में लार्ड पेण्टलैण्ड की सरकार ने सरकारी आज्ञापत्र नं० ५५६ के अनुसार विद्यार्थियों को राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने से रोक दिया। होमरूल की सभाओं में उपस्थित होना उनके लिये वर्जित कर दिया गया।[2] सरकार का दमनचक्र उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया जबकि तिलक को पंजाब और दिल्ली में प्रवेश करने की मनाही कर दी गई और श्रीमती बीसेण्ट को उनके दो घनिष्ट सहयोगी जी० एस० एरेण्डल और बी० पी० वाडिया सहित नजरबन्द कर दिया गया। सरकार ने तो समझा कि श्रीमती

---

[1] एनीबीसेण्ट—'इण्डिया बाउण्ड आर फ्री ?' पृ० १३२–१३३।

[2] जी० एन० सिंह—वही पृ० २९६।

बीसेण्ट की गिरफ्तारी से होमरूल का आन्दोलन ठण्डा पड़ जायगा परन्तु नतीजा इसका बिलकुल उल्टा हुआ। इसने 'देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक विरोध और रोष का तूफान खड़ा कर दिया। सारे देश में श्रीमती बीसेण्ट की नजरबन्दी के विरोध में सभाएँ हुईं। वे राष्ट्रीय नेता जो कि अब तक होमरूल आन्दोलन से अलग रहे थे होमरूल लीग के सदस्य हो गये और उन्होंने उसमें उत्तरदायी पदों को सम्हाला।[1] एनीबीसेण्ट के छुटकारे के लिये सारे देश में प्रचण्ड आन्दोलन हुआ। तिलक ने सत्याग्रह तक प्रारम्भ करने का प्रस्ताव किया। परन्तु घटनाचक्र बड़ी तेजी से घूमता गया और २० अगस्त १९१७ की घोषणा ने जिसमें कि भारत में उत्तरदायी शासन के शनैः शनैः विकास का वचन दिया गया था भारतीय राजनीति की हवा के रुख को एकदम से बदल दिया और धीरे धीरे होमरूल आन्दोलन बिलकुल मरता गया। एनीबीसेण्ट का यश इस समय अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया था और उन्हें १९१७ के कांग्रेस अधिवेशन का सभापति निर्वाचित किया गया।

५। हिन्दू मुस्लिम सम्बन्धों में एक सुखकर अध्याय

भारतीय मुसलमानों का राष्ट्रवाद की ओर झुकाव—मार्ले मिण्टो सुधार-काल में एक और महत्वपूर्ण बात हुई और वह यह कि भारतीय मुसलमानों की नई पीढ़ी राष्ट्रीयता की ओर झुकी। हम देख चुके हैं कि मुस्लिम लीग की स्थापना १९०६ में हुई थी और इसकी स्थापना में ब्रिटिश नौकरशाही का बहुत बड़ा हाथ था। मुस्लिम लीग की स्थापना का उद्देश्य यही था कि मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक रखा जाए। शुरू के सालों में मुस्लिम लीग के ऊपर अलीगढ़ के अद्ध सामन्ती और पृथकतावादी राजनीतिज्ञों के स्कूल का ही पूर्ण नियन्त्रण रहा था। परन्तु १९१२ के पश्चात् से शिक्षित नवयुवक मुसलमानों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा। उनका हृदय देशभक्ति की भावनाओं से आप्लावित हो उठा। फलतः वे राष्ट्रवाद की ओर आकृष्ट हुए। इसके कारण मुस्लिम लीग के रंग-रूप में भी थोड़ा परिवर्तन हुआ। यद्यपि मुस्लिम लीग का मुख्य उद्देश्य तो मुसलमानों के हितों का संरक्षण करना ही रहा परन्तु उत्तरदायी शासन के प्रश्न पर वह कांग्रेस के समीपतर आ गई। परिणामस्वरूप दोनों संगठनों के बीच बन्धुत्वपूर्ण सहयोग का एक संक्षिप्त युग प्रारम्भ हुआ। १९१६ का कांग्रेस लीग समझौता हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों के एक सुखकर अध्याय का चरम शिखर है।

मुख्य कारण टर्की की स्थिति—मुसलमानों में इस राष्ट्रवाद की भावना के विकास के कारण भी अनेक थे। इन कारणों में सबसे प्रमुख कारण अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति थी। इंगलैण्ड और रूस टर्की के प्रति शत्रुतापूर्ण नीति का अनुसरण कर रहे थे। इससे भारतवर्ष के मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग को बहुत धक्का पहुँचा। टर्की के सुल्तान अब्दुल हामिद के द्वारा प्रोत्साहित 'पान-इस्लामिक आन्दोलन' ने भारत के मुसलमानों

---

1 जी एन सिंह—वही पृ० २९६।

के ऊपर बहुत गहरा प्रभाव डाला था। सुल्तान हामिद इस्लाम के खलीफा भी थे। इन सब कारणों से टर्की इस्लाम की महानता का प्रतीक बन गया था। १६१२-१३ के बल्कान-युद्धों ने भारतवर्ष में टर्की के प्रति सहानुभूति की एक शक्तिशाली लहर पैदा कर दी। डाक्टर अन्सारी भारतवर्ष से टर्की को एक मेडिकल मिशन ले गए।

कांग्रेस के प्रति सरकारी दल में परिवर्तन—टर्की के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण ने भारतीय मुसलमानों के बीच ब्रिटिश विरोधी भावनाएँ उत्पन्न कीं। ये भावनाएँ युद्ध के बीच और भी प्रबल हो गई जबकि टर्की ब्रिटेन और उसके मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ा। जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं—'अन्तिम बची हुई मुस्लिम शक्ति के समाप्त हो जाने का खतरा उत्पन्न हो गया था उनके विश्वास का मुख्य आधार डाँवाडोल हो रहा था।'[1] ब्रिटेन इस्लाम के शत्रु के रूप में प्रकट हुआ और उसने देशभक्त मुस्लिम मस्तिष्कों को उत्तेजित करना प्रारम्भ कर दिया। एक और कारण जिसने कि साम्प्रदायिकता को रोका और भारतीय मुसलमानों को कांग्रेस के नजदीक ला दिया यह था कि कांग्रेस के प्रति सरकारी रुख में परिवर्तन हो गया। यद्यपि मार्ले मिण्टो सुधारों में कतिपय दोष थे फिर भी कांग्रेस उन्हें कार्यान्वित करने की यथा-शक्ति चेष्टा कर रही थी। नए गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग का कांग्रेस के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण था। लार्ड हार्डिंग की मेल-जोल की नीति का फल यह हुआ कि मुस्लिम पृथकतावाद में पहले का-सा जोर नहीं रहा और वह धीमा पड़ गया। इसके अलावा १६११ में बंग-भंग को रद्द कर दिया गया। इसने मुसलमानों के ऊपर बहुत असर डाला। सरकार ने बंग-भंग को रद्द करने का निर्णय करने से पूर्व मुसलमानों से परामर्श तक भी नहीं किया फलतः वे अत्यन्त रुष्ट हुए अंग्रेजों की नेकनीयती में उनका जो विश्वास था उसकी जड़ें हिल गई। इस असन्तोष का फल यह हुआ कि मुसलमान भी राष्ट्रीय आन्दोलन में शरीक हो गए।

नए नेताओं का प्रभाव-अबुल कलाम आजाद-मुस्लिम राष्ट्रवाद के उदय का तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण कारण अबुल कलाम आजाद अली-बन्धुओं मोहम्मद अली जिन्ना डा० अन्सारी और हकीम अजमल खां जैसे नए नेताओं का प्रभाव था। अबुल कलाम आजाद उस समय नवयुवक ही थे। उनकी गम्भीर विद्वत्ता और भारत के बाहर की इस्लामी दुनिया के ज्ञान की सर्वत्र धाक जमी हुई थी। उन लड़ाइयों ने जिनमें टर्की घिर गया था उनकी गहरी रुचि और सहानुभूति को उत्तेजित किया। फिर भी उनका रास्ता पुराने मुस्लिम नेताओं के रास्ते से भिन्न था। उनके व्यापक और बुद्धिसंगत दृष्टिकोण ने उन्हें पुराने नेताओं के सामन्ती संकुचित धार्मिक व पृथकतावादी दृष्टिकोण से अलग रखा और उन्हें सिर से पैर तक भारतीय राष्ट्रवादी बना दिया था।[2] १६१२ में अबुल कलाम आजाद ने उर्दू साप्ताहिक अल-हिलाल को

१ जवाहरलाल नेहरू—दी डिस्कवरी आफ इण्डिया पृ० २८९।

२ जवाहरलाल नेहरू—दी डिस्कवरी आफ इण्डिया पृ० २८९।

प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। इस पत्र का जीवन संक्षिप्त परन्तु ऐतिहासिक रहा। जबसे मुस्लिम लीग प्रारम्भ हुई अबुल कलाम आजाद उसके सदस्य थे। मुस्लिम लीग पर अलीगढ़-कालिज ग्रुप का नियन्त्रण था। अबुल कलाम आजाद उसकी नीतियों से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने अपनी सामर्थ्यवान् लेखनी द्वारा 'अनुदारिता और अराष्ट्रीयता के इस शक्तिशाली दुर्ग पर आक्रमण किया।'[1] अल हिलाल ने 'मनुष्यों के मस्तिष्क को भय और निराशा से मुक्त करने में सहायता दी और उन्हें आशा व साहस के उच्चतर धरातल पर खड़ा किया।'[2] आजाद की रचनाओं ने अधिकारियों के रोष को जागृत कर दिया। अल-हिलाल से जमानतें मांगी गई और १९१४ में उसके प्रेस को जब्त कर लिया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि अल हिलाल समाप्त हो गया। दो वर्षों बाद आजाद को चार वर्षों के लिए निर्वासित किया गया।

मौलाना मोहम्मद अली—(१८७८-१९३१) अबुल कलाम आजाद की आवाज के साथ ही मौलाना मोहम्मद अली जिनके कि अंग्रेजी पत्र 'कामरेड' और उर्दू पत्र 'हमदर्द' ने हमारी राष्ट्रीय पत्रकारिता के मन्दिर में अपने लिए एक आला अर्जित कर लिया था की आवाज मिली हुई थी।[3] मौलाना मोहम्मद अली इस्लामी परम्परा और आक्सफोर्ड शिक्षा का एक अजीब समन्वय उपस्थित करते थे। बंगाल-विभाजन के रद्द हो जाने से उन्हें बड़ा धक्का पहुंचा और अंग्रेजों की ईमानदारी में उनका जो विश्वास था उसकी नींव हिल गई। वे कट्टर राष्ट्रवादी हो गए। टर्की के लिए उन्होंने प्रचण्ड आन्दोलन किया। १९१५ में युद्ध-प्रयत्न उन्हें अपने भाई मौलाना शौकतअली के साथ ही साथ निर्वासित कर दिया गया। खिलाफत आन्दोलन में उन्होंने प्रमुख महत्वपूर्ण कार्य किया। उनके प्रभाव से मुस्लिम राजनीति में भी राष्ट्रवादी भावना प्रबल हो गई।

मोहम्मद अली जिन्ना—(१८७६-१९४८) मोहम्मद अली जिन्ना भी मुस्लिम लीग में राष्ट्रवादी तत्वों की विजय के लिए भरसक चेष्टा कर रहे थे। यद्यपि बाद के घटना प्रवाह को देखते हुए यह बात अत्यन्त आश्चर्यजनक लगती है, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उस समय मोहम्मद अली जिन्ना ने जो कार्य किया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रगतिशील था। उस समय मुस्लिम लीग प्रतिगामी और पृथक्तावादी तत्वों की अधीनता में था। मोहम्मद अली जिन्ना ने उसे कांग्रेस के निकट लाने का प्रयास किया और इसमें उन्हें थोड़ी बहुत सफलता भी मिली। यह उनके गतिशील नेतृत्व का ही प्रभाव था कि मुस्लिम लीग ने भी अपने १९१३ के लखनऊ-अधिवेशन में औपनिवेशिक स्वराज्य को अपना ध्येय घोषित कर दिया। इस समय आगा खाँ मुस्लिम लीग के अध्यक्ष थे। वे लीग की राष्ट्रवादी विचारधारा को पसन्द नहीं करते

---

[1] जवाहरलाल नेहरू— दी डिस्कवरी ऑफ इण्डिया।

[2] मेहता और पटवर्धन— कम्युनल ट्रायंगल इन इण्डिया' पृ० ५२।

[3] मेहता और पटवर्धन—वही पृ० ५२।

थे। १९१५ में उन्होंने लीग की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया। मुस्लिम लीग की बागडोर मोहम्मद अली जिन्ना के हाथों में आ गई।

मौलाना शिबली मोहानी—मौलाना शिबली मोहानी उच्चकोटि के राष्ट्रवादी थे और सर सय्यद खाँ के सहयोगी रह चुके थे। बाद में सर सय्यद अहमद खाँ साम्प्रदायिकता की ओर झुक गए और उन्होंने मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक रखने की चेष्टा की। मौलाना शिबली मोहानी को सर सय्यद अहमद खाँ की यह नीति बिलकुल पसन्द नहीं आई। उन्होंने इसकी कठोर आलोचना की। वे कहा करते थे कि मुसलमानों को राष्ट्रीयता की मुख्य धारा से पृथक रखने के लिए नौकरशाही ने सर सय्यद अहमद खाँ के नाम का अनुचित उपयोग किया है। भारतीय मुसलमानों के बीच राजनीतिक जागृति का विकास करने के लिए उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा राष्ट्रीय सहायता में जो आहुति दी उसके कारण भारत की राष्ट्रीयता के इतिहास में उनका नाम सदैव अमर रहेगा।

लीग कांग्रेस सहयोग की ओर—उदार कांग्रेस नेताओं ने मुस्लिम लीग की इस नई प्रवृत्ति का हार्दिक स्वागत किया। १९१३ के अपने अधिवेशन में कांग्रेस ने लीग के स्वराज्य के नूतन ध्येय की मुक्तकंठ से सराहना की। इस्लामी विश्व के प्रति अपनी सद्भावना का परिचय देने के लिए कांग्रेस ने टर्की और फारस की स्थिति के सम्बन्ध में गहरी चिन्ता व्यक्त करते हुए एक प्रस्ताव पास किया। अब यह प्रतीत होने लगा था कि भविष्य में कांग्रेस और लीग मिल जुल कर काम करेंगी और सामान्य राजनीतिक लक्ष्य को हस्तगत करने के लिए डटकर संघर्ष करेंगी। १९१४ के मुस्लिम लीग के अधिवेशन में राष्ट्रवादी मुसलमानों का प्रभाव सलक्ष्य था। इस अधिवेशन में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सद्भाव कायम रखने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया। हिन्दू मुस्लिम एकता के बढ़ते हुए चिह्नों को देखकर आंग्ल भारतीय समाचार पत्र घबरा उठे।[१] परन्तु यह श्रेष्ठ काम रुका नहीं बराबर चलता रहा और राष्ट्रवादी नेता इस बात के लिए निरन्तर प्राणपण से चेष्टा करते रहे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता दिन दूनी रात चौगुनी बढ़े और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों मिलकर सामान्य राजनीतिक लक्ष्य की ओर शक्तिशाली पग उठाएं तथा एक ऐसे महान् भारत का निर्माण कर सकें जो कि अशोक कालीन भारत से कहीं अधिक महत्तर और अकबर कालीन भारत से कहीं अधिक वृहत्तर हो।

कांग्रेस लीग समझौता १९१६—१९१५ में राष्ट्रवादी मुसलमानों ने मिस्टर जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग के ऊपर पूरा नियन्त्रण स्थापित कर लिया। उस वर्ष

---

१ एनी बीसेण्ट ने एक आंग्ल भारतीय समाचार पत्र के निम्न लेख को उद्धृत किया है— "ये लोग दोनों जातियों को क्यों एक करना चाहते हैं यदि यह उन्हें एक करना शासन के विरुद्ध नहीं है?" — हाउ इण्डिया राइट फार फ्रीडम पृ ५३१।

मुस्लिम लीग के अधिवेशन में महात्मा गाधी, पण्डित मदनमोहन मालवीय और सरोजिनी नायडू जैसे कांग्रेस के सुप्रतिष्ठित नेता भी सम्मिलित हुए। मि० जिन्ना ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया जिसमें भारतवर्ष के लिए राजनीतिक सुधारों की एक योजना तयार करने के लिए एक ऐसी समिति की नियुक्त करने को कहा गया था जो कि कांग्रेस के साथ मिलकर काम करे। यह प्रस्ताव पास हो गया। फलत १९१६ में संयुक्त कांग्रेस लीग योजना तयार हुई—यह इतिहास में लखनऊ समझौते के नाम से प्रख्यात है। पूर्व वर्ष की तरह १९१६ में भी कांग्रेस और लीग के वार्षिक अधिवेशन एक ही स्थान पर (लखनऊ) और एक ही समय में हुए। दोनों ही संस्थाओं ने कांग्रेस लीग योजना को स्वीकार किया और उस मांगों के अधिकार पत्र के रूप में अधिकारी-वर्ग के सम्मुख उपस्थित किया। "लखनऊ-पैक्ट"[1] को या संवैधानिक सुधारों की कांग्रेस लीग योजना को भारतीय राष्ट्रवाद की एक बहुत बड़ी विजय कहा गया है।[2] परन्तु यह बात सर्वथा सत्य नहीं है। यह ठीक है कि लखनऊ-पैक्ट हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रतीक था। वह इस बात का द्योतक था कि मुस्लिम लीग और कांग्रेस साथ-साथ मिल कर स्व शासन के लक्ष्य की ओर एक ठोस कदम उठायेंगी। एक आवाज के साथ कांग्रेस और लीग ने यह मांग की कि साम्राज्य के पुनर्गठन में भारतवर्ष को पराधीनता की श्रेणी से ऊपर उठाया जाकर आत्म शासित उपनिवेशों की भांति साम्राज्य के कामों में बराबर

---

१ यह पैक्ट मुख्यत उन सुधारों पर आश्रित था जिनका कि मेमोरण्डम आफ नाइण्टीन (१९ का आवेदन पत्र) में सुझाव दिया गया था। इस आवेदन-पत्र को इम्पीरियल (केन्द्रीय) व्यवस्थापिका सभा के १९ भारतीय सदस्यों ने तयार किया था। लखनऊ-पैक्ट के मुख्य उपबन्ध ये थे— (१) प्रान्तों को जितनी अधिक सम्भव हो सके प्रशासन और वित्त के क्षेत्र में केन्द्रीय नियन्त्रण से स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। (२) केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के ४/५ सदस्य निर्वाचित और १/५ मनोनीत होने चाहिए। (३) केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के कम से कम आधे सदस्य अपनी अपनी व्यवस्थापिका सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के द्वारा निर्वाचित होने चाहिये। (४) जब तक कि कौंसिल द्वारा पास किये गये प्रस्तावों पर गवर्नर जनरल अथवा सपरिषद गवर्नर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग न करें, प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों को उनके अनुकूल ही आचरण करना चाहिए। (५) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को भारत सरकार के सैनिक, वैदेशिक और राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करने का, जिन में कि युद्ध की घोषणा अथवा सन्धि करना भी सम्मिलित है, कोई अधिकार न होना चाहिए। (६) भारत मंत्री के भारत सरकार के साथ वही सम्बन्ध होने चाहिएँ जो कि औपनिवेशिक मन्त्री के डोमीनियनों की सरकारों के साथ होते हैं। कूपलैंड— दी इण्डियन प्राब्लेम १८३३-१९३५' पृ० ४८।

२ उपर्युक्त पुस्तक पृ० ५०।

सारभूत मात्रा मे स्व शासन प्राप्त हो सके। इन योजनाओं में एक योजना १६' का आवेदन पत्र था। [1] इस योजना को साम्राज्यीय व्यवस्थापिका सभा के भारतीय सदस्यों ने तयार किया था।

नाइन्टीन मेमोरेन्डम—१६ के आवेदन पत्र के ऊपर जिन सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे उनम प० मदन मोहन मालवीय मो० मुहम्मद अली जिन्ना और तेज बहादुर सप्रू भी सम्मिलित थ। दूसरी बातों के साथ-ही साथ आवेदन पत्र म इस बात का भी प्रस्ताव किया गया था कि प्रांतीय और साम्राज्यीय सभी कार्यकारिणी परिषदों म आधी सख्या भारतीय सदस्या की होनी चाहिए भारतवष की सभी व्यवस्थापिका सभाओं मे निर्वाचित प्रतिनिधियों का सारभूत बहुमत होना चाहिए, जनता के मतदान के अधिकार को विस्तृत कर देना चाहिए अल्पसख्यक वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए भारत मन्त्री की परिषद को समाप्त कर देना चाहिए प्रान्तीय क्षेत्र मे स्वायत्तता की स्थापना होनी चाहिए और भारतवष को स्थानीय स्वशासन पूरी मात्रा म प्राप्त होना चाहिए। १६ के आवेदन पत्र में इस बात पर भी जोर दिया गया था कि भारतीय नवयुवकों को भी सना म वे ही सुविधाए मिलनी चाहिए जो कि यूरोपियनों को प्राप्त होती हैं।

कांग्रस लीग योजना—कांग्रस लीग योजना जिसका कि हम पहले ही जिक्र कर चुके हैं १६' के आवदन पत्र पर आधारित थी तथापि कांग्रस लीग योजना १६' के आवेदन पत्र से अधिक व्यापक थी और इसम साम्प्रदायिक निर्वाचनों के प्रश्न पर अधिक महत्व दिया गया था। परन्तु इन सुधार-योजनाओं म से किसी ने भी भारत वष मे उत्तरदायी शासन स्थापित करने की स्पष्ट माग नहीं की थी। उस पहली योजना को जिसने कि भारतवष मे उत्तरदायी शासन की शन शन स्थापना को नूतन सुधारों का आधार बनाया इगलिश राउण्ड टेबिल ग्रुप न तयार किया था। इगलिश राउण्ड टेबिल ग्रुप उन अग्रज कार्यकर्ताओं का एक समुदाय था जो कि भारतीय समस्याओं म प्रगाढ रुचि रखते थे। इस ग्रुप के नेता मि कर्टिस ने समाचार पत्रों में कई लेख लिखे और उनमें उत्तरदायी शासन व प्रतिनिधिक शासन के भेद को स्पष्ट किया। उनका यह मत था कि भारतवष म प्रतिनिधिक शासन की तो तुरन्त स्थापना की जा सकती है परन्तु उत्तरदायी शासन की स्थापना शन शनै ही हो सकता है। उन्होने कहा कि भारतवष की अशिक्षित जनता अभ मतन और

---

१ टिप्पणी—१६१५ मे एक सुधार योजना मद्रास के गवनर लार्ड विलिंगडन के आदेशानुसार गोखले ने तयार की थी। यह प्रलेख जो कि गोखले के राजनीतिक टेस्टामेंट के नाम से प्रख्यात हुआ अगस्त १६१७ म प्रकाशित किया गया। इसका मुख्य ध्येय यह था कि प्रांतीय सरकारों को स्वायत्तता प्राप्त हो और व केन्द्रीय नियन्त्रण स स्वतन्त्र हों। इस योजना म कायकारिणी के व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व के प्रश्न को नहीं लिया गया था।

बिरादरी आदि की प्राचीरों से आपस में बटी हुई है वह उत्तरदायी शासन के योग्य नहीं है, उसे इसके लिए शिक्षित करना पडेगा। ब्रिटिश अधिकारियों के ऊपर इस योजना की अच्छी प्रतिक्रिया हुई। काग्रेस लीग योजना में तो भारतीयों को तत्काल ही बहुत से अधिकार देने की माग की गई जो कि ब्रिटिश अधिकारियों के लिए अरुचिकर थी परन्तु इस योजना में ऐसी कोई माग नहीं थी।

ड्यूक आवेदन पत्र—उत्तरदायी शासन का विचार ही ड्यूक आवेदन पत्र का सार था जिसे १९१६ में इण्डिया कौंसिल के एक सदस्य व० मि० कर्टिस के एक सहयोगी सर विलियम ड्यूक ने तयार किया था। ड्यूक आवेदन पत्र में कहा गया था कि अब भारतीयों को उत्तरदायी शासन की कला में सिद्धहस्त करने का समय आ गया है। यह इस प्रकार किया जा सकता है कि कुछ सुरक्षित विभागों को (शिक्षा स्थानीय स्व शासन स्वच्छता आदि) प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर दिया जाए तथा इस पर जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों का नियन्त्रण स्थापित किया जाए। तथापि इस आवेदन पत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया था कि पुलिस जसे अन्य महत्वपूर्ण विभागों को सुरक्षा व निपुणता की दृष्टि से जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथों में न दिया जाए। इस प्रकार ड्यूक आवेदन पत्र ने द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना का सुझाव दिया। द्वैध शासन प्रणाली का अभिप्राय यह था कि प्रान्तीय शासन को दो भागों में बाँट दिया जाए अर्थात् सुरक्षित विभाग तो कार्यकारिणी परिषदों के हाथों में रहे और वे केवल गवर्नर के प्रति ही उत्तरदायी हों। इसके विपरीत हस्तान्तरित विभाग जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथों में हों और वे व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हों। ड्यूक आवेदन पत्र और राउण्ड टेबिल ग्रुप की सिफारिशें ही माटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार योजना की मूल मन्त्र बनी और १९१९ का भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट भी मुख्यत इन्हीं के ऊपर आधारित था।

भारत मन्त्री के पद पर माटेग्यू की नियुक्ति—प्रथम महायुद्ध के जमाने में मसोपोटामिया में युद्ध का प्रबन्ध अच्छा नहीं रहा था। इस सम्बन्ध में इगलण्ड की लोक-सभा में एक बहुत जोरदार बहस हुई। बहस में मि० माटेग्यू ने मि० आस्टिन चम्बरलन को जो कि भारत मन्त्री थे, बुरी तरह आडे हाथों इसलिए लिया कि मसोपोटामिया में सामग्री तथा सिपाही न पहुंचने के फलस्वरूप ही यह गड़बड़ी हुई थी। इसी के परिणामस्वरूप मि० चम्बरलन ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया और उनके स्थान पर मि० माटेग्यू भारत मन्त्री नियुक्त हुए। मि० माटेग्यू १९१२ में भारत आ चुके थे और यहाँ उनकी बडी प्रतिष्ठा थी। वह भारत का सच्चा शुभाकांक्षी समझा जाता था। भारतवर्ष के प्रति मि० माटेग्यू के हृदय में अगाध सहानुभूति थी। मि० माटेग्यू का भारत मन्त्री बना दिया जाना भारतवर्ष ने अपनी एक बहुत बडी विजय समझी। ' मि० माटेग्यू का कथन था कि हमें भारतवर्ष पर वहाँ की जनता की सहमति से शासन करना चाहिए। स्वभावत एसे राजनीतिज्ञ की भारत मन्त्री के पद पर नियुक्ति होने से भारतीयों के हृदयों में ऊंची ऊंची आशाएं जाग्रत हो गई।

२० अगस्त, १९१७ की घोषणा–भारत मन्त्री के पद का कार्य भार सम्हालने के कुछ ही समय बाद २० अगस्त १९१७ को मन्त्रि मण्डल की ओर से मि० मॉन्टेग्यू ने निम्नलिखित घोषणा की— सम्राट सरकार की यह नीति है और उससे भारत सरकार पूर्णतः सहमत है कि भारतीय शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का सम्पर्क उत्तरोत्तर बढ़े और उत्तरदायी शासन प्रणाली का धीरे धीरे विकास हो जिससे कि अधिकाधिक प्रगति करते हुए इस शासन प्रणाली भारत में स्थापित हो और वह ब्रिटिश साम्राज्य के एक अंग के रूप में रहे। उन्होंने यह तय कर लिया है कि इस दिशा में जितना शीघ्र हो ठोस रूप से कुछ कदम आगे बढ़ाया जाय। घोषणा में यह भी कहा गया था इस नीति में प्रगति क्रमशः ही अर्थात् सीढ़ी दर-सीढ़ी होगा। ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार ही जिनके ऊपर कि भारतीयों के हित और उन्नति का भार है इस बात की निर्णायक होगी कि कब और कितना कदम आगे बढ़ाना चाहिए।

मि० मांटग्यू की भारत यात्रा—२० अगस्त १९१७ की घोषणा का भारतवर्ष में सर्वत्र स्वागत किया गया। उसे भारतीय मगनाकार्टा के नाम से पुकारा गया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा "आंग्ल भारतीय इतिहास के पृष्ठ टूटी हुई प्रतिज्ञाओं के खण्डों से भरे पड़े हैं परन्तु अब शायद एक नूतन अध्याय प्रारम्भ होने को था।"[1] नवम्बर १९१७ में मि० मांटेग्यू देश के प्रमुख राजनीतिज्ञों के साथ विचार विनिमय करने के लिए भारत पधारे। उन्हें अपने काम की महत्ता का पता था और उनके हृदय में भारतीयों के प्रति सच्ची सहानुभूति थी। "मेरी भारत यात्रा का तात्पर्य यह है कि हम कुछ करने जा रहे हैं कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करने जा रहे हैं। मैं इंगलैंड को खाली हाथ या कोई साधारण वस्तु लेकर नहीं लौट सकता। जिस वस्तु को लेकर मैं लौटूंगा उससे नए युग का निर्माण होना चाहिए अन्यथा मेरे प्रयत्न निष्फल होंगे। उस वस्तु को भारतवर्ष के भावी इतिहास की कुंजी के समान होना चाहिए।"[2] मि० मांटेग्यू और उनके सहयोगियों ने ६ महीने तक सारे देश का दौरा किया परन्तु जब अन्तिम रूप से योजना तैयार होकर सामने आई तब मि० मांटेग्यू में वह उत्साह नहीं रहा था जिसका प्रदर्शन उन्होंने भारतवर्ष में आने के समय किया था। तथापि उनकी भारत यात्रा एक और दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही। उनके भारत आने से पूर्व श्रीमती एनीबीसेण्ट की नजरबन्दी के ऊपर सारे देश में काफी असन्तोष छाया हुआ था और कांग्रेस सत्याग्रह प्रारम्भ करने के प्रस्ताव पर सोच विचार कर रही थी। मांटग्यू ने भारतवर्ष में पदार्पण करते ही देश की राजनीतिक हवा के रुख को पलट दिया। उनकी पारदर्शी सहानुभूति ने भारतवर्ष के बहुत से महत्त्वपूर्ण नेताओं का समर्थन प्राप्त किया। एनीबीसेण्ट जो कि पहले बहुत उग्र थीं,

१ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी— ए नेशन इन दी मेकिंग पृ० ३०३।
२ बी० एन० सिंह द्वारा उद्धृत—वही पृ० ३०८।

अपनी सारी तेजी भूल बठीं और एकदम नरम हो गई। सत्याग्रह के विचार को ठुकरा दिया गया। मि० माटग्यू इस बात का ठीक ही दावा कर सकते थे कि उन्होंने महायुद्ध के एक बहुत ही सकटकालीन अवसर पर भारतवर्ष को ६ महीने तक बिलकुल शान्त रखा।

माटेग्यू-चेम्सफोड प्रतिवेदन—'भारतीय वधानिक सुधारों के ऊपर सयुक्त माटेग्यू चेम्सफोड प्रतिवेदन के प्रकाशित होते ही भारतीय राजनीतिज्ञों को बहुत गहरा धक्का पहुचा। यह एक निराशाजनक प्रलेख था। इसमें इस बात पर बल दिया गया था कि भारतीय जनता का विशाल बहुमत अभी बहुत पिछड़ा हुआ है भारतवर्ष का विभिन्न जातियों में काफी मतभेद है हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था लोकतन्त्र के सवथा विरुद्ध है और भारत इस योग्य नहीं है कि केन्द्रीय सरकार में कोई महत्वपूर्ण अन्तर किया जाए। साम्प्रदायिक निर्वाचनों का इस प्रतिवेदन में घोर विरोध किया गया था।[1] परन्तु फिर भी उसने साम्प्रदायिक निर्वाचनों को न केवल मुसलमानों तक ही सीमित रखा, अपितु सिक्खों के ऊपर भी उन्हें लागू करने की सिफारिश की। उसने प्रान्तों में उत्तरदायी शासन के प्रयोग को करने की सिफारिश की गई परन्तु जनता के प्रतिनिधियों को पूर्ण उत्तरदायित्व देने से इनकार कर दिया। उसने द्वध शासन प्रणाली की पुनः स्थापना का प्रस्ताव किया। जहा तक केन्द्र का सम्बन्ध है प्रतिवेदन ने कार्यकारिणी को पूर्ववत् ही अनुत्तरदायी रखने की आवश्यकता पर बल दिया, परन्तु उसने इस बात का सिफारिश की कि व्यवस्थापक मण्डल के दो सदन होने चाहिए और दोनों ही सदनों में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत होना चाहिए। प्रतिगामियों की शक्तियों को और दृढ़ करने के उद्देश्य से एक नरेन्द्र मण्डल की स्थापना का प्रस्ताव किया गया। यद्यपि काग्रेस लीग योजना की साम्प्रदायिक सिफारिशों को स्वीकार कर लिया गया और उन्हें बना भी दिया गया था परन्तु सारी योजना को बहुत अधिक क्रान्तिकारी बताया गया।

माटग्यू चेम्सफोड प्रतिवेदन के प्रकाशन ने भारतीय जनमत को गहरा धक्का पहुचाया। युद्धकाल में भारतीय नेताओं ने जिन बडी बडी आशाओं का पाल रखा था वे सब ढह गई। थोडे से उदारवादियों और आंग्ल भारतीयों को छोड कर शेष सभी

१ धर्मों तथा वर्गों द्वारा विभाजन का अभिप्राय ऐसे राजनीतिक गुटों की सृष्टि करना है जो कि एक दूसरे के विरुद्ध हों। यह मनुष्यों को नागरिकों के रूप में नहीं पक्षपातियों के रूप में विचार करना सिखाता है। बहुधा ब्रिटिश सरकार पर दोषारोप किया जाता है कि उसने आदमियों पर शासन करने के लिए उनमें फूट डाल दी है। परन्तु यदि वह अनावश्यक रूप से उनमें उस समय फूट डालती है, जब कि उसका इरादा उन्हें स्व शासन के पथ का पथिक बनना होता है, उसे दम्भी तथा अदूरदर्शी के दोषारोप का सामना करना कठिन मालूम पडेगा। मॉटफोर्ड रिपोर्ट।

मे उसकी एक स्वर से निन्दा की। मुस्लिम लीग ने उसका विरोध किया और काँग्रेस लीग योजना का पुन अनुमोदन किया। एनाग्लो इण्डियन ने अपने पत्र न्यू इण्डिया मे लिखा कि यह योजना देना इगलण्ड के लिए अशोभन और भारतवर्ष के लिए इसका स्वीकार करना अपमानजनक था।

साराश

मार्ले मिण्टो सुधारो के तुरन्त बाद ही जो युग प्रारम्भ हुआ वह भारतीय राजनीति के उतार का समय था। उग्रवादियो का राजनीतिक क्षेत्र से लगभग बहिष्कृत सा ही कर दिया गया था फलत यह शान्ति का समय था। नए गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग ने काग्रेस के प्रति जो कि मार्ले मिण्टो सुधारो को क्रियान्वित करने की भरसक चेष्टा कर रही थी मन जान की नीति बरती। १९११ मे सम्राट जार्ज पचम भारत आए। उनका खूब जोर शोर से स्वागत किया गया। उन्होने बग भग को रद्द किया इससे भारत मे हर्ष की और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति प्रशसा की एक लहर दौड गई। परन्तु काग्रेस सरकार की निरन्तर आलोचना करती रही और इस बात पर बल देती रही कि भारत को स्व शासन प्राप्त होना चाहिए। काग्रेस ने इस बात की माग की कि प्रतिनिधिक शासन की दिशा मे कुछ ठोस कदम उठाने चाहिए और प्रान्तीय परिषदो को यह अधिकार मिलना चाहिए कि वे कार्यकारिणी शासन के कृत्यो पर नियन्त्रण स्थापित कर सके।

१९१४ मे तिलक जेल से छूट कर आ गए और एनी बीसेण्ट ने भारतीय राजनीति में पदार्पण किया। इसके बाद भारतीय राजनीतिक जीवन पुन अगडाई लेकर उठ बैठा। इन दोनो नेताओ ने होमरूल आन्दोलन को खडा किया। यह आन्दोलन दावानल की तरह चारो ओर फैल गया। सरकार ने इस आन्दोलन को कुचल डालने के लिए दमन के हथकण्डो का प्रयोग किया और २० अगस्त १९१७ की घोषणा के पश्चात् यह आन्दोलन धीरे धीरे समाप्त हो गया।

मार्ले मिण्टो सुधारों के युग मे हिन्दू और मुसलमानो के बीच भी सहयोग और सौहार्द की आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। अबुल कलाम आजाद मोहम्मद अली जिन्ना और अली बन्धुओ जैसे नए नेताओ ने मुस्लिम लीग मे राष्ट्रवादी भावनाओ का सन्निवेश किया और १९१६ के काग्रेस लीग समझौते का पथप्रशस्त किया।

प्रथम महायुद्ध के बीच भारत ने जर्मनी के खिलाफ इगलैण्ड की तन मन धन से भरसक सहायता की। भारतवर्ष का आर्थिक सहयोग प्राप्त करने की वाछा से ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने इस प्रकार की घोषणाए कर दी कि अब भारत की समस्या को एक नए दृष्टिकोण से देखा जाएगा अब इगलैण्ड और भारत के सम्बन्धो मे ५०

नूतन अध्याय की सृष्टि होगी। भारतीय राजनीतिक नेताओं ने नए शासन सम्बन्धी सुधारों के लिए कुछ रचनात्मक सुझाव दिए। २० अगस्त १९१७ को मि० माण्टेग्यू ने अपनी ऐतिहासिक घोषणा की और इस बात का वचन दिया कि ब्रिटिश नीति का अन्तिम ध्येय भारत में क्रमशः उत्तरदायी शासन की स्थापना करना है। घोषणा के कुछ ही समय पश्चात् मि० माण्टेग्यू ने भारत की यात्रा की। इस यात्रा के लिए उन्होंने कहा कि वे भारत में एक नए युग का निर्माण करने वाली कुछ चीज करेंगे। परन्तु भारत सरकार के असहानुभूतिमय दृष्टिकोण के कारण मि० मांटेग्यू को अपनी आशाओं में सफलता नहीं मिली। जब सुधारों की अन्तिम योजना तैयार हुई मि० मांटेग्यू का सारा उत्साह शिथिल पड़ गया। माण्टेग्यू प्रतिवेदन ने भारत को बहुत हानि पहुंचाई। उसने साम्प्रदायिक निर्वाचनों को न केवल मुसलमानों तक ही सीमित रखा वरन् उन्हें सिक्खों के ऊपर भी लागू कर दिया।

अध्याय ८

भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट १६१६

४३ माटेग्यू चेम्सफोर्ड योजना के मूलमन्त्र

प्रस्तावना—भारतीय संवधानिक सुधारों के ऊपर माटेग्यू चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन ८ जुलाई १६१७ को प्रकाशित हुआ था। इस प्रतिवेदन की सिफारिशें १६१६ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट में समस्त कर ली गई। इस एक्ट को ब्रिटिश संसद ने १८ दिसम्बर १९१९ को पारित किया और पांच दिन पश्चात् सम्राट ने उस पर अपनी स्वीकृति दे दी। एक्ट की प्रस्तावना में १९१७ की घोषणा के साराश को दुहराया गया था।

मूलभूत सिद्धान्त—मोटफोर्ड प्रतिवेदन ने जो कि नूतन संविधान एक्ट का आधार बना घोषणा में कही हुई नीति को कार्यान्वित करने के लिये चार मूलभूत सिद्धान्तों को निर्धारित किया। वे सिद्धान्त निम्नलिखित थे—(१) जहां तक हो सके स्थानिक संस्थाओं में जनता का पूर्ण अधिकार हो। उनका नियन्त्रण उसी के द्वारा हो और वाह्य नियन्त्रण से उनको अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो।' (२) प्रान्तीय सरकारों को सत्ता का विदान और प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व का सूत्रपात (३) भारत सरकार की ब्रिटिश संसद के प्रति अनवरत उत्तरदायिता पर तु केन्द्रीय विधान मण्डलों का जिन्हें कि शासन पर प्रभाव डालने का अधिक अवसर दिया जाए विस्तार (४) गृह सरकार के नियन्त्रण का शिथिलीकरण। भारतवर्ष के संवधानिक ढांचे में नूतन एक्ट द्वारा जो परिवर्तन किए गए उनके आधार ये ही मूलभूत सिद्धान्त थे।

मुख्य विशेषताएं (१) गृह सरकार के नियन्त्रण का शिथिलीकरण—सबसे पहली बात तो यह है कि सुधार एक्ट का उद्देश्य भारतीय मामलों में गृह सरकार के नियन्त्रण को शिथिल करना था परन्तु उसने भारत मन्त्री के अधिकारों में किसी प्रकार का औपचारिक परिवर्तन नहीं किया। इस सम्बन्ध में केवल यह पवित्र आशा व्यक्त की गई थी कि उचित अभिसमयों की वृद्धि के साथ ही साथ यह शिथिलीकरण अपने आप सम्पन्न हो जाएगा।

(२) केन्द्रीय कार्यपालिका को अनुत्तरदायी रखा गया परन्तु केन्द्रीय व्यवस्थापिका को उसे प्रभावित करने के लिए अधिक अधिकार दे दिए गए–दूसरी बात यह है कि केन्द्रीय शासन में उत्तरदायिता के तत्व की पुनः स्थापना नहीं की गई। सपरिषद् गवर्नर जनरल को पूर्ववत केन्द्रीय व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त रखा गया। नूतन केन्द्रीय व्यवस्थापिका में दोनों सदनों में प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित बहुमत किया गया। इसके अलावा केन्द्रीय व्यवस्थापिका के अधिकारों में वृद्धि कर दी गई जिससे कि

वह कार्यपालिका को यदि नियन्त्रित नहीं तो प्रभावित अवश्य कर सके इस प्रकार यह एक्ट दो विरोधी वस्तुओं का संयोग था। केन्द्रीय क्षेत्र में इस एक्ट ने स्वेच्छाचारी कार्यपालिका और किंचित लोकतन्त्रात्मक व्यवस्थापिका के बीच समन्वय से जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती थीं उन्हें दूर करने के उद्देश्य से गवर्नर जनरल को कुछ विशेष अधिकार दिए गए। यदि वह भारतवर्ष या उसके किसी भाग की सुरक्षा शांति अथवा उसके हितों के लिए कुछ कानूनों की आवश्यकता समझता तो वह उन्हें व्यवस्थापिका की सहमति के बिना भी अपने इन विशेषाधिकारों के जोर से अधिनियमित कर सकता था।

(३) विकेन्द्रीकरण—तीसरी बात यह है कि इस एक्ट ने केन्द्रीयकरण की उस नीति को, जो लार्ड कर्जन के शासन काल में अपनी उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच गई थी समाप्त कर दिया। प्रशासन और राजस्व के कतिपय विषयों का विकेन्द्रीकरण कर लिया गया अर्थात् उन्हें केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से हटाकर प्रान्तीय सरकारों के नियन्त्रण में दे दिया गया। विकेन्द्रीकरण और प्रान्तीय स्वायत्तता की नीति को प्रान्तों में उत्तरदायी की स्थापना करके भी अभिपुष्टित किया गया।

(४) प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व—द्वैध शासन—एक्ट ने प्रान्तों में एकदम से ही उत्तरदायी शासन की स्थापना नहीं कर दी। उसने प्रान्तीय शासन को दो भागों में बाँटा। एक भाग में संरक्षित विषय सम्मिलित थे। इन विषयों को अटल अचल कार्यकारिणी परिषदों के अधीन रखा गया जो केवल गवर्नर के ही प्रति उत्तरदायी थे और व्यवस्थापिका द्वारा निष्कासित नहीं किए जा सकते थे। दूसरे भाग में हस्तान्तरित विषय सम्मिलित थे। इन विषयों को मन्त्रियों की अधीनता में रखा गया। ये मन्त्री व्यवस्थापिका के सदस्यों में से ही चुने जाते थे और अपने कार्यों व नीति के लिए पूर्णतः सदन के प्रति उत्तरदायी थे। इस एक्ट के अधीन विधान सभाओं को लोकतन्त्रात्मक बनाया गया। उनमें पर्याप्त विस्तार किया गया निर्वाचित सदस्यों का सारभूत बहुमत रखा गया और उनके अधिकारों में वृद्धि कर दी गई।

(५) निर्वाचन और मताधिकार—पाँचवें इस एक्ट ने प्रत्यक्ष निर्वाचनों का सूत्रपात किया और मताधिकार को बढ़ा दिया। निर्वाचन नियमों के अनुसार भारतवर्ष की वयस्क जनसंख्या के लगभग 10% भाग को मतदान का अधिकार दिया गया। यह स्मरणीय है कि इस एक्ट ने न केवल मार्ले मिण्टो सुधारों के अन्तर्गत एक मात्र मुसलमानों के लिए पुनः स्थापित पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन को ही कायम रखा अपितु इस पद्धति को पंजाब में सिक्खों के लिए तीन प्रान्तों को छोड़ कर बाकी सब प्रान्तों में यूरोपीयों के लिए दो प्रान्तों में आंग्ल भारतीयों के लिए और एक प्रान्त में भारतीयों के लिए और एक प्रान्त में भारतीय ईसाईयों के लिए भी लागू कर दिया। इस प्रकार मॉटफोर्ड प्रतिवेदन के रचयिताओं द्वारा निन्दित दोष को उस संविधान में और भी अधिक बढ़ा चढ़ा कर सम्मिलित किया गया जिसका कि निर्माण उनकी सिफारिशों के अनुसार ही किया गया था।

(६) प्रयोगकालीन व सक्रान्तिकालीन उपाय—इसी बात यह है कि १९१९ का एक्ट स्पष्टतः एक प्रयोगकालीन व सक्रान्तिकालीन उपाय था। २० अगस्त, १९१६ की घोषणा में जो वायदे किए गये थे उनको कार्यान्वित करने का यह प्रथम प्रयास था। उस समय भारत में जो नौकरशाही प्रशासन विद्यमान था इस एक्ट ने उसमें थोड़ा सा सुधार करने की चेष्टा की यद्यपि वह सुधार भ्रान्ति ही था। इस नामकरण का था। लार्ड मेस्टन के शब्दों में स्वच्छन्दता उस समय तक हाथ में हाथ मिला कर साथ साथ चलने के लिए बाध्य थे जब तक कि प्रजातन्त्र स्वयं चलना न सीख ले और अकेला चलने के विश्वास योग्य न हो जाय। मान्टफोर्ड सुधारों ने १० वर्ष बाद नई योजना के आधीन की गई उन्नति का अध्ययन करने के लिए और यह निश्चय करने के लिए कि पूर्ण उत्तरदायी शासन के लक्ष्य की ओर एक कदम और आगे बढ़ाया जा सकता है या नहीं एक रायल कमीशन की नियुक्ति का विधान करके स्वतः ही अपनी प्रयोगकालीन व सक्रान्तिकालीन प्रकृति का परिचय दिया था।

गृह-सरकार

४४ गृह-सरकार का आशय

सरकार के दो भाग—१९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट का विस्तृत विश्लेषण करने से पूर्व उस एक्ट के आधीन स्थापित शासन की एक प्रमुख विशेषता की ओर इंगित कर देना बहुत आवश्यक है। यह प्रमुख विशेषता भारतीय थी शासन का दो भागों में विभाजन जिनमें से कि एक भाग तो इंगलैण्ड में कार्य करता था और दूसरा भारत में। यह द्वैधता भारतवर्ष में ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के अनोखेपन का अनिवार्य परिणाम था। भारत के पूर्ववर्ती विजेता (उदाहरणार्थ मुसलमान) यहीं स्थायी रूप से बस गए उन्होंने इसी देश को अपनी मातृभूमि और पितृभूमि बनाया। वे किसी विदेशी सत्ता के दबाव में नहीं रहे। फलतः यहां उन्होंने जिस शासन प्रबन्ध की नींव डाली, *वह किसी भी विदेशी सत्ता के आदेश या नियन्त्रण की आधीनता में नहीं था।* अंग्रेज विजेताओं ने भारतवर्ष को अपना स्थायी घर बनाना स्वीकार नहीं किया। यद्यपि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने यहां अपनी जड़ जमा ली थी परन्तु फिर भी जो अंग्रेज उसकी सेवार्थ आते थे वे केवल कुछ ही समय यहां ठहरते थे व भारतवर्ष को अपना देश कदापि नहीं मानते थे उनकी आँखें सदैव इंगलैण्ड की ओर ही लगी रहती थी और व यहां जैसे ही अपना कार्य पूरा कर लेते इंगलैण्ड की राह पकड़ते थे।

(क) इंगलैण्ड में क्रियाशील गृह सरकार—साम्राज्य की सम्पूर्ण सत्ता का स्नायु केन्द्र इंगलैण्ड ही बना रहता था। *भारतीय प्रशासन की सम्पूर्ण प्रणाली वहीं से नियन्त्रित* होती थी। इंगलैण्ड में विद्यमान्ति संस्थाओं का सामूहिक नाम गृह सरकार था। इसके पांच मुख्य अंग थे—सम्राट मन्त्रिमण्डल संसद भारत मन्त्री और उनकी कौंसिल। परन्तु चूंकि गृह सरकार प्रशासन के वास्तविक दृश्य से बहुत दूर थी अतः उसका नियन्त्रण और निरीक्षण अत्यन्त साधारण प्रकृति का था।

(ख) भारत में क्रियाशील केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें—भारतवर्ष में दिन प्रतिदिन के प्रशासन का कार्य स्वाभाविक रूप से केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के पदाधिकारियों के हाथ में रखा गया था। ब्रिटिश सरकार का यह भाग भारतवर्ष में ही गृह सरकार के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करता था।

४५ भारत मन्त्री

पद की प्रकृति—भारत मन्त्री के पद की सृष्टि १८५८ में हुई थी जबकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को समाप्त कर दिया गया था और भारत का शासन प्रबन्ध सीधा ब्रिटिश क्राउन के हाथों में चला गया था। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स और बोर्ड आफ कण्ट्रोल पहले शासन सम्बन्धी जिन जिन अधिकारों का उपभोग करते थे भारत मन्त्री ने उनको उत्तराधिकार में प्राप्त किया। वह राज्य का एक प्रमुख मन्त्री व ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह लोक-सदन में बहुमत वाले दल का सदस्य होता था। वह अपने पद को उस समय सम्भालता था जबकि दल अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता था। भारत मन्त्री अपने पद को दो ही परिस्थितियों में त्यागता था—या तो उस समय जबकि मन्त्रिमण्डल लोक सदन का विश्वास खो देता था उस समय जबकि पाँच वर्ष अथवा उससे पूर्व अपने यथाक्रम जीवन के अन्त पर वह (मन्त्रिमण्डल) भंग हो जाता। भारत मन्त्री का पद संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुकूल था। भारत-मन्त्री पूर्णतः ब्रिटिश संसद का एक अभिकर्त्ता या सेवक था वह अपनी नीतियों और कार्यों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश-संसद भारत मन्त्री के द्वारा ही भारत प्रशासन का नियन्त्रण व निरीक्षण करती थी।

१९१९ के एक्ट ने एक असंगति को दूर कर दिया—ब्रिटिश संसद के एक अभिकर्त्ता अथवा सेवक के रूप में भारत मन्त्री के पद का ऊपर जो वर्णन किया गया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत मन्त्री का वेतन अपने स्वामी अर्थात् ब्रिटिश संसद से ही मिलना चाहिए परन्तु १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट के पारित होने के पूर्व ऐसा नहीं था। उस समय स्वयं भारत मन्त्री एवं उसके विभाग के व्यय का भार ब्रिटिश-संसद सहन नहीं करती थी अपितु वह भारत को ही सहने पड़ता था। यह बात नीति विरुद्ध भी थी और न्याय विरुद्ध भी। इस पद्धति के समर्थन में यह लचर दलील उपस्थित की जाती थी कि चूँकि यह व्यय भारतीय प्रशासन के निरीक्षण में लगाया जाता है अतः इसका भार भारत के ही कंधों पर पड़ना चाहिये। यह विशुद्ध उपनिवेशवाद था और उक्त तर्क में इस तथ्य की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई थी कि भारत का और भारतीय जनता का उस मन्त्री पर जिसके लिए उसे प्रतिवर्ष लाखों रुपए की राशि व्यय करनी पड़ती थी तनिक भी नियन्त्रण नहीं था। यह बात नियम विरुद्ध थी क्योंकि अधिराज्यों (Dominions) और उपनिवेशों के लिए जो मन्त्री नियुक्त होते थे उन सबको ब्रिटिश राजकोष से वेतन मिलता था। इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था का भारतीय लोकमत ने सख्त विरोध किया था। १९१९ के एक्ट ने

इस असंगति को दूर कर दिया और निर्धारित किया कि भारत मन्त्री का वेतन उसके उपमन्त्रियों का वेतन और उसके विभाग के अन्य व्यय भारतवर्ष की आय में से चुकाने के बजाय संसद द्वारा प्रदत्त राशि में से चुकाए जा सकते हैं और भारत मन्त्री का वेतन इसी प्रकार चुकाया जायगा।¹ इस सम्बन्ध में जायगा और सकते हैं शब्दों का प्रयोग अर्थपूर्ण था। जो व्यवहार में हुआ वह यह है कि जैसे ही एक्ट क्रियारूप में परिणत हुआ भारत मन्त्री का वेतन तो ब्रिटिश आय में से चुकाया जाने लगा पर न्तु विभाग के खर्चों के लिए ब्रिटिश राजकोष ने १५०,००० पौंड वार्षिक का ही अनुदान निश्चित किया। परन्तु इतनी अल्पराशि से भारत मन्त्री के विभाग का सारा खर्चा नहीं चल सकता था फलतः बाकी सारा व्यय भारत के मत्थे पड़ता था।

✓ परिवर्तन का वैधानिक महत्व—वैधानिक दृष्टि से इस परिवर्तन का बहुत अधिक महत्व था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भारत मन्त्री के ऊपर ब्रिटिश संसद का सीधा नियन्त्रण स्थापित हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम से कम सद्धान्तिक दृष्टि से ब्रिटिश संसद को भारत के मामलों में हस्तक्षेप करने का और भारत मन्त्री व उसके विभाग की नीतियों की देखरेख करने तथा उन्हें निर्देश देने का सदैव ही अधिकार प्राप्त था। परन्तु अब नियन्त्रण उस समय जबकि संसद को भारत मन्त्री के वेतन और उसके विभाग के लिए कुछ व्यय प्रदान करने की नौबत आई प्रत्यक्ष और नियमित हो गया। वार्षिक बजट में इस प्रयोजन के लिए जो राशि स्वीकृत की जाती थी उसके मतदान के अवसर पर भारतीय मामलों ने स्वभावतः संसद के ध्यान को अपनी ओर अधिकाधिक आकृष्ट करना प्रारम्भ कर दिया।

भारत मन्त्री के अधिकार—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भारत मन्त्री ब्रिटिश संसद का अभिकर्ता था। उसका कर्तव्य यह था कि वह भारत के शासन और राजस्व से सम्बन्धित समस्त क्रिया-कलापों का निरीक्षण व नियन्त्रण करे। १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने उल्लिखित रूप से इसको उपबन्धित किया। इस एक्ट ने भारतवर्ष के गवर्नर जनरल के लिए और उसके माध्यम से प्रान्तीय गवर्नरों के लिए यह आवश्यक कर दिया कि वे सभी महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में भारत मन्त्री को निरन्तर सूचना देते रहें व उसके आदेशों का उचित रूप से पालन करें। भारतवर्ष में सम्राट जितनी भी नियुक्तियाँ करते थे वे सब भारत मन्त्री के परामर्श के अनुसार करते थे। भारत मन्त्री को यह अधिकार प्राप्त था कि वह जिसको चाहे अपने पद से च्युत कर दे। उसकी स्वीकृति के बिना विनिश्चित महत्तम से ऊंचे वेतन वाले किसी भी पद का न तो निर्माण हो और न उन्मूलन ही किया जा सकता था। अखिल भारतीय सेवाओं की भरती और उनके नियन्त्रण का दायित्व भी उसी के कन्धों पर था। व्यवस्थापिका क्षेत्र में भी अन्तिम सत्ता का वही उपभोग करता था। भारतीय व्यवस्थापिका अथवा प्रान्तीय विधान सभाओं में कोई भी महत्वपूर्ण कानून उसकी अनुमति के बिना पुनर्स्थापित नहीं किया जा सकता था। यही बात वित्तीय विषयों के ऊपर भी लागू होती थी। व्यय या कर के कोई भी नए मुद्दे भारतीय बजट या

प्रान्तीय बजटों में उसकी सहमति के बिना पुनर्स्थापित नहीं किए जा सकते थे। वस्तुत भारत मन्त्री का वित्तीय नियन्त्रण इतना अधिक व्यापक था कि बहुधा यह कहा जाता था कि उसकी स्वीकृति के बिना भारतवर्ष में एक आना तक भी खर्च नहीं किया जा सकता था।

१९१९ के एक्ट के अधीन भारत मन्त्री की सत्ता का शिथिलीकरण—कानूनी दृष्टि से १९१९ के एक्ट ने भारत मन्त्री को भारत के शासन व राजस्व विषयक मामलों में पूरा स्वामी बना दिया था। तथापि प्रान्तों में उत्तरदायी शासन के आंशिक सूत्रपात व भारतीय (केन्द्रीय) व्यवस्थापिका के अधिकारों के विस्तार को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक समझा गया कि भारत मन्त्री की सत्ता को कुछ शिथिल कर दिया जाए। हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया गया कि जहाँ तक सम्भव हो भारत मन्त्री किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। सुरक्षित और केन्द्रीय विषयों के सम्बन्ध में भी यह स्पष्ट कर दिया गया कि यदि भारत सरकार और भारतीय व्यवस्थापिका सभाएं किसी विशुद्ध भारतीय विषय में एक मत हों तो भारत मन्त्री उनको अपनी इच्छानुसार काम करने दे और कुछ आवश्यक अवसरों को छोड़कर उनके कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। संसद के दोनों सदनों की संयुक्त प्रवर समिति ने वित्तीय स्वायत्तता अभिसमय का अंगीकार करने की सिफारिश उपस्थित की। यह सुझाव दिया गया कि आयात निर्यात करों के बारे में भारत की व्यवस्थापिका व सरकार समझौते के द्वारा उन करों को लागू करने के लिए ब्रिटेन व ब्रिटिश सौदागरों के हितों की अपेक्षा न रखते हुए भारतीय सौदागरों व उपभोक्ताओं के हितों में आवश्यक समझें तो स्वतन्त्र होनी चाहिएँ। इस अभिसमय की सिफारिश इस सन्देह को कि भारतवर्ष की वित्तीय नीति इंगलैण्ड के वाणिज्य के हित में ह्वाइट हाल से उधार प्रसारित की जाती है दूर करने के दृष्टिकोण से उपस्थित की गई थी।[1]

भारत मन्त्री का गवर्नर जनरल के साथ सम्बन्ध—भारत मन्त्री के अधिकारों के उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कानूनी दृष्टि से वह भारतीय प्रशासन के प्रमुख गवर्नर जनरल का अधिपति होता था। गवर्नर जनरल के लिए यह आवश्यक था कि वह भारत मन्त्री के आदेशों का उचित रूप से पालन करे। परन्तु उन दोनों के सम्बन्ध

[1] मुखर्जी— दी इण्डियन कान्स्टीट्यूशन भाग २ पृ० ५२३।

यह देखना बहुत सुगम है कि ब्रिटिश संसद के प्रति प्रत्यक्षत उत्तरदायी भारतीय सरकार (अर्थात गवर्नर जनरल और कार्यकारिणी परिषद) और भारतीय लोकमत का प्रतिनिधित्व करने वाली भारतीय व्यवस्थापिका सभा उन विषयों के सम्बन्ध में जो भारतीय वाणिज्य के अनुकूल और ब्रिटिश वाणिज्य के प्रतिकूल पड़ते थे पूर्णत एकमत नहीं हो पाती थी। अत यह पवित्र सिफारिश जितनी देखने में मालूम पड़ती थी उससे न्यूनतर गुण विधायिनी थी।

बहुत कम कानून के मसविदे अनुरूप होते थे। गवर्नर जनरल भारत में ही उपस्थित रहता था यहाँ कार्य और व्यवस्था के संचालन का उत्तरदायित्व पूर्णतः उसी के कंधों पर था अतः यह सम्भव न था कि वह भारत से छः हजार मील की दूरी पर विराजमान भारत मन्त्री के हाथ का खिलौना बन सकता। आवश्यकता न होने पर बहुत से काम उन्हें स्वयं ही सोच विचार कर करने पड़ते थे। भारत मन्त्री ने भी उसे ऐसे कार्य करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता दे रखी थी। भारत मन्त्री ऐसा करने के लिए लाचार था। यह आवश्यक है कि सात समुद्र पार मनुष्य मीलों के फासले पर अवस्थित रह कर देश के शासन का पूर्णतः नियन्त्रण करने में असमर्थ था। इस सम्बन्ध में बहुत कुछ व्यक्तिगत तत्व पर भी निर्भर रहता था। यदि भारत मन्त्री कोई दृढ़ स्वभाव का पुरुष होता उसके पास कोई निश्चित नीति होती जिसे कि वह कार्यान्वित करना चाहता तो वह गवर्नर जनरल को अपने अभिकर्त्ता के रूप में प्रयुक्त कर सकता था। इसके विपरीत यदि भारत मन्त्री नरम स्वभाव का व गवर्नर जनरल प्रभविष्णु होता तो भारत मन्त्री गवर्नर जनरल के कार्यों में विशेष हस्तक्षेप न करता था उसे मनचाही नीति बरतने देता था और उसके सब निर्णयों पे सेंत मेंत में हामी भर देता था। इस प्रकार यदि भारत मन्त्री के प्रति गवर्नर जनरल की आधीनता के तथ्य का विरोध नहीं किया जा सकता तो इतना तो अवश्य कहा ही जा सकता है कि वे एक ही ऊँचे प्लेटफार्म पर खड़े होने वाले साथी व सहयोगी थे परन्तु उनके दरजों में थोड़ा सा अन्तर था।[1]

४६ इण्डिया कौंसिल

इसकी सृष्टि कब और क्यों की गई—इण्डिया कौंसिल की सृष्टि १८५८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्त होने के पश्चात की गई थी। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं भारत मन्त्री उन सब शक्तियों का उत्तराधिकारी बन गया जिनका कि पहले बोर्ड आफ कन्ट्रोल व कोर्ट आफ डायरेक्टर्स प्रयोग करते थे। संसद के सर्वोच्च व अंतिम नियन्त्रण के अधीन भारतीय प्रशासन के निरीक्षण व संचालन का कार्य उसके सुपुर्द किया गया। यह आवश्यक था क्योंकि भारतीय सरकार एक विदेशी नौकरशाही थी जिसके ऊपर भारतीय जनता का अणुमात्र भी नियन्त्रण नहीं था। इन परिस्थितियों में केवल भारत मन्त्री का निरीक्षण व नियन्त्रण ही इस नौकरशाही को निरंकुश स्वेच्छाचारी बनने से रोक सकता था। परन्तु यह स्पष्ट था कि भारत मन्त्री के पद पर किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति भी सर्वथा सम्भाव्य थी जिसे कि भारत के बारे में बहुत कम ज्ञान हो या बिलकुल ही ज्ञान न हो। यदि उसे अपने महान अधिकारों का ठीक ठीक प्रयोग करना था तो यह आवश्यक था कि उसे कुछ ऐसे व्यक्तियों की सहायता मिला करे जिन्हें कि भारत की दशा के बारे में उच्चकोटि का ज्ञान हो जो भारतवर्ष में काफी समय तक रह चुके हों काम कर चुके हों।

---

१ पलन्दे— इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन पृष्ठ ५६।

थे 'विशेषज्ञ' भारत मन्त्री का मार्ग-दर्शन कर सकते थे, उसे परामर्श दे सकते थे ताकि वह अपने कर्त्तव्यों का उचित रूप में पालन कर सके। इस प्रकार इण्डिया कौंसिल का उद्‌भव हुआ।

इण्डिया कौंसिल का संक्षिप्त इतिहास—१८५८ के एक्ट के उपबन्धों के अधीन इण्डिया कौंसिल में १५ सदस्य होते थे जिनमें से कम-से-कम ९ ने भारतवर्ष में १० वर्ष तक काम या निवास किया हो और अपनी नियुक्ति की तिथि १० वर्षों से अधिक के पूर्व भारत को न छोड़ा हो। वे सदाचरण पर्यन्त अपने पद पर नियुक्त रहते थे और १२०० पौण्ड प्रतिवर्ष वेतन पाते थे। कौंसिल का कार्य यह था कि वह भारतीय सरकार के साथ जो पत्र-व्यवहार हो वे इङ्गलैण्ड में भारतीय सरकार से सम्बन्धित जो कुछ भी कार्य व्यापार हो उन सबको भारत मन्त्री के आदेशों के अनुसार प्रबन्ध करे। कौंसिल की सप्ताह में एक बार बैठक होती थी और भारत मन्त्री उसका अध्यक्ष होता था। कुछ उल्लिखित विषयों को छोड़कर भारत मन्त्री कौंसिल के बहुमत के निर्णय का उल्लंघन कर सकता था। हाँ उसे उन कारणों की व्याख्या अवश्य करनी पड़ती थी जिनके फलस्वरूप कि उसने ऐसा किया। इसके अलावा भारत मन्त्री गोपनीय व आवश्यक प्रपत्रों को जो कि भारत सरकार से सम्बन्धित हों बिना कौंसिल के समक्ष उपस्थित किए ही भेजा या प्राप्त कर सकता था।

१८८९ में इण्डिया कौंसिल के सदस्यों की संख्या को १५ से कम कर १० कर देने का निश्चय किया गया। १९०७ में इसमें पुनः परिवर्तन किया गया। अब की बार यह निर्धारित किया गया कि कौंसिल के सदस्यों की संख्या १५ से अधिक और १० से कम नहीं होना चाहिए। नए एक्ट ने प्रत्येक सदस्य का कार्य काल ७ वर्ष निश्चित किया व वार्षिक वेतन १२००पौ० से घटाकर १०००पौ० कर दिया। इसी वर्ष सर्वप्रथम बार दो भारतीयों को इण्डिया कौंसिल में नियुक्त किया गया।

माण्टफोर्ड सुधारों के पश्चात् इण्डिया कौंसिल में परिवर्तन—१९१९ के एक्ट के आधीन इण्डिया कौंसिल के संविधान में और भी परिवर्तन किए गए। (१) अब से इसके सदस्यों की संख्या ८ से कम नहीं और १२ से अधिक नहीं रखी गई। इन सदस्यों में कम से कम आधे ऐसे होते थे जिन्होंने कम से कम १० वर्ष तक भारतवर्ष में कार्य या निवास किया हो और इस देश को अपनी नियुक्ति की तिथि के ५ वर्ष पूर्व न छोड़ा हो। (२) इस पद का कार्य-काल ७ वर्ष से घटाकर ५ वर्ष का कर दिया गया। (३) प्रत्येक सदस्य की वार्षिक आय पुनः बढ़ाकर १२०० पौ० कर दी गई। प्रत्येक भारतीय सदस्य को ६०० पौ० का ऊपर भत्ता मिलता था। (४) भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ३ कर दी गई। सन् १९१९ के एक्ट के अनुसार भारतीय हाई कमिश्नर का एक नया पद बनाया गया। हाई कमिश्नर इङ्गलैण्ड में भारत सरकार के एजेंट की हैसियत से कार्य करता था। भारतीय हाई कमिश्नर सपरिषद् गवर्नर जनरल के अधीन था। (५) कौंसिल की बैठकें अब सप्ताह में एक बार नहीं अपितु महीने में एक बार

लिए हुए परिवर्तनों का क्या प्रभाव होता है यह न मालूम हो। इस बीच भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् को परिवर्धित किया जाएगा और इसमें जनता के अधिक प्रतिनिधि चुनाव का यत्न किया जाएगा तथा शासन प्रबन्ध पर प्रभाव डालने का इसको अधिक अवसर दिया जाएगा। इस प्रकार नूतन एक्ट ने जिस केन्द्रीय व्यवस्थापिका की सृष्टि की वह मार्ले मिन्टो सुधारों के अधीन वर्तमान व्यवस्थापिका से अधिक लोकतन्त्रात्मक थी। परन्तु इस परिवर्धित और अधिक प्रतिनिधि व्यवस्थापिका को कार्यकारिणी अर्थात् सपरिषद् गवर्नर जनरल पर नियन्त्रण स्थापित करने का अधिकार नहीं दिया गया। केन्द्रीय कार्यकारिणी अब भी ब्रिटिश संसद के ही प्रति उत्तरदायी बनी रही। वह किसी भी प्रकार भारतीय जनता व्यवस्थापिका में उसके प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी नहीं थी।

९. गवर्नर जनरल

पद का इतिहास—१९१९ के एक्ट ने भारतवर्ष की कार्यकारिणी शक्ति सपरिषद् गवर्नर जनरल में न्यस्त कर दी। भारतवर्ष के गवर्नर जनरल के पद की सृष्टि १७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट के अधीन की गई थी। इसके पूर्व बंगाल, बम्बई और मद्रास की तीनों प्रेसीडेंसियाँ एक दूसरे से पृथक् थीं। उनका एक एक गवर्नर होता था। भारत में अंग्रेजों के अधीन जो प्रदेश था उनका नियन्त्रण व शासन प्रबन्ध करने के लिए कोई एक केन्द्रीय सत्ता नहीं थी। परन्तु इस प्रकार कब तक काम चल सकता था ? एक केन्द्रीय सत्ता की स्थापना और तुरन्त आवश्यकता थी। १७७३ के एक्ट ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। इस एक्ट के अनुसार बंगाल का गवर्नर बंगाल का गवर्नर जनरल बना दिया गया और उसे तीनों प्रेसीडेंसियों के शासन प्रबन्ध का निरीक्षण व नियन्त्रण करने का अधिकार प्राप्त हो गया। एकीकरण की इस प्रक्रिया ने बहुत धीरे धीरे सफलता प्राप्त की क्योंकि जो प्रेसीडेंसियाँ पहले स्वतन्त्र थीं उन्हें केन्द्रीय सत्ता के नियन्त्रण का अभ्यस्त होने में कुछ समय लगा। १७८४ के एक्ट ने युद्ध, शान्ति और प्रशासन के मामलों में तीनों प्रेसीडेंसियों के ऊपर बंगाल के गवर्नर जनरल की सर्वोच्च सत्ता व नियन्त्रण का और भी अधिक बलपूर्वक प्रतिपादन किया। १८३३ के एक्ट ने बंगाल के गवर्नर जनरल का नाम बदल दिया। अब बंगाल के गवर्नर जनरल को भारत का गवर्नर जनरल कहा जाने लगा। इस एक्ट के अनुसार सपरिषद् गवर्नर जनरल को कम्पनी के समस्त भारतीय प्रदेशों के लिए नियम बनाने का आदेश देने का और उनका नियन्त्रण व संचालन करने का अधिकार मिल गया। परन्तु बंगाल के शासन प्रबन्ध का सीधा उत्तरदायित्व अब भी उसके ही सिर रहा। १८५४ के एक्ट द्वारा उसे इस भार से छुटकारा मिला। इस एक्ट ने बंगाल के लिए एक उप गवर्नर जनरल की नियुक्ति कर दी। गदर के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी समाप्त कर दी गई और भारत का शासन प्रबन्ध ब्रिटिश क्राउन के हाथों में चला गया। इसके कारण भारतीय गवर्नर जनरल की स्थिति में भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। अब वह वायसराय हो गया तथा भारत में ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि की हैसियत से काम करने लगा।

मॉण्टफोर्ड सुधारों के अन्तर्गत गवर्नर जनरल की नियुक्ति, पदावधि और वेतन—१८५८ के एक्ट के पश्चात अन्य जितने भी एक्ट अधिनियमित हुए उनमें से किसी ने भी गवर्नर जनरल की सत्ता व स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया यहाँ तक कि मॉण्टफोर्ड सुधारों ने भी प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी सरकार की पुनः स्थापना के अलावा गवर्नर जनरल की स्थिति में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं किया। भारत के गवर्नर जनरल का पद महान उत्तरदायित्व और गौरव से परिपूर्ण था। गवर्नर जनरल की नियुक्ति सम्राट ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की सलाह पर किया करते थे। इस सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री भारत मन्त्री से परामर्श ले लिया करते थे। साधारणतः उसका कार्यकाल पाँच वर्ष का होता था। गवर्नर जनरल को २५६००० रु० वार्षिक वेतन व रहने के लिए बिना किराए का शानदार भवन मिलता था। इसके अलावा उसे १७२७०० रु० वार्षिक से अधिक के विभिन्न भत्ते प्राप्त होते थे। कानून निर्माण, वित्त व प्रशासन के क्षेत्र में उसके अधिकार बहुत बढ़े चढ़े थे। भारत के शासन प्रबन्ध की पूरी जिम्मेदारी उसके कन्धों पर थी। देश के सैनिक व नागरिक शासन का संचालन निरीक्षण व नियन्त्रण करने का उसे पूरा अधिकार प्राप्त था। बंगाल, मद्रास और बम्बई के गवर्नरों को छोड़कर बाकी सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ वही करता था। भारत मन्त्री द्वारा नियुक्तियाँ की जाने की स्थिति में भी गवर्नर जनरल से परामर्श लिया जाता था और साधारणतः उसकी सिफारिशें स्वीकार की जाती थीं।

गवर्नर जनरल की विधायिनी शक्तियाँ—गवर्नर जनरल की विधायिनी शक्तियाँ विपुल थीं। व्यवस्थापिका सभाओं के अधिवेशनों को आहूत करना, उनका सत्रावसान करना और उनका कार्यकाल बढ़ाना या घटाना उसके हाथों में था। व्यवस्थापिका सभाओं के अधिवेशन का समय और स्थान भी वही निश्चित कर सकता था। उसे व्यवस्थापिका सभाओं में भाषण देने का अधिकार था। वह चाहता तो दोनों में अलग अलग भाषण दे सकता था और चाहता तो दोनों के संयुक्त अधिवेशन में भाषण दे सकता था। कोई रोक टोक न था। अनेक ऐसे विषय (सार्वजनिक ऋण, भारत की आय, सेना, वैदेशिक मामले, धार्मिक विषय आदि से सम्बन्धित) थे जिनके बारे में गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना व्यवस्थापिका सभाओं में कोई प्रस्ताव पेश न किया जा सकता था। यदि वह किसी विधेयक या उसकी किसी धारा को देश की शान्ति व सुरक्षा के लिए खतरा समझता तो उन पर विचार करना रोक सकता था। व्यवस्थापिका द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक के ऊपर उसकी स्वीकृति आवश्यक होती। उसकी स्वीकृति के बिना कोई भी कानून संविधि पुस्तक में दर्ज नहीं किया जा सकता था। यदि व्यवस्थापिका किसी विधेयक को अस्वीकार कर देती परन्तु गवर्नर जनरल उसे ब्रिटिश भारत की शान्ति व सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक समझता तो वह अपने हस्ताक्षर द्वारा ही उस विधेयक को कानून का रूप दे सकता था। वायसराय (या गवर्नर जनरल) की इस शक्ति को प्रमाणीकरण की शक्ति कहते थे। इस प्रकार गवर्नर जनरल को व्यवस्थापिका के निर्णयों के ऊपर निरंकुश 'वीटो' (निषेधाधिकार)

प्राप्त था। गवर्नर जनरल अध्यादेशों को जारी करके कानून निर्माण के अपने अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकता था। अध्यादेश एक विशेष प्रकार का कानून होता था जिसे कि आपातों में ६ मास के लिए पारित किया जाता था। जब वह क्रियाशील होता तो उसका वही जोर होता था जो कि व्यवस्थापिका द्वारा पारित किसी कानून का।

गवनर जनरल की वित्तीय शक्तियाँ—गवनर जनरल की वित्तीय शक्तियाँ भी बहुत व्यापक व प्रभावशाली थी। बजट राज्य परिषद और व्यवस्थापिका सभा में एक ही समय गवनर जनरल की अनुमति से उपस्थित किया जाता था। दोनों सदनों को बजट पर वाद विवाद करने का अधिकार था परन्तु उनकी मदों पर विधान-सभा (निम्न सदन) में ही मत लिये जाते थे। बजट की मदें दो प्रकार की होती थीं। पहली वे जिन पर व्यवस्थापिका सभा का कोई अधिकार न था और दूसरी वे जिनका निर्णय वह मतो द्वारा करती थी। खर्चे की निम्नलिखित मदो पर सदन को वोट देने का अधिकार न था—भारतीय ऋण का सूद एवं व्यय जिसकी रकम कानून से निर्धारित की गई हो उन लोगो को पेंशन या तनख्वाह जो सम्राट द्वारा अथवा सम्राट की अनुमति से भारत मन्त्री द्वारा नियुक्त किय गये हो चीफ कमिश्नरों अथवा जुडीशियल कमिश्नरों का वेतन व व्यय जिसे सपरिषद् गवनर जनरल ने धार्मिक राजनीतिक अथवा सेना सम्बन्धी ठहराया हो। गवनर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना व्यवस्थापिका के सदस्य इन मदो पर वाद-विवाद तक भी न कर सकते थे। यह स्पष्ट है कि ८०/बजट पर मतदान न हो सकता था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि गवनर जनरल बजट के इतने भाग को व्यवस्थापिका के अनुमोदन के बिना भी मन चाहे ढंग से खर्च कर सकता था। गवनर जनरल का अधिकार था कि वह व्यवस्थापिका सभा द्वारा अस्वीकृत मांगो को अपनी प्रत्यानयन की शक्ति द्वारा स्वयं मंजूर करके व्यवस्थापिका सभा का निश्चय रद्द कर दे। इस प्रकार हम देखते हैं कि गवनर जनरल करीब करीब पर तरीके से भारत के राजकोष का स्वामी था।

गवनर जरनल की कार्यकारिणी परिषद—ऊपर गवनर जनरल की जिन व्यापक शक्तियों का उल्लेख किया गया है उनका प्रयोग करने में उसकी कार्यकारिणी परिषद उसे सलाह व सहायता देती थी। तथापि परिषद केवल एक परामर्शदात्री समिति-मात्र ही थी। अधिकतर परिषद गवनर जनरल के इशारे पर नाचा करती थी। यदि वह कभी गवनर जनरल के विरुद्ध भी जाती तो गवनर जनरल उसके निर्णय को ठुकरा सकता था।

गवनर जनरल एक वैधानिक शासक नहीं अपितु स्वेच्छाचारी शासक था—भारतीय गवनर जनरल एक अनूठा नौकरशाह था। उसके साधारण और असाधारण दोनों तरह के व्यापक अधिकारों ने उसे सामर्थ्यवान् सत्ताधारी पुरुष बना दिया था। भारतवर्ष के शासन प्रबन्ध में उसे जो अधिकार प्राप्त थे वे उन अधिकारों से बहुत बढ़ चढ़े थे जिनका कि उपभोग अमेरिका के राष्ट्रपति और इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री

अपने अपने देशों में करते थे। वह भारत में वैधानिक शासक की तरह नहीं अपितु स्वेच्छाचारी की तरह शासन करता था। यह सच है कि ब्रिटिश सम्राट भारत मन्त्री के द्वारा उस पर अपना नियन्त्रण रखता थी परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं इस नियन्त्रण के बावजूद भी गवर्नर जनरल को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। चूंकि वह सम्राट का प्रतिनिधि था इसीलिए उसका राजकीय गौरव व दबदबा बहुत बढ़ा चढ़ा था। जैसे दूसरे राज्यों के प्रमुखों को क्षमा और प्रविलम्बन करने का अधिकार प्राप्त होता है ऐसे ही भारत के गवर्नर जनरल को भी यह अधिकार प्राप्त था। अपने कार्यों के सम्बन्ध में वह पूर्ण कानूनी विमुक्ति का उपभोग करता था। कार्यकारिणी जो कि उसे सलाह व सहायता देने के लिये थी, उसके हाथों में खिलौना मात्र थी। वह उसके निर्णयों को स्वतन्त्रता पूर्वक ठुकरा सकता था। व्यवस्थापिका में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत था लेकिन गवर्नर जनरल उसकी इच्छा को भी रद्द कर सकता था। सच तो यह है कि किसी भी उत्तरदायी यहाँ तक कि अनुत्तरदायी कार्यकारिणी को भी इतने प्रचुर अधिकार प्राप्त नहीं थे जितने कि भारत के गवर्नर जनरल को प्राप्त थे। यह कहा जाता था—"इंगलैण्ड का सम्राट राज्य करता है परन्तु शासन नहीं करता अमेरिका का राष्ट्रपति शासन करता है परन्तु राज्य नहीं करता फ्रांस का राष्ट्रपति न राज्य करता है न शासन करता है परन्तु भारत का गवर्नर जनरल राज्य और शासन दोनों करता है।"

५० गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी-परिषद

१९१९ के एक्ट के अधीन किए गए परिवर्तन—बंगाल बम्बई और मद्रास की तीन प्रेसीडेंसियों को एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन करने के लिए जब गवर्नर जनरल के पद की सृष्टि की गई उसी समय गवर्नर जनरल को सहायता व परामर्श देने के दृष्टिकोण से १७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट के अन्तर्गत एक कार्यकारिणी परिषद का भी निर्माण किया गया। कार्यकारिणी-परिषद् के संविधान व स्थिति में निरन्तर परिवर्तन होता रहा। १७८६ के पश्चात् से गवर्नर जनरल को परिषद के बहुमत को अस्वीकार करने का अधिकार प्राप्त हो गया था यदि वह इस अधिकार का प्रयोग करना भारतवर्ष की शांति सुव्यवस्था व सुशासन के लिए आवश्यक समझता। १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने कार्यकारिणी-परिषद् की रचना में कतिपय परिवर्तन उपस्थित किए। इसके सदस्यों की संख्या के ऊपर जो अनुचित मर्यादा थी, उसे हटा दिया गया। परन्तु यह निश्चित किया गया कि कौंसिल के कम से कम तीन सदस्य ऐसे होने चाहिए जो दस वर्ष तक भारत में सरकारी नौकरी कर चुके हों और कम से कम एक सदस्य ऐसा अवश्य होना चाहिये जो इंगलैण्ड या स्काटलैण्ड का बैरिस्टर अथवा भारतवर्ष का वकील रहा हो और कम से कम दस वर्ष तक किसी हाईकोर्ट में वकालत करता रहा हो। यदि परिषद् की बैठकें प्रान्तीय गवर्नरों के अधीनस्थ प्रान्तों में होतीं, तो वे उसमें असाधारण सदस्य के रूप में नहीं बैठ सकते थे।

कार्यकारिणी परिषदों की नियुक्ति कार्यावधि और वेतन—कार्यकारिणी परिषद के सदस्य भारत मन्त्री की सलाह पर सम्राट के द्वारा नियुक्त किए जाते थे। उनके पद की अवधि पाँच वर्ष की थी परन्तु उन्हें पुनर्नियुक्त किया जा सकता था। प्रत्येक कार्यकारिणी पार्षद केन्द्रीय व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में से किसी एक के लिए मनोनीत किया जाता था। परन्तु कार्यकारिणी परिषद के सदस्य सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे यदि सदन उनके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव भी पारित कर देता तब भी उन्हें हटाया नहीं जा सकता था। कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों में से एक की नियुक्ति गवर्नर जनरल करता था। गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त सदस्य परिषद के उप सभापति के रूप में कार्य करता था। गवर्नर जनरल और प्रधान सेनापति (कमाण्डर इन चीफ) को छोड़कर प्रत्येक कार्यकारिणी परिषद का सदस्य ८० ० रु प्रतिवर्ष वेतन प्राप्त करता था।

कार्यकारिणी पार्षद की शक्तियाँ व कृत्य—सपरिषद गवर्नर जनरल का कार्य भारतवर्ष में शांति सुव्यवस्था व सुशासन का संचालन करना था। कार्यकारिणी के पार्षद पोर्टफोलियो पद्धति के अनुसार कार्य करते थे अर्थात प्रत्येक पार्षद के अधीन एक या एक से अधिक विभाग रहते थे। माण्टफोर्ड सुधारों के दरम्यान कार्यकारिणी परिषद में गवर्नर जनरल व प्रधान सेनापति को मिलाकर कुल ६ सदस्य सम्मिलित थे। वैदेशिक व राजनीतिक विभाग गवर्नर जनरल के अधीन थे और सुरक्षा व सेना विभाग प्रधानमन्त्री की अधीनता में थे। अवशिष्ट विभागों में गृह विभाग जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते थे अंग्रेज पार्षदों के हाथों में रखे जाते थे और भारतीय सदस्यों को शिक्षा स्वास्थ्य तथा श्रम विभागों से ही संतोष ग्रहण करना पड़ता था।

पोर्टफोलियो प्रणाली—पोर्टफोलियो परिषद के सदस्यों के बीच गवर्नर जनरल के द्वारा वितरित किए जाते थे। पोर्टफोलियो पद्धति के अन्दर अपने अपने विभाग से सम्बद्ध सभी मामलों को प्रत्येक सदस्य स्वतः व्यक्तिगत निबटाता था। उन विषयों को जो कि अधिक महत्व के थे और प्रांतीय सरकारों के दृष्टिकोणों का प्रत्याख्यान करते थे गवर्नर जनरल की सलाह से निश्चित किया जाता था। परन्तु वे सब विषय जो कि बहुत ही अधिक महत्व के होते थे और जिनका प्रभाव दो या दो से अधिक विभागों पर पड़ता था पूरी कार्यकारिणी परिषद के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित किए जाते थे।

कार्यकारिणी परिषद की बैठकें—गवर्नर जनरल का प्रभुत्व—साधारणतः कार्यकारिणी परिषद की बैठक एक सप्ताह में एक बार हुआ करती थी। बैठकें गवर्नर जनरल के द्वारा आहूत होती थीं। बैठकों की अध्यक्षता गवर्नर जनरल करता था और उसकी अनुपस्थिति में उसके द्वारा मनोनीत उप सभापति। गवर्नर जनरल बैठकों के लिए कार्यक्रम भी निश्चित करता था। परिषद के निर्णय बहुमत के आधार

पर होते थे, परन्तु गवर्नर जनरल को अधिकार था कि यदि वह देश की शान्ति व सुरक्षा के लिए आवश्यक समझता तो परिषद् के निर्णयों के प्रतिकूल भी जो चाहता सो कर सकता था। सच तो यह है कि गवर्नर जनरल परिषद का पूरे तरीके से स्वामी था। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी व ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में आकाश-पाताल का अन्तर था। परिषद के सदस्य गवर्नर जनरल के सहयोगी नहीं, सेवकमात्र थे। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य प्रधानमन्त्री के सेवक नहीं सहयोगी होते हैं।

कार्यकारिणी परिषद व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थी—ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल और कार्यकारिणी परिषद् में एक और बड़ा अन्तर था। ब्रिटिश मन्त्रि[illegible] रूप से कामन सभा के प्रति उत्तरदायी होता है और उसके द्वारा [illegible] है। इसके विपरीत भारतीय कार्यकारिणी परिषद के सदस्य [illegible] सदस्यों में से नहीं चुने जाते थे। चूंकि कार्यकारिणी परिषद के [illegible] जनरल की सलाह पर भारत मन्त्री करता था अतः उनमें किसी [illegible] होती थी। इसके सिवा परिषद् के सदस्य सामूहिक या व्यक्तिगत [illegible] के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। कोई भी सदस्य चाहे उसके कार्य [illegible] कितने ही बदनाम क्यों न हों व्यवस्थापिका के द्वारा अपने स्थान से हटाया जा सकता था। दूसरे शब्दों में कार्यकारिणी परिषद् सिर से पैर तक एक नौकरशाही निकाय थी। उसके सदस्य गवर्नर जनरल के मार्ग-दर्शन में, जो कि वस्तुतः एक अधिनायक होता था कार्य करते थे।

५.१ केन्द्रीय व्यवस्थापिका

द्विसदनात्मक पद्धति का सूत्रपात—१९१९ के एक्ट के अनुसार भारतीय व्यवस्थापक मण्डल में अनेक परिवर्तन किए गए। यद्यपि केन्द्रीय कार्यकारिणी केन्द्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थी परन्तु केन्द्रीय व्यवस्थापिका में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या में वृद्धि करके उसके स्वरूप को और अधिक लोकतन्त्रात्मक बनाने की चेष्टा की गई। अभी तक भारतीय व्यवस्थापिका का केवल एक ही सदन था, अब उसके दो सदन कर दिए गए। एक का नाम कौंसिल आफ स्टेट अथवा राज्य परिषद था और दूसरे का नाम लेजिस्लेटिव असेम्बली या विधानसभा था। यह पद्धति विश्व के अधिकांश लोकतन्त्रात्मक देशों में प्रचलित पद्धति के अनुरूप थी। परन्तु भारतवर्ष में ब्रिटिश सरकार एक और विचार से प्रभावित हुई थी। चूंकि अब लोक सदन में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत था, अतः सरकार एक ऐसे कुलीनतन्त्रीय सदन की स्थापना के लिए उत्सुक हो गई थी जिसको कि निम्न सदन अथवा लोक-सदन के प्रतिभार के रूप में प्रयुक्त किया जा सके।

दोनों भवनों की रचना (क) राज्य-परिषद—राज्य परिषद् नूतन व्यवस्थापक मण्डल का उच्च सदन था। १९१९ के एक्ट के अनुसार उसके सदस्यों की संख्या ६० थी। इन सदस्यों में से एक को नियुक्ति गवर्नर जनरल सभापति के रूप में करता था

अवशिष्ट सदस्यों में से ३४ प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रथानुसार साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा चुने जाते थे (२० साधारण निर्वाचन क्षेत्रों से १० मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों से एक सिक्खों द्वारा और ३ यूरोपियनों द्वारा) परिषद् में १९ मनोनीत सरकारी सदस्य होते थे और ६ मनोनीत गैर सरकारी सदस्य होते थे।[1] (६०)

(ख) भारतीय विधान सभा—विधान सभा के १४४ सदस्यों में से १०३ सदस्य निर्वाचित सदस्य थे और ४१ गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत। मनोनीत सदस्यों में से अधिक से अधिक २५ ही सदस्य सरकारी पदाधिकारी हो सकते थे। एक्ट ने यह भी निर्धारित कर दिया कि विधान सभा का प्रथम अध्यक्ष गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त एक ऐसा गैर सरकारी सदस्य होगा जिसका कि संसद अनुभव बहुत बड़ा चढ़ा हो।[2] 3 OTT

दोनों सदनों के लिए मताधिकारी—राज्य-परिषद के लिए बहुत संकुचित मताधिकार उपबन्धित किया गया था। मताधिकार मुख्यत बहुत ऊंची सम्पत्ति अर्हताओं पर आश्रित था। राज्य परिषद के लिए मतदान का अधिकार केवल उन्हीं लोगों को प्राप्त था जो १०,००० रु० से लेकर २०,००० रु० तक की वार्षिक आय पर कर देते थे अथवा ७५० रु० से लेकर ५,००० रु० तक का वार्षिक भूमि लगान देते थे। मतदान का अधिकार उन व्यक्तियों को भी दिया गया जो कि

(१) नगरपालिकाओं जिला निकायों या केन्द्रीय सहकारी बैंकों के अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष रह चुके हों।

(२) भारत के किसी विधायक निकाय के सदस्य रहे हों।

(३) सरकार द्वारा शम्सुल उलेमा या महामहोपाध्याय जैसी प्राच्य पाण्डित्य सम्बन्धी उपाधियों से विभूषित किए गए हों।

---

१ मोंटफोर्ड रिपोर्ट ने एक ऐसे उच्च सदन का सुझाव दिया था जिसके कि कुल सदस्यों की संख्या ५५ हो इन सदस्यों में से २९ तो सरकार द्वारा मनोनीत हों और शेष सदस्य मुख्यत प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के गैर सरकारी सदस्यों द्वारा निर्वाचित हों। उसका विचार एक ऐसे सीनेट की प्रकृति के से उच्च सदन का निर्माण करना था जो सरकार को उन आवश्यक कानूनों के पारित कर देने में समर्थ कर दे जिनको कि प्रतिनिधि निम्न सदन ने अस्वीकार कर दिया हो। परन्तु संयुक्त संसद समिति ने इस विचार को अस्वीकृत कर दिया और राज्य परिषद को सच्चा द्वितीय सदन बनाने के पक्ष में फैसला किया। अंशत राज्य परिषद को पुनरीक्षण करने वाला एवं ऐसा सदन बनाने का फैसला किया गया जिसके पास कि भ वित्तीय व्यवस्थापन में विधानसभा के तुल्य ही अधिकार हों।

२ सर फ्रेडरिक व्हाइट मनोनीत अध्यक्ष थे। असेम्बली के प्रथम निर्वाचित अध्यक्ष सुविख्यात वी० जे० पटेल थे।

१९२५ मे राज्य परिषद के लिए ब्रिटिश भारत से कुल मतदाताओं की सख्या १५,००० से कम थी। निर्वाचित क्षेत्र साम्प्रदायिक आधार पर निर्मित हुए थे प्रत्येक प्रान्त को एक इकाई माना जाता था। स्त्रियों को मतदान के अधिकार से वंचित रखा गया था। अति तक पहुँची हुई ऊँची सम्पत्ति विषयक अर्हताओं ने राज्य परिषद को न्यस्त स्वार्थों का एक गढ़ बना दिया तथा दूसरी निर्वाचन विषयक अर्हताओं ने यह निश्चित कर दिया कि उसमें बुद्धिजीवी व सार्वजनिक व्यक्तियों की उपस्थिति बहुत ही कम रह सकेगा।

असेम्बली के लिए मताधिकार अधिक कम प्रतिबन्धित था। मतदाताओं के पास निम्नलिखित अर्हताओं में से एक का होना आवश्यक था —

(१) कम से कम २,००० रु० से लेकर ५,००० रु० तक की वार्षिक आय पर आयकर देना।

(२) ५० रु० से लेकर १५० रु० तक का वार्षिक भूमि कर देना।

(३) कम से कम १५ रु० से लेकर २० रु० तक के प्रतिवर्ष म्युनिसिपल कर देना।

(४) १५० रु० वार्षिक के किराए के मूल्य वाले मकान का अधिवास या स्वामित्व।

विभिन्न प्रान्तों में आर्थिक या राजनीतिक परिस्थितियों के अन्तर के कारण मतदान की अर्हताओं में थोड़ा बहुत उलट फेर करना आवश्यक हो जाता था। १९३४ में भारतीय व्यवस्थापिका सभा के कुल मतदाताओं की सख्या १४१५८६२ थी जिनमें स्त्री मतदाताओं की कुल सख्या ८१,६०२ थी।

भारतीय व्यवस्थापक मण्डल के अधिकार व कृत्य (क) कानून-निर्माण सम्बन्धी—केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल को केवल उन विषयों को छोड़कर, जिन्हें कि प्रान्तीय समझा जाता था, प्रायः सब प्रकार के विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार प्राप्त था। तथापि उसके अधिकार प्रयोग के ऊपर कई प्रतिबन्ध लगे हुए थे। भारतीय व्यवस्थापक मण्डल को किसी संसद के कानून को जो भारतवर्ष के ऊपर लागू हो सकता था संशोधित या रद्द करने का अधिकार नहीं था। भारत मन्त्री के समर्थन के बिना वह एक भी कानून को पारित नहीं कर सकता था जो कि किसी उच्च न्यायालय का उन्मूलन करता हो। कुछ विधेयक (धार्मिक विषय या रीतियाँ जल थल-नभ सेनाएं प्रान्तीय विषयों का नियन्त्रण किसी प्रान्तीय नियम को रद्द करने वाले प्रस्ताव गवर्नर जनरल के एक्ट और अध्यादेशों से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्ताव इत्यादि) ऐसे थे जिन्हें गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बगैर व्यवस्थापिका सभा में पुनःस्थापित नहीं किया जा सकता था। इसके अलावा यदि गवर्नर जनरल किसी भी विधेयक को, या उसकी किसी धारा को भारत की शान्ति सुरक्षा व व्यवस्था में बाधक समझता तो उसके आवर्तन को तुरन्त रोक सकता था। व्यवस्थापिका द्वारा

पारित प्रत्येक विधेयक पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति आवश्यक होती थी तदनन्तर ही वह कानून बन सकता था। गवर्नर जनरल जिस किसी विधेयक को चाहता व्यवस्थापिका के पास पुनर्विचार के लिए वापस कर सकता था अथवा उसे सम्राट के सोचने विचारने के लिए रक्षित रख सकता था। अपने प्रमाणीकरण के अधिकार द्वारा गवर्नर जनरल को भारतीय व्यवस्थापिका के निर्णयों के उल्लंघन करने के निषेधात्मक अधिकार भी प्राप्त थे। यदि व्यवस्थापिका किसी विधेयक को अस्वीकार कर देती और गवर्नर जनरल उस ब्रिटिश भारत व उसके किसी भी भाग की शांति सुरक्षा एवं कल्याण की दृष्टि से आवश्यक समझता तो उस अपने हस्ताक्षर के आधीन ही पारित घोषित कर सकता था। इस रीति से पारित विधेयक सम्राट की स्वीकृति के बिना लागू नहीं हो सकता था। इसके अलावा देश की शांति व सुरक्षा के लिए गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार था। ये अध्यादेश ६ मास से अधिक काल के लिए लागू नहीं हो सकते थे।

(ख) वित्तीय अधिकार—भारतीय व्यवस्थापिका को कुछ नाममात्र की वित्तीय शक्तियाँ प्रदान की गई थीं। सम्पूर्ण वर्ष का आय व्यय का अनुमानित लेखा-जोखा गवर्नर जनरल व्यवस्थापिका के सम्मुख उपस्थित करते थे। साधारण रूप से बजट के ऊपर वाद विवाद किया जा सकता था। परन्तु मतदान बजट के थोड़े ही भाग पर हो सकता था। बजट का अधिकांश भाग (८०% से अधिक होता था) जिस के ऊपर कि व्यवस्थापिका सभा को मतदान का अधिकार ही न था।[1] जिन विषयों पर बजट का ८०% से अधिक धन खर्च होता था उन पर व्यवस्थापिका गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना वाद विवाद भी नहीं कर सकती थी। व्यय की निम्नलिखित मदों पर व्यवस्थापिका को मत देने का अधिकार न था—गवर्नर जनरल व उनके कार्यकारिणी परिषदों के वेतन भारत मंत्री और सम्राट द्वारा नियुक्त व्यक्तियों की पेंशनें और तनख्वाह चीफ कमिश्नरों अथवा जुडीशियल कमिश्नरों का वेतन यह खर्च जिस कि सपरिषद गवर्नर जनरल ने धार्मिक राजनीतिक अथवा सेना सम्बन्धी ठहराया हो। जहाँ तक उन मदों का प्रश्न है जिन पर व्यवस्थापिका को मतदान का अधिकार प्राप्त था वह उनका अनुमोदन करने उनका अस्वीकार करने अथवा उनमें कमी करने के लिए अधिकृत थी। परन्तु यहाँ भी गवर्नर जनरल की सत्ता अबाध थी। उसे अधिकार था कि वह व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत माँगों को स्वयं मंजूर करके व्यवस्थापिका का निश्चय रद्द कर दे। विशेष परिस्थितियों

---

[1] १३१ करोड़ के कुल जोड़ में से (रेलवेज को बाहर रखते हुए) केवल १६ करोड़ ही मतापक्षी हैं। पुनश्च इस अमतापक्षी राशि में से ६७ करोड़ सैनिक व्यय के लिए है। पट्टाभि सीतारामय्या कृत दा हिस्ट्री आफ कांग्रेस में प० मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास के वक्तव्य से उद्धृत पृ० ४५६।

में वह ऐसे खर्चों को भी मंजूर कर सकता था जो उसकी राय में देश की रक्षा और शान्ति के लिए आवश्यक था।

कार्यकारिणी को प्रभावित करने के अधिकार—यद्यपि कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति अनुत्तरदायी ही रही परन्तु व्यवस्थापिका कार्यकारिणी की नीतियों और कार्यों की कई तरह से आलोचना कर सकती थी। व्यवस्थापिका के सदस्य कार्यकारिणी से प्रश्न कर सकते थे। वे किसी महत्वपूर्ण विषय पर प्रस्ताव पास कर सकते थे और प्रस्ताव पास करके सभाओं के अधिवेशनों को स्थगित करा सकते थे। उनको यह भी अधिकार प्राप्त था कि किसी विभाग की आर्थिक माँग को स्वीकार न करें या अपना विरोध प्रकट करने के लिए उनमें नाममात्र की कमी कर दें। तथापि व्यवस्थापिका की पूर्वोक्त बातों का मानना शासन विभाग के लिए अनिवार्य न था।

दोनों सदनों के बीच सम्बन्ध—भारतीय व्यवस्थापक मण्डल के दोनों सदन समान अधिकारों का उपयोग नहीं करते थे। अवित्तीय विधेयकों की स्थिति में राज्य परिषद् और असेम्बली दोनों के अधिकार एक दूसरे के बराबर थे। एक किसी विधेयक को किसी भी एक सदन में उपस्थित किया जा सकता था परन्तु वह कानून तब तक नहीं बन सकता था जब तक कि उसे दोनों सदन पारित न कर दें। यह अवश्य था कि गवर्नर जनरल दोनों सदनों में से किसी के द्वारा अस्वीकृत विधेयक को प्रमाणीकृत कर सकता था। तथापि वित्तीय विधेयकों की स्थिति में राज्य परिषद् के अधिकारों का दर्जा असेम्बली के अधिकारों के दर्जे से नीचा था। यह सर्वथा स्वाभाविक भी था। अधिकांश पाश्चात्य देशों में द्वितीय सदनों का दर्जा प्रथम सदनों की तुलना में निम्न ही माना जाता है। राज्य परिषद् का जन साधारण से कोई सम्बन्ध नहीं था। अतः राज्य परिषद् को असेम्बली के समकक्ष ही दर्जा देना सर्वथा अन्यायपूर्ण होता। बजट के ऊपर दोनों ही सदन वाद विवाद कर सकते थे परन्तु मतदेय मदों (Votable Items) पर मतदान का अधिकार केवल निम्न सदन को ही प्राप्त था। यदि इन मतदेय मदों पर निम्न सदन का मतदान हो चुकता तो उसे फिर उच्च सदन के समक्ष उपस्थित नहीं किया जाता था परन्तु चूँकि अवित्तीय मामलों के निर्णय के क्षेत्र में दोनों सदनों को तुल्य अधिकार प्राप्त थे अतः यदि वे किसी विधेयक के ऊपर सहमत न हो पाते तो उस स्थिति में गतिरोध उत्पन्न होने की सम्भावना रहती थी।

गतिरोधों को दूर करने का उपाय—गतिरोध मिटाने के लिए तीन विभिन्न उपायों की व्यवस्था की गई थी। वे उपाय थे—

(क) संयुक्त समिति—किसी सभा में पारित होने के पूर्व विधेयक को यदि वे सहमत हो जाएँ तो दोनों सभाओं की एक संयुक्त समिति के विचाराधीन कर देना। इससे असन्तुष्ट सदन के दोषों का पता चल सकता था और अनिश्चय से होने वाले संघर्ष व मतभेदों को दूर किया जा सकता था।

(ख) संयुक्त सम्मेलन—दूसरा उपाय यह था कि यदि सदन आरम्भक सदन (Originating house) द्वारा विधेयक के पारित किए जाने के पश्चात् उदासीन होता तो उस स्थिति में दोनों सदन अपने मतभेदों को एक संयुक्त सम्मेलन के लिए सहमत होकर दूर कर सकते थे। संयुक्त सम्मेलन में दोनों सदनों के बराबर बराबर प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। यदि संयुक्त सम्मेलन आपस में वाद विवाद करके किसी एक सम झौते पर पहुंच जाता, उस स्थिति में वह दोनों सदनों के पास कुछ सिफारिशें भेजता था जिन्हें कि साधारणतः स्वीकार कर लिया जाता था।

(ग) संयुक्त अधिवेशन—यदि संयुक्त सम्मेलन भी कोई समझौता कराने में असफल रहता तो गवर्नर जनरल दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन करा सकता था। संयुक्त अधिवेशन में राज्य परिषद का अध्यक्ष सभापति का आसन ग्रहण करता था और प्रत्येक निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत के द्वारा होता था। अधिवेशन के बहुमत द्वारा पारित विधेयक को दोनों सदनों के द्वारा पारित मान लिया जाता था। चूंकि संयुक्त अधिवेशन में असेम्बली के सदस्यों की संख्या राज्य परिषद के सदस्यों की संख्या से अधिक होती थी अतः असेम्बली की ही इच्छा के कार्यान्वित होने की अधिक सम्भावना रहती थी।

५२ मोंटफोर्ड के अधीन केन्द्रीय व्यवस्थापिका का मूल्यांकन

प्रतिगामी राज्य परिषद के बावजूद भी केन्द्रीय व्यवस्थापिका अधिक लोकतन्त्रात्मक थी—१६१६ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने निश्चित रूप से ही केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल को अधिक लोकतन्त्रात्मक स्वरूप प्रदान किया। १९१९ के सुधारों के पूर्व भारतीय व्यवस्थापक मण्डल एक दरबार या बनावटी संसद के ही तुल्य था। इन सुधारों ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में निर्वाचित प्रतिनिधियों का प्रभावशाली बहुमत करके व उसके वित्तीय व वाद-विवाद सम्बन्धी अधिकारों को बढ़ाकर उसे जनमत की प्रतिनिधि संस्था बनाने का प्रयास किया। १६१६ के एक्ट के अन्तर्गत जिस प्रतिगामी राज्य परिषद की सृष्टि की गई उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। सपरिषद गवर्नर जनरल की विशेष शक्तियां काफी बड़ी-चढ़ी थी। वह लोक सदन की प्रत्येक ऐसी चेष्टा को जिसे कि वह अनुचित समझता अपनी इन विशेष शक्तियों के द्वारा निष्फल कर सकता था। यह सही है कि व्यवस्थापिका अटल और स्वेच्छाचारी कार्यकारिणी के समक्ष बिलकुल निस्सहाय थी, तथापि यह भी सही है कि नई व्यवस्थापिका नौकरशाही कार्यकारिणी के बिलकुल अधीन भी नहीं थी।

व्यवस्थापिका कार्यकारिणी को प्रभावित कर सकती थी—वह उन अनुदानों को अस्वीकार कर सकती थी जो कि शासन यन्त्र के कुछ पहियों के संचालनार्थ आवश्यक थे। उसे कार्यकारिणी द्वारा वांछित कानूनों को अस्वीकृत कर देने का भी अधिकार प्राप्त था। यह सही है कि गवर्नर जनरल व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत

प्रत्येक अनुदान को अपनी विशेष शक्तियों के प्रयोग द्वारा मंजूर कर सकता था और व्यवस्थापिका द्वारा प्रतिषिद्ध प्रत्येक विधेयक को भी सर्टीफाई कर सकता था। परन्तु इन असाधारण शक्तियों के बारम्बार प्रयोग से तो यही पता चलता था कि सरकार और जनता के बीच बहुत भारी अन्तर है। इसके अलावा केन्द्रीय व्यवस्थापिका प्रश्नोत्तरों व स्थगन प्रस्तावों आदि के द्वारा भी कार्यकारिणी के ऊपर अप्रत्यक्ष रीति से पर्याप्त प्रभाव डाल सकती थी। सरकार सदैव ही इस प्रभाव की अवहेलना नहीं कर सकती थी। यह सत्य है कि वह लोकमत के प्रति उत्तरदायी नहीं बनी, परन्तु वह लोकमत को सर्वथा ठुकराती भी नहीं रह सकती थी।

कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्र रही— १९१९ के एक्ट में एक बड़ी भारी त्रुटि और थी और वह यह कि कार्यकारिणी उसके नियन्त्रण से सर्वथा स्वतन्त्र थी। लोकतन्त्र के अनुसार यह आवश्यक है कि कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के द्वारा नियन्त्रित हो। परन्तु १९१९ के सुधारों में इस बात की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया। इस एक्ट के अधीन कार्यकारिणी जब चाहती तब व्यवस्थापिका की इच्छा को ठुकरा सकती थी इसके ऊपर व्यवस्थापिका का कोई अंकुश न था।

व्यवस्थापिका के पास प्रभुत्व शक्ति का अभाव था—स्पष्ट है कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका प्रभुत्व-शक्ति से पूर्णतः वंचित रखी गई थी। उसकी शक्तियाँ बहुत परिमित थीं। उनके ऊपर बड़े-बड़े प्रतिबन्ध लगे हुए थे। वह ब्रिटिश संसद सर्वोच्च सत्ता के अधीन था और वह ऐसे किसी अमेन्ड व कानून को जो कि भारतवर्ष के ऊपर लागू हो सकती हो, संशोधित या रद्द नहीं कर सकती थी। इसके अलावा देश का आय का ४/५ भाग ऐसा था जिसके ऊपर व्यवस्थापिका वाद-विवाद भी न कर सकती थी और अवशिष्ट १/५ भाग भी पूर्णतः उसके नियन्त्रण में नहीं था। यह माना जा सकता है कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका एक प्रभावशाली निकाय थी परन्तु वीटो और प्रमाणीकरण की विशेष शक्तियों ने उसकी स्थिति विधि-शून्य हीन सभा के तुल्य कर दी थी।

प्रान्तीय सरकारें

५३ केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्ध

प्रान्तों का विकास, तीन प्रेसीडेन्सियों की स्वतन्त्रता केन्द्रीकरण की वृद्धि— ईस्ट इण्डिया कम्पनी की व्यावसायिक बस्तियाँ सबसे पहले बम्बई मद्रास और कलकत्ते के तीन समुद्र तटीय नगरों में स्थापित हुई थीं—१७६५ में बंगाल की दीवानी को हस्तगत करने के पश्चात उनकी स्थिति में अन्तर हो गया। अब वह अपने अधीनस्थ प्रदेशों की राजनीतिक प्रभु हो गई। जैसे-जैसे कम्पनी ने और प्रदेशों को विजित किया वह उन्हें उन बस्तियों के साथ जोड़ती गई जिसके कि वे सान्निध्य में पड़ते थे। इस प्रकार तीन बड़ी प्रेसीडेन्सियों का विकास हुआ। इनमें से प्रत्येक प्रेसीडेन्सी एक गवर्नर

की अधीनता में थी। गवर्नर या प्रेसीडेण्ट परिषद् के रूप में अपनी अपनी अधीनस्थ प्रेसीडेन्सियों का शासन करते थे। प्रारम्भ में ये प्रेसीडेन्सियाँ एक दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र थीं व सीधे लन्दन से शासित होती थीं। परन्तु इस सम्बन्ध में कई खतरे निहित थे। इस बात की महती आवश्यकता मालूम पड़ने लगी कि प्रेसीडेन्सियों को भारत में ही केन्द्रीय सत्ता के निरीक्षण व नियन्त्रण में रखा जाए। फलतः १७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट से केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।

नूतन प्रान्तों की सृष्टि—१७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट के अनुसार बंगाल के गवर्नर को गवर्नर जनरल का नाम दे दिया गया और उसे तीनों प्रेसीडेन्सियों का निरीक्षण व नियन्त्रण करने का अधिकार दे दिया गया। वह बंगाल के ऊपर १८५४ तक सीधे शासन करता रहा। इसके बाद बंगाल के शासन प्रबन्ध के लिए एक उप-गवर्नर की नियुक्ति की गई। इसी बीच भारतवर्ष में ब्रिटिश अधीनस्थ प्रदेशों का निरन्तर विस्तार होता रहा था। प्रेसीडेन्सियाँ बहुत बड़ी हो गई थीं उनको कई प्रान्तों में बाँट दिया गया और फिर बाद में इन प्रान्तों को भी उप-विभाजित कर दिया था। इस प्रकार उत्तर पश्चिमी प्रान्त (जिसे कि बाद में आगरा और अवध का संयुक्त प्रान्त नाम दिया गया) को बंगाल से अलग किया गया। १८५९ में पंजाब की सृष्टि हुई। कुछ समय बीतने पर मध्य प्रान्त, बर्मा, आसाम और उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त का निर्माण किया गया। यह प्रक्रिया १९३५ तक चलती रही। १९३५ में उड़ीसा को बिहार से और सिंध को बम्बई से अलग कर दिया गया।

प्रान्तों के भेद—नए प्रान्तों की सृष्टि में किसी योजना के अनुसार कार्य नहीं किया गया। उसमें संस्कृति व भाषा विषयक समस्त प्रश्नों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया था। इस प्रकार के प्रत्येक विभाजन में केवल एक ही सिद्धान्त के अनुसार कार्य किया गया था और वह सिद्धान्त था शासन की सुविधा का प्रश्न। फलतः ब्रिटिश भारत असमान इकाइयों का एक जमघट सा बन गया। रेगुलेशन और नान-रेगुलेशन प्रान्तों के बीच भेद किया गया। पुनः इन प्रान्तों को गवर्नर के प्रान्तों, उप-गवर्नर के प्रान्तों और चीफ कमिश्नर के प्रान्तों में भी बाँटा गया।

प्रान्तों में एकरूपता—इन प्रान्तों में केवल एक ही प्रकार की समानता थी और वह यह थी कि ये सब एक ही केन्द्रीय सत्ता की पूर्ण अधीनता में थे। १७७३ के पश्चात् से जिस केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ था वह लार्ड कर्जन के शासन काल में अति तक पहुँच गई। यह बात सर्वथा अवांछनीय थी। प्रान्त केन्द्र के प्रशासनीय अभिकर्त्ता-मात्र ही रह गए। प्रशासनीय व्यवस्थात्मक और वित्तीय विषयों में केन्द्र का प्रान्तों के ऊपर पूर्ण आधिपत्य था।

विकेन्द्रीकरण के प्रति नूतन प्रवृत्ति—मौंटफोर्ड सुधारों के अधीन केन्द्र व प्रान्तों के बीच सम्बन्ध—इस अतिशय केन्द्रीकरण के फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार का कार्य कठिन हो गया। १८७० के पश्चात् जबकि भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की

जड़ें काफी मजबूत हो गई। प्रादेशिक नियंत्रण विषयक एकरूपता की आवश्यकता भी घट गई। फलत अब विकेन्द्रीकरण के प्रति एक नूतन प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। केन्द्र के नियंत्रण को धीरे धीरे शिथिल कर दिया गया और कुछ उल्लिखित क्षेत्रों में प्रांतों को भी थोड़ी सी स्वतंत्रता दे दी गई। परन्तु सत्ता का यह विभाजन शासन प्रबंध का विषय था। फिर भी सवैधानिक दृष्टि से केन्द्रीय सरकार ही सर्वशक्तिशाली रही। १९१९ के सुधारों के अधिनियमन तक प्रांतों के पास सच्ची स्वायत्तता नहीं थी। इस दिशा में माटफोर्ड सुधारों ने एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। चूंकि प्रांतों में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई अत केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्धों में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

केन्द्रीय और प्रांतीय सूचियां—१९१९ के एक्ट ने भारतवर्ष में संघीय राज्य तन्त्र की स्थापना नहीं की। वस्तुत इस विचार को योजना के आकलन के पश्चात् अस्वीकार कर दिया गया। तथापि यह बात निस्सदेह है कि प्रांतों को आंशिक स्वायत्तता प्रदान की गई। विधान नियमों के अधीन व्यवस्थापन और राजस्व के शासकों को दो सूचियों में बांटा गया (क) केन्द्रीय सूची में सुरक्षा, विदेशी और राजनीतिक सम्बन्ध, आयात शुल्क, डाक और तार, मुद्रा, नमक कर, आयकर, अफीम, व्यवहार विधान और दण्ड विधान तथा जनगणना आदि विषय सम्मिलित थे। (ख) प्रांतीय सूची में महत्वपूर्ण विषय निम्नलिखित थे—पुलिस, न्याय, जन शिक्षा, स्थानीय स्व शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, दवाखानों का प्रबन्ध, भूमिकर, सिंचाई और जंगल आदि। १९१९ के एक्ट के अधीन कोई समवर्ती सूची नहीं थी और समस्त अवशिष्ट सत्ताएं अर्थात् वे सब विषय जो कि प्रांतीय सूची में सम्मिलित नहीं किए गए थे केन्द्रीय सरकार के अधीन रख गए थे। यदि केन्द्रीय और प्रांतीय सरकार के बीच किसी विषय को लेकर विवाद उठ खड़ा होता उस स्थिति में गवर्नर जनरल ही यह निश्चित करता था कि वह विषय प्रांत की अधीनता में है या केन्द्र की। तथापि यह स्मरणीय है कि सत्ताओं का उक्त विवरण पूर्ण स्वरूप नहीं था और केन्द्रीय सरकार कई उपायों से प्रान्तीय क्षेत्र को आक्रान्त कर सकती थी। तथापि यह निश्चित कर दिया गया था कि प्रांतीय सरकारों को 'हस्तान्तरित' विषयों के सम्बन्ध में पूर्ण स्वाधीनता मिलनी चाहिए। इन हस्तान्तरित विषयों को निर्वाचित मंत्रियों की अधीनता में रखा गया था जो कि प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के प्रति उत्तरदायी थे।

वित्तीय विधान—केन्द्र और प्रान्तों के वित्तीय स्रोतों का भी १९१९ के एक्ट में पार्थक्य आरम्भ कर दिया गया। भूमिकर, सिंचाई, आबकारी, जंगल, खान, मुद्रा तथा पंजीयन और आयकर के एक भाग की रसीदें पाने के अलावा जिन्हें कि केन्द्रीय सरकार एकत्रित करती थी प्रांतीय सरकारें अपनी आय की पूर्ति करने के लिए कुछ अनुल्लिखित करों को केन्द्रीय सरकार की बिना अनुमति के लिए भी लागू करने के लिए

अधिकृत थीं। प्रान्तीय सरकारें इसी प्रकार के कुछ अन्य करों को केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेकर लागू कर सकती थी। पुनश्च वे गवर्नर जनरल व भारत मन्त्री का अनुमोदन पाकर क्रमश भारतवर्ष में और विदेशों म सार्वजनिक ऋण भी एकत्रित कर सकती थी। राजस्व की मदों के विकेन्द्रीकरण के फलस्वरूप यह भय उत्पन्न हो गया कि केन्द्रीय सरकार आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं रह सकेगी। केन्द्रीय सरकार के १० करोड़ रु० के वार्षिक घाटे को पूरा करने के लिए यह निर्धारित किया गया था कि प्रान्तीय सरकारें उसे कुछ वार्षिक अनुदान दिया करेंगी।

प्रत्येक प्रान्त का ठीक ठीक अनुदान मेस्टन एवार्ड के अनुसार निश्चित किया गया। परन्तु प्रान्तीय सरकारों ने इस अवार्ड की निरन्तर शिकायतें की फलत प्रान्तीय अनुदानों की पद्धति को १९२८ म समाप्त कर दिया गया। १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत वित्तीय विषयों के वितरण म सबसे बड़ा दोष यह था कि आय के विस्तार शील व दमनशील स्रोतों को केन्द्रीय सरकार के अधीन रखा गया। इसके विपरीत प्रान्तीय सरकारों के कन्धों पर राष्ट्र का निर्माण करने वाले वस्तु कर्मों का भार रखा गया परन्तु उसकी आय के स्रोत भूमिकर और आन्त शुल्क आदि अत्यन्त अप्रिय व अनमनशील थे। परन्तु फिर भी यह बात निर्विवाद है कि १९१९ के एक्ट ने संघवाद की ओर एक निश्चित पग बढ़ाया। १९३५ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट में इसी को कतिपय सुधारों व संशोधनों के सहित क्रियान्वित किया गया।

५४ प्रान्तीय कार्यकारिणी—द्वैध शासन प्रणाली

प्रान्तीय स्वायत्तता की दिशा में प्रथम पग—रिपोर्ट के अनुसार मोंटफोर्ड-सुधारों की नवीनता इस बात मे सन्निविष्ट थी कि उन्होंने दोनों ही अर्थों—अर्थात् केन्द्रीय सरकार नियन्त्रण के शिथिलीकरण व प्रान्तीय कार्यकारिणी के व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व से प्रान्तीय स्वायत्तता की पुनःस्थापना की। २० अगस्त १९१७ की घोषणा मे जिस उत्तरदायी शासन की स्थापना का वचन दिया गया था १९१९ का एक्ट उस दिशा मे प्रथम पग था। इस अध्याय के प्रारम्भिक खण्ड में हम देख चुके हैं कि भारतीय संवैधानिक ढांचे की एकात्मक प्रकृति म कोई विशेष अन्तर किए बिना ही १९१९ के एक्ट ने प्रान्तीय क्षेत्र में सीमित स्वायत्तता की स्थापना की। यद्यपि भारतीय सरकार के नियन्त्रण को भी पूर्णत हटाया नहीं गया फिर भी प्रान्त अपने काम स्वयं कर सकें इसकी इन्हें थोड़ी सी स्वतन्त्रता दे दी गई।

द्वैध शासन एक मध्यम मार्ग—प्रान्तीय कार्यकारिणी को प्रान्तीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाने के दृष्टिकोण से मोंटफोर्ड सुधारों ने द्वैध शासन प्रणाली का सूत्रपात किया। यह उपाय पूर्णत नौकरशाही और उत्तरदायी शासन के मध्य का मार्ग था। स्पष्ट है कि ब्रिटिश अधिकारी वर्ग प्रान्तों तक में पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना करने के लिए तैयार नहीं था। सच्ची उत्तरदायी सरकार के लिए यह आवश्यक है कि कार्यकारिणी यथा सम्भव विस्तृत मताधिकार के आधार पर निर्वाचित व्यवस्थापिका

के अधीन हो। १६१६ के एक्ट के अधीन इसको उपबन्धित नहीं किया गया। उसने वस्तुत जो किया वह यह था कि प्रान्तीय सरकार को दो भागों में विभाजित कर दिया।

प्रान्तीय कार्यकारिणी के दो भाग (सरक्षित और हस्तातरित विषय)—एक भाग जिसमें कि गवनर और उसकी परिषद शामिल थी पुलिस न्याय जेल राजस्व सिंचाई और सावजनिक सेवाओ आदि विषयो को नियन्त्रित करता था। प्रान्तीय सरकार का यह भाग पूववत ही नौकरशाह बना रहा। यह भाग गवनर के प्रति ही उत्तरदायी था। सरकार के दूसरे भाग में गवनर और मन्त्री सम्मिलित थे। मन्त्री हस्ता तरित विषयो, अर्थात् शिक्षा, कृषि स्थानीय स्वशासन सावजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता आबकारी और उद्योगो आदि का प्रबन्ध करते थे। मन्त्रियो को स्वय गवनर प्रान्तीय व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यो में से नियुक्त करता था। मन्त्री लोग अपनी नीतियो और कार्यों के प्रति व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। व्यवस्थापिका अपने अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा उन्हें उनके पदों से हटा सकती थी।

विभागों का बेढगा वितरण—कानूनी दृष्टि से प्रान्तीय सरकार के दोनो भाग एक-दूसरे से बिल्कुल अलग अलग थे उनमें से प्रत्येक विभाग अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र था। परन्तु यह विचार किया गया था कि वे एक दूसरे को सलाह देकर काय करेंगे। यथाक्रम उनके नियन्त्रण में जो विभाग थे उनका एक–दूसरे के ऊपर प्रभाव पड़ता था। इस दृष्टिकोण से उक्त बात बहुत आवश्यक थी। सरक्षित और हस्ता तरित विषयो के प्रधान विभागो का वितरण बहुत बेढगा था। उदाहरणाथ कृषि को तो हस्तान्तरित खण्ड में रखा गया और सिंचाई को सरक्षित खण्ड में। इस प्रकार के दोषयुक्त प्रबन्ध में इस बात की पर्याप्त सम्भावना रहती थी कि कहीं क्षेत्राधिकार के प्रश्न को लेकर एक विभाग का दूसरे विभाग के साथ झगड़ा न हो जाए। इसलिए यह उपबन्धित किया गया कि मतभेद के समय की स्थिति में अन्तिम निणय गवनर का ही मान्य होगा।

राजस्वों का वितरण—१६१६ के एक्ट ने सरकार के दोनो भागों के बीच प्रान्तीय राजस्वों के वितरण का भी विधान किया। यह सुझाव दिया गया था कि यह वितरण सामान्य बुद्धि व तकसगत आदान प्रदान की सरल प्रक्रिया' द्वारा सम्पन्न होगा। तथापि यह निश्चित किया गया कि यदि कहीं मतभेद उठ खड़े होंगे तो गवनर को इस बात का अधिकार होगा कि वह राजस्वों का सरक्षित और हस्तान्तरित विभाग के बीच बाँट दे। सावजनिक ऋण एकत्रित करने के प्रस्तावों पर शासन के दोनो भाग सयुक्त रूप से विचार करते थे परन्तु निणय उनमें से हरेक अलग अलग करता था।

५५ गवनर

निर्युक्ति और पदावधि—द्वैध शासन प्रणाली में गवनर का स्थान बड़े महत्त्व का था। वह कायकारिणी का प्रधान था और इसकी शक्तियाँ बहुत विस्तृत थी।

प्रसीडेंसियों के गवर्नरों की नियुक्ति भारत मंत्री की सलाह के अनुसार सम्राट् करते थे। आमतौर पर जिन व्यक्तियों को प्रसीडेंसियों का गवर्नर बनाया था वे उच्चकुलोत्पन्न अंग्रेज होते थे उनका सार्वजनिक जीवन का काफी गहरा अध्ययन होता था। दूसरे प्रान्तों के लिए सम्राट गवर्नर जनरल की सलाह के अनुसार गवर्नर नियुक्त करते थे। दूसरे प्रान्तों के लिए आमतौर पर जो गवर्नर नियुक्त किए जाते थे वे ऊँचे नागरिक सेवकों में से होते थे। साधारणतः एक गवर्नर का कार्यकाल पाँच वर्षों का होता था।

गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी परिषद—गवर्नर सुरक्षित विषयों का शासन प्रबन्ध एक कार्यकारिणी परिषद् की सहायता से करता था। इस कार्यकारिणी परिषद् में अधिक से अधिक ४ और कम से कम दो सदस्य सम्मिलित होते थे।[2] १६१६ के एक्ट के अनुसार कार्यकारिणी में कम से कम एक एक सदस्य का होना आवश्यक था जो कि भारतवर्ष में कम से कम १२ वर्षों से सिविल सर्विस करता रहा हो। दूसरे सदस्य साधारणतः गैर सरकारी भारतीयों में से लिए जाते थे। अभिसमय के द्वारा परिषद् के अंग्रेज सदस्यों और भारतीय सदस्यों का दर्जा एक दूसरे के बराबर रखा जाता था। सदस्य सम्राट के द्वारा पाँच वर्षों के लिए नियुक्त किए जाते थे। व्यवहारतः उनके चुनाव में गवर्नर का बहुत हाथ रहता था। यद्यपि कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य प्रान्तीय व्यवस्थापिका के भूतपूर्व सरकारी सदस्य होते थे तथापि वे उनके प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। कार्यकारिणी परिषद की बैठकों में गवर्नर सभापति का आसन ग्रहण करता था सभापति की स्थिति में उसे एक निर्णायक मत के प्रयोग करने का अधिकार होता था। परन्तु यदि वह अपने प्रान्त या उसके किसी भाग की शान्ति व सुरक्षा के लिए आवश्यक समझता तो कार्यकारिणी परिषद के बहुमत के निर्णय का भी उल्लंघन कर सकता था। कार्यकारिणी परिषद् व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। व्यवस्थापिका सभा न तो उन्हें अपने स्थान से ही च्युत कर सकती थी और न उनके वेतन में ही किसी प्रकार की कमी कर सकती थी। अपने कार्यों के लिए कार्यकारिणी परिषद् गवर्नर के प्रति उत्तरदायी थे। इस प्रकार गवर्नर ही स्थिति का स्वामी होता था।

गवर्नर का मन्त्रियों के साथ काम करना—हस्तान्तरित विषयों का शासन प्रबन्ध गवर्नर के हाथों में था जिसे कि वह मन्त्रियों की सहायता से सम्पन्न करता था।

---

१ १९२१ में यू० पी० पंजाब बिहार और उड़ीसा सी० पी० तथा आसाम पूर्ण तरीके से गवर्नर के प्रान्त हो गए। १९२१ में बर्मा को और उसके एक वर्ष पश्चात उत्तर पश्चिमी प्रान्त को यह स्थिति प्राप्त हो गई।

२ केवल तीन ही प्रसीडेंसियाँ ऐसी थीं जिनमें कि गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् में ४ सदस्य होते थे। शेष सभी प्रान्तों में से परिषद् में २ सदस्य होते थे इन सदस्यों में से एक अंग्रेज सिविलियन होता था और दूसरा गैर सरकारी भारतीय।

एक्ट ने प्रान्तों में मन्त्रियों की कोई संख्या तो निश्चित नहीं की परन्तु व्यवहार में बड़े प्रान्तों में यह तीन होती थी और छोटों में दो। मन्त्रियों की नियुक्ति गवर्नर करता था। मन्त्री या तो वे लोग होते थे जो कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्य होते थे अथवा वे लोग होते थे जो कि अपनी नियुक्ति के ६ महीने के भीतर ही भीतर प्रान्तीय व्यवस्थापिका के सदस्य निर्वाचित हो जाते थे। किसी व्यक्ति को मन्त्री पद पर नियुक्त करने से पहले गवर्नर को यह देखना पड़ता था कि वह व्यवस्थापिका के विश्वास को प्राप्त करने और अपने दायित्व का सम्यक निर्वहन करने में समर्थ हो सकेगा या नहीं। मन्त्रियों की स्थिति वही थी जो कार्यकारिणी के पार्षदों की थी। मन्त्रियों को भी वही वेतन मिलता था जो कि कार्यकारिणी के पार्षदों का परन्तु उनकी स्थिति में व्यवस्थापिका को उपलब्धियों में कमी कर देने का अधिकार था। बम्बई में वस्तुतः ऐसा ही किया गया। वहाँ प्रत्येक मन्त्री का वेतन ६४,००० रु० प्रति वर्ष से घटा कर ४८,००० रु० प्रति वर्ष ही कर दिया गया। जब व्यवस्थापिका सभा भंग होती मन्त्रियों को अपना पद त्याग करना पड़ता था। परन्तु व्यवस्थापिका सभा मन्त्रियों के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हें इसके पूर्व ही पदच्युत कर सकती थी। दूसरे शब्दों में मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। इसके साथ ही साथ एक और ध्यान देने योग्य बात है वह यह कि मन्त्री गवर्नर के प्रसाद पर्यन्त ही अपने पदों पर नियुक्त रहते थे। यदि गवर्नर चाहता तो बिना किसी कारण का अध्यारोप किए भी उन्हें अपने पद से हटा सकता था।

साधारणतः गवर्नर से यह आशा की जाती थी कि वह मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य करे परन्तु उसे मन्त्रियों के निर्णयों में हस्तक्षेप करने के व्यापक अधिकार प्राप्त थे। वह यदि उचित समझता तो किसी भी मन्त्री के परामर्श को ठुकरा सकता था। वह मन्त्री जिसके कि परामर्श की इस प्रकार अवहेलना की जाती अपने पद का त्याग कर सकता था। आपात की स्थिति में मन्त्रियों के रिक्त स्थानों की पूर्ति न करने के लिए गवर्नर स्वतन्त्र था। उस स्थिति में वह हस्तान्तरित विभागों का प्रबन्ध सीधे अपने ही हाथों में ले सकता था।

गवर्नर के व्यवस्थात्मक अधिकार—ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि गवर्नर किसी प्रकार वैधानिक प्रमुख ही न था उसको जितने व्यापक अधिकार प्राप्त थे उनके कारण उसकी स्थिति एक स्वेच्छाचारी शासक के तुल्य हो गई थी। इस बात को इस तथ्य से ही समझा जा सकता है कि वह न केवल कार्यकारिणी परिषद को ही अपनी अधीनता में रख सकता था अपितु प्रान्तीय व्यवस्थापिका की इच्छा को भी बहुत अंशों में कुचल सकता था। इसके अलावा व्यवस्थापिका द्वारा पारित सभी कानूनों पर वह अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था। कुछ ऐसे विधेयक थे जिन्हें कि उसकी पूर्व अनुमति के बिना व्यवस्थापिका में पुनः स्थापित तक भी नहीं किया जा सकता था। यदि गवर्नर किसी विधेयक को आवश्यक समझता और व्यवस्थापिका उसे पारित करना अस्वीकार कर देती तो उस स्थिति में गवर्नर अपनी प्रमाणीकरण की शक्ति के प्रयोग द्वारा उस विधेयक को पारित घोषित कर सकता था। उसे गवर्नर जनरल की अनुमति प्राप्त करके अध्यादेशों को निर्मित का भी अधिकार प्राप्त था।

गवर्नर के वित्तीय अधिकार—गवर्नर के वित्तीय अधिकार भी इसी प्रकार बहुत विशाल थे। सरक्षित विषयों की स्थिति में व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत या घटाई गई ग्रांट को भी वह ज्यों की त्यों रख सकता था। हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में भी व्यवस्थापिका के विरोध के बावजूद भी गवर्नर यह कह कर किसी भी व्यय को प्रमाणीकृत कर सकता था कि वह प्रान्त की शान्ति और सुरक्षा अथवा अमुक विभाग के शासन प्रबन्ध के लिए आवश्यक है।

५६ प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल

प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों की नूतन स्थिति—१९१९ के एक्ट ने प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों की रचना व शक्तियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। उनके आकार में पर्याप्त वृद्धि की गई और उन्हें अधिक लोकतन्त्रात्मक बनाया गया। प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों में निर्वाचित सदस्यों का सारभूत बहुमत रखा गया और उन्हें जनता की अधिक प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएं बनाने के दृष्टिकोण से मताधिकार को भी विस्तृत किया गया। १९१९ के एक्ट के अधीन जो व्यवस्थापिकाएं निर्मित हुईं उनकी स्थिति पूर्वकाल की व्यवस्थापिकाओं से बिल्कुल भिन्न थी। अब वे कानून निर्माण के प्रयोजन के लिए कार्यकारिणी के हाथों की खिलौना मात्र ही नहीं रह गई थीं अपितु इसके विपरीत अब वे स्वतन्त्र संस्थाएं थीं और कार्यकारिणी के ऊपर किंचित नियन्त्रण भी स्थापित कर सकती थीं।

उनका बढ़ा हुआ आकार—प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों का आकार अलग अलग प्रान्तों में अलग अलग था परन्तु यह उपबन्धित किया गया कि सरकारी सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक ४० प्रतिशत और निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम से कम ७० प्रतिशत होनी चाहिए। अवशिष्ट सदस्य गवर्नर द्वारा मनोनीत गैर सरकारी सदस्य होते थे। विभिन्न प्रान्तों में व्यवस्थापिका सभाओं की वास्तविक रचना और निर्वाचित सरकारी और गैर सरकारी मनोनीत सदस्यों की प्रतिशत संख्या निम्न तालिका में दी गई है—

प्रान्त	निर्वाचित सदस्य	सरकारी सदस्य (भूतपूर्व परिषदों को सम्मिलित करके)	मनोनीत गैर सरकारी सदस्य	कुल जोड़
मद्रास	९८	७ जमा ४	२३	१३२
बम्बई	८६	१५ जमा ४	९	११४
बंगाल	११४	१२ जमा ४	१०	१४०
संयुक्त प्रान्त	१००	१५ जमा २	६	१२३
पंजाब	७१	१३ जमा २	८	९४
बिहार और उड़ीसा	७६	१३ जमा २	१२	१०३
मध्यप्रान्त	५५	८ जमा २	८	७३
आसाम	३९	५ जमा २	७	५३
बर्मा	८०	१४ जमा २	७	१०३

मताधिकार और निर्वाचन—१९१९ के सुधारों के अधीन मताधिकार के क्षेत्र को मार्ले मिण्टो सुधारों की अपेक्षा और व्यापक कर दिया गया। परन्तु इतने पर भी वह रहा काफी संकुचित। १९२० में ब्रिटिश भारत में २४१.८ प्रयुत (Million) की कुल जनसंख्या में कवल ५.३ प्रयुत लोगों को अथवा वयस्क जनसंख्या के केवल ६ प्रतिशत भाग को ही मतदान देने का अधिकार प्राप्त था। मतदाताओं की महताएं अलग अलग प्रान्तों में अलग अलग थीं। साधारणतः नगर निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान के अधिकारी वे ही लोग हो सकते थे जो या तो कम से कम २,००० रुपए वार्षिक आय पर आयकर देते हों अथवा ऐसे किसी मकान में रहते हों जिसका किराया कम से कम ३६ रु० प्रतिवर्ष हो अथवा कम से कम ३ रुपया प्रतिवर्ष के म्युनिसिपल उपशुल्क देते हों। देहाती निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान के अधिकारी वे ही लोग हो सकते थे जो कि कम से कम १० रु० प्रतिवर्ष से लेकर ५० रु० प्रतिवर्ष तक का भूमि कर देते हों। जमींदार निर्वाचन क्षेत्रों से विहित की गई महता यह थी कि जो लोग ५०० रु० प्रतिवर्ष (पंजाब में) से लेकर ५००० रु० प्रतिवर्ष (यू० पी० में) तक का भूमिकर देते हों वे ही मतदान के अधिकारी हो सकते हैं। विश्वविद्यालय निर्वाचन क्षेत्रों में ७ वर्षों की स्टैंडिंग वाले रजिस्टर्ड ग्रेजुएट ५ वर्षों की स्टैन्डिंग वाले एम० ए० और विश्वविद्यालयों के पार्षद (Fellows) मतदान के अधिकारी थे। सैनिक सेवा भी एक महता मानी जाती थी और पंजाब व सी० पी० में लम्बरदार तथा गांव के मुखिया मतदाता हो सकते थे। मांटफोर्ड सुधारों ने प्रत्यक्ष निर्वाचनों की प्रणाली विहित की।

साम्प्रदायिक और विशेष निर्वाचक मण्डल—सभी निर्वाचनों का आधार 'जातियों और हितों' के लिए पृथक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त रखा गया। मॉन्टफोर्ड प्रतिवेदन के निम्न आधारों पर पृथक निर्वाचन मण्डलों का खण्डन किया था (१) वे विभिन्न सम्प्रदायों के बीच द्वेष भाव की सृष्टि करते हैं। (२) वे अल्पसंख्यक वर्गों को अनुन्नत दशा में यथापूर्व रखते हैं। (३) वे नागरिकता की श्रेष्ठ भावना के विकास में बाधा डालते हैं और (४) उत्तरदायी शासन के विकास का मार्ग अवरुद्ध कर देते हैं। इस अलगाववादात्मक पद्धति को समाप्त कर देने के लिए ये तर्क काफी वजनदार थे। परन्तु प्रतिवेदन ने इस पद्धति का केवल मुसलमानों के लिए ही कायम रखने की अपितु उसे सिक्खों के ऊपर और लागू कर देने की सिफारिश की। १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्ध एक्ट के अधीन जो नियम बने, वे इससे भी आगे बढ़ गए और उन्होंने भारतीय ईसाइयों यूरोपियनों तथा आंग्ल-भारतीयों को पृथक निर्वाचक मण्डल प्रदान किए। इसके अलावा उन्होंने बहुल-सदस्य निर्वाचन क्षेत्रों में मद्रास में अब्राह्मणों के लिए और बम्बई में मराठों के लिए स्थानों के संरक्षण की भी उपबन्धित किया। जमींदारों व्यावसायिक और औद्योगिक हितों तथा विश्वविद्यालयों के लिए भी विशेष प्रतिनिधित्व की गारन्टी दी गई। एक दूसरा भेद देहाती और नागरिक निर्वाचन क्षेत्रों में किया गया। देहाती निर्वाचन क्षेत्रों को नागरिक निर्वाचन क्षेत्रों की अपेक्षा

अधिक वजन दिया गया। यद्यपि सरकार ने नागरिक और देहाती क्षेत्रों के बीच यही अंतर बनाया था जो कि प्रगति और जड़ता के बीच होना है। इस प्रकार सरकार की नीति यह थी कि नूतन कौंसिलों में अनुदार तत्वों और वर्ग स्वार्थों का ही आधिपत्य रहे। दूसरे शब्दों में व्यवस्थापक मण्डल न तो प्रस्तुत लोकतन्त्रात्मक ही थे और न वे यथार्थ जनता का प्रतिनिधित्व ही करते थे। सरकारी और मनोनीत गुट का प्रभाव जिसके साथ कि साम्प्रदायिक व विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य भी सम्मिलित हो जाते थे प्रान्तों में लोकतन्त्र की स्थापना के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा थी।

व्यवस्थापिका सभाओं का कार्यकाल–व्यवस्थापिका सभा का अध्यक्ष—गवर्नरों के प्रान्तों की व्यवस्थापिकाएं तीन वर्षों के लिए निर्वाचित की जाती थीं परन्तु गवर्नर उनका अपने पूरे कार्यकाल के समाप्त होने के पूर्व ही भंग कर सकते थे अथवा विशेष परिस्थितियों में वे उनके जीवन को अधिक से अधिक एक वर्ष के लिए बढ़ा सकते थे। व्यवस्थापिकाओं को गवर्नर आहूत करता था उसे उन्हें कुछ काल के लिए स्थगित कर देने का भी अधिकार था। पहले चार सालों के लिए गवर्नर को अपने प्रान्त की व्यवस्थापिका के अध्यक्ष का नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त था उपाध्यक्ष के निर्वाचन पर भी अपनी स्वीकृति देने का हक था। इसलिए सभा को अपना अध्यक्ष अपने आप ही चुनना था।

प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों की व्यवस्थात्मक और वित्तीय शक्तियां—१६१६ के एक्ट ने प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों की व्यवस्थात्मक वित्तीय और वाद विवाद करने की शक्तियों में वृद्धि की। इसके साथ ही साथ एक्ट ने उन्हें प्रान्तीय कार्यकारिणी के एक भाग को भी नियंत्रित करने का अधिकार दिया। परन्तु व्यवस्थापक मण्डलों की शक्तियों के ऊपर कई बड़े बड़े प्रतिबन्ध लगे हुए थे। उदाहरणार्थ व्यवस्थात्मक क्षेत्र में गवर्नर की वीटो और प्रमाणीकरण की शक्तियों ने प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल की शक्तियों को बहुत परिमित कर दिया था। वह किसी भी विधेयक अथवा उसकी किसी धारा के आकलन को अथवा उसके संशोधन को रोक सकता था। यदि वह ऐसा करना प्रान्त की शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक समझता तो उसके इस कार्य में बाधा उपस्थित करने की व्यवस्थापक मण्डल को शक्ति नहीं थी। इसके अलावा कुछ विधेयक ऐसे थे जिन्हें कि गवर्नर की पूर्व स्वीकृति के बिना व्यवस्थापक मण्डल में पुनः स्थापित नहीं किया जा सकता था। इसी प्रकार वित्तीय क्षेत्र में भी प्रान्तीय बजट का अधिकांश भाग अमतापेक्षी था। मतापेक्षा भाग की स्थिति में भी व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत अथवा घटाई हुई ग्रांट यदि किसी सरक्षित विषय से सम्बद्ध होती था तो गवर्नर उसे यथापूर्व रख सकता था। आपात काल में यदि किसी व्यय की आवश्यकता होती तो गवर्नर उसे व्यवस्थापिका के अनुमोदन के बिना अधिकृत कर सकता था।

प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं का कार्यकारिणी से सम्बन्ध—जहाँ तक प्रान्तीय व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के सम्बन्धों का प्रश्न है, मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। मन्त्रियों के वेतन और उनके विभागों से सम्बद्ध धन के अधिकांश अनुदानों पर व्यवस्थापिका को मतदान देने का अधिकार था। वह किसी भी मन्त्री को उसके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके त्यागपत्र देने के लिए विवश कर सकती थी। परन्तु द्वैधात्मक कार्यकारिणी का दूसरा भाग अर्थात् कार्यकारिणी परिषद प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं था और न व्यवस्थापक मण्डल इन्हें (कार्यकारिणी परिषदों को) पदच्युत ही कर सकता था। परन्तु यदि व्यवस्थापिका सभा इस अर्द्ध भाग कार्यकारिणी को नियन्त्रित नहीं कर सकती थी तो कई परोक्ष रीतियों से प्रभावित अवश्य कर सकती थी। प्रश्नों व स्थगन प्रस्तावों के द्वारा और रक्षित विभागों से सम्बद्ध उन अनुदानों को जिनके ऊपर कि उसे मतदान देने का हक था अस्वीकार करके या घटा कर व्यवस्थापिका सभा कार्यकारिणी के ऊपर काफी जोर का दबाव डाल सकती थी और कभी कभी उससे अपनी बात मनवा लेती थी।

५७ द्वैधशासन प्रणाली की असफलता

द्वैधशासन प्रणाली के प्रयोग को सोलह वर्षों तक (१९२१–१९३७) चलाया गया परन्तु समस्त निरीक्षकों ने इसे एक बहुत बड़ी असफलता बताया। यह ठीक है कि इसमें कुछ सफलताएं प्राप्त की और भारतीयों को आंशिक रूप से देश के शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। इस काल में शिक्षा, स्थानीय स्वशासन व स्वास्थ्य आदि विभागों में कुछ महत्वपूर्ण सुधार भी किए गए। परन्तु यह अपना मुख्य उद्देश्य प्रान्तीय प्रशासन के हस्तान्तरित भाग में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने में सर्वथा असफल रही। ब्रिटिश लेखकों ने द्वैधशासन प्रणाली की असफलता का सारा दोष कांग्रेस के सिर मढ़ने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि स्वराज्य दल ने अड़ंगा नीति का आश्रय लिया अथवा भारत में शिक्षा का अभाव था इसलिए द्वैधशासन प्रणाली असफल सिद्ध हुई परन्तु असफलता के असली कारण तो मोंटफोर्ड सुधारों के अधीन योजित उत्तरदायी शासन की अपरिपक्वता में ही सन्निविष्ट थे।

सैद्धान्तिक दृष्टि से दोषपूर्ण—द्वैध शासन का सिद्धान्त सैद्धान्तिक दृष्टि से गलत था। शासन को प्रायः एक शरीर के समान माना गया है अतः उसके विभिन्न अंगों को पृथक करने का मतलब होगा शरीर रूपी मशीन का बन्द हो जाना। परन्तु द्वैध शासन प्रणाली इस तथ्य की अवहेलना करती थी। हस्तान्तरित और रक्षित विषयों का दायित्व दो अलग अलग शक्तियों को सौंपा गया जो विरोधी उद्देश्यों से अनुप्राणित थीं। सर रैजीनाल्ड क्राडक ने लिखा है, "द्वैध शासन एक प्रकार की वर्णसंकर व्यवस्था है जो कभी सफल नहीं हो सकती क्योंकि किसी देश या प्रान्त का शासन दो पृथक शक्तियों द्वारा सफलता पूर्वक नहीं चलाया जा सकता।

गवनर की स्वेच्छाचारी शक्तियों ने उत्तरदायी शासन की वृद्धि को अवरुद्ध किया—१६१६ के एक्ट का सबसे बड़ा दोष यह था कि उसने गवनरों को हस्तान्तरित विभागों के सम्बन्ध में भी इतने अधिक अधिकार दे दिए थे कि वे उत्तरदायी शासन की वृद्धि को अत्यन्त सफलतापूर्वक अवरुद्ध कर सकते थे। गवनर को मन्त्रियों द्वारा प्रदत्त परामर्श की अवहेलना करने का अधिकार प्राप्त था। फलतः गवनर मन्त्रियों के साथ केवल परामर्शदाताओं अथवा गौरवान्वित सचिवों जैसा ही व्यवहार करता था। शासन प्रबन्ध की असली शक्ति मन्त्रियों के हाथों में न होकर अपितु गवनर के हाथों में थी। इसने एक असंगत स्थिति की सृष्टि की, मन्त्रियों को दो स्वामियों की सेवा करनी पड़ती थी। वह अपने पद पर व्यवस्थापिका के विश्वास पद न हो स्थिर रह सकते थे। इसके साथ ही साथ जब तक कि वे पदत्याग देने के लिए प्रस्तुत नहीं हो जाए उन्हें स्वेच्छाचारी गवनर के अधीन ही रहना पड़ता था। बहुत से मन्त्री ऐसे थे जो कि स्वतन्त्रता की अपेक्षा पद पर आरूढ़ रहना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। मद्रास के एक मन्त्री ने खुल्लम खुल्ला यह कह दिया था कि वह व्यवस्थापिका सभा के प्रति नहीं अपितु गवनर के प्रति उत्तरदायी है।

मन्त्री व्यवस्थापिका सभा के निर्वाचित सदस्यों की अपेक्षा सरकारी गुट पर अधिक निर्भर रहते थे—मौंटफोर्ड सुधारों में दूसरा दोष यह था कि मन्त्री एक ठोस सरकारी गुट और मनोनीत सदस्यों की उपस्थिति में व्यवस्थापिका के प्रति सच्चे अर्थों में उत्तरदायी नहीं हो सकते थे। कुल मिलाकर उनकी संख्या व्यवस्थापिका सभा के कुल सदस्यों की संख्या की ३०% होती थी। परन्तु उनकी वास्तविक शक्ति इससे भी अधिक होती थी क्योंकि उन्हें जमींदारों, व्यवसायियों और उद्योगपतियों, यूरोपियनों व आंग्ल भारतीयों के प्रतिनिधियों का तथा साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डल के आधार पर निर्वाचित कुछ सदस्यों का समर्थन सदैव ही प्राप्त हो जाता था। यदि इतने पर भी व्यवस्थापिका के अवशिष्ट सदस्य बहुमत में रहते थे तो वे मिलकर साथ साथ काम नहीं करते। फलतः मन्त्रियों को निर्वाचित सदस्यों के समर्थन की अपेक्षा अपनी प्रयोजनसिद्धि के लिए सरकारी गुट का समर्थन प्राप्त करना अधिक आवश्यक प्रतीत होता था। यदि व्यवस्थापिका सभा में उनके समर्थकों की संख्या कम होती तब भी वह प्रतिगामी सदस्यों जो कि सदैव गवनर के इशारों पर नाचते थे की सहायता से ही अपने मन्त्रिपद पर आसीन रह सकते थे। फलतः मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति बिलकुल ही उत्तरदायी न रहे। वस्तु स्थिति में वे अनुत्तरदायी और अटल अचल कार्यकारिणी के प्रति उत्तरदायी रहते थे।

संयुक्त उत्तरदायित्व का अभाव—मोंटफोर्ड सुधारों में तीसरा दोष यह था कि उन्होंने संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की उपेक्षा की। यह अत्यन्त अनुचित था क्योंकि संयुक्त उत्तरदायित्व के अभाव में किसी भी मन्त्रिमण्डल की गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती। व्यवहारतः गवनर मन्त्रियों को बिना किसी राजनीतिक एकाचिति (Political

homogeneity) की ओर ध्यान दिए ही चुन लेते थे। यदि सारे प्रान्तीय मन्त्री एक ही राजनीतिक दल के सदस्य होते तो सम्भवतः संयुक्त उत्तरदायित्व की प्रथा चल पड़ती। हुआ यह कि कभी कभी गवर्नर ने विरोधी दलों के मिश्रित सदस्यों को मन्त्री बना दिया था। फलतः मन्त्री एक टीम के रूप में काम नहीं कर सकते थे। वे मन्त्री थे, मन्त्रिमण्डल नहीं।[1] वस्तुतः मन्त्री अपने अपने विभाग के व्यक्तिगत प्रमुख होते थे। वे उस सुसंगठित टीम की तरह नहीं होते थे जो एक इकाई के रूप में व्यवस्थापिका का सामना करती है। कभी-कभी मन्त्री लोग सभा भवन में ही एक दूसरे का विरोध करने लगते थे।[2] यह ठीक है कि इस अवस्था के लिए कुछ हद तक राजनीतिक दल पद्धति का अभाव भी दोषी था। परन्तु इस अवस्था के मुख्य उत्तरदायी गवर्नर लोग भी थे। मुडीमैन कमेटी के सामने गवाही देते हुए कई भूतपूर्व मन्त्रियों ने इस दोष की जिम्मेदारी गवर्नरों के सिर मढ़ी थी। पंजाब के सम्बन्ध में गवाही देते हुए स्वर्गीय लाला हरिकिशन लाल ने अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया था, "हम लोग कभी किसी बात पर एक साथ विचार न करते थे। प्रान्तीय गवर्नर मुझसे कहा करते थे कि नियमानुकूल प्रत्येक मन्त्री को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के आधार पर ही सारा काम करना चाहिए।" जब कि व्यवस्थापिका में इतने अधिक वर्गीय व साम्प्रदायिक समूहों को प्रतिनिधित्व दे दिया गया, तो स्वस्थ दल पद्धति का विकास कैसे हो सकता था? फलतः प्रान्तों में उस प्रकार का उत्तरदायी शासन स्थापित न हो सका जिसकी आशा की गई थी।

हस्तान्तरित और सुरक्षित विषयों का भेद—द्वैध शासन प्रणाली की असफलता का चौथा कारण हस्तान्तरित और सुरक्षित विषयों का भेद था। उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए यह सर्वथा अनुपयुक्त था। इन विषयों की अलग अलग सूचियाँ अवश्य बनाई गईं पर व्यवहार में इस प्रकार का विभाजन पूर्णतः दोषपूर्ण सिद्ध हुआ। मद्रास के के० वी० रेड्डी ने एक बार कहा था—"मैं जंगलों के बिना विकास मन्त्री था। मैं कृषि मन्त्री था परन्तु सिंचाई मेरे नियन्त्रण में न थी। मैं उद्योग मन्त्री था,

[1] इस सम्बन्ध में सम्भवतः मद्रास ही एक अपवाद था। वहाँ अब्राह्मणों की जस्टिस पार्टी का बहुमत था। उसने कुछ कुछ संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का पालन किया। संयुक्त प्रान्त में श्री सी० वाई० चिन्तामणि और पं० जगतनारायण

परन्तु कारखानों, बिजली, जन शक्ति गारों और श्रम आदि किसी पर मेरा नियन्त्रण न था क्योंकि वे सरक्षित विषय थ । स्पष्ट है कि हस्तान्तरित विषयों से सम्बन्धित अपने किसी काय म मन्त्रियों को तब तक कोई सफलता नहीं मिल सकती थी जब तक कि उन्ह कार्यकारिणी परिषदों का जिनकी कि अधीनता मे सरक्षित विभाग थे सहयोग न मिल जाता । परन्तु मन्त्रियों को यह सहयोग शायद ही प्राप्त नहीं हो पाता था । फलत यद्यपि असफलता का उत्तर दायित्व तो सामान्य होता था तथापि व्यवस्थापिका के द्वारा केवल मन्त्री ही दण्डित किए जा सकत थ ।

वित्तीय असंगतियाँ—पाँचवें वित्त के सम्बन्ध म मन्त्रियों की जो स्थिति थी उस दृष्टि से भी उनका उत्तरदायित्व भग्न था । प्रान्तीय सरकारों के हस्तान्तरित और सरक्षित विभागों का बजट एक ही होता था । विभिन्न विभागों के लिए राजस्व का प्रतिस्थापन मन्त्रियों और कार्यकारिणी परिषदों के पारस्परिक विचार विमर्श के द्वारा सम्पन्न हो सकता था । परन्तु यदि वे एक दूसरे के साथ सहमत न हो पाते उस स्थिति मे प्रतिस्थापन निश्चित करना गवनर के हाथ म था । स्वभावत गवनर कार्यकारिणी परिषदों के दृष्टि बिन्दुओं को मन्त्रियों के दृष्टि बिन्दुओं की अपेक्षा अधिक सहानुभूति के साथ सुनता था । इस सम्बन्ध म मन्त्रियों को एक और कठिनाई का सामना करना पड़ता था । वित्त विभाग के ऊपर उनका कोई नियन्त्रण नहीं था वह पूर्ण रूप से एक कार्यकारिणी परिषद के हाथों मे था । वित्त विभाग व्यय के सभी नए प्रस्तावों का परीक्षण करता था । इसमे मन्त्रियों की ओर से उपस्थित किए जाने वाले प्रस्ताव भी सम्मिलित रहते थ । विभिन्न विभागों को कितना धन दिया जाय इस बात का निर्णय भी उसी के हाथ मे रहता था । इस सम्बन्ध म यह सरक्षित विभागों के प्रति पक्षपात का परिचय देता था । सरक्षित विभागों को परामर्श करने पर ही सब चीजें मिल जाती थीं और हस्तान्तरित विभागों को आवश्यकता होने पर भी बहुत सी चीजें नहीं मिलती थी । इस प्रकार मन्त्रियों को जिनके कि जिम्मे राष्ट्र निर्माण का उत्तरदायित्व था वित्तीय विभाग के अनुचित हस्तक्षेप के कारण अपने कार्यों मे बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी । द्वैध शासन प्रणाली के अधीन वित्तीय प्रबन्ध की जो असंगतियाँ थी उन्होने इस बात को अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया कि जब मन्त्रियों को कोष के ऊपर ही नियन्त्रण रखने का अधिकार नहीं है तो उत्तरदायी शासन की बात करना कोई अर्थ नहीं रखता ।[1]

सिविल सर्विस और मन्त्रियों का सम्बन्ध—द्वैध शासन प्रणाली के अन्तर्गत उत्तरदायी शासन की अवास्तविकता मन्त्रियों और उनके अधीन सरकारी कर्मचारियों के सम्बन्धों में भी स्पष्ट होती है । मन्त्रियों के अधीनस्थ विभागों के स्थायी प्रमुख या सेक्रेटरी होते थे । इनमें से अधिकांश व्यक्ति भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य होते थे । उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि मन्त्री जो भी

१ ए बी० कीथ— ए कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० २७८ ।

आदेश दे उसके अधीनस्थ पदाधिकारी उन आदेशों का अविलम्ब पालन करें परन्तु इस शासन प्रणाली के अन्दर यह स्थिति नहीं थी। साम्राज्यीय सचिवों के ऊपर भारत मन्त्री का ही नियन्त्रण बना रहा। १९१९ के एक्ट के अधीन सिविल सर्विसों के अधिकारों व प्राधिकारों की रक्षा करना गवर्नर का कर्तव्य ठहराया गया। व्यवहार में इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्थायी पदाधिकारियों की नियुक्ति, स्थानान्तरण और तरक्की पर गवर्नर का नियन्त्रण होता था न कि उस मन्त्री का जिसके अधीनता में वे काम करते थे। उत्तरदायी शासन की भावना के प्रतिकूल इससे बढ़कर और कौन सी वस्तु हो सकती थी। एक ओर तो अपने विभाग के सम्यक् शासन प्रबन्ध के लिए मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी था और दूसरी ओर उसे इस बात की भी पूरी शक्ति नहीं दी गई थी कि वह अपने उन अधीनस्थ कर्मचारियों को दण्डित कर सकता जो कि उसकी नीतियों को कार्यान्वित करने में बाधक होते थे। यदि मन्त्रियों और सिविल सर्विस के सदस्यों में किसी प्रकार का मतभेद होता तो सिविल सर्विस के सदस्य मन्त्रियों की अवहेलना करके उच्चतर अधिकारियों की सहायता से अपनी ही बात रख सकते थे। यद्यपि अधिकांश अवसरों पर सिविल सर्विस के सदस्य मन्त्रियों के साथ सहयोग करते रहे फिर भी प्रत्येक प्रान्त में कुछ ऐसे अवसर अवश्य आए जब सिविल सर्विस के सदस्यों ने मन्त्रियों की बात न मानी और यदि मानी भी तो बेमन से। सिविल सर्विस और मन्त्रियों के पूर्वोक्त सम्बन्ध के कारण भी इस शासन प्रणाली कार्यरूप में दोषयुक्त और असफल सिद्ध हुई। उस समय प्रायः यह कहा जाता था कि कार्यकारिणी परिषद् का नया सदस्य सबसे पुराने मन्त्री से अधिक ऊंचा होता है।

सारांश

१९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने भारत की केन्द्रीय सरकार में कोई सारभूत परिवर्तन नहीं किया। उसने केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण को कुछ शिथिल कर दिया और केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सदस्यों की संख्या और उनकी शक्तियों में थोड़ी सी वृद्धि कर दी। केन्द्रीय कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति पूर्ववत् ही अनुत्तरदायी रही। व्यवस्थापिका को इतनी शक्तियां दे दी गई जिनसे कि वह कार्यकारिणी को नियन्त्रित तो नहीं परन्तु प्रभावित अवश्य कर सकती थी। प्रान्तों में द्वैध शासन प्रणाली के रूप में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई। यद्यपि ब्रिटिश भारत की एकात्मक प्रकृति तो पूर्ववत् ही रही, तथापि प्रान्तों को थोड़ी स्वायत्तता दे दी गई।

गृह-सरकार—भारतवर्ष में सम्पूर्ण शासन संचालन का केन्द्र लन्दन ही रहा। भारत सरकार लन्दन में अवस्थित गृह-सरकार के अधीन था। गृह-सरकार में भारत मन्त्री और उसकी परिषद् सम्मिलित थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भग होने के पश्चात भारत मन्त्री के पद की सृष्टि की गई। भारत-मन्त्री ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल और बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की सम्पूर्ण शक्तियों को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था। भारत मन्त्री ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता था। भारत के राजस्व और शासन से सम्बद्ध प्रत्येक क्रिया कलाप के सचालन नियन्त्रण व निरीक्षण का उसे अधिकार था। भारतीय परिषद जो कि एक परामर्शदात्री समिति थी उसके काय म उसे सहायता देती थी। १६१९ के एक्ट के अनुसार भारत मन्त्री का वेतन ब्रिटिश राजकोष से दिया जाने लगा। इस प्रकार इस एक्ट ने एक असगति को दूर कर दिया।

१९१९ के एक्ट के अधीन भारतवर्ष के लिए एक हाई कमिश्नर की नियुक्ति की गई। यह हाई कमिश्नर गवर्नर जनरल के द्वारा नियुक्त और नियन्त्रित होता था। हाई कमिश्नर का कार्यालय लन्दन में होता था। वह भारत सरकार के अभिकर्त्ता के रूप में काय करता था। इगलण्ड में पढने वाले भारतीय विद्यार्थियो के हितो की देख भाल करने का काय भी उसके ही जिम्मे था।

भारत सरकार—१९१९ के एक्ट ने केन्द्र मे उत्तरदायी शासन की स्थापना नही की। गवनर जनरल भारत मन्त्री के माध्यम से ब्रिटिश ससद के प्रति उत्तरदायी बना रहा। गवनर जनरल की कायकारिणी परिषद एक नौकरशाही निकाय थी जिसके ऊपर केन्द्रीय व्यवस्थापिका का तनिक भी नियन्त्रण नही था।

गवनर जनरल का पद अत्यन्त शक्तिपूर्ण और महत्वपूर्ण था। वह पूर्णत स्वेच्छाचारी शासक था। भारतीय शासन प्रबन्ध मे उसका स्थान सर्वोपरि था। उसकी व्यवस्थापक शक्तियाँ बहुत बडी चढी थीं। वह केन्द्रीय व्यवस्थापिका के द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक पर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था। व्यवस्थापिका के द्वारा अस्वीकृत विधेयको को अपने प्रमाणीकरण के अधिकार के द्वारा गवनर जनरल कानून का रूप देने में समथ था। गवनर जनरल को अध्यादेश प्रख्यापित करने का भी अधिकार था। केन्द्रीय वित्त के ऊपर भी उसका ही पूर्ण आधिपत्य था। व्यवस्थापिका को बजट के केवल ३० भाग पर ही मतदान का अधिकार था। व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत या घटाई हुई सभी माँगो को गवनर जनरल कायम रखने का अधिकारी था। कायकारिणी परिषद के ऊपर भी गवनर जनरल का पूर्ण प्रभुत्व था। कायकारिणी परिषद किसी भी दशा मे मन्त्रि परिषद के तुल्य नहीं थी।

मोटफोर्ड सुधारो ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका के दो सदन कर दिए। उच्च सदन को राज्य-परिषद् कहते थे। उसके सदस्यों की सख्या ६० होती थी जिसमें कि ३४ सदस्य निर्वाचित होते थे। निम्न सदन को भारतीय व्यवस्थापिका सभा कहते थे। उसके कुल सदस्यों की सख्या १४५ होती थी जिसमें कि ४१ सरकारी और गर सरकारी सदस्य मनोनीत होते थे। इस प्रकार दोनों सदनों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होता था। परन्तु निर्वाचित सीटों की पूर्ति पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचक गणों

और वह निर्वाचक गणों के माध्यम से होती थी। केन्द्रीय व्यवस्थापिका के पास प्रभुत्वशक्ति का अभाव था। वह कानून बनाने वाली संस्था थी परन्तु उसकी क्षमता के ऊपर गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी शक्तियों के कारण बहुत प्रतिबन्ध लगे हुए थे।

प्रान्तीय शासन—१६१९ के एक्ट ने प्रान्तों में उत्तरदायी शासन के प्रयोग को प्रारम्भ किया। प्रान्तीय शासन प्रबन्ध को दो भागों में बांटा गया। एक भाग में गवर्नर अपनी कार्यकारिणी परिषद् के सहित सम्मिलित था। यह भाग राजस्व कानून और व्यवस्था इत्यादि सुरक्षित विभागों का प्रबन्ध करता था। शासन के इस भाग के ऊपर प्रान्तीय व्यवस्थापिका का बिल्कुल नियंत्रण नहीं था। दूसरे भाग में गवर्नर और मन्त्री सम्मिलित थे। यह भाग कृषि, शिक्षा, स्थानीय स्वशासन इत्यादि हस्तान्तरित विषयों का प्रबन्ध करता था। मन्त्री लोग व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। व्यवस्थापिका उनके वेतन में कमी कर सकती थी और उनके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हें पदच्युत कर सकती थी।

गवर्नर ही सम्पूर्ण प्रान्तीय प्रशासन का सूत्रधार था। द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना ने उसे हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में भी वैधानिक शासक नहीं बनाया। मन्त्रियों के परामर्श को मानना न मानना उसके हाथ की बात थी। वह उसकी अवहेलना कर सकता था। इसके अलावा गवर्नर जनरल की ही तरह उसकी भी कार्यकारिणी विधायिनी और वित्तीय शक्तियाँ बहुत बड़ी चढ़ी थीं।

१६१९ के एक्ट के अधीन प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं (व्यवस्थापिका परिषदों) को काफी विस्तृत कर दिया गया। मन्त्रियों से उनके द्वारा किए गए कार्यों का कारण पूछने का उन्हें नया अधिकार दिया गया। परन्तु गवर्नरों की प्रशासनिक सत्ता के कारण उनकी व्यवस्थापनात्मक व वित्तीय शक्तियों के ऊपर प्रतिबन्ध लगे हुए थे।

१९१९ के एक्ट के अधीन जिस द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना की गई, उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली अर्थात् वह प्रान्तीय प्रशासन के हस्तान्तरित विभागों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना न कर सकी। गवर्नर की स्वेच्छाचारी शक्तियाँ उत्तरदायी शासन की स्थापना में सबसे बड़ी बाधाएँ थीं। मन्त्री मनोनीत सदस्यों के गुट की सहायता से अपनी गद्दी पर जमे रह सकते थे। दूसरे शब्दों में व्यवस्थापिका के प्रति वे कम उत्तरदायी रहते थे। प्रान्तीय शासन में संयुक्त उत्तरदायित्व का अभाव था। सुरक्षित और हस्तान्तरित सूचियों के बीच विषयों का बँटवारा बहुत बड़ा था। वित्तीय विभाग जो कि एक कार्यकारिणी परिषद् के हाथों में था मन्त्रियों के कार्यों में काफी हस्तक्षेप कर सकता था। इन मन्त्रियों का अपने अधीनस्थ भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं था। यदि मन्त्रियों और सिविल सर्विस के सदस्यों के बीच किसी प्रकार का मतभेद होता, तो सिविल सर्विस के सदस्य मन्त्रियों की अवहेलना करके, उच्चतर अधिकारियों की सहायता से अपनी बात रख सकते थे।

अध्याय ९

असहयोग आंदोलन

५८ प्रथम विश्वयुद्ध और भारतीय राष्ट्रीयता

युद्ध और राष्ट्रीयता—कूपलैंड ने लिखा है कि 'युद्ध राष्ट्रीयता को प्रकृष्ट कर देता है।'[1] प्रथम विश्वयुद्ध ने इसका एक दृष्टान्त प्रदान किया। ब्रिटिश और अमरीकन राजनीतिज्ञों द्वारा घोषित राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त ने यूरोप में एक उत्तेजना उत्पन्न कर दी। इसी सिद्धान्त के अनुसार कई नूतन राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की गई। पूर्व भी इससे अप्रभावित न रह सका। चीन और मध्यपूर्व में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन जोर शोर से प्रारम्भ हुए। युद्ध ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को भी अपूर्व सामर्थ्य प्रदान की। युद्ध के पश्चात भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की गति और दिशा दोनों में परिवर्तन हो गया।

आन्तरिक कारण (क) **आर्थिक कठिनाइयाँ**—कई ऐसे आन्तरिक कारणों ने भी जो कि सीधे युद्ध से सम्बद्ध थे—राष्ट्रीय आन्दोलन की गति को तीव्र कर दिया। युद्धकाल में भारतवर्ष को भीषण आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। अनिवार्य सामग्रियों की कमी और महँगाई के कारण जनता को बहुत कष्ट उठाने पड़े थे। मध्यवर्ग और निर्धन वर्ग की जनता की तो मानो कमर ही टूट गई थी। चीजों के दाम बहुत ऊँचे चढ़ गये थे, दूकानदार मनमाना मुनाफा कमाते थे। अनुचित लाभ उठाने पर अंकुश उठाने अथवा बहुत जरूरी चीजों पर राशन लगाने की कोई कोशिश नहीं की गई थी। एक ओर तो भारत में भुखमरी फैल रही थी, दूसरी ओर सरकार ने महायुद्ध के लिए धन एकत्र करने में ज्यादती से काम लिया। भारत सरकार ने देश की आर्थिक दुर्व्यवस्था का तनिक भी ध्यान न रखते हुए ब्रिटेन को दस करोड़ पौंड की भेंट दी। जनता की आर्थिक दशा इतनी शोचनीय हो गई थी कि कुछ स्थानों पर मजदूरों ने हड़तालें कीं, कहीं कहीं बलवे हो गये और बाजार लूट लिये गये।[2] चम्पारन (बिहार) और खेड़ा (गुजरात) में हालत विशेष रूप से खराब हो गई थी। यहाँ की परिस्थितियों ने महात्मा गांधी को अपने सत्याग्रह अस्त्र का सफल प्रयोग करने का सुअवसर प्रदान किया।

---

१ कूपलैंड— इण्डिया ए रिस्टेटमेन्ट, पृ ११७।

२ इण्डिया इन १९१७-१८, पृ ९।

(ख) प्लेग और इन्फ्लुएंजा—एक ओर तो आर्थिक कठिनाइयाँ ही जनता के जीवन को भार बनाये दे रही थीं, उस पर रोग और अकाल ने भी हमला बोल दिया। १९१७ में वर्षा ठीक से नहीं हुई, फलतः अकाल की-सी परिस्थितियाँ पैदा हो गई। अकाल के पीछे पीछे प्लेग, इन्फ्लुएंजा, मलेरिया और हैजा जनता के ऊपर चढ़ दौड़े। जनता इनका भला क्या सामना करती? भूखे पेट रहने के कारण उसकी शक्तियाँ तो पहले से ही क्षीण हो चुकी थीं। लगभग ८ लाख व्यक्ति तो प्लेग की भेंट चढ़ गये और ८० लाख जानों को इन्फ्लुएंजा खा गया। जनता तड़पकर और खून के आँसू पीकर रह गई।

(ग) राजनीतिक कारण, सरकार का दमनचक्र—उपर्युक्त कारणों ने भारतवर्ष में जो अशान्ति उत्पन्न कर दी थी, वह कुछ राजनीतिक कारणों से और भी बढ़ गई। लार्ड चेम्सफोर्ड के शासनकाल में सरकार की ओर से जो दमनचक्र चला, उसने राष्ट्रीय आन्दोलन को, चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो, तरह-तरह से कुचलने की चेष्टा की। प्रेस एक्ट और सेडीशन एक्ट का खुलकर प्रयोग किया। बंगाल में हालत विशेष रूप से खराब थी क्योंकि वहाँ पर नौकरशाही दमनचक्र जनता में तीव्र असन्तोष की भावना उत्पन्न कर रहा था। श्रीमती बीसेंट की नजरबन्दी और अली बन्धुओं के विरुद्ध सरकार की कार्यवाही का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। पंजाब में सर माइकेल ओ' डायर ने सारी राजनीतिक हलचलों को अपने फौलादी पंजे से कुचल डाला। उन्होंने तिलक और विपिनचन्द्र पाल जैसे नेताओं के पंजाब-प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

महायुद्ध के लिये धन एकत्र करने और सिपाही भर्ती करने में ज्यादतियाँ—सरकार ने महायुद्ध के लिए धन एकत्र करने और सिपाही भरती करने में जिन तरीकों से काम लिया वह भी सर्वथा दोषपूर्ण और असन्तोषजनक थे। इन तरीकों के कारण, जिन्हें सरकार ने दबाव और समझाने के तरीके कहा था परन्तु जो दरअसल ज्यादतियाँ थीं, पंजाब और अन्य जगहों में आगे चलकर भयंकर स्थितियाँ पैदा हो गई।

मौंटफोर्ड सुधारों से निराशा—मौंटफोर्ड प्रतिवेदन में भारतवर्ष के लिये जिन वैधानिक सुधारों का प्रस्ताव किया गया था, उनसे भारत के राष्ट्रीय तत्वों में तीव्र निराशा छा गई। जनता में आम धारणा यह थी कि ब्रिटिश सरकार ने युद्ध-काल में की गई अपनी प्रतिज्ञाओं को तोड़ दिया है और भारत को बहुत हीन समझ रखा है। युद्धकाल में भारतवर्ष ने धन और जन दोनों से ही अपूर्व सहायता की थी, मौंटफोर्ड प्रतिवेदन के प्रकाशित होने के पश्चात् मालूम पड़ा कि वह सब सहायता बिल्कुल बेकार हो गई।

खिलाफत प्रश्न—खिलाफत प्रश्न के ऊपर भारतीय मुसलमान अत्यन्त रुष्ट थे। जब लड़ाई चल रही थी, ब्रिटिश सरकार ने उन्हें यह वचन देकर कि न तो टर्की-साम्राज्य का ही विघटन किया जायगा और न खिलाफत का ही अन्त किया जाएगा, उनकी सहायता प्राप्त की थी। परन्तु युद्ध समाप्त होने के पश्चात भारतीय

मुसलमानों को पता चला कि अंग्रेजों के ये सब वचन केवल उन्हें भुलावे में डालने के लिए ही थे। इस बात की काफी अफवाह थी कि मित्र राष्ट्र टर्की साम्राज्य का विघटन करने और खिलाफत को समाप्त करने के लिए कमर कसे हुए हैं। सीवर्स की सन्धि ने अंग्रेजों की दोहरी चाल का पर्दाफाश कर दिया। इससे भारत के मुसलमानों को गहरा धक्का पहुँचा और उन्होंने खिलाफत आन्दोलन को प्रारम्भ किया। राष्ट्रीयता की नई भावना के उत्पन्न होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि १९१५ में गोखले की मृत्यु होने के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्व में परिवर्तन हो गया था।

उदारवादियों का अलगाव और राष्ट्रीय नेतृत्व में परिवर्तन—१९१८ में उदारवादी कांग्रेस से अलग हो गए और उन्होंने अपना एक अलग संगठन—अखिल भारतीय उदारवादी संघ की स्थापना की। चूंकि उनका वैधानिकवाद में ही विश्वास था अतः वे होमरूल आन्दोलन की प्रवृत्तियों द्वारा प्रदर्शित राष्ट्रीय संघर्ष की नूतन प्रवृत्तियों के सर्वथा प्रतिकूल थे। परन्तु उनके कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद करने का असली कारण १९१८ में प्रकाशित मांटफोर्ड प्रतिवेदन में निहित वैधानिक सुधारों के प्रति उनका अपना दृष्टिकोण था। वे इन सुधारों को ब्रिटिश सद्भावना का प्रमाण मानते थे। इसके विपरीत उस समय कांग्रेस में उग्रवादियों का जोर था। वे मॉन्टफोर्ड प्रतिवेदन से सर्वथा असहमत थे। उदारवादियों के निकल जाने के बाद कांग्रेस महात्मा गांधी के गतिशील नेतृत्व में आ गई और उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया दिशा और नवीन गति प्रदान की।

८८ रौलट एक्ट

रौलट एक्ट की पृष्ठभूमि—१९१८ में सरकार ने सर सिडनी रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी यह जाँच करने के लिए नियुक्त की कि भारतवर्ष में किस प्रकार और किस हद तक क्रान्तिकारी आन्दोलन सम्बन्धी षड्यन्त्र चले हुए हैं और उनका मुकाबला करने के लिए कैसे कानूनों की आवश्यकता है। भारत रक्षा कानून की अवधि अब शीघ्र ही समाप्त होने वाली थी और सरकार विध्वंसात्मक कार्यवाहियों को कुचल डालने के लिए अपने आपको शस्त्र सज्जित कर लेना चाहती थी। यद्यपि महायुद्ध अब समाप्त होता जा रहा था फिर भी सरकार शंकाकुल थी। उसे भय था कि कहीं रूस का या अफगानिस्तान का भारतवर्ष पर आक्रमण न हो। कुछ महीनों बाद अफगानिस्तान ने भारतवर्ष के ऊपर आक्रमण किया परन्तु उसे बहुत ही आसानी से पीछे ढकेल दिया गया। इसी बीच में जाँच करके रौलट कमेटी ने अपनी रिपोर्ट सरकार के पास भेज दी। इस रिपोर्ट में राजद्रोहात्मक हलचलों का दमन करने के लिए दो विधेयकों के अधिनियमन की सिफारिश की गई थी।

व्यापक विरोध के बावजूद भी रौलट एक्ट को पास कर दिया गया—रौलट एक्ट के विरुद्ध सारे देश में क्षोभ की लहर दौड़ गई। उग्रवादियों ने भी इसका खुल कर विरोध किया। सी० वाइ० चिन्तामणि ने लिखा है "इन दोनों विधेयकों का विरोध परिषद् के गैर सरकारी भारतीय सदस्यों निर्वाचित सदस्यों और नामजद सदस्यों सबने समान रूप से किया परन्तु सरकार अपनी बात पर अड़ी रही और तनिक भी नहीं झुकी। रौलट एक्ट कानून बन गया और इस बात से भारतीयों को कोई सांत्वना नहीं मिली कि उसकी अवधि केवल तीन वर्ष रखी गई थी। यह एक्ट अत्यन्त कठोर था। इसमें सरकार को जनता की स्वतन्त्रताओं का हनन करने, सन्देहास्पद व्यक्तियों को बिना किसी वारंट के गिरफ्तार करने और बिना मुकदमा चलाए ही उन्हें हवालात में बंद कर रखने का अधिकार मिल गया। कांग्रेस ने अपने दिल्ली अधिवेशन (दिसम्बर १९१८) में सरकार से यह मांग की थी कि उन सारे कानूनों, अध्यादेशों और रेग्यूलेशनों को जिनके कारण स्वतन्त्रतापूर्वक राजनीतिक समस्याओं पर खुल कर वाद विवाद नहीं किया जा सकता और जिनके द्वारा अधिकारियों को गिरफ्तार करने, नजरबन्द करने रोकने देश निकाला देने सजा करने का, साधारण अदालतों में बिना मुकदमा चलाए ही अधिकार दे दिया है, तुरन्त ही वापस लिया जाय और सरकार ने उसका उत्तर दमनमूलक रौलट एक्ट के रूप में दिया। रौलट एक्ट ने सरकार को दमन की जो अभूतपूर्व और असीमित शक्तियां दीं यद्यपि उनका प्रयोग तीन वर्ष की अवधि में हुआ किसी भी अवसर पर नहीं परन्तु उन्होंने भारत में सर्वप्रथम सविनय अवज्ञा आन्दोलन को जन्म दे दिया।

६० भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का प्रवेश

महात्मा गांधी का १९१५ में दक्षिणी अफ्रीका से वापस लौटना—रौलट एक्ट ने भारतीय राजनीति में एक नए युग का श्रीगणेश किया। इसने महात्मा गांधी को भारतीय राजनीति के मंच के अग्रिम मोर्चे पर ला खड़ा किया। महात्मा गांधी जनवरी १९१५ में दक्षिणी अफ्रीका से वापस लौट आए थे। दक्षिणी अफ्रीका में उन्होंने जो बलिदान किए थे अपमान के विरुद्ध जो संघर्ष किया था और जो उसमें सफलता पाई थी इसके कारण उनका नाम भारतवर्ष के घर घर में प्रसिद्ध हो गया था। महात्मा गांधी अपने साथ जीवन का एक विशिष्ट दर्शन और एक ऐसी राजनीतिक टेक्नीक लाए थे जिसकी उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी।[1]

स्पष्ट घोषित राजभक्त—उस समय महात्मा गांधी स्पष्ट घोषित राजभक्त थे। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अपनी राजभक्ति का वह गर्वपूर्वक उल्लेख किया करते थे। उनका कथन था कि "ब्रिटिश साम्राज्य के कुछ ऐसे आदर्श हैं जिनसे मुझे प्रेम हो गया है।" सरकार ने भी उन्हें कैसरे हिन्द स्वर्ण-पदक प्रदान कर उनकी प्रतिष्ठा की थी।

1 एच० एस० पोलक— 'महात्मा गांधी', पृ० ९९।

भारतवर्ष में आकर उन्होंने गोखले को अपना राजनीतिक गुरु बनाया और उनसे मार्ग दर्शन प्राप्त किया। गोखले ने उन्हें सलाह दी कि भारतीय राजनीति में कूद पड़ने से पूर्व कुछ समय तक वे उसका गम्भीर अध्ययन करें। महात्मा गांधी ने तदनुसार दो वर्ष के करीब सारे देश का भ्रमण करने में व्यय किए। जहाँ कहीं भी महात्मा गांधी गए उनका यश उनके आगे आगे गया और जनता ने सब ओर और के रूप में उनका आदर किया। अपनी इस यात्रा के काल में महात्मा गांधी ने सक्रिय राजनीति में कोई भाग नहीं लिया।

चम्पारन—१९१७ में चम्पारन ने महात्मा गांधी का आह्वान किया। यहाँ नील की खेती होती थी और अंग्रेज उसके मालिक थे। वे लोग किसानों पर तरह तरह के अत्याचार करते थे। महात्मा गांधी ने किसानों की कठिनाइयों के बारे में पूर्ण जांच पड़ताल की और वे उनके कष्टों को दूर करने में सफल हुए। इससे गांधीजी की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई।

खेड़ा—अगले वर्ष उन्होंने खेड़ा में कर नहीं का आन्दोलन का संगठन किया। खेड़ा में इस वर्ष वर्षा नहीं हुई थी इसका फसल पर बहुत बुरा असर पड़ा था। इस आन्दोलन में ही महात्मा गांधी सरदार पटेल के निकट सम्पर्क में आए। खेड़ा में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का जो प्रयोग किया था वह समझौते के रूप में सफल हुआ। गांधीजी के अनुयायियों ने इसको अपना बहुत बड़ी विजय समझा।

अहमदाबाद—उसी वर्ष अहमदाबाद के मिल मजदूरों ने भी महात्मा गांधी से सहायता की याचना की। ये लोग अपनी वेतन वृद्धि के लिए आन्दोलन कर रहे थे। महात्मा गांधी ने मजदूरों की स्थापना का बचाव किया और मिल मालिकों से कहा कि वे उनकी मांगों को पूरा करें। जब मिल मालिक नहीं माने तो गांधीजी ने आमरण अनशन शुरू कर दिया। उपवास के चौथे दिन मिल मालिकों ने गांधीजी की शर्तों को स्वीकार कर लिया और मजदूरों के वेतन में ३५ प्रतिशत वृद्धि हो गई।

राजभक्त से राजद्रोही—इसके बाद रौलट एक्ट आया। इसने महात्मा गांधी की राजभक्ति की भावना को आघात पहुँचाया और उन्हें विदेशी शासन का घोर विरोधी बना दिया। उन्होंने रौलट एक्ट की मुक्त कंठ से निन्दा की और उसे इस बात का सबूत बताया कि न्याय की ब्रिटिश परम्परा को स्वेच्छाचारी शक्ति के प्रेम ने विजित कर लिया है। युद्ध काल में उन्होंने भारतीय जनता से यह बारम्बार कहा था कि वह ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता करे। अंग्रेजों ने जो वादे किए थे उन पर उन्होंने सरल भाव से विश्वास कर लिया था। परन्तु रौलट एक्ट ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश शासक भारतवर्ष पर शक्ति प्रयोग द्वारा शासन करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। भारत स्वशासन की आशा करता था लेकिन उसे पहले बलप्रवर्तन प्राप्त हुआ।[1] महात्मा गांधी जो अब तक राजभक्त थे राजद्रोही हो गए। २१ मार्च

[1] एच० एस० पोलक— महात्मा गांधी पृ० १२७

१९१९ को रौलट एक्ट कानून बन गया। इसके तुरन्त बाद ही महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने इस आन्दोलन को अपने उपवास के साथ प्रारम्भ किया। उनके कई मित्रों ने उन्हें इस बात की चेतावनी दी थी कि देशव्यापी पैमाने पर ऐसे आन्दोलन का प्रारम्भ करना देश के लिए हितकर नहीं होगा इससे अव्यवस्था और अराजकता फैल जाने का भय है। परन्तु महात्मा गांधी ने किसी की नहीं सुनी और वह अपनी योजना पर दृढ़ रहे। सत्याग्रह आन्दोलन के लिए इस काले कानून के विरोध में जुलूस निकालने और सार्वजनिक सभाएं करने के लिए ३० मार्च की तिथि निश्चित की गई। बाद में यह तारीख बदल कर ६ अप्रैल कर दी गई परन्तु दिल्ली और अन्य कई स्थानों पर उक्त प्रोग्राम का दोनों ही दिन पालन किया गया। हड़ताल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। चारों ओर ही उत्साह और उत्तेजना का वातावरण छा गया।

हिन्दू मुस्लिम एकता सत्याग्रह स्थगन—'इस उत्साह का एक दर्शनीय लक्षण यह था कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अभूतपूर्व बन्धुत्व की भावना देखी गई। हिन्दुओं ने मुसलमानों के हाथों से और मुसलमानों ने हिन्दुओं के हाथों से सार्वजनिक रूप से जल ग्रहण किया। इस दिन जो सभाएं हुईं, जो जलूस निकले उन सब में हिन्दू मुस्लिम एकता की ध्वनि सुनाई देती थी। कुछ हिन्दू नेताओं को मस्जिद की वेदी से भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया गया।' आन्दोलन प्रारम्भ करते समय महात्मा गांधी ने जनता को इस बात की कड़ी हिदायत दे दी थी कि प्रत्येक मूल्य पर अहिंसा का पालन किया जाए। उन्होंने सत्याग्रह का दर्शन और ढंग में जनता को शिक्षित करने के लिए बहुत सी जगहों का दौरा भी किया था। तथापि कई स्थानों पर झगड़े हो गए। दिल्ली में जनता और पुलिस के बीच संघर्ष हो गया। पुलिस ने गोली चला दी जिसमें आठ आदमियों की मृत्यु हो गई। बम्बई, अहमदाबाद, कलकत्ता, लाहौर और अमृतसर में भी इसी तरह के उपद्रवकारी झगड़े हो गए। इन हालतों को देखकर महात्मा गांधी की आत्मा को अपार क्लेश हुआ और उन्होंने १८ अप्रैल को अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया क्योंकि जनता अहिंसा का पालन करने में असफल रही थी। महात्मा गांधी ने सारा दोष अपने सिर ले लिया। उन्होंने इस बात की घोषणा कर दी कि आन्दोलन शुरू करना उनकी 'भयंकर भूल' थी। अपनी इस भूल के प्रायश्चित्तस्वरूप उन्होंने तीन दिन का उपवास रखा और जनता से भी एक दिन का उपवास रखने का निवेदन किया।

९१ पंजाब की दुर्घटनाएं

पंजाब का अशान्तिमय वातावरण—अप्रैल १९१९ भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में चिरस्मरणीय महीना है। रौलट एक्ट के विरोध में महात्मा गांधी ने जिस सत्याग्रह आन्दोलन को खड़ा किया था उसने देश में अत्यन्त भयावह वातावरण उत्पन्न कर दिया था। परन्तु पंजाब की हालत विशेष रूप से खराब हो गई थी। इस प्रान्त में रौलट एक्ट विरोधी आन्दोलन के सिलसिले में लाहौर और अमृतसर

आदि स्थानों पर कुछ हिंसात्मक घटनाएं भी हो गई थीं।[1] परन्तु यहाँ कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं था और जनता के नेता आन्दोलन में शान्तिपूर्ण व वैधानिक उपायों में विश्वास रखते थे।[1]

सर माइकेल ओडायर—उस समय पंजाब के गवर्नर सर माइकेल ओडायर थे। वह पंजाब के लौह पुरुष के नाम से विख्यात थे। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वह शासक बहुत प्रबुद्ध थे परन्तु राजनीतिज्ञता का उनमें सर्वथा अभाव था।[2] उन्होंने लडाई के लिए सिपाही भरती करने और धन एकत्रित करने में जिन अमानुषीय साधनों का प्रयोग किया था उनसे वह पहले ही जनता में काफी बदनाम हो चुके थे। उन्होंने अपने प्रान्त में सारी राजनीतिक हलचलों को कुचल डालने का निश्चय कर लिया था। उन्होंने पंजाब के चारों ओर लोहे का एक आवरण डाल दिया और महात्मा गांधी तथा अन्य कोटी के राष्ट्रीय नेताओं को पंजाब में प्रवेश करने से रोक दिया। ७ अप्रैल १६१६ को पंजाब व्यवस्थापिका सभा में भाषण देते हुए उन्होंने जन आन्दोलन के समस्त सगठनकर्त्ताओं को यह चेतावनी दी थी कि वे लोग जो कुछ भी काम काज कर रहे हैं उनका उन्हें पूरा पूरा फल भुगतना पड़ेगा।

डाक्टर किचलू और डाक्टर सत्यपाल का निर्वासन—१० अप्रैल १६१६ को प्रातःकाल ही अमृतसर के जिला मजिस्ट्रेट ने डॉक्टर किचलू और सत्यपाल को जो कि कांग्रेस का संगठन कर रहे थे अपने निवास स्थान पर बुला भेजा और वहाँ से चुपचाप किसी अज्ञात स्थान को भेज दिया। इससे सारे शहर में सनसनी फैल गई। सब दूकानें बन्द हो गई। लोगों का एक झुण्ड अपने नेताओं के छुटकारे की मांग करने जिला मजिस्ट्रेट के बंगले की ओर चला परन्तु उस चौराहे पर जो सिविल लाईन और शहर के बीच में है फौजी सिपाहियों ने भीड़ को तितर बितर करने के लिए दो बार गोलियां चलाई। पुलिस की गोलियों से कम-से-कम १० व्यक्ति तो मारे गए और कई घायल हुए। इस पर भीड़ उत्तेजित हो गई। शवों को अपने साथ लेकर लोग शहर को वापस हुए। पांच यूरोपियनों को मार डाला गया। एक बैंक रेल गोदाम और टाउनहाल समेत कई सार्वजनिक इमारतों को जला दिया गया एक पादरी महिला मिस शेरवुड पर हमला किया गया और उन्हें अधमरी अवस्था में छोड़ दिया गया।

जनरल डायर—यह देखकर अधिकारी वर्ग कोप और प्रतिरोध की भावना से आग बबूला हो गया। सारा शहर जनरल डायर की अधीनता में सैनिक अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया गया। जनरल डायर ने भारतीयों को एक सबक सिखाने का और पंजाब में आतंक पैदा करने का दृढ निश्चय कर लिया। १२ अप्रैल को उन्होंने यह

---

१ जी० एन० सिंह— लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कांस्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट पृ० ३८२।

२ सी० वाई चिन्तामणि— इण्डियन पालिटिक्स सिन्स म्यूटिनी पृ० १२८।

आज्ञा जारी की कि सार्वजनिक सभाओं पर पाबन्दी लगाई जाती है। परन्तु मजे की बात यह है कि इस आज्ञा को प्रकाशित करने की कोई व्यवस्था नहीं की गई।

जलियांवाला हत्याकाण्ड—१३ अप्रल को जलियांवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा करने का आयोजन किया जा चुका था। जनरल डायर ने सबसे पहले इस सभा को रोकने की कोई चेष्टा नहीं की परन्तु जब सभा में २० हजार व्यक्तियों से अधिक एकत्रित हो गए १०० भारतीय और ब्रिटिश सैनिकों के एक दस्ते को लेकर वह सभा स्थल पर जा पहुंचा और उसने शांतिपूर्ण जन समूह को चेतावनी का एक शब्द भी दिए बिना भीड़ पर उसने १० मिनट तक फायर में गोली चलवा दी। जहां पर भीड़ सबसे अधिक थी गोलियों को उसी दिशा में चलाया गया। कुल १६५० फायर किए गए और सैनिकों ने गोली चलाना उसी समय बन्द किया जब सब कारतूस निबट गए। सरकारी आंकड़ों के अनुसार ३७९ व्यक्ति मरे और कम-से-कम १२०० व्यक्ति घायल हुए। आतंकग्रस्त भीड़ कुछ ही तितर बितर होने लगी थी परन्तु डायर ने लगातार १० मिनट तक गोलियों की बौछार को मनुष्यों के उस आतंकित झुण्ड पर जारी रखा जिसे कि चूहों के तुल्य पिंजरे में पकड़ रखा गया था।¹ डायर ने हण्टर कमेटी के सामने यह कहा था "मैं तो एक फौजी गाड़ी (आर्मर्ड कार) ले गया था लेकिन वहां जाकर पता चला कि वह बाग के भीतर घुस ही नहीं सकती थी इसलिए उसे बाहर छोड़ दिया था।"

मार्शल ला और आतंक का राज्य—पंजाब में अधिकारी वर्ग की क्रूरताएं की जलियांवाला बाग की घटना उनमें सबसे भयंकर थी। इस कत्लेआम के दो दिन बाद पंजाब के ५ जिलों में सैनिक विधान (Martial law) घोषित कर दिया गया और उसे अमानवीय निर्दयता के साथ लागू किया गया। जनरल डायर के राज्य में कुछ ऐसी सजाएं देखने को मिलीं जिनका स्वप्न में भी ख्याल नहीं हो सकता था। अमृतसर के नलों में पानी बन्द कर दिया गया था और बिजली काट दी गई थी। जिस गली में मिस शेरवुड पर आक्रमण हुआ था उस गली में लोगों को पेट के बल रेंगकर जाने की आज्ञा थी। सबके सामने बेंत लगाना आम तौर पर चालू था। रेलवे स्टेशनों पर तीसरे दर्जे का टिकट बेचने की मनाही कर दी गई थी। स्कूल और कालिज के छात्रों के लिए यह आज्ञा थी कि वे दिन में चार बार फौजी अफसरों के सामने विभिन्न स्थानों पर हाजिरी दिया करें। कई स्थानों पर किसानों की भीड़ पर गोलियां चलाई गई और हवाई जहाजों से मशीनगनें चलाई गईं। यह आदेश जारी कर दिया गया था कि जब कोई हिन्दुस्तानी किसी अंग्रेज अफसर से मिले तो वह उसको सलाम करे अगर सवारी में जा रहा हो या घोड़े पर सवार हो तो उतर जाए अगर छाता लगाए हुए हो, तो नीचे कर दे। यह आदेश इसलिए दिया गया था,

---

¹ हण्टर कमेटी के समक्ष दिए गए सर चिमनलाल सीतलवाड़ के वक्तव्य से।

ताकि लोगों को मालूम हो जाए कि उनके नए मालिक आए हैं।' यदि स्कूल और कालिज के लड़के साहबों को सलाम नहीं करते तो उनके कोमल बदन पर नृशंसता-पूर्वक बेंतों की मार पड़ती थी।

हण्टर-कमेटी—जब पंजाब की इन दुर्घटनाओं का समाचार देश के दूसरे भागों में पहुँचा तो जनता में चारों ओर सनसनी-सी फैल गई। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस नौकरशाही बर्बरता के विरोध में अपनी सरकारी उपाधि को त्याग दिया। चारों ओर से इस बात की माँग आने लगी कि पंजाब की इन सारी दुर्घटनाओं की जाँच पड़ताल की जानी चाहिए। सरकार ने इस सम्बन्ध में बड़ी शिथिलता का परिचय दिया। जलियाँवाला बाग की दुर्घटना के चार महीने बाद उसकी जाँच पड़ताल करने के लिए लार्ड हण्टर की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी में तीन भारतीय[1] और तीन अंग्रेज सदस्य थे। भारतीय सदस्यों ने एक अलग रिपोर्ट प्रकाशित की और उसमें जनरल डायर के दुष्कृत्य की कठोरतम शब्दों में निन्दा की। लेकिन हण्टर कमेटी की सरकारी रिपोर्ट ने दण्डात्मक साक्ष्य के होते हुए भी जनरल डायर के अपराध पर लीपापोती करने की कोशिश की और उसे केवल स्थिति की जो स्थिति की मुक्ति-मूलक आवश्यकताओं को ठीक से नहीं समझ सका था एक भयंकर भूल बताया। अर्थात डायर का आचरण कर्तव्य से सत्यनिष्ठ लेकिन गलत धारणा पर आश्रित था।

भारत मन्त्री मि० माटेग्यू ने कहा जनरल डायर ने जैसा उचित समझा उसके अनुसार बिलकुल नेकनीयती के साथ काम किया। अलबत्ता उससे परिस्थिति को ठीक ठीक समझने में गलती हो गई। ब्रिटिश संसद में एक वाद विवाद के दौरान कई सदस्यों ने जनरल डायर के काम की सराहना की। कुछ समय के बाद जनरल डायर के प्रशंसकों ने उन्हें एक तलवार और २०००० पौंड की एक थैली भेंट की। इस प्रकार हम देखते हैं कि उस व्यक्ति के प्रति यह प्रेमभाव था जिसे भारतीय जनमत एक खूनी राक्षस के रूप में देखता था और जिसके बारे में कांग्रेस कमेटी ने यह कह दिया था कि जनरल डायर का १३ अप्रैल का कार्य निर्दोष निरीह निःशस्त्र मर्दों और बच्चों के जान बूझकर किए हुए नृशंस हत्याकाण्ड के सिवाय और कुछ नहीं है। यह ऐसी हृदयहीन और बुजदिल पशुता है जिसकी आधुनिक काल में और कोई मिसाल नहीं मिलती।

६२ खिलाफत का प्रश्न

अमृतसर कांग्रेस—दिसम्बर १९१९—यह बड़ा आश्चर्यजनक मालूम पड़ता है कि उस समय जब कि जनता पंजाब में होने वाले अन्यायों के ऊपर बौखला रही थी महात्मा गांधी ने किसी जन आन्दोलन का संगठन नहीं किया। इसके विपरीत

[1] सर चिमनलाल सीतलवाड साहिबजादा सुल्तान अहमद और पं० जगत नारायण।

उन्होंने तो कांग्रेस से बाहर निकल जाने की धमकी देकर अमृतसर कांग्रेस में एक ऐसा प्रस्ताव पास करवाया जिसमें लोगों की तरफ से हिंसा का जो प्रदर्शन हुआ था, उसकी निन्दा की गई थी लेकिन साथ-ही साथ इस बात को भी स्वीकार किया गया था कि बहुत अधिक उत्तेजित किए जाने पर ही लोग क्रोध से बावले हुए थे। हाल ही में मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट प्रकाशित हुआ था। सी० आर० दास जैसे नेता उसका पूर्ण बहिष्कार करना चाहते थे परन्तु महात्मा गांधी उन सुधारों की क्रियान्विति में सरकार के साथ सहयोग करने का समर्थन करते थे। सुधार कानून के सम्बन्ध में पहले कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया था कि सुधार-कानून अपूर्ण असन्तोषप्रनक और निराशापूर्ण है। लेकिन बाद में महात्मा गांधी के प्रभाव से उक्त प्रस्ताव में यह टुकड़ा और जोड़ दिया गया कि लोग सुधारों को इस प्रकार काम में लाएंगे जिससे भारतवर्ष में शीघ्र पूर्ण उत्तरदायी शासन कायम हो सके। ब्रेलसफोर्ड ने लिखा है—'अब भी १९१९ के अन्तिम दिनों में भी वह (महात्मा गांधी, राजभक्त थे अब भी वह अपने गुरु गोखले के शिष्य थे।

सीवर्स की संधि—परन्तु १९२० की गरमी के दिनों में हालत बिल्कुल बदल गई। हण्टर कमेटी की रिपोर्ट और सीवर्स की संधि के प्रकाशन ने भारतीय जनता को और भी अधिक हिलाकर रख दिया। सीवर्स की संधि के फलस्वरूप टर्की को अपने प्रदेशों से वंचित होना पड़ा। थ्रेस यूनान की नजर कर दिया गया और टर्की-साम्राज्य के एशियाई प्रदेशों को ब्रिटेन और फ्रांस ने लीग के आज्ञा पत्रों के बहाने आपस में बांट लिया। मित्र राष्ट्रों के द्वारा एक हाई कमीशन नियुक्त किया गया जो हर लिहाज से टर्की का असली शासक बना दिया गया और सुल्तान एक कठपुतली मात्र रह गया। हम (इस बात को) पहले देख चुके हैं कि टर्की के प्रश्न के ऊपर भारतीय मुसलमान अत्यन्त रोषाविष्ट हो गए थे। लेकिन उन्होंने इंगलैण्ड की सहायता उन वचनों पर विश्वास करके की थी जो ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लॉयड जार्ज ने दिए थे। लॉयड जार्ज ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी कि 'हम टर्की को उसके एशिया माईनर और थ्रेस के प्रसिद्ध और समृद्ध टापुओं से वंचित करने के लिए जिनकी आबादी मुख्यतः तुर्क है लड़ाई नहीं लड़ रहे हैं।' लेकिन जब युद्ध समाप्त हुआ तो इंगलैण्ड ने अपने वचन को बुरी तरह भंग कर दिया। टर्की के सुल्तान के स्थान पर खलीफा पद के लिए मक्का के हाकिम और कर्नल लारेंस के कृपा-पात्र शेख हुसेन के दावों को स्वीकार किया गया और उनका प्रचार किया गया।

भारत में असंतोष—इंगलैण्ड के इस विश्वासघात से भारतीय मुसलमानों को तीव्र आघात पहुंचा और देश में एक शक्तिशाली खिलाफत आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उनकी मांग थी टर्की साम्राज्य का संधारण किया जाए और एक ऐहिक व आध्यात्मिक संस्था के रूप में खिलाफत का अविच्छिन्न अस्तित्व बना रहे। १९ जनवरी १९२० को डॉ० अन्सारी की अध्यक्षता में एक शिष्टमण्डल वायसराय से मिला और

उसने उन्हें बताया कि टर्की साम्राज्य और खलीफा को बनाए रखना कितना आवश्यक है। इस शिष्टमण्डल का संगठन महात्मा गांधी के मार्ग दर्शन में किया गया था। १९२० के मार्च में एक मुस्लिम शिष्टमण्डल मौलाना मोहम्मद अली के नेतृत्व में इंगलैण्ड गया लेकिन वहाँ से निराश होकर वापस आ गया। अली बन्धु कांग्रेस में सम्मिलित हो गए और उन्होंने खिलाफत आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण किया। मुस्लिम मौलवियों और उलेमाओं ने १९१९ में अपना एक संगठन जमीयत-उल उलेमा स्थापित कर लिया था। ये भी खिलाफत आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। मुसलमानों में ब्रिटिश विरोधी भावनाएं अत्यन्त उग्र हो गईं।

महात्मा गांधी द्वारा असहयोग प्रारम्भ करने का निश्चय—महात्मा गांधी टर्की के प्रश्न पर मुसलमानों के साथ पूर्ण रूप से सहानुभूति व्यक्त कर चुके थे। इस हिन्दू राष्ट्रवादी ने भी अपने मुस्लिम सहयोगियों के सुर में सुर मिलाया। महात्मा गांधी की दृष्टि में खिलाफत का प्रश्न एक ऐसा अवसर प्रदान करता मालूम पड़ता था जिससे कि हिन्दू और मुसलमानों में एकता स्थापित की जा सकती थी और जो १०० वर्षों में भी हाथ नहीं आ सकता था। सेवर्स सन्धि की शर्तों में समाविष्ट अन्याय पंजाब के अन्यायों को दूर करने और भारत को स्वराज्य की ओर ले जाने के उद्देश्य से उन्होंने असहयोग आंदोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इस प्रकार के आंदोलन के लिए इस समय भारतीय जन बिल्कुल उपयुक्त मालूम होते तैयार था। खिलाफत और पंजाब के अत्याचारों तथा मार्शल-ला सम्बन्धी अत्याचारों ने एक ऐसी त्रिवेणी का रूप धारण कर लिया। इस त्रिधारा ने राष्ट्रीय असन्तोष के प्रवाह को और भी प्रबल कर दिया।[1]

६३ असहयोग आन्दोलन पर कांग्रेस की स्वीकृति

कांग्रेस का विशेष अधिवेशन, कलकत्ता सितम्बर १९२०—अब महात्मा गांधी को इस बात का दृढ़ विश्वास हो गया था कि वे हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को ही समान भाव से अपने असहयोग आन्दोलन की पताका के नीचे एकत्रित कर सकते हैं। सितम्बर १९२० में कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में महात्मा गांधी ने अहिंसक असहयोग की नीति को अपनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि कांग्रेस अहिंसक असहयोग की नीति पर उस समय तक चलेगी जब तक कि कथित अन्याय दूर नहीं हो जाएंगे और स्वराज्य की स्थापना नहीं हो जाएगी।[2] प्रस्ताव के पक्ष में १८८६ और विपक्ष में ८८४ मत पड़े थे। विपिनचन्द्रपाल, अरविन्द घोष, चितरंजनदास, पं. मदन मोहन मालवीय, मि. जिन्ना और श्रीमती एनीबीसेण्ट ने प्रस्ताव का जोरदार विरोध किया। तिलक की ३ जुलाई, १९२० को मृत्यु हो चुकी थी उनके अनुयायियों ने खापर्डे के नेतृत्व में महात्मा

१ पट्टाभि सीतारामय्या— दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस पृ० ३३५।
२ वही पृ० ३४१।

गांधी की योजना का प्रारम्भ से विरोध किया। और तो और इस अधिवेशन के अध्यक्ष लाला लाजपतराय तक भी महात्मा गांधी के इस असहयोग के प्रस्ताव के विरुद्ध थे।

नागपुर अधिवेशन, दिसम्बर १९२०—कांग्रेस का नियमित अधिवेशन दिसम्बर १९२० में नागपुर में हुआ। इस अधिवेशन में महात्मा गांधी के प्रोग्राम को विधिवत् स्वीकार कर लिया गया। इस बार प्रस्ताव के पक्ष में बहुत अधिक मत पड़े। सी० आर० दास ने प्रस्ताव का जी जान से विरोध किया लेकिन उनकी एक भी नहीं चली। लेकिन जब प्रस्ताव पास हो गया तब उन्होंने महात्मा गांधी को पूरा सहयोग देने का वचन दिया।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन—नागपुर अधिवेशन का महत्व इस कारण भी है कि उसके बाद से कांग्रेस की नीति में परिवर्तन हो गया। नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस का ध्येय इस तरह से बदल दिया गया कि उसमें ब्रिटिश सम्बन्ध व वैध-आन्दोलन का जिसमें कांग्रेस अभी तक विश्वास करती थी कोई उल्लेख ही न रहा। अब कांग्रेस का ध्येय 'शान्तिमय व उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना' घोषित किया गया। कलकत्ता और नागपुर के अधिवेशनों ने इस बात को स्पष्ट रूप से बता दिया कि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में अब गांधी-युग का निश्चित रूप से सूत्रपात हो चुका था। कांग्रेस के समूचे दृष्टिकोण को उसकी तर्ज को बदलने में गांधी जी को सफलता मिली। पहले जहाँ यूरोपीय वस्त्रों की प्रधानता रहती थी वहाँ अब खादी के वस्त्र सुशोभित होने लगे।

कांग्रेस में एक नूतन उत्साह का, नूतन आचार का, नूतन प्रेरणा का संचार हुआ। अब तक कांग्रेस की गति में कुछ विशेष जान नहीं मालूम पड़ती थी, अब उसने वेगवान महानदी का रूप धारण कर लिया और वह द्रुतगति से अपने निश्चित लक्ष्य की ओर चल पड़ी। पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में—'नागपुर कांग्रेस से वास्तव में भारत के इतिहास में एक नया युग प्रारम्भ होता है। निर्बल रोष और आग्रहपूर्ण प्रार्थनाओं का स्थान उत्तरदायित्व के एक नए भाव और स्वावलम्बन की एक नई भावना ने ले लिया। जनता ने अनुभव कर लिया कि यदि उसे स्वतन्त्र होना है तो उसे उसके लिए स्वयं प्रयत्न करना पड़ेगा।'[2]

६४ असहयोग आन्दोलन

असहयोग का कार्यक्रम—महात्मा गांधी ने अगस्त १९२० में असहयोग आन्दोलन को प्रारम्भ किया। असहयोग का कार्यक्रम निम्नलिखित था—(१) सरकारी उपाधियाँ और अवैतनिक पद छोड़ दिए जाएं और स्थानीय संस्थाओं के मनोनीत

१ पट्टाभि सीतारामय्या— दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस, पृ ३५३।
२ पट्टाभि सीतारामय्या— दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस, पृ ३५१।

सदस्य अपना स्थान रिक्त कर दें। (२) न तो सरकारी उत्सवों या दरबारों में शामिल हुआ जाए और न सरकार द्वारा या सरकार के सम्मान में किए गए सरकारी या गैरसरकारी उत्सवों में। (३) सरकारी या सरकारी सहायता प्राप्त या सरकार के अधीन स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार किया जाए और इन स्कूलों और कॉलिजों के स्थान पर राष्ट्रीय स्कूल और कालिज स्थापित किए जाएं। (४) धीरे धीरे सरकारी अदालतों का बहिष्कार किया जाए और झगड़ों के निपटारे के लिए पंचायती अदालतें स्थापित की जाएं। (५) सनिक क्लर्की और मजदूरी पेशेवाले लोग मसोपोटामिया में काम करने के लिए भर्ती न हों। (६) सुधार योजना के अनुसार बनने वाली व्यवस्थापिका सभाओं के उम्मीदवार उम्मीदवारी वापस ले लें और कांग्रेस के निर्णय के प्रतिकूल खड़े होने वाले उम्मीदवारों को कोई वोटर वोट न दे। (७) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाए। प्रत्येक घर में हाथ की कताई व बुनाई पुनर्जागृत की जाए। कांग्रेस और खिलाफत के नेताओं ने साथ साथ मिलकर काम किया। हिंदू मुस्लिम एकता का नारा हर जिह्वा से सुनाई देता था। जवाहरलाल ने लिखा है "सर्वत्र हिन्दू मुसलमान की जय का बोलबाला था।" महात्मा गांधी ने विशेष तौर पर यह लिखा था कि इस आंदोलन में अहिंसा का कड़े रूप से पालन होना चाहिए। जब अली बन्धुओं ने कुछ ऐसे भाषण दिए जिनसे कि इस बात का भय हो सकता था कि वे हिंसा को उत्तेजित करते हैं तो महात्मा गांधी ने सार्वजनिक रूप से इस प्रकार के प्रत्येक इरादे की निन्दा करवाई जो कि हिंसा के प्रचार करने का उद्देश्य अपने सामने रखता हो। महात्मा गांधी का तो केवल आत्म-बल और अहिंसा में ही विश्वास था। वह इसी शक्ति के द्वारा सरकार के पाशविक बल का सामना करना चाहते थे।

महात्मा गांधी ने कह तो यह रखा था कि असहयोग आंदोलन के द्वारा एक ही वर्ष में स्वराज्य प्राप्त हो जाएगा। यद्यपि उनका यह वचन तो पूरा नहीं हुआ परन्तु फिर भी असहयोग आंदोलन का प्रभाव अत्यन्त सराहनीय रहा। नई कौंसिल का जो बहिष्कार किया गया वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक था। कांग्रेस के आदमियों ने अपनी उम्मीदवारी को वापस ले लिया और २/३ से अधिक मतदाताओं ने अपने मत ही नहीं डाले। कुछ स्थानों पर तो मतदान पेटियाँ बिलकुल खाली की खाली पड़ी रहीं। राज्य-नियंत्रित स्कूलों और कालिजों से विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में बाहर निकल आए। महात्मा गांधी ने स्कूलों और कालिजों के बारे में कहा था कि ये तो क्लर्क तैयार करने के कारखाने हैं। कई स्थानों पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना की गई। काशी विद्यापीठ बंगाल और पंजाब के राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों और दिल्ली का जामिया मिलिया आदि की स्थापना उसी समय की गई थी। वकीलों ने भी बहुत बड़ी तादाद में अदालतों का बहिष्कार किया। असहयोग आंदोलन में भाग लेने वाले वकीलों के भरण-पोषण के लिए सेठ जमनालाल बजाज ने एक लाख रुपये का दान दिया। कांग्रेस और खिलाफत के स्वयं सेवकों ने विदेशी कपड़ों और शराब की दूकानों पर पिकेटिंग की। खिलाफत-परिषद् ने किसी भी मुसलमान के लिए ब्रिटिश सरकार की नौकरी

करना हराम घोषित कर दिया और एक फरमान जारी करके सहृदय मुसलमानों से यह माग की कि वे सेना और पुलिस की नौकरी को बिलकुल त्याग दें। सक्षेप में असहयोग आन्दोलन का उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश भारत की जो भी राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक सस्थाएँ हैं उन सबका बहिष्कार कर दिया जाए और इस प्रकार सरकार की मशीनरी बिलकुल ठप्प हो जाए।[1]

प्रिंस आफ वल्स की भारत-यात्रा—असहयोग आन्दोलन ने जनता के उत्साह को बहुत ऊँचे शिखर पर पहुंचा दिया था। इस आन्दोलन ने जनता के हृदय में आशा वाद स्वावलबन उत्तेजना और निर्भीकता का अपूर्व सचार किया था। सरकार की समझ में नहीं आता था कि इस परिस्थिति का कैसे सामना किया जाय। वह हैरान और परेशान थी। असहयोग आन्दोलन के प्रभाव को दूर करने के लिए सरकार ने अमन सभाएं स्थापित करने की चेष्टा की परन्तु यह चेष्टा नितान्त असफल सिद्ध हुई। १९२१-२२ के जाड़े में प्रिंस आफ वल्स भारत आने वाले थे। सरकार इस बात के लिए उत्सुक थी कि जब तक प्रिंस आफ वल्स भारत में ठहरें यहां के वातावरण में पूर्ण शान्ति बनी रहे। लेकिन काग्रेस ने निश्चय किया कि प्रिंस आफ वल्स के स्वागत के सम्बन्ध में जो भी उत्सवादि हों उन सबका बहिष्कार किया जाए। काग्रेस ने अपने इस निश्चय को कार्यरूप में भी परिणित किया। प्रिंस आफ वल्स १७ नवम्बर को भारत पधारे। देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक जहा कहां भी वह गये हड़तालों और शोक-प्रदर्शनों से उनका स्वागत हुआ। यह परिस्थिति बहुत कुछ दुर्भाग्यपूर्ण थी क्योंकि बेचारे युवराज का तो कोई दोष था नहीं। प० मदनमोहन मालवीय और मि० जिन्ना ने समझौते के लिए कठिन परिश्रम किया। वायसराय भी समझौता करने के इच्छुक थे वह शान्ति के लिये ऊंची कीमत देने को तयार थे लेकिन महात्मा गांधी ने समझौते की किसी वार्ता में भाग लेने से इनकार कर दिया। उस समय अली बन्धु जेल में थे। गांधी जी ने कहा कि जब तक सरकार अली बन्धुओं को जेल से मुक्त नहीं कर देती, समझौते की वार्ता से कोई लाभ नहीं निकलेगा। फलत सरकारी अफसरों और कुछ राजभक्त भारतीयों के सिवा प्रिंस आफ वल्स का किसी ने भी स्वागत नहीं किया। कुछ स्थानों पर तो थोड़ी सा हिंसक घटनाएं भी हो गई। वैसे आमतौर पर प्रिंस आफ वल्स का बहिष्कार सब स्थानों पर शान्तिपूर्ण रीति से हुआ। बम्बई में बलवा हो गया जिस पर महात्मा गांधी ने घोर व्यथा प्रकट की।

सरकार का दमन-चक्र-अब नौकरशाही ने अपना दमन चक्र पूरे जोशो खरोश के साथ चलाना शुरू किया। भारत सरकार ने सभी स्थानीय सरकारों को इस बात का आदेश दिया कि वे असहयोग आन्दोलन को बिना किसी झिझक के पूरी तरह से कुचल कर रख दें। १९२२ के समाप्त होने के पूर्व ही जब कि महात्मा गांधी के वचनानुसार भारत को स्वराज्य मिलने वाला था, अधिकांश नेताओं अली बन्धुओं मोतीलाल—

[1] कूपलण्ड—'इण्डिया ए रिस्टेटमेण्ट', पृ० ११८-१६।

नेहरू चितरंजनदास अबुल कलाम आजाद लाला लाजपतराय जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस आदि को पकड़कर जेल में ठूंस दिया गया। असहयोग आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों को बहुत बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया गया और कैदियों की संख्या शीघ्र ही ३०,००० तक पहुंच गई। सभी सार्वजनिक सभाओं पर पाबन्दी लगा दी गई और राष्ट्रीय स्वयंसेवकों को गैर-कानूनी निकाय घोषित किया गया।

कांग्रेस का सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय—सरकार की इस दमन नीति की कांग्रेस के ऊपर यह प्रतिक्रिया हुई कि उसने अपने अहमदाबाद अधिवेशन (१९२१) में व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों रूपों में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया। कांग्रेस ने अपने प्रस्ताव द्वारा महात्मा गांधी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन का अधिकारी नियत किया। सच तो यह है कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन एक प्रकार से कुछ स्थानों पर पहले से ही प्रारम्भ हो गया था। १९२१ में मिदनापुर में एक कर न दो आन्दोलन का सफलतापूर्वक संचालन किया गया था। महात्मा गांधी ने वायसराय को स्पष्ट रूप से सूचित कर दिया कि वे बारदोली और गन्तूर में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करना चाहते हैं। गांधीजी ने अपने पत्र में यह भी लिखा कि अगर सरकार उन सभी कैदियों को मुक्त कर दे जो अहिंसात्मक कार्यों के लिए जेल गए हैं और देश की सारी अहिंसात्मक हलचल के सम्बन्ध में तटस्थता की घोषणा कर दे तो मैं निःसंकोच भाव से सलाह दूंगा कि दूसरे पर अहिंसात्मक दबाव न डालते हुए देश अपनी निश्चित मांगों की पूर्ति के लिए और भी ठोस लोकमत तैयार करे।[१]

चौरी चौरा काण्ड और असहयोग का अन्त—महात्मा गांधी ने अपनी मांगों को स्वीकार करने के लिए सरकार को सात दिन का समय दिया। लेकिन यह समय अभी पूरा भी नहीं हो पाया था कि गोरखपुर जिले के चौरी चौरा नामक स्थान पर एक ऐसी दुःखद घटना हो गई जिसने भारतीय इतिहास की धारा को बिल्कुल पलट दिया। ४ फरवरी को चौरी चौरा में एक कांग्रेसी जलूस निकल रहा था। इस अवसर पर क्रोधवेष्टित भीड़ ने २१ सिपाहियों और थानेदार को थाने में खदेड़ दिया और आग लगा दी। वे सब आग में जल मरे। जब यह भयावह समाचार महात्मा गांधी को मिला तो उन्हें मर्मस्पर्शी आघात पहुंचा। उन्होंने सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का विचार तुरन्त छोड़ दिया। रचनात्मक कार्यक्रम पर अधिक बल दिया गया जिसमें कांग्रेस के लिए एक करोड़ सदस्य भरती करना चरखे का प्रचार राष्ट्रीय विद्यालयों की खोलना मादक द्रव्य निषेध और पंचायतें संगठित करना आदि शामिल था।'[२] सविनय अवज्ञा और असहयोग आन्दोलन ठण्डे पड़ गए।

---

१ पट्टाभि सीतारामय्या— दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस पृ० ३९६।
२ वही पृ० ३९८।

महात्मा गांधी के कार्य का विरोध—परन्तु महात्मा गांधी ने आन्दोलन को इस आकस्मिक रूप से जो स्थगित किया था उसका कांग्रेस के चोटी के नेताओं ने विरोध किया। 'पण्डित मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय ने जेल के भीतर से लम्बे लम्बे पत्र लिखे। उन्होंने गांधीजी को किसी एक स्थान के पाप के कारण सारे देश को दण्ड देने के लिए आड़े हाथों लिया।'[1] सुभाष बोस के अनुसार सी० आर० दास को इससे अपार क्लेश पहुंचा।[2] बोस ने लिखा 'उस समय जबकि जनता का उत्साह बुद्बुदाक' पर पहुंच रहा था मैदान छोड़ने का आदेश दे देना राष्ट्रीय दुर्विपाक से कुछ कम न था।' जवाहरलाल नेहरू ने लिखा 'हमने बड़े आश्चर्य और उद्वेग के साथ जेल में सुना कि गांधीजी ने हमारे संघर्ष के उग्र पहलुओं को रोक दिया है और सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर दिया है।'[3] मुसलमानों पर इसी कार्यवाही का बहुत बुरा असर हुआ वे कांग्रेस से खिंच से गए और पुनः उस विश्वास और सौहार्द की प्रतिष्ठा करना असम्भव था जिसने कि एक बार खिलाफत के इस संक्षिप्त काल में दोनों जातियों को एकता के सूत्र में ग्रंथित कर दिया था।[4]

६५ असहयोग आन्दोलन की सफलताएँ और असफलताएँ

महात्मा गांधी का कारावास—असहयोग आन्दोलन के समाप्त होने के साथ ही साथ उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होनी प्रारम्भ हो गई। ८ मार्च १९२२ को महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिए गए। राजद्रोह के अपराध में उन्हें ६ वर्ष के कारावास का दण्ड मिला। परन्तु जेल में स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण उन्हें दो वर्ष बाद ही छोड़ दिया गया। कांग्रेस द्वारा नियत की गई सविनय अवज्ञा जांच समिति के मत में असहयोग आन्दोलन ने बहुत कम सफलता प्राप्त की थी। वस्तुतः यह आन्दोलन अपने ध्येयों पंजाब और खिलाफत के अन्यायों के निवारण और स्वराज्य प्राप्त करने के उद्देश्य में नितान्त असफल सिद्ध हुआ।

असहयोग आन्दोलन की दुर्बलताएँ—बहुत से राष्ट्रीय नेताओं ने असहयोग आन्दोलन की असफलता का उत्तरदायित्व महात्मा गांधी के सिर मढ़ा। सुभाष बोस के अनुसार 'एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्त करने का वचन न केवल अविवेकपूर्ण हो था अपितु बालक सदृश भी था।'[5] भारतीय राजनीति में खिलाफत के प्रश्न को सम्मिलित करना दुर्भाग्यपूर्ण था। खिलाफत आन्दोलन की बुनियाद गलत थी इधर तो भारतीय मुसलमान इस्लामी खिलाफत को पुरानी दुनिया की पुरानी परम्पराएँ

१ पट्टाभि सीतारामय्या— 'दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस' पृ० ३९९-४००।
२ सुभाष बोस— 'दी इण्डियन स्ट्रगल' पृ० १०८।
३ जवाहरलाल नेहरू— 'ऑटोबायग्राफी' पृ० ८१।
४ एच० एस० पोलक— 'महात्मा गांधी' पृ० १४३।
५ सुभाष बोस—'दी इण्डियन स्ट्रगल' पृ० १०४।

पुनर्जीवित कर रहे थे दूसरी ओर टर्की जिनके हित के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि वे यह काम कर रहे हैं इसका मज़ाक बनाते थे और इसे मध्ययुगीन मौढ़ापन कहते थे।[2] कमाल पाशा के नेतृत्व में टर्की धर्म निरपेक्ष गणराज्य के रूप में अवतरित हुआ और १९२२ में खिलाफत का अन्त कर दिया गया तथा खलीफा को निर्वासित कर दिया गया। फलतः भारत में खिलाफत आन्दोलन की जड़ ही कट गई।

असहयोग आन्दोलन के प्रारम्भिक रूप में ठप्प हो जाने से कांग्रेस-लीग की मित्रता भी समाप्त हो गई। इसके बाद हिन्दू मुस्लिम एकता की भावना भी कुण्ठित होने लगा। १९२१ के अन्त में मलाबार में खिलाफत राज्य की स्थापना के उद्देश्य से मोपला विद्रोह हुआ। बर्बर मोपला ने न केवल कुछ ब्रिटिश अधिकारियों को ही मारा अपितु उसमें बड़ी अधिक संख्या हिन्दू पोंगलियों की हत्या कर डाली।[3] जब महात्मा गांधी जेल में थे सारे देश में साम्प्रदायिक उपद्रव होने आरम्भ हो गए। भारतीय राजनीति में धार्मिक तत्व की वृद्धि कोई अच्छी बात नहीं थी। इसकी वजह से देश में धर्मान्धता की ऐसी शक्तियाँ पैदा हो गई जिन्हें कि वश में नहीं किया जा सकता था।

असहयोग आन्दोलन की महत्ता—लेकिन असहयोग आन्दोलन की उक्त दुर्बलताओं से हमें यह न समझ लेना चाहिए कि उसकी महत्ता किसी प्रकार से कम है। इस आन्दोलन ने भारत की राष्ट्रीयता में नए जीवन का संचार किया। इसने स्वतन्त्रता और निर्भीकता की नई भावना को जन्म दिया। असहयोग आन्दोलन से भारतीयों के हृदय में आत्म सम्मान, आत्म विश्वास और आत्म-निर्भरता का भाव उत्पन्न हुआ। लोगों के हृदयों में पहले जो डर था और आतंक का भाव समाया रहता था पुलिस का सरकार का और कानून का असहयोग आन्दोलन ने मानो छूमन्तर उड़ा दिया और जनता की नस नस में साहस की बिजली भर दी। अपने मन की बात कहने में पहले लोग जिस झिझक का अनुभव करते थे अब वह दूर हो गई। इसके अलावा असहयोग आन्दोलन सच्चे अर्थों में भारत का पहला जन-आन्दोलन था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन भी जन आन्दोलन था परन्तु असहयोग आन्दोलन का प्रभाव उस आन्दोलन से कहीं अधिक व्यापक हुआ। १९१७ तक का राष्ट्रीय आन्दोलन उच्च मध्यम-वर्गीय लोगों तक ही सीमित था लेकिन अब यह आन्दोलन देहातों में भी पहुँच गया किसानों ने इसमें जी खोलकर हिस्सा लिया और अब राष्ट्रीय आन्दोलन की जड़ें जनसाधारण के अन्तराल में जम गई। असहयोग आन्दोलन की क्या महत्ता थी इस पर कूपलैण्ड ने निम्न शब्दों में बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है

"उन्होंने (गांधीजी ने) वह काम किया जिसे तिलक नहीं कर सके थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक क्रांतिकारी आन्दोलन के रूप में बदल दिया। उन्होंने उसे स्वतन्त्रता

२ पोलक— महात्मा गांधी पृ० १६०।

३ साइमण्ड्स— दी मेकिंग आफ पाकिस्तान पृ० ४७-४८।

के लक्ष्य की ओर बढ़ना सिखाया सरकार के ऊपर वैधानिक दबाव डालकर नहीं वाद विवाद और समझौते के द्वारा नहीं अपितु शक्ति के द्वारा और शक्ति भी अहिंसा की। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रांतिकारी ही नहीं बनाया अपितु उसे लोकप्रिय भी बना दिया। अभी तक वह नगर के बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था अब वह देहात की जनता तक भी पहुंच गया गांधी जी के व्यक्तित्व ने भारत के देहातों में जागृति पैदा कर दी थी।[1]

६६ स्वराज्य दल और कौंसिल प्रवेश

अपरिवर्तनवादियों और परिवर्तनवादियों के बीच रस्साकशी—१९२२ में कांग्रेस राजनीति में एक नई विचारधारा का विकास हुआ। हम देख चुके हैं कि १९१९ में महात्मा गांधी ने मान्टफोर्ड सुधारों के प्रति सहयोग करने का विचार व्यक्त किया था लेकिन इसके विपरीत बंगाल के महान नेता चितरंजनदास ने उनका पूर्ण बहिष्कार करने का समर्थन किया था। १९२० में स्थिति उल्टी हो गई। महात्मा गांधी असहयोग के समर्थक हो गए। कांग्रेस ने असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार किया, जिसमें कौंसिलों का बहिष्कार भी शामिल था। सी० आर० दास और मोतीलाल नेहरू इस प्रश्न के ऊपर व्यक्तिगत रूप से महात्मा गांधी से सहमत नहीं थे लेकिन जब प्रस्ताव पास हो गया उन्होंने गांधीजी को सहयोग देने का आश्वासन दिया। १९२२ में कांग्रेस पुनः दो दलों में बंटती हुई मालूम पड़ती थी। सी० आर० दास ने अपनी कारावास अवधि में स्वराज्य दल संगठित करने की योजना तैयार की। १९२२ की गया कांग्रेस के वह सभापति हुए। कांग्रेस के इस अधिवेशन में परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों के बीच में जोर की खींचतान हुई। अपरिवर्तनवादी महात्मा गांधी द्वारा निर्धारित असहयोग और रचनात्मक कार्यक्रम पर ही डटे रहना चाहते थे। इस समय महात्मा गांधी जेल में थे। इसके विपरीत परिवर्तनवादी असहयोग आन्दोलन को एक नई दिशा देना चाहते थे। चितरंजनदास मोतीलाल नेहरू और वी० जी० पटेल इस नीति के नेता थे। उनका भुकाव अड़ंगा नीति की तरफ था। वे चाहते थे कि कौंसिलों में प्रवेश करें और वहां पर असहयोग के ढंग की नीति द्वारा मांटफोर्ड सुधारों को बिलकुल नष्टभ्रष्ट कर दें। गया कांग्रेस में अपरिवर्तनवादियों की ही विजय रही।

स्वराज्य दल—गया कांग्रेस में अपरिवर्तनवादी जीत तो गए लेकिन वे अपनी जीत का उपभोग थोड़े काल तक ही कर सके। १९२३ के शुरू साल में ही चितरंजन दास ने कांग्रेस की अध्यक्षता से त्याग पत्र दे दिया और स्वराज्य दल का संगठन करने का अपना निश्चय घोषित किया। इस बात के चिन्ह दिखाई देते थे कि असहयोग अब दात विहीन हुआ जा रहा है। सविनय अवज्ञा आन्दोलन को चालू रखना असम्भव

1. कूपलैंड— इण्डिया, ए रिस्टेटमेण्ट" पृ० ११९।

प्रतीत होने लगा था। खिलाफत नेताओं का उत्साह भी ठण्डा पड़ता जा रहा था। गया कांग्रेस के पूर्व ही जमीयत उल उलेमा ने एक फतवा प्रकाशित किया जिसमें कौंसिल प्रवेश को हराम तो नहीं पर ममनून घोषित किया। सितम्बर १६२३ में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के सभापति मौलाना अबुल कलाम आजाद थे।

कांग्रेस कौंसिल प्रवेश की अनुमति देती है—कौंसिल प्रवेश का समर्थन करने वाले दल ने बिना कठिनता के कांग्रेस में अनुमति सूचक प्रस्ताव पास करा लिया कि जिन कांग्रेसियों को कौंसिल प्रवेश के विरुद्ध धार्मिक या और किसी प्रकार की आपत्ति न हो उन्हें आगामी निर्वाचनों में खड़े होने और अपनी राय देने के अधिकार का उपयोग करने की आज्ञा है। स्वराजिस्टों ने अपनी विजय को महात्मा गांधी की अनुपस्थिता में सम्पन्न बेलगांव कांग्रेस में दृढ कर लिया। महात्मा गांधी की स्वयं स्वराज्य-दल की इस योजना में बहुत कम सहानुभूति थी कि कौंसिलों के अन्तर्गत विरोध के द्वारा अपर्याप्त मॉन्फोर्ड सुधारों को कार्यान्वित में अड़ंगा लगाया जाए। लेकिन जब उन्होंने देखा कि कांग्रेस में स्वराजिस्टों का बहुमत है तो उन्होंने कौंसिल प्रवेश पर अपनी मौन अनुमति दे दी। यद्यपि महात्मा गांधी ने स्वयं को स्वराज्य दल की सामद दल से बिलकुल पृथक रखा तथापि स्वराज्य दल का संगठन कांग्रेस के राजनीतिक पक्ष के रूप में किया गया था। महात्मा गांधी ने कताई विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार तथा रचनात्मक कार्यक्रम के अन्य पहलुओं पर सर्वाधिक बल दिया। स्वराजिस्टों ने इस कार्यक्रम के प्रति अपनी निष्ठा घोषित की और इस प्रकार सूरत विच्छेद की पुनरावृत्ति होने से बच गई।

स्वराज्य दल के सिद्धान्त और कार्यक्रम—जैसा कि स्वराज्य दल के नाम से ही स्पष्ट होता है उसका लक्ष्य स्वराज्य को प्राप्त करना था। स्वराज्य से उनका अभिप्राय साम्राज्य के अन्तर्गत डोमीनियन स्टेटस का उपलब्ध करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गांधीवादी जिन साधनों का समर्थन करते थे उनसे स्वराजिस्टों का मतभेद था। अविनय अवज्ञा आन्दोलन में स्वराजिस्टों का बहुत कम विश्वास था। कौंसिलों के बहिष्कार के भी वे विरोधी थे। उन्होंने असहयोग का एक नया अर्थ लगाया। वे चाहते थे कि निर्वाचनों में पूरा हिस्सा लिया जाए और व्यवस्थापक मण्डलों का अधिक से अधिक सीटों पर कब्जा कर लिया जाए सरकार के साथ सहयोग करने के उद्देश्य से नहीं अपितु उसकी नीति में एकरूप अविच्छिन्न और सतत रोड़ा अटकाने के उद्देश्य से। स्वराजिस्टों का मतलब न था सरकार के कार्यों में बाधा उपस्थित करना रोड़े अटकाना। वे कौंसिलों के अन्दर प्रवेश करके मॉन्टफोर्ड सुधारों को बिलकुल छिन्न भिन्न कर डालना चाहते थे। पं० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चित्तरंजन दास ने अड़गा शब्द को स्पष्ट कर दिया था हमने अपने कार्यक्रम में अड़गा शब्द का जो व्यवहार किया है सो ब्रिटेन की संसद के इतिहास के वैज्ञानिक अर्थ में

नहीं। मताधिकार और सीमित अधिकारों वाली कौंसिलों में उस अर्थ में रोड़ा डालना असम्भव है क्योंकि सुधार कानून के अन्तर्गत असेम्बली और कौंसिल के अधिकार गिने चुने हैं। पर हम यह कह सकते हैं कि हमारा विचार अड़ंगा डालने की अपेक्षा स्वराज्य के मार्ग में नौकरशाही द्वारा डाली गई रुकावटों का मुकाबला करना अधिक है।'[1]

स्वराजिस्ट इस बात को दावे के साथ कहते थे कि कौंसिल प्रवेश का प्रोग्राम असहयोग के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल[2] था। उनका प्रोग्राम व्यवस्थापक मण्डलों के अन्दर असहयोग करने का था। वे चाहते थे कि नौकरशाही की नाक के नीचे उसके गढ़ में प्रवेश करके असहयोग के झण्डे को ऊंचा रखा जाए। कौंसिलों के अन्दर स्वराजिस्टों की योजना (१) बजटों को रद्द करने और (२) उन सब कानूनी प्रस्तावों को अस्वीकार करने की थी जिनके द्वारा नौकरशाही अपनी स्थिति को दृढ़ करने की चेष्टा करती थी। अड़ंगा स्वराज्य दल के कार्यक्रम का विध्वंसात्मक पक्ष था। रचनात्मक पक्ष में स्वराज्य दल का कार्यक्रम उन प्रस्तावों, योजनाओं और विधेयकों को पेश करना था जो राष्ट्रीय जीवन की वृद्धि करने के लिए और फलतः नौकरशाही को पदच्युत करने के लिए आवश्यक हों। कौंसिलों के बाहर स्वराजिस्टों ने महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम को हार्दिक सहयोग देने का और कांग्रेस संगठनों के द्वारा उसे कार्यरूप में परिणत करने का वचन दिया। उन्होंने इस बात की भी घोषणा कर दी थी कि "यदि हमें मानना पड़ेगा कि सत्याग्रह के बिना नौकरशाही की स्वार्थपूर्ण हठधर्मी का सामना करना असम्भव है, हम तत्काल कौंसिलों को छोड़कर देश को सत्याग्रह के लिए तैयार करने में, यदि वह स्वयं ही उस समय तक तैयार न हो गया हो, उनकी (महात्मा गांधी की) सहायता करेंगे। तब हम बिना हीन हृदय के उनके पास हो लेंगे और कांग्रेस की संस्थाओं द्वारा उनके अधीन रहकर काम करेंगे जिससे सब मिलकर सत्याग्रह का ठोस कार्यक्रम पूरा कर सकें।"

स्वराज्य दल की सफलताएं—(क) केन्द्र में—द्वैध शासन प्रणाली को नष्ट भ्रष्ट करने के कार्यक्रम को अपने सामने रखकर और कांग्रेस का पूरा समर्थन पाकर स्वराज्य दल १९२३ के चुनावों के अखाड़े में कूद पड़ा। चुनाव में स्वराज्य दल को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। बंगाल और सी० पी० में तो स्वराज्य दल की सफलता को देखकर लोग दंग रह गए। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में १४५ सीटों में से ४५ सीटें स्वराज्य दल के कब्जे में आ गईं। पंडित मोतीलाल नेहरू के समर्थ नेतृत्व में राष्ट्रवादी और स्वतन्त्र उम्मीदवारों का समर्थन व सहानुभूति प्राप्त कर स्वराज्य दल ने अपना काम चलाऊ बहुमत बना लिया। १८ फरवरी, १९२४ को पंडित मोतीलाल नेहरू के उस प्रस्ताव को पास करवाने में स्वराज्य दल ने सफलता प्राप्त की जिसमें कि एक ऐसी गोलमेज परिषद की मांग की गई थी जो कि पूर्ण

१ पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस" पृ० ४५६।
२ वही पृ० ४२०।

उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त पर आधारित भारत के लिए एक संविधान की सिफारिश करे। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप ही माटफोर्ड सुधारों की क्रियान्विति की जाँच पड़ताल करने के लिए मुडीमैन कमेटी की नियुक्ति हुई। प० मोतीलाल नेहरू को इस कमेटी में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रण दिया गया लेकिन उन्होंने अस्वीकार कर दिया।[1] स्वराजिस्टों ने कई महत्वपूर्ण प्रस्तावों पर सरकार को पराजित कर दिया। इन प्रस्तावों में सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव वह था जिसमें कि कुछ राजनीतिक बन्दियों के छुटकारे और १८– के रगुलेशन ।III। को रद्द करने की माँग की गई थी। १९२४ २५ के बजट के मतापे तो माग को अस्वीकार कर दिया गया और सरकार को उसकी पुनःप्रतिष्ठा करने के लिए गवनर जनरल के विशेषाधिकार का प्रयोग करना पड़ा था। स्वराजिस्टों ने गवनर जनरल के उत्सवों और भोजों में सम्मिलित न होने का नियम बना लिया था। यह ठीक है कि स्वराज्य दल सरकार की गति में अड़गा लगाने में सफल हुआ लेकिन वह उसे रोक नहीं सका। स्वराज्य दल के सदस्यों का अपना विरोध प्रदर्शित करने का एक प्रिय तरीका व्यवस्थापिका सभा से वाक आउट कर जाना था। सर तेजबहादुर सप्रू उनके इन नाटकीय प्रदर्शनों को देशभक्ति का गमनागमन कहा करते थे।

(ख) प्रान्तों में—जहाँ तक प्रान्तों का सम्बन्ध है स्वराज्य दल ने बगाल और मध्य प्रान्त में विशेष सफलता प्राप्त की। इन दोनों प्रान्तों में स्वराजिस्टों ने द्वैध शासन प्रणाली की मशीनरी को बिल्कुल ठप्प कर दिया। बगाल में स्वराजिस्टों का स्पष्ट बहुमत था। उनके नेता चितरंजनदास से कहा गया कि वे अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करें। उन्होंने न केवल स्वयं ही मन्त्रिमण्डल बनाना अस्वीकार किया अपितु और किसी को भी मन्त्रिमण्डल का निर्माण नहीं करने दिया। २३ मार्च १९२४ को लेजिस्लेटिव कौंसिल ने दो मन्त्रियों के वेतन का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। प्रस्ताव के पक्ष में ६३ और विपक्ष में ६६ मत पड़े। फलतः मन्त्रियों को अपना त्यागपत्र देने के लिए बाध्य होना पड़ा १९२५ में सी० आर दास ने द्वैध शासन प्रणाली कि कफन में अन्तिम कील ठोक और उसके ऊपर एक मरसिया लिखने में अपने निश्चय में सफलता प्राप्त कर लेने का दावा ही किया था। जून १९२५ में दास बाबू की मृत्यु हो गई। इससे बगाल में स्वराज्य दल के प्रभाव को गहरा धक्का लगा। लेकिन तीसरी बार भी उसने मन्त्रिमण्डल के निर्माण को असम्भव कर दिया और गवनर को सदन भंग कर देने के लिए विवश होना पड़ा। स्वराज्य दल की सफलता के सम्बन्ध में एच० एन ब्रेल्सफोर्ड ने कहा मेरे विचार से अड़गा लगाने की नीति बिल्कुल ठीक थी क्योंकि उसने ब्रिटिश अनुदार दलवालों को भी इस बात का कायल कर दिया कि द्वैध शासन प्रणाली अव्यवहार्य है।[2] ब्रेकेनहेड ने स्वराज्य दल के

---

१ इस कमेटी में सर तेजबहादुर सप्रू मि० जिन्ना और सर सी० पी० शिव स्वामी अय्यर सम्मिलित थे।

२ पोलक— महात्मा गांधी पृ १६५।

सम्बन्ध में कहा कि वह भारतवर्ष में सबसे अधिक सगठित राजनीतिक दल है।[1]

स्वराज्य दल का सहयोग की ओर झुकाव—१९२५ में देशबन्धु चितरंजन दास की मृत्यु के पश्चात् स्वराज्य दल की शक्ति का शन शनै ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। सरकार के कामों में अड़ंगा लगाने की जिस मूल नीति को लेकर स्वराज्य दल का जन्म हुआ अब इस नीति में धीरे धीरे परिवर्तन होने लगा। वैसे तो स्वराज्य दल दास बाबू की मृत्यु के पूर्व ही सतत और अविच्छिन्न अड़ंगा लगाने के रास्ते से अलग हटता मालूम पड़ने लगा था। अक्टूबर १९२४ में स्वयं दास बाबू ने सरकार से सहयोग करने के लिए कुछ शर्तें रखी थीं। उन्होंने कहा था मैं हृदय परिवर्तन के लक्षण हर जगह देख रहा हूं। मन और जोत के चिह्न मुझे हर जगह दिखाई पड़ रहे हैं। संसार संघर्ष से थक गया है और उसमें मुझे सृजन और संगठन की इच्छा दिखाई पड़ रही है।' उनकी मृत्यु के पश्चात् स्वराज्य दल सरकार के साथ सहयोग करने की दिशा में अधिकाधिक झुकता गया। व्यवस्थापक मण्डलों को अन्दर से नष्ट भ्रष्ट कर देने की नीति का स्थान क्रमशः व्यवस्थापक मण्डलों में भाग लेने उनका उपयोग करने और सरकार के साथ सहयोग तक करने की नीति लेने लगी। १९२४ में स्वराज्य दल के प्रतिनिधि स्टील प्रोटेक्शन कमेटी में सम्मिलित हुए। दूसरे वर्ष पंडित मोती लाल नेहरू ने स्कीन कमेटी की सदस्यता स्वीकार कर ली। १९२६ के चुनावों से प्रकट हुआ कि स्वराज्य दल का प्रभाव अब घटने लगा है। बंगाल और मध्यप्रान्त में स्वराज्य दल का बहुमत कम हो गया फलतः वहाँ सरकार को द्वैध शासन प्रणाली की पुनर्प्रतिष्ठा करने में सफलता प्राप्त हुई। केन्द्रीय असेम्बली में स्वराज्य दल की स्थिति इस कारण कमजोर पड़ गई क्योंकि पंडित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपत राय के नेतृत्व में नेशनलिस्ट पार्टी ने इस बात का अनुभव किया कि हर बात में सरकार का विरोध करने की नीति हिन्दुओं के लिए अहितकर है।

प्रतियोगी सहयोगी और असहयोगी—स्वराजिस्टों के बीच ही दो दल हो गए। एक दल प्रतियोगी सहयोग करने की नीति का प्रतिपादक था और दूसरा असहयोग करने की नीति का। स्वराज्य दल के बीच उत्पन्न मतभेद उस समय पराकाष्ठा पर पहुंच गया जब कि मध्यप्रान्तीय विधान सभा के स्वराजिस्ट अध्यक्ष श्री एस० बी ताम्बे गवर्नर की कार्यकारिणी के सदस्य बन गए। बम्बई में स्वराजिस्टों ने प्रतियोगी सहयोग का खुलम खुल्ला समर्थन किया। पंडित मोतीलाल नेहरू की इस धमकी ने कि वे स्वराज्य दल के रोगी अंग को काटकर फेंक देंगे मतभेद की खाई को और भी चौड़ा कर दिया। पंडित मोतीलाल नेहरू के उद्धत स्वर ने जयकर केलकर और मुंजे को खुली बगावत करने के लिए खड़ा कर दिया। १९२६ का अन्त होते-होते स्वराज्य दल की अधिकांश शक्ति नष्ट हो चुकी थी।

---

१ पट्टाभि सीतारामय्या—'दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस', पृ० ४८४।

६७-साम्प्रदायिक तनाव की वृद्धि

उपद्रवों की कहानी—खिलाफत आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद के वर्ष भारतवर्ष के इतिहास में दुर्भाग्यपूर्ण थे क्योंकि इन वर्षों में साम्प्रदायिक विद्वेष की आग ने भयावह रूप धारण किया। इस बात का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि मालाबार में मोपला ने अपने हिन्दू पड़ौसियों की निर्ममता से हत्या की थी। सन् १९२२ से लेकर १९२७ तक हिन्दू मुस्लिम उपद्रवों की संख्या इतनी अधिक बढ़ी कि उनका गिनना भी प्रायः असम्भव हो गया। सन् १९२३ में मुलतान, अमृतसर, मुरादाबाद, मेरठ, पानीपत, जबलपुर, आगरा, बरेली आदि में साम्प्रदायिक झगड़े हुए। सन् १९२४ में कोहाट में, सन् १९२५ में दिल्ली, कलकत्ता और इलाहाबाद में, सन् १९२६ में कलकत्ता में और सन् १९२७ में लाहौर, बरेली और नागपुर में दंगे हुए। कलकत्ता के साम्प्रदायिक उपद्रव भयानक थे। ये [illegible] दिन तक चलते रहे, इनमें ६७ आदमी मारे गए और ४०० से अधिक जख्मी हुए।

कारण—इन उपद्रवों के तात्कालिक कारण बहुत ही तुच्छ थे। कभी गोवध का प्रश्न इस सम्बन्ध में उत्पन्न होकर झगड़ा करवाता था और कभी दशहरा के जलूस के अवसर पर मस्जिद के सामने बाजे का प्रश्न। लेकिन ये तो उपद्रवों के ऊपरी कारण थे, असली कारण कुछ और थे। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में भारतवर्ष में साम्प्रदायिकता [illegible] साम्प्रदायिकता थी। यह साम्प्रदायिकता तनाव के पीछे छिपी हुई राजनीतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया थी। असहयोग आन्दोलन की समाप्ति का अभिप्राय कांग्रेस लीग मैत्री की समाप्ति था। धीरे धीरे मुस्लिम लीग प्रतिगामी नेतृत्व की अधीनता में चली गई और उसने मुसलमानों के बीच हिन्दू राज का हौआ दिखाकर अपनी जड़ मजबूत करनी प्रारम्भ कर दी। हिन्दुओं के बीच भी साम्प्रदायिक भावनाओं ने उग्र रूप धारण कर लिया। तथाकथित मुस्लिम आधिपत्य के विरुद्ध हिन्दुओं के अधिकारों की रक्षा करने के लिए हिन्दू महासभा का संगठन किया गया। सच तो यह है कि ये दोनों ही संस्थाएं न्यस्त स्वार्थों के [illegible] में थीं। ये न्यस्त स्वार्थ सदा पारस्परिक विरोध को प्रबल और विषमय साम्प्रदायिक प्रचार में दिलचस्पी रखते थे। खिलाफत और असहयोग आन्दोलन के बीच इन प्रतिगामी तत्वों को निष्क्रिय रहने के लिए बाध्य कर दिया गया था। अब वे अपने संन्यास से उन्मुक्त हुए। अन्त में दूसरे गुप्त एजेंटों और लोगों ने जो कि साम्प्रदायिक मतभेद की सृष्टि कर अधिकारियों को प्रसन्न करना चाहते थे इसी परम्परा पर काम किया।[1]

महात्मा गांधी का उपवास और एकता सम्मेलन—सितम्बर १९२४ में महात्मा गांधी ने साम्प्रदायिक विप्लव और हत्याकाण्ड का प्रायश्चित करने के उद्देश्य से जिसके लिए कि उन्होंने स्वयं को ही उत्तरदायी ठहराया २१ दिनों का उपवास किया। दूसरों

---

[1] जवाहरलाल नेहरू— ऑटोबायोग्राफी पृ० ४५६।

के पापों के लिए उन्होंने जिस तपस्या को अपने ऊपर लागू किया उसका जनता के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा और कलकत्ता में एक एकता सम्मेलन किया गया। काफी देर के विचार विमर्श के फलस्वरूप एक राष्ट्रीय पंचायत नियुक्त की गई। महात्मा गांधी इसके अध्यक्ष बने और हकीम अजमल खाँ लाला लाजपतराय जी० के० नरीमन डा० एस० के० दत्त और मास्टर सुंदरसिंह इसके सदस्य बने। इस पंचायत का उद्देश्य अन्तर्साम्प्रदायिक एकता की वृद्धि करना था। एक वर्ष के लिए उपद्रव रुक गए। परन्तु साम्प्रदायिक रोग का उक्त निदान अस्थायी था। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के प्रतिगामी तत्वों ने 'भेद डालो और राज्य करो' की नीति में साम्राज्य वादियों को पुनः सक्रिय सहायता देनी प्रारम्भ कर दी। नौकरशाही को अपनी इस सफलता के ऊपर सकारण गर्व था। कोई आश्चर्य नहीं कि संयुक्त प्रान्त में एक गवर्नर ने अपने विदाई भाषण में अभिमानपूर्वक इस बात को कहा था कि उसे अपने पाँच वर्षों के शासन-काल में कम से कम ८३ साम्प्रदायिक उपद्रवों का सामना करना पड़ा था।'[1]

सारांश

प्रथम विश्व-युद्ध ने संसार के अन्य भागों की तरह भारतवर्ष में भी राष्ट्रीयता की भावना को तीव्र कर दिया। इसके अलावा भी अन्य कई ऐसे कारण थे जिन्होंने कि भारतीय राष्ट्रीयता के प्रवाह को अधिक वेगयुक्त करने में सहायता दी। जनता की आर्थिक कठिनाइयों महगाई, बीमारियों नौकरशाही दमन अध्यादेश शासन और लड़ाई के लिए धन एकत्रित करने व सिपाही भरती करने में जिस कठोरता का बर्ताव किया गया था उन सब कारणों की वजह से जनता विदेशी आधिपत्य से अधिकाधिक असन्तुष्ट होती गई। मुसलमान खिलाफत प्रश्न के ऊपर विशेष रूप से रुष्ट थे। मोंटफोर्ड सुधारों के ऊपर भी जन साधारण के बीच आम निराशा की भावना व्याप्त थी।

१६१८ में भारतीय जनमत के सख्त विरोध करने के बावजूद भी सरकार ने रौलट-एक्ट को पास कर दिया। रौलट एक्ट सरकार की निरंकुश स्वेच्छाचारिता का एक स्पष्ट प्रमाण था इससे जनता की स्वतन्त्रताओं के ऊपर कुठाराघात होता था। इस दमनमूलक कानून के अधिनियम ने महात्मा गांधी को स्वतन्त्रता संग्राम के अग्रिम मोर्चे पर ला खड़ा किया। पहले महात्मा गांधी स्पष्ट घोषित राजभक्त थे लेकिन सरकार की दमन-नीति ने उनको राजद्रोही बना दिया। रौलट एक्ट के विरोध में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया। कुछ स्थानों पर जनता ने हिंसात्मक घटनाएँ कर डालीं, इससे दुखी होकर गांधीजी ने सत्याग्रह आन्दोलन को स्थगित कर दिया।

---

१ जवाहरलाल नेहरू—"आटोबायग्राफी" पृ० ८६-८७।

इसी बीच में पंजाब की हालत बहुत खराब हो गई। वहां रौलट एक्ट विरोधी आन्दोलन ने अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया और कुछ स्थानों पर हिंसात्मक घटनाएं भी हो गईं। जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड ने सारे देश में सनसनी फैला दी। जनता ने सरकार से इस बात की मजबूत मांग की कि वह पंजाब की दुर्घटनाओं की जांच के लिए एक समिति नियुक्त करे। फलतः सरकार ने लार्ड हण्टर की अध्यक्षता में एक जांच समिति नियुक्त की लेकिन इस समिति की रिपोर्ट ने जनरल डायर के दुष्कृत्य पर पर्दा डालने की कोशिश की।

१९२० के ग्रीष्मकाल में सीवर्स की संधि प्रकाशित हुई। इस संधि ने सारे विश्व के मुसलमानों को गहरा धक्का पहुंचाया। युद्धकाल में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने इस बात का वचन दिया था कि टर्की साम्राज्य का किसी प्रकार से अहित या विघटन नहीं किया जाएगा। लेकिन युद्ध बीत जाने पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपने वचनों को भूल गए। सीवर्स की संधि के अनुसार टर्की साम्राज्य का विघटन कर दिया गया और सुलतान की जो कि इस्लाम का खलीफा था मानहानि की गई। महात्मा गांधी ने ब्रिटिश सरकार के इस विश्वासघात का जोरदार विरोध किया। उन्होंने मुसलमानों के साथ हार्दिक सहानुभूति प्रकट की तथा खिलाफत और पंजाब के अन्यायों के निराकरणार्थ व स्वराज्य प्राप्त करने के उद्देश्य से असहयोग आंदोलन प्रारम्भ किया।

असहयोग आन्दोलन काफी जोर शोर से चला। ८,००० से अधिक देशभक्त जेल में चले गए। अधिकतर में कार्यक्रम को आश्चर्यजनक सफलता मिली। असहयोग आन्दोलन के काल में हिंदू मुस्लिम एकता को देखकर दोनों ही उसकी प्रशंसा करते थी। फरवरी १९२१ में जनता की एक भीड़ ने क्रोध में आकर २१ सिपाहियों और थानेदार को मार डाला। इस दुर्घटना का समाचार पाकर महात्मा गांधी को अपार क्लेश पहुंचा और उन्होंने आन्दोलन को तुरन्त ही स्थगित कर दिया। असहयोग आन्दोलन में कुछ कमियां अवश्य थी लेकिन फिर भी उसने महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की। इस आन्दोलन ने जनता के हृदय में स्वतन्त्रता व निर्भीकता की एक नूतन प्राण धारा उत्पन्न की। महात्मा गांधी के गतिशील नेतृत्व ने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक क्रांतिकारी आन्दोलन और जन आन्दोलन के रूप में परिवर्तित कर दिया।

असहयोग आन्दोलन के समाप्त हो जाने के पश्चात् देशबन्धु चितरंजनदास और मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में स्वराज्य दल का उदय हुआ। स्वराज्य दल कौंसिल-प्रवेश का समर्थन करता था। उनका सिद्धान्त था कि व्यवस्थापक मण्डलों के अन्दर पहुंचकर सरकार के कार्यों में अड़ंगा लगाया जाय। स्वराजिस्टों का कहना था कि यह कार्यक्रम असहयोग के कार्यक्रम के सर्वथा अनुकूल है। वे विश्वास करते थे कि हम वैधानिक गत्यवरोध उत्पन्न करके मोंटफोर्ड सुधारों को नितान्त असफल सिद्ध कर देंगे।

दिल्ली के विशेष अधिवेशन (सितम्बर १९२०) में स्वराज्य दल के प्रोग्राम पर कांग्रेस ने अपनी अनुमति दे दी। उसी वर्ष नवम्बर में चुनाव हुए। स्वराज्य-दल ने इन

चुनावों में भाग लिया और कुछ स्थानों पर विस्मयजनक सफलता प्राप्त की। भारतीय व्यवस्थापक मण्डल में उन्होंने ४५ स्थानों पर अधिकार कर लिया और कई महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सरकार को पराजित किया। बंगाल और मध्य प्रान्त में जहां स्वराजिस्टों का बहुमत था उन्होंने द्वैध शासन प्रणाली की नियुक्ति को बिल्कुल रोक दिया। १९२६ के बाद से स्वराज्य दल में फूट पैदा हो गई। और उसके कुछ शिरोरत्न सदस्यों ने सरकार के साथ प्रतियोगी सहयोग करने का रास्ता पकड़ लिया।

असहयोग या नेशनल और खिलाफत आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद के वर्ष हिन्दू मुस्लिम एकता की दृष्टि से अत्यन्त शोचनीय हैं। इन वर्षों में देश के विभिन्न भागों में साम्प्रदायिक उपद्रव हुए। सितम्बर १९२४ में महात्मा गांधी ने पुनः साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने के उद्देश्य से २१ दिनों का उपवास किया। महात्मा गांधी के बलिदान से कुछ समय के लिए साम्प्रदायिक विद्वेष की आग पर पानी पड़ गया लेकिन वह हमेशा के लिए ठण्डी नहीं हो सकी।

अध्याय १०

साइमन कमीशन से गोलमेज परिषद् तक

६८ महात्मा गांधी पुनः मैदान में

राजनीति से दूर—१९२७ का वर्ष भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक विशेष महत्व रखता है। इस वर्ष महात्मा गांधी कांग्रेस के निर्विवाद नेता के रूप में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर पुनः अवतरित हुए। १९२४ में कारागार से छूटने के पश्चात उन्होंने सक्रिय राजनीति से हाथ खींच लिया था और अपना समय चर्खे को लोकप्रिय बनाने, सारे देश में भ्रमण कर हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रचार करने और अस्पृश्यता के अभिशाप से युद्ध करने में व्यतीत किया था। १९२५ के अन्त में उन्होंने एक वर्ष के लिए राजनीतिक मौन और निश्चलता का व्रत ले लिया। इस अवधि में स्वराजवादी कांग्रेस के राजनीतिक नेता थे और गांधीवादी मुख्यतः रचनात्मक कार्यक्रम में संलग्न रहे। लेकिन १९२६ तक विधान मण्डलों में प्रवेश और असहयोग करके नौकरशाही शासनयंत्र को छिन्न भिन्न करने का स्वराजवादी कार्यक्रम नष्ट प्राय हो चुका था। घटनाचक्र ने महात्मा गांधी को शीघ्र ही राष्ट्रीय मार्ग के अग्र भाग पर पुनः ला खड़ा किया।

वामपन्थी विचारों की वृद्धि—जिस समय महात्मा गांधी ने कांग्रेस के नेतृत्व की बागडोर सम्हाली, राष्ट्रीय आन्दोलन में वामपंथी प्रवृत्ति दृष्टिगत होने लगी थी। समाजवादी और साम्यवादी विचारों ने देश के युवक राष्ट्रवादियों को प्रभावित करना आरम्भ किया था। "रूस में समाजवादी क्रान्ति की सफलता और समाजवादी राज्य की स्थापना ने भारत के भावनाशील राष्ट्रवादियों में समाजवादी और साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रति रुचि उत्पन्न कर दी।"[1] कमकरों और किसानों के संगठन प्रकट होने लगे। बम्बई के गिरनी कामगार संघ के सदस्यों की संख्या १९२८ तक ६५ हजार से अधिक पहुंच गई थी। श्रमिक संघवाद और वर्ग चेतना का औद्योगिक मजदूरों के बीच शीघ्रतापूर्वक विकास हुआ और उसने १९२८-१९२९ में कई बड़ी-बड़ी हड़तालों के रूप में स्वयं को व्यक्त किया। स्वयं कांग्रेस के भीतर जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में वामपक्ष जोर पकड़ने लगा। इसी काल में युवक संघों और विद्यार्थी संघों का भी जन्म हुआ। सुभाष बोस और जवाहरलाल नेहरू उनके सामर्थ्यवान नेता थे।

---

१ ए० आर० देसाई—'सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म' पृ० ३२४।

६९ साइमन कमीशन

साइमन कमीशन की नियुक्ति—५ नवम्बर, १९२७ को महात्मा गांधी तथा दूसरे भारतीय नेताओं को वायसराय का यह आमन्त्रण मिला कि वे उनसे दिल्ली में भेंट करें। महात्मा गांधी उस समय मंगलौर में थे। वायसराय का आमन्त्रण पाकर शीघ्र ही वहाँ से चल पड़े और एक हजार मील की यात्रा तय कर लार्ड इर्विन से भेंट करने के लिए दिल्ली पहुंचे। लार्ड इर्विन ने उनके हाथों में कागज का एक टुकड़ा थमा दिया, जिसमें अनुविहित साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की गई थी। महात्मा गांधी ने खिन्न होकर कहा कि वायसराय इस सूचना को उन्हें एक आने के लिफाफे में भेज सकते थे। लेकिन यह घटना भारत के इतिहास में युगान्तरकारी सिद्ध होने को था।

कमीशन को निश्चित काल से दो वर्ष पूर्व क्यों नियुक्त किया गया?—यह स्मरणीय है कि १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने मॉंटफोर्ड सुधारों की कार्यान्विति की जाँच पड़ताल करने और इस बात को कि भारत उत्तरदायी स्वशासन की दिशा में अग्रतर पगोन्नति के लिए कहाँ तक तैयार है, रिपोर्ट करने के लिए १० वर्ष की समाप्ति पर एक अनुविहित कमीशन की नियुक्ति निर्धारित की थी। इस प्रकार भारत में कमीशन १९२९ में भेजा जाना चाहिए था। लेकिन इंगलैण्ड की राजनीतिक परिस्थिति ने अनुदार दल के भारत मन्त्री लार्ड बर्केनहेड को इस सम्बन्ध में जल्दी करने के लिए विवश कर दिया। १९२९ में साधारण निर्वाचन होने को थे और उनमें श्रमिक दल की विजय की स्पष्ट सम्भावना थी। नितान्त अनुदार दल भारत के राजनीतिक भविष्य को अपने विरोधी दल के हाथों में नहीं छोड़ना चाहता था। यही कारण है कि कमीशन को निश्चित काल से दो वर्ष पूर्व नियुक्त किया गया।

भारत के लिए अपमानजनक—साइमन कमीशन की नियुक्ति भारतवर्ष के लिए अपमानजनक थी। कमीशन में एक भी भारतीय सदस्य नहीं था। 'उसके सातों के सातों सदस्य अंग्रेज थे।'[1] कमीशन में भारतीयों को न लेने का कारण यह बताया गया था कि चूंकि उसे ब्रिटिश संसद को रिपोर्ट देनी है इसलिए उसमें केवल ब्रिटिश संसद के ही सदस्य सम्मिलित हो सकते हैं। लेकिन यह तो कोरा एक बहाना था क्योंकि उस समय ब्रिटिश संसद में भारत के भी दो प्रतिनिधि—प्रत्येक सदन में एक एक वर्तमान थे।

कमीशन का उद्देश्य—कमीशन का उद्देश्य शासन प्रणाली की क्रियान्विति शिक्षा की वृद्धि तथा ब्रिटिश भारत में प्रतिनिधिक संस्थाओं के विकास का अनुशीलन करना और इस बात को कि उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त की स्थापना वांछनीय है या नहीं यदि है तो किस सीमा तक एवं ब्रिटिश भारत में उस समय वर्तमान उत्तर

---

१ सी० वाई० चिन्तामणि—'इण्डियन पॉलिटिक्स सिन्स दी म्यूटिनी' पृ० १७१।

दायी शासन की मात्रा को बढ़ाया जाए, संशोधित किया जाए अथवा कम प्रतिबंधित किया जाए, रिपोर्ट करना था।

कमीशन का बहिष्कार—इस प्रकार भारतीयों को यह निर्णय करने को थे कि भारतीय अपना शासन आप करने के योग्य हैं या नहीं।[1] इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कमीशन में एक भी भारतीय सदस्य के न रखे जाने के कारण भारतीय लोकमत के सभी वर्गों ने अपना घोर अपमान[2] समझा और इसका प्रबल विरोध किया। कमीशन को राजनीतिक भूलों के नाम से ठीक ही सम्बोधित किया गया। भारतीयों के अपवर्जन के अतिरिक्त कांग्रेस ने कमीशन के विचारणीय विषयों के ऊपर भी आक्षेप किया। यह केवल जाँच-पड़ताल और रिपोर्ट करने के लिए नियुक्त ही होना था, भारत की पूर्ण उत्तरदायी शासन की माँग की ओर से उसने अपनी आँखें मूँद ली थी। पण्डित मोतीलाल नेहरू ने कहा था कि सरकार के लिए एकमात्र न्यायपूर्ण मार्ग यह था कि वह इस बात की स्पष्ट घोषणा कर दे कि वह क्या करना चाहती है और इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने के उद्देश्य से एक योजना तैयार करने के लिए कमीशन नियुक्त करे।

मद्रास कांग्रेस दिसम्बर १९२७—कांग्रेस ने साइमन कमीशन के प्रति अपना दृष्टिकोण तथा नीति को दिसम्बर १९२७ के मद्रास अधिवेशन में स्पष्ट व्यक्त किया। चूँकि सरकार ने भारत के स्वभाग्य निर्णय के अधिकार के प्रति घोर उपेक्षा प्रदर्शित की अतः कांग्रेस ने प्रत्येक स्तर पर और प्रत्येक रूप में कमीशन के बहिष्कार करने का निश्चय किया। मद्रास कांग्रेस ने पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित करते हुए एक प्रस्ताव भी पास किया था यद्यपि महात्मा गांधी ने इस प्रस्ताव के बारे में बाद में कहा था कि उसे जल्दबाजी में सोचा गया था और बिना विचारे पास किया गया था।

साइमन कमीशन के बहिष्कार का निर्णय केवल कांग्रेस तक ही सीमित नहीं था। मुस्लिम लीग (जिसमें इस प्रश्न के ऊपर फूट पड़ गई थी) के एक वर्ग को छोड़कर सभी राजनीतिक दलों ने साइमन कमीशन के प्रति एक सा दृष्टिकोण ग्रहण किया। सर मोहम्मद शफी के नेतृत्व में लीग के प्रतिगामी पक्ष ने कमीशन के स्वागत करने का निश्चय किया लेकिन मि० जिन्ना और उनके वामपक्षी अनुयायी कांग्रेस के साथ हो गए।

साइमन कमीशन ३ फरवरी १९२८ को बम्बई में उतरा। देशव्यापी हड़ताल द्वारा उसका अभिनन्दन किया गया। जहाँ कहीं कमीशन गया काले झण्डों और 'साइमन वापस जाओ' के नारों से उसका स्वागत किया गया। सरकार ने बहिष्कार को तोड़ने के लिए जोर ज्यादती के उपायों का प्रयोग किया लेकिन सब बेकार।

---

१ पोलक— महात्मा गांधी, पृ० १६६।

२ राजेन्द्रप्रसाद— 'खण्डित भारत', पृ० १९८।

लाहौर में साइमन कमीशन के विरोध में लाला लाजपतराय ने एक विराट जलूस का नेतृत्व किया। वह हृदय रोग से पहले ही पीड़ित थे, जलूस में उनके ऊपर पुलिस की इतनी लाठियां पड़ीं कि उक्त घटना के एक पक्ष उपरान्त उनकी मृत्यु हो गई। लाला लाजपतराय की मृत्यु से सारे देश में उत्तेजना की एक लहर दौड़ गई। लखनऊ में जवाहरलाल नेहरू व गोविन्दवल्लभ पंत के ऊपर पुलिस की लाठियाँ पड़ीं। जब तक कमीशन लखनऊ में रहा लखनऊ की स्थिति एक सैनिक शिविर के तुल्य रही और वे सामाजिक उत्सव तक जिनमें कमीशन के सदस्यों को आमन्त्रित किया जाता था पुलिस की कठोर निगरानी में सम्पन्न होते थे।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट—स्पष्टतः साइमन कमीशन की जाँच पड़ताल ने भारतीयों के बीच बहुत कम रुचि उत्पन्न की। दक्षिण की जस्टिस पार्टी और थोड़े से मुस्लिम संगठनों को छोड़कर सभी राजनीतिक दलों ने कमीशन का पूर्ण बहिष्कार किया। कमीशन ने दो बार भारत की यात्रा की और अपनी रिपोर्ट को जो मई १९३० में प्रकाशित हुई दो वर्ष से अधिक समय बाद पूरा किया। कूपलण्ड के मत के अनुसार रिपोर्ट ने ब्रिटिश राज्य विधान के पुस्तकालय में एक और श्रेष्ठ कृति की वृद्धि की।[1] ए० बी० कीथ के मत में भारतीयों द्वारा साइमन कमीशन का बहिष्कार एक त्रुटिपूर्ण कदम था। लेकिन भारतीय लोकमत ने रिपोर्ट को पूर्ण रूप से अस्वीकार किया।[2] सर शिवस्वामी अय्यर ने इन शब्दों में कि 'साइमन रिपोर्ट को रद्दी की टोकरी में डाल देना चाहिए'[3] साइमन रिपोर्ट के प्रति भारतीय दृष्टिकोण का अच्छा परिचय दिया था। ब्रिटिश सरकार ने भी रिपोर्ट के ऊपर जिसकी सिफारिशें शीघ्र ही गोलमेज परिषद के दौरान वितर्कों से अभिभूत हो गई थीं कोई कार्यवाही नहीं की।

साइमन रिपोर्ट ने भारतीय आकांक्षाओं के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति प्रकट नहीं की और डोमिनियन स्टेटस की चर्चा तक नहीं की।

इसके विपरीत उसने जातिगत और सम्प्रदायगत मतभेदों का सविस्तार उल्लेख करते हुए भारतीय स्थिति का इकत्री चित्र खींचा।

निष्कर्ष यह निकाला कि संसदीय अथवा उत्तरदायी शासन का प्रयोग सफल नहीं रहा था लेकिन उसने इस बात की सिफारिश नहीं की कि इस पद्धति को त्याग दिया जाये।

प्रान्तों में रक्षाकवचों (Safeguards) के साथ पूर्ण उत्तरदायी शासन—इसके विपरीत उसने सुझाव दिया कि प्रान्तों में द्वैध शासन प्रणाली के स्थान पर पूर्ण उत्तरदायी शासन की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

प्रान्तीय प्रशासन के सब विभाग विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी एकल-मन्त्रिमण्डल के हाथों में होने चाहिएँ। तथापि, उसने रक्षाकवचों (Safeguards) की आवश्यकता पर बल दिया।

---

१ कूपलण्ड— इण्डियन प्रॉब्लेम १८३३-१९३५, पृ० १००।
२ कीथ— ए कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" पृ० ३०४।
३ चिन्तामणि— इण्डियन पोलिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी पृ० १४२।

यह सुझाव उपस्थित किया कि कतिपय महत्त्वपूर्ण मामलों में गवर्नरों को अपने मन्त्रियों के निर्णयों के उल्लघन करने की विशेष शक्तियों से सज्जित कर देना चाहिए।

संघ- रिपोर्ट में एक एसे भारतीय संघ की स्थापना का भी प्रस्ताव था जिसमें प्रत्येक प्रान्त जहाँ तक हो सके अपने क्षेत्र में अपना मालिक हो।

रिपोर्ट ने यह भी सुझाव दिया था कि केन्द्रीय विधानमण्डल को संघीय आधार पर पुनर्गठित करना चाहिए और निम्न सदन को जिसका नाम संघीय सभा (Federal Assembly) हो प्रान्तीय विधान मण्डलों द्वारा परोक्ष निर्वाचित किया जाना चाहिए। यह उसकी सर्वाधिक विस्मयकर सिफारिशों म से एक थी।

केन्द्र मे कोई उत्तरदायित्व नहीं—इसमें कहा गया था कि केन्द्र में किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नही हो कार्यपालिका बराबर अनुत्तरदायी बनी रहे। जहाँ तक साम्प्रदायिक प्रश्न का सम्बन्ध है साइमन रिपोर्ट ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की निन्दा की लेकिन फिलहाल उसे अपरिहार्य ठहराया।

भारतीय राज्य—सुदूर भविष्य में भारतीय संघ में भारतीय राज्यों के योग-दान की भी अस्पष्ट कल्पना की लेकिन एक तात्कालिक पग क रूप में उसने वृहत्तर भारत की केवल एक एसी परामर्श परिषद् की सिफारिश की जिसमें देशी राज्य और ब्रिटिश भारत दोनों का प्रतिनिधित्व हो।

७० नेहरू रिपोर्ट और जिना की चौदह शर्तें

सब दल सम्मेलन १९२८—साइमन कमीशन की जिसके सब सदस्य अंग्रेज थे नियुक्ति करते हुए अनुदार दल के भारत मन्त्री लार्ड बर्कनहेड ने भारतीय जनता को एक धृष्ट चुनौती दी थी। उन्होंने कहा था कि भारतीय साम्प्रदायिक कलहो के फल स्वरूप अपने लिए एक संविधान बनाने में असमर्थ हैं। भारतीय राष्ट्रवादियो ने इस चुनौती को स्वीकार किया और कांग्रेस ने फरवरी १९२८ में दिल्ली म सब दलों के सम्मेलन का संयोजन किया। सम्मेलन ने २५ बैठकें की तथा पूर्ण उत्तरदायी शासन के ऊपर आधारित भारत के एक संविधान और साम्प्रदायिक सम्बन्धों व अनुपातों की समस्या पर विचार विनिमय किया।

नेहरू-समिति—१९ मई को सम्मेलन की बैठक में इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया गया कि भारतीय संविधान के सिद्धान्तों का मसविदा तयार करने के लिये पण्डित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में ९ सदस्यों की जिनमे एक सिख और दो मुसलमान भी हों एक समिति नियुक्त की जाये। सम्मेलन म भाग लेने वाले २९ सगठनो ने समिति के नियुक्त करने के प्रस्ताव का समर्थन किया। जवाहरलाल नेहरू इस समिति के सेक्रेटरी बने।

नेहरू रिपोर्ट—(क) डोमिनियन स्टेटस और पूर्ण उत्तरदायी शासन—समिति ने तीन महीने के भीतर अपना रिपोर्ट तयार कर ली। अपनी रिपोर्ट में समिति ने इस

बात का भारतीय संविधान को स्वशासित डोमिनियनों के नमूने पर पूर्ण उत्तरदायी शासन के ऊपर आधारित होना चाहिए समर्थन किया और यह स्पष्ट कर दिया कि डोमिनियन स्टेटस की उपलब्धि हमारे विकास की एक दूरस्थ अवस्था नहीं अपितु अगला तात्कालिक कदम है।' रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि केन्द्र और प्रान्त दोनों स्थानों पर, कार्यपालिका को पूर्णत विधान मंडल के नियंत्रण में तथा उत्तरदायी रहना चाहिए।

(ख) प्रान्तीय स्वायत्तता और अवशिष्ट शक्तियां—समिति संघ को भी केवल एक संभावना समझती थी। तथापि उसने प्रान्तों के लिए स्वायत्तता की आवश्यकता पर बल दिया। उसने केन्द्र और प्रान्तों के बीच शक्तियों के वितरण की एक योजना उपस्थित की, लेकिन अवशिष्ट शक्तियों को केन्द्र के लिए सुरक्षित रखा।

(ग) साम्प्रदायिक निर्वाचन और गुरुभार की अस्वीकृति—जहाँ तक साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के कठिन प्रश्न का सम्बन्ध है नेहरू रिपोर्ट साम्प्रदायिकता की कठिनाइयों का ठीक ठीक सामना करने के लिए भारतीयों द्वारा अब तक की गई सुस्पष्टतम चेष्टा थी।' रिपोर्ट ने इस तथ्य को कि साम्प्रदायिक मतभेद समस्त राजनीतिक कार्य पर अपना प्रभाव डालते हैं स्वीकार किया लेकिन यह विश्वास व्यक्त किया कि विदेशी सत्ता और हस्तक्षेप से विमुक्त स्वतन्त्र भारत में इस समस्या को सुलझाना सुगम होगा। रिपोर्ट के रचयिताओं ने घोषणा की 'एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के ऊपर निरंकुश शासन करे, इस बात को सहन नहीं किया जा सकता। उन्होंने रक्षाकवचों, धार्मिक और सांस्कृतिक स्वायत्तता' द्वारा अल्पसंख्यक वर्गों को सुरक्षा का आश्वासन देने की आवश्यकता पर बल दिया। लेकिन साम्प्रदायिक निर्वाचन और गुरुभार के प्रश्न के ऊपर रिपोर्ट ने लखनऊ समझौते की शर्तों को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। उसने पृथक निर्वाचनों का इस आधार पर खण्डन किया कि वे साम्प्रदायिक विरोधभाव की वृद्धि करते हैं और अल्पसंख्यक वर्गों को न्याय सुरक्षा देने के अपने स्पष्ट घोषित प्रयोजन में ही असफल रहते हैं। फलतः 'राष्ट्रीय हितों के लिए विचारित किसी भी प्रतिनिधित्व प्रणाली में उन्हें कोई स्थान नहीं दिया जा सकता।' रिपोर्ट ने संयुक्त निर्वाचनों की सिफारिश की लेकिन साथ ही अल्पसंख्यक वर्गों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में सीटें सुरक्षित कर देने का प्रस्ताव किया। अल्पसंख्यक वर्गों को यह अधिकार दिया गया कि वे अपने लिए सुरक्षित सीटों के लिए भी चुनाव लड़ सकते हैं लेकिन किसी भी प्रकार के गुरुभार को अस्वीकार कर दिया गया।

(घ) उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और सिन्ध—रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया कि उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त को दूसरे प्रान्तों के वैधानिक धरातल पर ले आना चाहिए और सिन्ध को बम्बई से पृथक कर देना चाहिए ताकि चार मुस्लिम बहुल प्रान्तों का निर्माण हो सके। नेहरू रिपोर्ट ने भारतीय राज्यों की समस्या पर भी

विचार किया। रिपोर्ट ने इस बात की सिफारिश की कि नागरिकों के अधिकारों और विशेष अधिकारों की रक्षा की जाय लेकिन इसके साथ ही साथ उसने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया था कि उन भारतीय [illegible] में परिवर्तित करने के किसी प्रयास को सहन नहीं किया जायगा।

(२) भारतीय राज्य—रिपोर्ट में राजाओं को इस बात की चेतावनी दी कि यदि भारत के लिए संघीय संविधान स्वीकृत किया गया तो उन्हें उसमें उसी समय सम्मिलित होने दिया जायगा जबकि राज्यों में उत्तरदायी शासन प्रणाली का प्रचलन हो जायगा। चाहे जो हो नई केन्द्रीय सरकार ब्रिटिश सरकार से सार्वभौमत्व में विभिन्न राज्यों के प्रति वर्तमान समस्त अधिकारों व दायित्वों को ले लेगी।

नेहरू रिपोर्ट की प्रतिक्रिया—अगस्त १९२८ में लखनऊ में सर्वदल सम्मेलन ने नेहरू रिपोर्ट के ऊपर विचार विनिमय किया और उसे थोड़े से संशोधनों सहित स्वीकार कर लिया। कुछ समय बाद कांग्रेस कार्य समिति ने रिपोर्ट का राजनीतिक विकास की दिशा में एक महान पग मानकर उसका अनुमोदन किया। लेकिन इस विषय पर मुस्लिम लोकमत में भेद पड़ गया। राष्ट्रवादी मुसलमानों ने तो नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया लेकिन पृथकतावादी तत्वों ने सर्वदल मुस्लिम सम्मेलन में जिसका अधिवेशन ३१ दिसम्बर १९२८ को दिल्ली में हुआ एक स्वर से रिपोर्ट का विरोध किया। इस सम्मेलन के सभापति आगा खां थे और मौलाना मोहम्मद अली तक इसमें सम्मिलित हुए।

जिन्ना की चौदह शर्तें—मि० जिन्ना भी नेहरू समिति द्वारा तैयार की गई वैधानिक योजना के विरुद्ध थे। उन्होंने चौदह शर्तों[1] के आधार पर जिन्हें उन्होंने

---

१ डा० राजेन्द्रप्रसाद ने जिन्ना की चौदह शर्तों का निम्नलिखित सारांश उपस्थित किया है—(१) भावी संविधान का रूप संघ प्रणाली का हो जिसमें अवशिष्ट शक्तियां प्रान्तों में निहित हों। (२) सभी प्रान्तों में एक समान स्वायत्त शासनाधिकार रहे। (३) सभी प्रान्तों की विधान सभाओं और लोकप्रतिनिधि संस्थाओं में अल्पसंख्यक सम्प्रदायों का निश्चित रूप से उचित और पर्याप्त प्रतिनिधित्व रहे। जहां उनका बहुमत हो वहां घटा कर समान या अल्पमत न कर दिया जाए। (४) केन्द्रीय विधान मण्डल में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व एक तिहाई से कम न रहे। (५) साम्प्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व पृथक निर्वाचन की पद्धति से हो परन्तु कोई भी सम्प्रदाय जब चाहे तब संयुक्त निर्वाचन की पद्धति स्वीकार कर सकता है। (६) किसी भी प्रादेशिक पुनर्विभाजन द्वारा पंजाब बंगाल और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में मुसलमानों के बहुमत पर कोई प्रभाव न पड़ना चाहिए। (७) सभी सम्प्रदायों को अपने धार्मिक विश्वास उपासना उत्सव प्रचार सम्मेलन और शिक्षा की पूर्ण स्वाधीनता रहनी चाहिए। (८) किसी भी विधान सभा अथवा लोकप्रतिनिधि संस्था में ऐसा कोई भी विधेयक या प्रस्ताव स्वीकृत न होना चाहिए जिसका कि किसी भी सम्प्रदाय के तीन

मुसलमानों के हितों और अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक बताया लीग के दोनों पक्षों में पुनरेक्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। मि० जिन्ना की चौदह शर्तें साम्प्रदायिक समस्या का वास्तविक समाधान नहीं दे सकती थीं लेकिन इनका इसलिए और भी अपना विशेष महत्व है कि श्री मेकडानल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय में ये प्रायः मान ली गई थी।'[1] नेहरू रिपोर्ट ने भारतीय राज्यों के शासकों को, जो यह विचार सहन नहीं कर सकते थे कि स्वतन्त्र भारत की नई केन्द्रीय सरकार ब्रिटिश सम्राट से सार्वभौमत्व ले ले, त्रस्त कर दिया था।

७१ संघर्ष की ओर

कांग्रेस अल्टिमेटम (कलकत्ता दिसम्बर १९२८)—यह हम पहले देख चुके हैं कि कांग्रेस ने अपने मद्रास अधिवेशन के अवसर पर अपना लक्ष्य पूर्ण स्वतन्त्रता घोषित किया। जब अगले अधिवेशन (कलकत्ता १९२८) में नेहरू रिपोर्ट उपस्थित की गई, उस समय कांग्रेस के दो पक्ष हो गए। एक पक्ष तो डोमिनियन स्टेटस से ही सन्तुष्ट था और दूसरा पक्ष जिसके नेता सुभाष बोस व जवाहरलाल नेहरू थे यह चाहता था कि कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य पर डटी रहे। इस पक्ष का कहना था 'जब तक अंग्रेज़ों से सम्बन्ध नहीं टूटता (भारत को) सच्ची स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती।' तथापि महात्मा गांधी दोनों पक्षों में समझौता कराने में सफल हुए और कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को एक अल्टिमेटम देने का निश्चय किया। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को अन्तिम चेतावनी दी उसमें मांग की गई कि सरकार नेहरू संविधान को ज्यों का त्यों पूरा स्वीकार कर ले यदि उसने ऐसा नहीं किया तो कांग्रेस देश को यह सलाह देगी कि वह करों का देना बन्द कर दे अहिंसात्मक असहयोग का आन्दोलन संगठित करेगा।

इंगलैण्ड में श्रमिक सरकार (मई १९२९)—मई १९२९ में इंगलैण्ड के साधारण निर्वाचन में अनुदार दल की पराजय हुई और रैमजे मैकडानेल्ड के नेतृत्व में

चौथाई सदस्य अपने सम्प्रदाय के हितों का विरोध बताते हुए विरोध करें। (९) सिंध बम्बई प्रेसीडेन्सी से पृथक कर दिया जाए। (१०) अन्य प्रान्तों में जिस प्रकार के सुधार किए जाएं उसी प्रकार के सुधार सीमा प्रान्त और बिलोचिस्तान में किए जाएं (११) विधान में सभी नौकरियों में योग्यता की आवश्यकता के अनुरूप मुसलमानों को उचित भाग मिले। (१२) मुस्लिम संस्कृति शिक्षा भाषा धर्म व्यक्तिगत कानून और धार्मिक संस्थाओं की रक्षा व उन्नति के लिए उचित संरक्षण तथा पर्याप्त सरकारी सहायता मिले। (१३) केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल में कम से कम तिहाई मन्त्री मुसलमान रहें। (१४) केन्द्रीय विधान मण्डल को संविधान में कोई परिवर्तन करने का केवल तभी अधिकार रहे जब भारतीय संघ में आबद्ध सभी इकाइयाँ उसे स्वीकार कर लें। — खण्डित भारत पृ० २०२–२०३।

1 राजेन्द्रप्रसाद— खण्डित भारत, पृ० २०३।

श्रमिक दल सत्तारूढ़ हुआ। भारतवासियों को बड़ी बड़ी आशाएँ बंध गईं क्योंकि निर्वाचन के तुरन्त बाद ही राष्ट्रमण्डलीय देशों के श्रमिक दलों के सम्मेलन में मैकडानेल्ड ने निम्न घोषणा की थी— मुझे आशा है कि वर्षों की तो कौन चलाई कुछ महीनों की ही अवधि में राष्ट्रमण्डल में एक अन्य डोमिनियन एक अन्य प्रजाति का डोमिनियन वह डोमिनियन जो राष्ट्रमण्डल में एक समकक्ष के रूप में आदर पाएगा, सम्मिलित हो जाएगा। मेरा अभिप्राय भारत से है।

लार्ड इर्विन की घोषणा (३१ अक्टूबर १९२९)—जन में दीर्घ विचार विमर्श के लिए लार्ड इर्विन को लन्दन बुलाया गया। भारत वापस आने पर लार्ड इर्विन ने ३१ अक्तूबर १९२९ को एक घोषणा की जिसमें कांग्रेस की मांग को पूरी तरह से टाल दिया गया। वायसराय ने २० अगस्त १९१७ की घोषणा का हवाला देते हुए कहा— ब्रिटिश सरकार ने मुझे यह स्पष्ट घोषित कर देने का अधिकार दिया है कि १९१७ की घोषणा में यह अभिप्राय अन्तर्निहित रूप से है कि भारत को अन्त में उपनिवेश का दर्जा मिले। उन्होंने एक गोलमेज परिषद के आयोजन की भी जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधि ब्रिटिश सरकार से नए संविधान के सिद्धान्तों पर विचार विनिमय कर लें पूर्व सूचना दी।

दिल्ली का घोषणा पत्र—लार्ड इर्विन की घोषणा कूटनीतिक अस्पष्टता की एक श्रेष्ठ उदाहरण थी। इस घोषणा से सरकार की वास्तविक नीति समझना कठिन था। घोषणा में डोमिनियन स्टेटस को लक्ष्य बताया गया परन्तु यह कब प्राप्त होगा इसका कोई जिक्र नहीं था। राष्ट्रमण्डल में वर्षों की तो कौन कहे कुछ महीनों के भीतर भारत एक डोमिनियन के रूप में सम्मिलित होगा इसके बारे में घोषणा में एक शब्द भी नहीं कहा गया था। इसके विपरीत देशी राजाओं का सवाल उठाकर भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या को और पेचीदा कर देने की कोशिश की गई। फिर भी भारत के बड़े-बड़े नेता और कांग्रेस कार्यसमिति के पुराने सदस्य एक ऐसी आशा लगाए रहे जो तथ्यों के प्रकाश में भ्रामक सिद्ध हुई। दिल्ली से प्रकाशित एक वक्तव्य में उन्होंने वायसराय को धन्यवाद दिया और कहा— हम समझते हैं कि प्रस्तावित परिषद औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना का समय निश्चित करने के लिए नहीं बुलाई जा रही है बल्कि ऐसे स्वराज्य का संविधान तैयार करने को आमन्त्रित की जायगी। उन्होंने इस बात की अपील की कि वर्तमान शासन में उदार भावनाओं का संचार होना चाहिए और समझौते की नीति को अख्तियार करना चाहिए जिससे जनता इस बात का अनुभव करने लगे कि 'आज से ही नवीन युग आरम्भ हो गया है। बहुत से युवक कांग्रेसी इस दृष्टिकोण से असहमत और असन्तुष्ट थे। जवाहरलाल नेहरू और सुभाष बोस दोनों ने कार्य समिति से त्याग पत्र दे दिया। इसके विपरीत महात्मा गांधी ने एक अंग्रेज मित्र को लिखा था— मैं तो सहयोग देने को मर रहा हूं। उन्होंने कहा था— यदि मुझे व्यवहार में सच्चा औपनिवेशिक स्वराज्य मिल

जाए तो मैं उसके संविधान के लिए ठहरा भी रह सकता हूं। लेकिन उन्होंने इस बात को स्पष्ट कह दिया— औपनिवेशिक स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि यदि मैं चाहूं तो आज ही ब्रिटिश सम्बन्ध विच्छेद कर सकूं।'

इंगलैंड में प्रतिक्रिया—लार्ड इर्विन की घोषणा पर इंगलैण्ड में जो प्रतिक्रिया हुई वह किसी भी तरह से आशाजनक नहीं थी। वायसराय की घोषणा में भारतवासियों को बहुत छोटी सी चीज देने का वचन दिया गया था फिर भी ब्रिटिश समाज में इसी पर तूफान खड़ा हो गया।[1] टोरियों ने औपनिवेशिक स्वराज्य की चर्चा तक का विरोध किया। श्रमिक दल की सरकार ने विरोधी दल की ठकुरसुहाती करने में कुछ कसर न रखी और वह 'भारतीयों की आशाएं पूर्ण करने के बजाय अनुदार दल की शंकाओं को दूर करने के लिए अधिक उत्सुक थी। दूसरे शब्दों में श्रमिक सरकार दुमुँहेपन से काम करती थी। भारत में तो वह धारणा उत्पन्न करने की चेष्टा करती थी कि अब भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति एक नई रीति ग्रहण की जाएगी। दूसरी ओर इंगलैण्ड में वह यह दिलासा देती थी कि नीति में किसी प्रकार का कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किया है।

गांधी इर्विन भेंट—इस शान्तिमय वातावरण में महात्मा गांधी ने वायसराय से भेंट करके इस चीज को साफ साफ कर लेना चाहा। २३ दिसम्बर १९२९ को यह भेंट हुई। उसी दिन वायसराय की गाड़ी के नीचे बम फटा था और वह बाल बाल बच गए थे। पण्डित मोतीलाल नेहरू, तेजबहादुर सप्रू, वल्लभ भाई पटेल और जिन्ना भी बैठक में उपस्थित थे तथापि इस बैठक में कोई विशेष फल नहीं निकला क्योंकि वायसराय यह आश्वासन देने की स्थिति में नहीं थे कि पूर्ण उत्तरदायी शासन गोलमेज परिषद् की कार्यवाही का आधार होगा।

लाहौर में—इस समाचार ने कि वायसराय भवन में भारत की आशाएं चूर्ण हुईं, लाहौर-कांग्रेस को, जिसका अधिवेशन रावी के तट पर हुआ वातावरण गम्भीर कर दिया। इस वर्ष के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू भारतीय राष्ट्रवाद की उग्र भावना के प्रतीक थे। कांग्रेस ने घोषणा की कि औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रस्ताव को स्वीकार करने का समय बीत चुका है और अब भारत का लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य है। ३१ दिसम्बर, १९२९ की मध्य रात्रि में स्वतन्त्र भारत के तिरंगा झण्डा को फहराया गया। कांग्रेस ने गोलमेज परिषद् में भाग न लेने का निश्चय किया और महासमिति को यह अधिकार दिया कि वह जब चाहे, जहाँ चाहे सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक का कार्यक्रम प्रारम्भ कर दे।

२६ जनवरी स्वतन्त्रता दिवस—कांग्रेस ने २६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस निश्चित किया और इस अवसर पर पढ़े जाने को स्वतन्त्रता का एक घोषणा-पत्र

१ पट्टाभि सीतारामय्या— 'दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस' पृ० ५९४।

२ पट्टाभि सीतारामय्या—'दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस' पृ० ६००।

अंगीकार किया। घोषणा पत्र ने ब्रिटिश सरकार को भारत के आर्थिक राजनीतिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पतन के लिए दोषी ठहराया और स्वराज्य प्राप्त करने के भारतीय जनता के जन्मसिद्ध अधिकार की घोषणा की।

७२ सविनय अवज्ञा आन्दोलन (१६३०-३१)

सविनय अवज्ञा की तैयारी—कांग्रेस और महात्मा गांधी ने जल्दबाजी में कोई काम नहीं किया। उन्होंने इस बात का ध्यान रखा कि उस समय के लिए जो कि अपरिहार्य हो गया था देश को तैयार किया जाए। इसलिए उन्होंने अहिंसात्मक प्रतिरोध की टेक्नीक का व्यापक प्रचार किया। उस समय देश एक ऐसी विश्वव्यापी मन्दी के पंजे में था जिसने अभूतपूर्व आंधी के जोर से भारत पर प्रहार किया।[1] खेती सम्बन्धी चीजों के भाव ५० प्रतिशत से अधिक गिर गए थे और किसानों की हालत इतनी तंग थी कि वे एक गज कपड़ा या डेढ़ पाव लैम्प का तेल भी नहीं खरीद सकते थे। सीधा-सादा तथ्य यह था कि वे कर लगान और ऋण को अदा करने में असमर्थ थे। व्यावसायिक और औद्योगिक वर्गों में रुपए की नई विनिमय दर के कारण असन्तोष पैदा हो गया था। सरकार ने रुपए की कीमत १६ पेंस से बढ़ाकर १८ पेंस कर दी थी। इस परिवर्तन से इंगलैण्ड को पूरा लाभ हुआ। भारत के उद्योगपतियों और व्यापारियों ने कांग्रेस का समर्थन किया तथा उसके कोष में १६२० से भी अधिक मुक्तहस्त होकर दान दिया।[3] औद्योगिक मजदूर भी असन्तुष्ट और उत्तेजित थे। दमन के फलस्वरूप उन्हें प्रभूत कष्ट उठाने पड़े थे। श्रमिक आन्दोलन विचारधारा और संगठन दोनों में वर्ग चेतना से उग्र तथा भयावह होता जा रहा था।[4] सरकार ने मार्च १९२९ में मजदूर संगठन के ३६ योग्यतम और उग्रतम नेताओं को गिरफ्तार करके और मेरठ षड्यन्त्र अभियोग का अभिनय करके जो लगातार शिथिलतापूर्वक चार वर्ष तक चलता रहा, जिसमें १६ लाख रुपए खर्च हुए और अन्त में २७ श्रमिक नेताओं को सम्राट का भारत की प्रभुता से च्युत करने के अपराध में दीर्घ कारावास का दण्ड मिला था श्रमिक संगठन पर भीषण आघात किया। इसके अलावा लाहौर षड्यन्त्र अभियोग ने भी सारे भारत के राजनीतिक वायुमण्डल को विषमय कर दिया था।

इस प्रकार उस समय चारों ओर गर्मी छाई हुई थी और इस बात के चिह्न वर्तमान थे कि यदि महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा का श्रीगणेश न किया होता तो तत्कालीन आर्थिक दुरवस्था व नौकरशाही दमनचक्र भारत में एक ऐसी क्रांति का

१ पोलक— महात्मा गांधी पृ० १७३।
२ वही पृ० १७३।
३ पोलक— महात्मा गांधी, पृ० १७५।
४ जवाहरलाल नेहरू— आटोबायग्राफी, पृ० १८८।

सूत्रपात कर देने, जिसका स्वरूप निश्चिततः अहिंसात्मक न होगा। गांधी इस बात से अवगत थे। २ मार्च १९३० को उन्होंने वायसराय को चेतावनी का एक पत्र लिखा और उसमें यह स्पष्ट किया कि हिंसा-दल का जोर बढ़ता जा रहा है और वह अहिंसक आन्दोलन जिसे प्रारम्भ करने का मैं निश्चय कर चुका हूँ न केवल ब्रिटिश शासन के हिंसक बल का ही अपितु प्रत्यक्ष रूप से मेरे देश की संगठित हिंसा का भी सामना करेगा।

दाण्डी कूच—सविनय अवज्ञा आन्दोलन का श्रीगणेश मार्च के प्रारम्भ में किया गया। महात्मा गांधी ने अपनी ग्यारह शर्तों द्वारा वायसराय से कुछ सुधारों को कार्यान्वित करने की माँग की थी। जब उसका कोई संतोषजनक परिणाम नहीं निकला, तब गांधी जी और कांग्रेस के सामने एकमात्र मार्ग यही रह गया था कि वे सविनय अवज्ञा आन्दोलन को शुरू करें। यह निश्चित किया गया कि सविनय अवज्ञा का श्रीगणेश महात्मा गांधी और उनके ७९ चुने हुए शिक्षित कार्यकर्ता करेंगे और आन्दोलन दाण्डी यात्रा तथा सामुद्रिक नमक कानून भंग के साथ प्रारम्भ हो। १२ मार्च १९३० को महात्मा गांधी और उनके ७९ प्रशिक्षित कार्यकर्ता साबरमती आश्रम से समुद्र तट की ओर चल पड़े। दो सौ मील की लम्बी यात्रा पैदल चलकर २४ दिनों में तय की गई। वल्लभभाई पटेल आगे आगे चले और उन्होंने जान दी बपटिस्ट (John the Baptist) की तरह मसीहा के आगमन के लिए लोगों को तैयार किया। इस महान यात्रा के मार्ग में ग्रामवासियों ने सहस्रों की संख्या में महात्मा गांधी का अभिनन्दन किया, महात्मा गांधी ने उन्हें आत्मनिर्भरता और अहिंसा का उपदेश दिया। [illegible] ज्यों ज्यों दिन प्रति दिन कूच करती हुई तीर्थयात्रियों का दल प्रगति करता गया त्यों त्यों देश का तापमान ऊँचा चढ़ता गया।[1] देशभक्ति की ज्वाला पूरे प्रकाश के साथ प्रज्ज्वलित हुई और उसने जनता को मातृभूमि की मुक्ति के एक महान संग्राम के लिए प्रस्तुत कर दिया। ६ अप्रैल को प्रातःकाल की प्रार्थना के बाद महात्मा गांधी ने समुद्रतट पर नमक कानून भंग किया।

सविनय अवज्ञा का कार्यक्रम—यह भारत के विभिन्न भागों में विशाल पैमाने पर सविनय अवज्ञा के शुरू हो जाने का संकेत चिह्न था। ६ अप्रैल को महात्मा गांधी ने आन्दोलन के लिए निम्न कार्यक्रम निर्धारित किया, गाँव-गाँव को नमक बनाने के लिए निकल पड़ना चाहिए। बहनों को शराब, अफीम और विदेशी कपड़े की दूकानों पर धरना देना चाहिए। विदेशी वस्त्र को जला देना चाहिए। हिन्दुओं को अस्पृश्यता त्याग देनी चाहिए। विद्यार्थी सरकारी स्कूल छोड़ दें और सरकारी नौकर अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दें। ४ मई को महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के बाद करबन्दी को भी कार्यक्रम में जोड़ दिया गया।

आन्दोलन पूरे जोरों में—शीघ्र ही आन्दोलन पूरे जोर में आ गया। इस महीने के भीतर-ही भीतर २०० से अधिक पटेलों और पटवारियों ने अपनी नौकरी

[1] जवाहरलाल नेहरू—"आटोबायग्राफी" पृ० २१०।

छोड़ दी। बहुत से सदस्यों ने विधान मण्डलों से और कई सरकारी नौकरों ने अपने पदों से त्याग पत्र दे दिए। हजारों लोगों ने नमक-कानून भंग किया। धरासना में २५०० स्वयं सेवकों ने नमक के गोदाम पर चढ़ाई की और पाशविक लाठी प्रहार के शिकार हुए। 'अमीन पीड़ा से कराहते हुए आन्दोलनकारियों से पट गई थी। किसी का कंधा टूट गया था और किसी की खोपड़ी। लोगों के सफेद कपड़े खून से तर थे।' ३०० से अधिक व्यक्ति अस्पताल ले जाए गए और दो मर गए। लेकिन एक व्यक्ति ने भी मार से बचने के लिए अपनी भुजा नहीं उठाई। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के साथ-साथ ही विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार जारी रहा और उसने महान सफलता प्राप्त की। एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड के अनुसार १६३० की शरद् ऋतु में लंकाशायर के कपड़ों का आयात पूर्व वर्ष के इन्हीं महीनों के आयात की तुलना में तिहाई या चौथाई के बीच रह गया था। बम्बई में अंग्रेज व्यवसायियों की सोलह मिलें बन्द हो गई थीं और ३२००० मजदूर बेरोजगार थे। इसके विपरीत भारतीय व्यवसायियों की मिलें दुगनी गति से काम कर रही थीं।[1] मदिरा बहिष्कार के कार्यक्रम को पिकेटिंग और प्रचार के द्वारा भी दृढ़ किया गया। इस आन्दोलन की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि भारतीय स्त्रियों ने अपने संकोच को त्यागकर स्वातन्त्र्य योद्धाओं के साथ मिलकर काम किया। दिल्ली में लगभग १६०० महिलाएं शराब की दुकानों पर धरना देने के अपराध में गिरफ्तार की गईं। किसानों में भी हलचल मच गई थी। गुजरात, बंगाल, पंजाब और बाद में यू० पी० के भागों में वन कानूनों के बहिष्कार और करबन्दी के आन्दोलन का खूब प्रचार हुआ। जवाहरलाल नेहरू ने इस बात का समर्थन किया कि करबन्दी आन्दोलन का सम्पूर्ण देश में संगठन होना चाहिए। लेकिन कांग्रेस का सम्पत्तिशाली तत्व इसके विरुद्ध था।

सविनय अवज्ञा और भारतीय मुसलमान—भारत के अधिकांश मुसलमान इस आन्दोलन से पृथक रहे। महात्मा गांधी के उन कतिपय घनिष्ठतम मित्रों ने जो खिलाफत आन्दोलन में उनके साथ रहे थे उनकी नीति का विरोध किया। मि० जिन्ना का कथन था— हम मि० गांधी के साथ शामिल होने से इनकार करते हैं क्योंकि उनका आन्दोलन भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए नहीं अपितु भारत के ७ करोड़ मुसलमानों को हिन्दू महासभा के आश्रित बना देने के लिए है।[3] लेकिन मुस्लिम लीग और नौकरशाही के गठबन्धन के बावजूद भी जिन देशभक्त मुसलमानों ने कांग्रेस के ध्वज के नीचे खड़े होकर इस आन्दोलन में भाग लिया उनकी संख्या कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में खुदाई खिदमतगारों ने राष्ट्रवादी शक्तियों का साथ दिया और पुलिस की नृशंसताओं का हंसते हंसते आश्चर्यजनक सहनशीलता के साथ सामना किया।

---

१ एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—'रेबेल इण्डिया' पृ० २६।

२ पोलक— महात्मा गांधी' पृ० १७९।

३ कूपलैण्ड— इण्डिया ■ रिसेटेलमेण्ट', पृ० ११८-११९।

सरकार का दमन चक्र—जून १९३० में भारत में क्रांति पूरे जोर के साथ हिलोरें ले रही थी और बहुत से स्थानों में ब्रिटिश शासन-यन्त्र बिलकुल ठप्प हो गया मालूम होता था। इस काल में बम्बई शहर का शासन सूत्र ब्रिटिश नौकरशाही के हाथ में नहीं अपितु कांग्रेस के हाथ में था। सरकार भी निष्क्रिय नहीं थी। उसके लिए यह लड़ाई और इस लड़ाई का रवैया बिलकुल अजब था पहले तो वह एकदम हतप्रभ-सी हो गई लेकिन इसके शीघ्र बाद ही उसने दमन चक्र को वेगपूर्वक घुमाना शुरू कर दिया। लाठी प्रहार दिन प्रति दिन की घटना हो गई। १९२१ में ही कोलोनल जानसन ने लाठी प्रहार की टेक्नीक को पूर्ण कर दिया था।[२] पुलिस को इस भयंकर शस्त्र का शरीर के प्राणभूत अंगों पर आघात करने को प्रशिक्षित किया गया था।[३] अब प्रदर्शनों और सार्वजनिक सभाओं को निदयतापूर्वक तितर बितर किया जाने लगा। कभी-कभी पुलिस छात्रों का पीछा करती हुई उनकी कक्षाओं में घुस जाती थी और उन्हें व उनके अध्यापकों को अपनी लाठियों का शिकार बनाती थी। कांग्रेस को अवैध संगठन घोषित कर दिया गया था और दमनचक्र ने एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय में ६०,००० से अधिक सत्याग्रहियों को जेल में ठूंस दिया। महिलाओं के साथ भी किसी प्रकार की नरमी का बर्ताव नहीं किया जाता था और पुलिस द्वारा स्त्री कार्यकर्त्ताओं का पीड़न भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास के अत्यन्त काले कारनामों में से एक है। देश को अध्यादेश शासन के अधीन कर दिया गया था और एक के तुरन्त बाद दूसरे दमनमूलक कानूनों का बोलबाला था। कर बन्दी आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने सम्पत्ति के बलात् ग्रहण, हरण और नीलाम का आसरा लिया था। बोरसद में १८ राजनीतिक कैदियों को एक पिंजड़े में बन्द कर दिया गया था। पुलिस के जुलुम का फल यह हुआ कि कई गांव बिलकुल उजड़ गए।

जैसी कि आशा की जा सकती है कुछ स्थानों पर जनता ने भी हिंसात्मक कार्यवाहियाँ कीं। सरकार ने आतंक का दौरदौरा शुरू करने के लिए उनको बहाना बना लिया। शोलापुर में एक उत्तेजित भीड़ ने छः थाने जला दिए और कुछ चौकीदारों को मार डाला। संगठित कार्यकर्त्ताओं ने व्यवस्था स्थापित करने में सफलता प्राप्त की लेकिन पुलिस ने पच्चीस आदमियों को गोली से भूनकर और सैकड़ों को घायल करके प्रतिशोध लिया। पेशावर में अप्रैल १९ में इससे भी भयंकर घटनाएँ हुईं। वहाँ कई प्रदर्शन किए गए कुछ अवसरों पर पुलिस और लोगों के बीच संघर्ष हो गया। इसके बाद की घटनाएं ... उसमें पुलिस ने नगर को छोड़ दिया और तीन दिनों तक शांतिपूर्ण व अनुशासित खुदाई खिदमतगारों ने व्यवस्था को कायम रखा। चौथे दिन सैनिक दस्ता ने शहर पर पुनः कब्जा कर लिया और दर्जनों अनुगई

२ पट्टाभि सीतारामय्या— हिस्ट्री ऑफ दी नेशनलिस्ट मूवमेन्ट इन इण्डिया' पृ० ५४।

३ ...ना— महात्मा गांधी पृ० १७६।

खिदमतगारों को मशीनगनों से भूनवा दिया। इस दौर में एक महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि एक गढ़वाली प्लटून ने इन मुस्लिम पेशावरियों के ऊपर गोली चलाने से इनकार कर दिया।

७३ पहली गोलमेज परिषद (नवम्बर दिसम्बर १९३०)

प्रतिनिधि—इधर सविनय अवज्ञा आन्दोलन जोर पकड़ रहा था उधर सरकार ने भारत के नए संविधान के सिद्धान्तों पर विचार करने के लिए एक गोलमेज परिषद का आयोजन किया। परिषद २२ नवम्बर १९३० को सेंट जेम्स प्रासाद लन्दन में आरम्भ हुई। सम्राट ने उसका उद्घाटन किया। कुल प्रतिनिधि ८९ थे। इनमें से ५७ प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत का प्रतिनिधित्व करते थे तथा १६ प्रतिनिधि भारतीय राज्यों से गए थे। बाकी १६ व्यक्ति ब्रिटिश संसद के सदस्य थे और वे इंगलैण्ड के तीनों राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करते थे। भारतीय प्रतिनिधि वायसराय के चुने हुए थे और वे विभिन्न जातियों वर्गों और हितों के लिए थे। सेंट जेम्स प्रासाद में राजा और महाराजा सिख मुसलमान हिन्दू और ईसाई भूस्वामियों श्रमिक संघ और वाणिज्य मण्डलों के प्रवक्ता एकत्रित हुए लेकिन भारतमाता वहाँ नहीं थी।[1] कांग्रेस जिसके नेता जेल में पड़े हुए ब्रिटिश नौकरशाही के आतिथ्य का सुख भोग रहे थे वह इस परिषद् में बिलकुल अनुपस्थित थी।

परिषद का काम—प्रधान मन्त्री मैकडानल्ड ने उन सिद्धान्तों का निरूपण किया जिनके आधार पर विचार विनिमय किया जाना था। नया संविधान संघ के होने का था। ब्रिटिश सरकार एक अनुविहित रक्षा कवचों के साथ जिनको संक्रमणकाल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाया रखा जाए प्रान्तों में और केन्द्र में उत्तरदायी शासन की पुनःस्थापना करने के लिए तैयार थी। उन्होंने इस बात का बिलकुल उल्लेख नहीं किया कि यह संक्रमणकाल कब तक रहेगा और रक्षा कवचों की बात स्पष्टतः वास्तविक शक्ति को ब्रिटिश हाथों में रखने की एक चाल थी। मि० जयकर ने और सर तेजबहादुर सप्रू ने औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रश्न उठाया। मि० जयकर कहा था यदि आप भारत को आज औपनिवेशिक स्वराज्य दे दें तो स्वतन्त्रता की आवाज अपने आप खत्म हो जाएगी।[2]

संघ उत्तरदायी शासन रक्षा कवच—लेकिन अंग्रेज इतना आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं थे। संघ के सिद्धान्तों को साधारणतः स्वीकार कर लिया गया। राजाओं तक ने एक अखिल भारतीय संघ के विचार का समर्थन किया। सप्रू ने राजाओं की इस नीति का स्वागत किया और आशा प्रकट की कि वे हमारे संविधान में सुस्थिरता रखने वाले तत्व सिद्ध होंगे। मि० जिन्ना और सर मोहम्मद शफी ने जो मुस्लिम

---

१ एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड— 'सब्जेक्ट इण्डिया' पृ० ४६।
२ कूपलैण्ड द्वारा उद्धृत— इण्डिया ए रिस्टेटमेंट पृ० १३६।

लोग के दो पक्षों का प्रतिनिधित्व करने थे इस विषय पर सहमति प्रकट की। दूसरे अल्पसंख्यक वर्गों ने भी इसका विरोध नहीं किया।

निर्वाचक मण्डलों की लड़ाई—अंतिम साम्प्रदायिकता की समस्या परिषद् की असफलता का कारण सिद्ध हुई। अल्पसंख्यक उपसमिति में पुरानी लड़ाई पुनः लड़ी गई। युक्तियां भी वही थीं और परिणाम भी वही रहा। लेकिन इस बार एक नई चीज देखने को मिली। दलित वर्गों की ओर से डा० अम्बेडकर ने पृथक निर्वाचक मण्डलों की मांग की। जहां हिन्दू प्रतिनिधियों ने इस बात की वकालत की कि सब जातियों को भारत की साथ साथ सेवा करने का अवसर मिलना चाहिए, मुस्लिम प्रतिनिधियों ने पृथक निर्वाचन मण्डलों पर बल दिया। मौलाना मोहम्मद अली ने साम्प्रदायिकता के दावों को मजबूत किया। उन्होंने कहा "मैं समान आकार के दो दायरों से सम्बन्ध रखता हूं लेकिन उनका केन्द्र एक ही नहीं है एक भारत है और दूसरा मुस्लिम विश्व। हम राष्ट्रवादी नहीं अपितु अति राष्ट्रवादी हैं।"[1] निर्वाचक मण्डलों की लड़ाई अनिर्णीत समाप्त हुई। अपने अंतिम भाषण में प्रधान मंत्री मैकडानल्ड ने कहा कि ब्रिटिश सरकार संघीय योजना का—प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन और केन्द्र में उचित रक्षा व्यवस्था में हम उसकी आंशिक पुनः स्थापना को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है। जहां तक साम्प्रदायिक वाद विवाद का सम्बन्ध है इस उन्होंने जातियों के ऊपर भारत में ही समझौता करने के लिए छोड़ दिया।

दूसरा भविष्य गोलियां—ये ही वे चीजें हैं जिन्हें कूपलैण्ड ने पहली गोलमेज परिषद् की तुच्छ सफलता का नाम दिया है। दूसरी ओर सुभाष बोस ने गोलमेज परिषद् के कार्य के प्रति भारत के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का समर्थन निम्नलिखित में किया है "परिषद् ने भारत को दो कड़वी गोलियां रक्षा-कवच और सघ प्रदान की। जातियों को सन्तुष्ट बनाने के लिए उत्तरदायित्व को शक्कर में लपेट लिया गया।"[2]

७४ गांधी इर्विन समझौता और दूसरी गोलमेज परिषद

कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार की उत्सुकता—पहली गोलमेज परिषद् में कांग्रेस की अनुपस्थिति से ब्रिटिश सरकार अत्यन्त परेशान थी। कांग्रेस के बिना सम्पूर्ण परिषद् की स्थिति बिना दूल्हे वाली बारात के तुल्य हो रही थी। कांग्रेस के साथ समझौते का मार्ग प्रशस्त करने के लिए २६ जन १६३१ को महात्मा गांधी और कार्यसमिति के १६ सदस्यों को बिना शर्त कारागार से मुक्त कर दिया गया। शान्ति स्थापकों सप्रू और जयकर के प्रयत्नों के फलस्वरूप महात्मा गांधी और लार्ड इर्विन के बीच एक सम्मेलन हुआ जो १७ फरवरी से शुरू हुआ व जिसकी चरम परिणति इतिहास में गांधी इर्विन समझौते के नाम से प्रख्यात है।

---

१ कूपलैण्ड— इण्डियन प्राब्लम—१८३३-१६३५ पृ० १२१।

२ सुभाष बोस—'इण्डियन स्ट्रगल', पृ० २७६।

गांधी-इर्विन समझौते की शर्तें—गांधी-इर्विन समझौते पर ५ मार्च १९३१ को हस्ताक्षर हुए। यह समझौता कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार की उत्सुकता को प्रकट करता था। समझौते की शर्तों के अनुसार वायसराय (१) हिंसात्मक अपराधों के सिद्धदोष बंदियों के सिवाय अन्य सब राजनीतिक बंदियों को छोड़ने, (२) जब्त की हुई सम्पत्ति को वापस करने (३) समुद्र के आसपास निवास करने वाले लोगों को नमक निःशुल्क तैयार करने या एकत्रित करने की आज्ञा देने और (४) शराब, अफीम व विदेशी कपड़ों की दूकानों पर शांतिपूर्वक पिकेटिंग करने की आज्ञा देने के लिए सहमत हो गए। कांग्रेस ने अपनी ओर से (१) सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित करने (२) पुलिस की ज्यादतियों की निष्पक्ष जांच पड़ताल की अपनी मांग को त्याग देने और (३) भारत के हित में संरक्षणों या रक्षा कवचों सहित उत्तरदायित्व के आधार पर दूसरी गोलमेज परिषद् में भाग लेने का वचन दिया।

समझौते के ऊपर प्रतिक्रिया—समझौते के सम्बन्ध में के० एम० मुंशी ने कहा था कि यह भारतीय इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। परन्तु यह इण्डियन नेशनल कांग्रेस के दक्षिण पक्ष का था। कांग्रेस का वाम पक्ष समझौते से घोर असन्तुष्ट था। उसकी दृष्टि में यह समझौता साम्राज्यवाद के निकट अधम आत्म समर्पण था। जवाहरलाल नेहरू को रक्षा कवचों से सम्बद्ध धारा के कारण जिसको वह स्वतन्त्रता के साथ बेर केर का संग समझते थे गम्भीर आघात पहुंचा। एच० मुकर्जी का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि साम्राज्यवाद ने भारतीय राष्ट्रवाद के साथ संधि तो अवश्य की किन्तु अपनी शर्तों के ऊपर। समझौते के सम्बन्ध में उग्रवादियों का उक्त कारण सर्वथा निराधार नहीं था। यह बात टाइम्स की इस टिप्पणी से भी पुष्ट होती है जिसमें कहा गया था कि इस प्रकार की विजय किसी वायसराय को बहुत कम मिली है। अतः यह स्पष्ट है कि जहां कांग्रेस के दक्षिण-पक्ष ने गांधी इर्विन समझौते को अपनी विजय समझा वहां वस्तुतः वह ब्रिटिश कूटनीति की विजय थी। भारतीय युवक सरदार भगतसिंह और उनके साथियों की फांसी के ऊपर बहुत क्रुद्ध हुए। महात्मा गांधी उनके लिए सरकार से क्षमा प्राप्त करने में असफल रहे इसलिए वह भी युवकवर्ग के रोष भाजन बने। कुछ स्थानों पर उन्हें काले झण्डे दिखाए गए।

कांग्रेस का दूसरी गोलमेज परिषद में योगदान—कराची अधिवेशन में एक प्रतिनिधि ने तो यहां तक कह दिया कि यदि समझौते के लिए महात्मा गांधी को छोड़ कर अन्य कोई व्यक्ति उत्तरदायी होता तो उसे समुद्र में फेंक दिया जाता। इस सारे विरोध के बावजूद भी महात्मा गांधी के प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा दक्षिण-पंथियों के बहुमत के कारण २९ मार्च १९३१ को कराची कांग्रेस के अवसर पर इस समझौते को स्वीकार कर लिया गया। फलतः दूसरी गोलमेज परिषद में जो ७ सितम्बर १९३१ को शुरू हुई कांग्रेस की ओर से महात्मा गांधी ने भाग लिया। पं० मदनमोहन मालवीय और श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी व्यक्तिगत क्षमता से परिषद् में सम्मिलित हुए।

परिषद् शुरू होने के कुछ ही समय पूर्व ब्रिटिश राजनीतिक रंगमंच में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। श्रमिक सरकार अपदस्थ हो गई। रैमजे मैकडानल्ड अब भी प्रधानमन्त्री थे लेकिन उनके दल ने उनको बदनाम कर दिया था। इस समय वह राष्ट्रीय सरकार के प्रधान थे और अनुदार दल व उदार दल का हाथ उनकी पीठ पर था। वेजवुड बेन के स्थान पर सर सेमुअल होर जो पक्के टोरी थे, भारत मन्त्री नियुक्त हुए थे।

साम्प्रदायिक गतिरोध अनिर्णीत ही रहता है—दूसरी गोलमेज परिषद में महात्मा गांधी कांग्रेस के एकमात्र सरकारी प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे लेकिन उनकी उपस्थिति भी परिषद को सफल नहीं बना सकी। यह ठीक है कि नए संविधान के कुछ ब्यौरे निश्चित कर लिए गए। संघीय न्यायपालिका का ढांचा संघीय विधानमण्डल का संगठन और भारतीय राज्यों के अखिल भारतीय संघ में प्रवेश से सम्बद्ध आदि बातें निश्चित हो गईं। महात्मा गांधी ने कांग्रेस के राष्ट्रीय स्वरूप का अपने मार्मिक भाषण में प्रतिपादन किया और सुरक्षा बलों व वैदेशिक मामलों के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण सहित औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की। लेकिन इस मांग का कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। इसके अलावा साम्प्रदायिक गतिरोध अनिर्णीत ही बना रहा। उन्होंने अल्पसंख्यक वर्गों के साथ समझौते की बातचीत की लेकिन साम्प्रदायिक प्रश्न का कोई हल नहीं निकल सका। १ दिसम्बर १९३१ को परिषद् विसर्जित हो गई।

७५ पुन सविनय अवज्ञा आन्दोलन (१९३२-३४)

संधिकाल का अन्त—महात्मा गांधी इंगलैण्ड से खाली हाथों वापस आ गए, यद्यपि उन्होंने इस बात का दावा किया कि मैं बंधी हुई आशा को लेकर लौट रहा हूं। उनकी अनुपस्थिति में भारत में कांग्रेस और सरकार का संधिकाल समाप्त होने लगा था। सरकार ने कांग्रेस के ऊपर यह दोषारोपण लगाया कि उसने यू० पी० में किसानों को कर न देने के लिए उत्साहित किया है और इस बात की शिकायत की कि पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में खान अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में खुदाई खिदमतगार सविनय अवज्ञा को पुन शुरू करने की तैयारी कर रहे हैं। इसके विपरीत कांग्रेस ने यह आरोप किया कि नौकरशाही ने गांधी इर्विन समझौते की सब शर्तों का उल्लंघन किया है और पुलिस का दमन चक्र पूर्ववत् जारी है।

लार्ड वेलिंगडन की कठोर नीति—लार्ड इर्विन के उत्तराधिकारी लार्ड वेलिंगडन कठोर नीति के विश्वासी थे। उन्होंने भारत राष्ट्र की नवचेतना दमन करने के लिए कमर कस ली थी। इंगलैण्ड की राष्ट्रीय सरकार के दक्षिण पक्ष ने भी कांग्रेस को जो वेलिंगडन के अनुसार "वैकल्पिक सरकार" होने का अभिनय करती थी कुचल डालने का निश्चय किया। रोम से आने वाली एक झूठी प्रेस रिपोर्ट से जिसमें कहा गया था कि महात्मा गांधी का सविनय अवज्ञा को पुन प्रारम्भ करने का इरादा है, सरकार

को बहाना मिल गया। २८ दिसम्बर १९३१ को जब महात्मा गांधी बम्बई में उतरे जवाहरलाल नेहरू, खान बन्धु और दूसरे छोटे-मोटे नेता पहले ही जेल में बन्द कर दिए गए थे। महात्मा गांधी ने बिना किसी शर्त का समारोह किए वायसराय से एक इंटरव्यू के लिए प्रार्थना की लेकिन वायसराय ने इस प्रार्थना को अस्वीकार किया। कांग्रेस कार्यसमिति ने सविनय अवज्ञा को पुराने तरीके से पुनः शुरू करने का निश्चय करके इस चोट का जवाब दिया। ३ जनवरी १९३२ को महात्मा गांधी ने राष्ट्र को एक अग्नि परीक्षा का सामना करने के लिए आह्वान किया।

आन्दोलन और दमन—सरकार ने तुरंत कार्यवाही की। ४ जनवरी को सरदार पटेल व महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिए गए और यरवदा जेल में नजरबन्द कर दिए गए। अध्यादेशों के समूह ने नौकरशाही को विशेष शक्तियों से सज्जित कर दिया। महात्मा गांधी की गिरफ्तारी संघर्ष के पुनः प्रारम्भ होने का संकेत-चिह्न था। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में इस बार ब्रिटिश सरकार का जो प्रतिरोध किया गया वह १९३० से महान था। लेकिन जब समय बीत गया आन्दोलन की शक्ति घटती गई। तथापि आन्दोलन १६ मई १९३३ तक चलता रहा जब तक कि वह महात्मा गांधी द्वारा बारह सप्ताह के लिए स्थगित न कर दिया गया। सरकार ने महात्मा गांधी को छोड़ तो ८ मई को ही दिया था लेकिन इस समय उनके सामने सबसे बड़ी समस्या अछूतों की और समीपागत साम्प्रदायिक पंचाट के द्वारा हिंदू जाति के सम्भाव्य विघटन की थी। १४ जुलाई १९३३ को जन आन्दोलन रोक दिया गया यद्यपि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा एक वर्ष तक चलती रही। जनता का उत्साह निश्चित रूप से कम हो गया था और नैतिक पतन के चिह्न स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रहे थे। ७ अप्रैल १९३४ को महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा समाप्त कर दी। उनके सेनापतित्व के ऊपर घन आक्षेप हुए। सुभाष बोस और वी० जे० पटेल ने जो उस समय यूरोप में थे सविनय अवज्ञा के स्थान को पराजय की स्वीकारोक्ति बताया और कहा कि एक राजनीतिक नेता के रूप में महात्मा गांधी असफल सिद्ध हुए हैं।[1] जवाहरलाल नेहरू भी रुष्ट हुए और उन्होंने कांग्रेस नेतृत्व की कटु आलोचना की।

यह स्मरणीय है कि इस बार आन्दोलन का दमन करने में सरकार ने अश्रुत पूर्व निर्दयता से काम लिया। चर्चिल तक ने कहा था कि सरकार की दमन नीति गदर के बाद से इस बार सबसे कठोर रही थी। कांग्रेस और उसके सब सहायक संगठनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया व उसकी समस्त सम्पत्ति वह के हिसाब किताब तथा कार्यालयों पर अधिकार कर लिया गया। सरकार ने राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों के मुंह पर ताला लगा दिया और कांग्रेस को डाकखाने के उपयोग से वंचित कर दिया। कांग्रेस को हरकारों द्वारा डाक भेजने और गुप्त समाचार पत्र निकालने के भूमिगत तरीकों को अपनाना पड़ा। विद्रोही स्थानों में दण्ड पुलिस और टुकड़ों को

---

१ आर० पी० दत्त— इण्डिया टुडे पृ० ३४२।

समाप्त कर दिया गया। सम्पत्ति की जब्ती और सामूहिक जुर्माने नित्य के कार्यक्रम हो गये।

७६ मकडानेल्ड (साम्प्रदायिक) पचाट और पूना-समझौता

पचाट की पृष्ठ भूमि—यह स्मरणीय है कि गोलमेज परिषद् के प्रथम दो अधिवेशन साम्प्रदायिक समस्या में गतिरोध को दूर करने में असमर्थ रहे थे। एडवर्ड थामसन के अनुसार यह मुख्यतः समझौते का तीव्र विरोध करने वाले मुसलमानों तथा कुछ विशेष अलोकतन्त्रवादी ब्रिटिश राजनीतिक क्षत्रों की अभिसंधि का प्रमाण था।[1] तथापि द्वितीय गोलमेज परिषद के अन्त में मकडानेल्ड ने प्रतिनिधियों से कह दिया था कि साम्प्रदायिक समस्या का समाधान मुख्यतः तो सम्बद्ध जातियों के ही ऊपर निर्भर है लेकिन ब्रिटिश सरकार इस बात के लिये कृतसंकल्प है कि वह बाधा भी उन्नति के मार्ग में बाधक नहीं बनने दी जाएगी। उन्होंने इस बात की घोषणा की थी कि यदि कोई सर्वसम्मत हल सामने नहीं आया तो ब्रिटिश सरकार को अपनी कामचलाऊ योजना लागू करनी पड़ेगी।' साम्प्रदायिक अथवा मकडानेल्ड पचाट जो ८ अगस्त १९३२ को प्रकाशित हुआ इसी का परिणाम था। इसके साथ ही साथ यह भी घोषणा कर दी गई थी कि यदि सरकार को यह विश्वास हो जाएगा कि विभिन्न सम्प्रदायों को एक वैकल्पिक योजना स्वीकार है तो वह ब्रिटिश संसद से सिफारिश करेगी कि साम्प्रदायिक पचाट में रखी गई योजना के बदले में नई योजना स्वीकार कर ली जाए।[2]

पचाट की शर्तें—पचाट ने विशेष हितों और अल्पसंख्यक वर्गों के लिये और बंगाल व पंजाब में मुसलमानों के लिए यद्यपि वे इन प्रान्तों में जनसंख्या की दृष्टि से बहुमत में थे पृथक निर्वाचन पद्धति को पूर्ववत कायम रखा। पचाट में दो अन्य विलक्षणताएं भी थीं। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के विधान-मण्डल के सिवाय प्रत्येक प्रान्तीय विधान मण्डल में ३ प्रतिशत स्थान जिन्हें विभिन्न सम्प्रदायों में बांट दिया गया था स्त्रियों के लिये सुरक्षित रखे गये। पचाट में गुरुभार भी था यद्यपि उसे अत्यन्त विषम रीति से वितरित किया गया था। लेकिन इस योजना की सबसे घातक विशेषता यह थी कि दलित वर्गों को एक विशिष्ट अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में मान्य किया गया और उन्हें पृथक निर्वाचन पद्धति द्वारा अपने प्रतिनिधि चुनने का व साधारण निर्वाचन क्षेत्रों में एक अतिरिक्त मत का अधिकार दिया गया। साम्प्रदायिक पचाट भारतीय राष्ट्रवाद के बल को निबल करने के लिये भारत के सम्प्रदायगत व वर्गगत मतभेदों को उत्तेजित करने की परम्परागत ब्रिटिश नीति के अनुरूप ही था। महता और पटवर्धन ने लिखा है, भारत में साम्प्रदायिक क्रियाकलापों का—

१ डा० राजेन्द्रप्रसाद— खण्डित भारत पृ० २०७।
२ वही पृ० २०८ २०९।

संरक्षण राष्ट्रीय भावना की वृद्धि के साथ-साथ हुआ है।[1] १९०९ में निर्वाचक मण्डल को चार साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक मण्डलों में विभाजित किया गया। १९१९ में उसे दस भागों में बाँट दिया गया और १९३५ में यह संख्या १७ तक बढ़ा दी गई है।[1] यह बात महत्त्वपूर्ण है कि '१९१९ में साम्प्रदायिकता का पुरस्कार इसलिए किया गया क्योंकि दोनों दल इसमें सहमत थे। १९३५ में साम्प्रदायिकता को इसलिए बढ़ाया गया क्योंकि हिन्दू और मुसलमान एकमत नहीं हो सके।[2]

स्पष्ट है कि फूट डालो और राज्य करो की पुरानी नीति जिसकी एल्फिंस्टन, मल्कम और मेटकाफ के जमाने में जोर शोर से घोषणा की जाती थी अब गुप्ततर साधनों से भी सफल करने के लिए विवश हो गई थी। ब्रिटिश कूटनीति ने निष्पक्षता का अभिनय करना सीख लिया था लेकिन इस अभिनय का खोखलापन भी साफ दिखाई देने लगा था।

ब्रिटिश निष्पक्षता का अद्भुत प्रदर्शन—निर्णय' ब्रिटिश सरकार अल्पसंख्यक वर्गों और विशेष रूप से मुसलमानों के ऊपर बहुत ही कृपालु थी। बंगाल में हिन्दुओं के साथ बहुत अन्याय किया गया था। पंजाब और बंगाल में हिन्दू अल्पमत में थे वे इस अन्याय के सबसे ज्यादा शिकार हुए। ब्रिटिश निष्पक्षता के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा सकते हैं। १९३१ की जनगणना के अनुसार बंगाल में मुसलमान कुल जनसंख्या के ५४.८% और हिन्दू ४४.८ प्रतिशत थे। लेकिन प्रान्तीय विधान मण्डल के २५० स्थानों में से ११९ स्थान मुसलमानों को और ८० स्थान हिन्दुओं को दिए गए। यूरोपीय कुल जनसंख्या के ०.१% ही थे लेकिन फिर भी उन्हें २५ स्थान देने के लिए दोनों जातियों को अपना प्राप्य प्रतिनिधित्व उत्सर्ग करना पड़ा परन्तु विलक्षण बात यह है कि हिन्दुओं से जिस उत्सर्ग की माँग की गई वह अनुपात की दृष्टि से मुसलमानों से तिगना था। पंजाब में अल्पसंख्यक वर्गों (हिन्दुओं और सिखों) को पुरस्कार उसी माप के अनुसार नहीं दिया गया जिस माप के अनुसार वह मुसलमानों को उन प्रान्तों में जहाँ वे अल्पमत में थे दिया गया था। 'पुरस्कार' के मामले में ब्रिटिश निष्पक्षता ने अनोखी रीति से काम किया। पंजाब में हिन्दू और सिख तो ब्रिटिश सरकार की कृपाकोर से वंचित रहे लेकिन भारतीय ईसाइयों, आंग्ल भारतीयों और यूरोपियनों को ब्रिटिश सरकार का भरपूर अनुग्रह प्राप्त हुआ। उन्हें क्रमशः ३००%, ३०००% और २५०००% पुरस्कार मिला। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने व्यंग्य के रूप में लिखा है 'ब्रिटिश सरकार अवश्य ही इस मामले में सर्वथा उदासीन थी।'[3]

कांग्रेस का दृष्टिकोण—भारत के राष्ट्रवादी लोकमत ने जहाँ साम्प्रदायिक पंचाट का साधारणतः खण्डन किया कांग्रेस ने उसके प्रति कुछ विचित्र-सा दृष्टिकोण

१ मेहता और पटवर्धन—'दी कम्युनल ट्रायंगल' पृ० १०१।
२ वही पृ० ७५
३ राजेन्द्र प्रसाद—'खण्डित भारत' पृ० ११२।

अपनाया। कार्य समिति ने निर्णय किया कि कांग्रेस को न तो इसे स्वीकार ही करना चाहिए और न अस्वीकार ही यद्यपि अधिकांश सदस्यों के मत में "पंचाट सर्वथा तिरस्कार-योग्य था।"[1] पंडित मालवीय और एम० एस० अणे इस टालटोल दृष्टिकोण से अप्रसन्न हुए और उन्होंने पंचाट के विरुद्ध लड़ाई जारी रखने के लिए कांग्रेस राष्ट्रवादी दल का निर्माण किया।

गांधी जी का उपवास और पूना समझौता—लेकिन पंचाट के दलित वर्गों से सम्बन्ध रखने वाला उपबन्ध महात्मा गांधी के लिए असह्य था। इससे उन्हें मर्मान्तक पीड़ा पहुंचा और उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगाकर हिन्दू जाति का विघटन करने की इस अपवित्र चेष्टा को निष्फल करने का निश्चय किया। जिस समय पंचाट प्रकाशित हुआ वह जेल में थे उन्होंने आमरण अनशन करने का निश्चय किया। २० सितम्बर १९३२ को महात्मा गांधी का यह ऐतिहासिक उपवास प्रारम्भ हुआ। डा० अम्बेडकर ने इसे राजनीतिक धूर्तता बताया और बहुतों ने उसकी आलोचना करते हुए कहा कि यह दबाव डालने का तरीका है। लेकिन इस उपवास का मनोवांछित फल हुआ इसने हिन्दू जाति का मनोमन्थन करके रख दिया। पंडित मालवीय राजेन्द्र प्रसाद और एम० एम० राजा के प्रयत्नों के फलस्वरूप एक समझौता सूत्र तैयार किया गया जिसे महात्मा गांधी ने सहर्ष स्वीकार किया और जिस पर भारी मन से डा० अम्बेडकर ने भी हस्ताक्षर कर दिए। इस सूत्र के अनुसार हरिजनों (यह शब्द महात्मा गांधी ने दलित वर्गों के लिए गढ़ा था) को मैकडानेल्ड पंचाट द्वारा दिये गये स्थानों से भी अधिक स्थान दिये गये। लेकिन इन स्थानों का निर्वाचन दो स्तरों में होना निश्चित हुआ अर्थात् प्रारम्भिक निर्वाचन में प्रत्युत पृथक् निर्वाचन मण्डल के आधार पर प्रत्येक स्थान के लिए चार प्रत्याशी चुने जाएं लेकिन अन्तिम निर्वाचन में सवर्ण हिन्दू और हरिजन सम्मिलित रूप से मतदान दें। इसके अलावा उन साधारण स्थानों के लिए जो हरिजनों के लिए सुरक्षित नहीं रखे गये थे हरिजनों को निर्वाचन में एक अतिरिक्त मत दिया गया। यह समझौता जो पूना समझौते के नाम से प्रख्यात है २६ सितम्बर १९३२ को स्वीकृत किया गया और उसी दिन महात्मा गांधी ने अपना उपवास तोड़ा।

७७ तीसरा गोलमेज परिषद्

परिषद् का प्रतिगामी स्वरूप—गोलमेज परिषद् का तीसरा और अन्तिम अधिवेशन नवम्बर, १९३२ में शुरू हुआ और वर्ष समाप्त होने के कुछ दिनों पूर्व समाप्त हुआ। श्रमिक दल ने परिषद् से अपना सहयोग खींच लिया था। भारत का प्रतिनिधित्व कट्टर राजभक्तों ने किया था। फलतः यह अधिवेशन प्रतिगामी तत्वों की पूर्ण अधीनता में सम्पन्न हुआ। भारत के नए संविधान के सम्बन्ध में मोटी मोटी बातें तो

1 सुभाष बोस— दी इण्डियन स्ट्रगल", पृ० ३०२।

जिस निर्वाचन पद्धति को निर्धारित किया गया वह पृथक निर्वाचन-पद्धति और संयुक्त निर्वाचन पद्धति के बीच का मार्ग था। इस समझौते ने दलित वर्गों को हिन्दू जाति से अलग होने से रोक दिया।

गोलमेज परिषद के तीसरे अधिवेशन ने उसके प्रारम्भिक अधिवेशनों के काम को पूरा कर दिया। मार्च १९३३ में ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत-पत्र प्रकाशित किया जिसमें नए संविधान के प्रस्ताव समाविष्ट थे। इन प्रस्तावों का एक संयुक्त प्रवर समिति ने निरीक्षण किया और उन्हें संसद ने १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के रूप में पास किया।

अध्याय ११

१९३५ का भारत सरकार अधिनियम

७८ मुख्य विशेषताएँ

प्रतिगामी कानून—प्रो० कूपलण्ड ने १९३५ के अधिनियम को "रचनात्मक राजनीतिक विचार की एक महान सफलता"[1] बतलाया है। उनके मत में उसने भारत के भाग्य का स्थानान्तरण अंग्रेजों के हाथों से भारतीयों के हाथों में सम्भव कर दिया।[2] तथापि कोई भारतीय इस दृष्टिकोण को कठिनता से ही स्वीकार कर सकता है। निष्पक्ष ब्रिटिश टीकाकारों तक ने इस बात का नोट किया है कि अधिनियम में डोमीनियन स्टेटस के लक्ष्य की प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गई थी।[3] भारत के लगभग सभी राजनीतिक दलों ने इस आधार पर अधिनियम का तिरस्कार किया कि उसने सम्पूर्ण वास्तविक शक्ति अंग्रेजों के हाथों में रखी और यह एक प्रतिगामी कानून था।[4] जवाहरलाल नेहरू ने उसे 'दासता का एक चार्टर' बताया। उनके मत में अधिनियम ने ब्रिटिश सत्ता से संचालित हुकूमती ढाँचे में हस्तक्षेप करने या सुधार करने के लिए भारतीय जनता के प्रतिनिधियों को कोई रास्ता नहीं छोड़ा था। इस एक्ट से ब्रिटिश सरकार की रजवाड़ों से, जमींदारों से और हिन्दुस्तान की दूसरी प्रतिक्रियावादी जमातों से दोस्ती और भी ज्यादा मजबूत हो गई। पृथक निर्वाचन पद्धति को इससे बढ़ावा दिया गया और इस तरह अलग होने वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। इस एक्ट ने ब्रिटिश व्यापार, उद्योग, बैंकिंग और जहाजी व्यापार को जिनका पहले से ही आधिपत्य था अब और ज्यादा दृढ़ कर दिया। इस एक्ट में ऐसी धाराएँ साफ तौर पर रख दी गईं कि उनकी इस हैसियत पर रोक या पाबन्दियाँ बिलकुल नहीं लगाई जा सकती थीं। इस कानून के मुताबिक भारतीय राजस्व, फौज और विदेशी नीति के सारे मामलों में पूरा नियन्त्रण ब्रिटिश हाथों में ज्यों का-त्यों बना रहा। इस विधान ने वायसराय को पहले से कहीं ज्यादा ताकत सौंप दी।[4] गवर्नर जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों की स्वेच्छाचारी शक्तियाँ पूर्ववत् अखण्ड बनी रहीं।

---

१ कूपलण्ड— इण्डिया ए रिस्टेटमेंट पृ० १५४।

२ कूपलण्ड — दी इण्डियन प्राब्लेम १८३३-१९३५ पृ० १४७।

३ मि० एटली ने कामन सभा के एक वाद विवाद में इस आधार पर अधिनियम का विरोध किया था। देखिए कीथ— ए कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ४७०।

४ जवाहरलाल नेहरू— हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० ४५५।

दायी मन्त्रियों की इच्छा का अतिक्रमण कर सकें। सुरक्षित विषयों के सम्बन्ध में वे मन्त्रियों से मन्त्रणा किए बिना भी काम कर सकते थे। दूसरे विषयों के सम्बन्ध में उनसे यह आशा की जाती थी कि वे साधारण परिस्थितियों में मन्त्रियों की मन्त्रणा पर काम करेंगे। लेकिन यदि वे समझते कि अमुक विषय में उनका कोई विशेष उत्तर दायित्व अन्तग्रस्त है तो उस स्थिति में वे अपने विवेकाधिकार का प्रयोग कर सकते थे। ये विशेष उत्तरदायित्व सम्बन्ध कर से निम्नलिखित थे—(१) भारतवर्ष (अथवा गवर्नर की स्थिति में प्रान्त) की शान्ति भंग करने वाले खतरों का निवारण (२) अल्पसंख्यक वर्गों के उचित अधिकारों और हितों की रक्षा करना (३) लोक सेवाओं के सदस्यों के अधिकारों का रक्षण (४) भारतीय राज्यों के अधिकारों और शासकों की मर्यादा की रक्षा करना और (५) ब्रिटिश व्यापारिक हितों के विरुद्ध विभेद का निवारण। इस प्रकार गवर्नर जनरल और गवर्नरों को अल्पसंख्यक वर्गों भारतीय राज्यों के शासकों लोक-सेवाओं के सदस्यों व ब्रिटिश व्यापारियों का अभिभावक बना दिया गया। जब कभी वे समझते कि उत्तरदायी मन्त्रियों द्वारा सुझाई गई नीति इनके ऊपर प्रतिकूल प्रभाव डालेगी वे व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार काम कर सकते थे। इस स्थिति में उन्हें मन्त्रियों से मन्त्रणा तो करनी पड़ती थी पर वे उनके परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं थे।

रक्षा कवच उत्तरदायी शासन के प्रतिरूप थे और उनका उद्देश्य विदेशी शासन को कायम रखना व निहित स्वार्थों की रक्षा करना था—यह स्पष्ट है कि गवर्नर जनरल और गवर्नरों में निहित विशेष शक्तियाँ और उत्तरदायित्व उत्तरदायी शासन के सर्वथा प्रतिकूल थे। ये उत्तरदायी शासन प्रणाली के अधीन वास्तविक शक्ति मन्त्रियों के पास रहती है और ये मन्त्री विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। १९३५ के अधिनियम के अधीन ऐसा उपबन्ध नहीं किया गया। उसने गवर्नर जनरल अथवा प्रान्तों के गवर्नरों को वैधानिक शासक नहीं बनाया। इसके विपरीत रक्षा कवचों ने उन्हें स्वेच्छाचारी बना दिया। इन रक्षा कवचों का लक्ष्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अजेय बनाना तथा उनके पृष्ठपोषकों प्रतिगामी तत्त्वों व निहित स्वार्थों को मजबूत करना था। उन्होंने असली ताकत अंग्रेजों के हाथों में रहने दी और भारतीय जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में बहुत कम शक्ति छोड़ी। दूसरे शब्दों में वे प्रगति और लोकतन्त्र के पैरों में बेड़ियाँ थे।

अखिल भारतीय संघ

८० प्रस्तावित संघ

भारतीय लोकमत के प्रत्येक वर्ग द्वारा तिरस्कृत—जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं १९३५ के अधिनियम ने एक संघीय संविधान की योजना प्रदान की। उसने ब्रिटिश भारत के प्रान्तों और भारतीय राज्यों को एक निश्चित संख्या के मिलने से

बनने वाले एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया। भारतीय लोकमत इस प्रकार के संघवाद के विरुद्ध नहीं था। इसके विपरीत साधारणतः यह अनुभव किया जाता था कि भारत जैसे एक विशाल उप महाद्वीप में जहाँ भाषा संस्कृति तथा धार्मिक परिस्थितियों की पर्याप्त विभिन्नताएं विद्यमान हों संघीय शासन प्रणाली स्वाभाविक है। लेकिन १६३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित संघीय योजना भारतीय लोकमत के किसी वर्ग में रंचमात्र भी उत्साह पैदा करने में सफल नहीं हुई। चारों ओर से उसका तिरस्कार हुआ और इसके पूर्व कि वास्तव में उसकी परीक्षा की जाती वह समाप्त हो गई।' कांग्रेस ने उसका समूल रूप से विरोध किया। मुस्लिम लीग ने कहा कि अधिनियम का संघीय भाग, 'मूलतः खराब और पूर्णतः अस्वीकार्य था।' और तो और देशी रजवाड़ों तक का जिन्हें कि विशेषाधिकारों से युक्त स्थिति प्रदान की गई थी, वह उत्साह ठण्डा पड़ गया जो उन्होंने एक समय अखिल भारतीय संघ के लिए प्रकट किया था।

संघीय विशेषताएं—तथापि प्रस्तावित योजना में संघवाद की प्राथमिक विशेषताएं विद्यमान थीं। संविधान एक लिखित प्रलेख था उसने संघ और उसके एककों में शक्तियों का वितरण विस्तार से कर दिया था। एक संघीय न्यायालय भी था जिसका कर्तव्य यह देखना था कि केन्द्र स्थानीय सरकारें और विधानमण्डल अपनी अपनी मर्यादाओं का उचित रूप से पालन करें। प्रस्तावित भारतीय संघ में कई नियमबाह्य विशेषताएं भी थीं। उसकी एक विलक्षणता उसकी रचना की प्रक्रिया में ही थी।

संघ के निर्माण की असाधारण प्रक्रिया—साधारणतः कोई संघ उन राज्यों के जो पहले स्वतन्त्र और प्रभुत्व-सम्पन्न रहे हों एकीकरण से उत्पन्न होता है। वे राज्य कतिपय सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि के लिए आपस में संगठित होते हैं। संयुक्त राज्य अमरिका का जन्म इसी प्रकार हुआ तेरह उपनिवेशों के एकीकरण से हुआ था जिन्होंने पहले पूर्ण प्रभुत्व शक्ति को हस्तगत कर लिया था। कनाडा और आस्ट्रेलिया के संघों की रचना भी इस प्रक्रिया के अनुसार हुई इसके विपरीत भारत में संघ का जन्म उन प्रान्तों को स्वायत्तता देने से होने का था जो एक एकात्मक राज्य के अधीनस्थ विभाग थे। इन स्वायत्त प्रान्तों के साथ वे भारतीय राज्य मिलने को थे जो अपने भाग्य को संघ के साथ जोड़ना पसन्द करते।

एककों में कोई एकरूपता नहीं राज्यों की स्थिति—प्रस्तावित भारतीय संघ का सबसे बुरा पहलू भारतीय राज्यों की दी गई स्थिति था। संघ के एककों में किसी प्रकार की एकरूपता नहीं थी। यदि प्रान्तों में अर्द्ध लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली प्रचलित थी, तो देशी राज्य, जहाँ स्वेच्छाचारी नरेश जनता को दासता में रखते थे, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मित्र थे। इस प्रकार अखिल भारतीय संघ अर्द्ध लोकतन्त्रात्मक प्रान्तों में स्वेच्छाचारी ढंग से शासित राज्यों का एक अस्वाभाविक गठबन्धन होने

थी था। इस प्रकार की स्थिति और किसी संघ में नहीं पाई जाती। उदाहरणार्थ अमेरिका के समस्त राज्यों और स्विट्जरलैण्ड के समस्त कण्टनों में एक सा ही शासन प्रणाली प्रचलित है।

संघीय सरकार की शक्तियां समस्त इकाइयों के सम्बन्ध में समान न थीं —इसके अलावा जहाँ ब्रिटिश भारत के प्रान्त प्रस्तावित संघ के स्वतः ही सदस्य बनने थे वहाँ भारतीय राज्यों का प्रवेश उनके शासकों के निर्णय के ऊपर छोड़ दिया गया था। इस बात का भी निश्चय करना था कि उनके राज्य क्षेत्रों के भीतर संघीय सरकार किन शक्तियों का उपभोग करेगी। समस्त प्रान्तों के सम्बन्ध में संघीय सरकार की शक्तियाँ एक सी रखी गई थीं लेकिन प्रत्येक राज्य के सम्बन्ध में वे उसके शासक द्वारा प्रस्तुत प्रवेश-पत्र पर निर्भर रहने को थीं। यह एक दूसरी महत्त्वपूर्ण असंगति था।

इकाइयों की कानूनी असमानता —राज्यों को संघीय विधानमण्डल में अनुचित रूप से भारी प्रतिनिधित्व दे दिया गया था। अमेरिका जैसे संघ में संघीय विधानमण्डल के उच्च सदन में अवयवी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है और इस प्रकार उनकी कानूनी समानता की रक्षा की जाती है। प्रस्तावित भारतीय संघ में इकाइयों को कानूनी समानता प्राप्त नहीं होने वाली थी। इन्हें मोटे तौर पर अपनी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व मिलने को था परन्तु राज्यों के सम्बन्ध में यह बात नहीं थी।

राज्यों को भारायनत प्रतिनिधित्व व शासकों द्वारा उनका मनोनयन —राज्यों को पर्याप्त गुरुभार दिया गया। राज्यों की जनसंख्या भारत की कुल जनसंख्या की केवल २४% थी। लेकिन उन्हें संघीय विधान मण्डल के निम्न सदन में ३३% और उच्च सदन में ४०% स्थान दिए गए। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। राज्यों के प्रतिनिधि नरेशों द्वारा मनोनीत होने थे। निस्सन्देह वे अपने उन स्वामियों के एजेण्टों के रूप में कार्य करते जो स्वयं वायसराय और ब्रिटिश सम्राट के अनुशासित दास थे।[1] अल्पसंख्यक वर्गों के प्रतिगामी तत्त्वों के प्रतिनिधियों और जमींदारों व व्यापारियों के प्रतिनिधियों के साथ मिलकर राज्यों का प्रतिनिधि दल संघीय शासन में राष्ट्रवादी तत्त्वों के विरुद्ध [illegible] के प्रबलन का [illegible] कर सकता था। सर सैमुअल होर ने ब्रिटिश संसद में बड़े गर्व से इस बात का बखान किया था कि उग्रवादियों को नए अधिनियम के अनुसार सत्तारूढ़ होने से रोकने के लिए प्रत्येक चौकसी से काम लिया गया था। संघ के भारतीय राज्यों की स्थिति की ओर विशेष रूप से दृष्टि निक्षेप करते हुए प्रो० कीथ ने लिखा है "भारत के इस आरोप के औचित्य को अस्वीकार करना कठिन है कि संघ ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के प्रश्न से बचकर निकल जाने की कामना से बनाया जा रहा था।"[2] उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि "राज्यों और ब्रिटिश भारत के प्रतिगामी

१ एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड — सब्जेक्ट इण्डिया पृ० ५०।
२ ए० बी० कीथ — ए कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया' पृ० ४७४।

तत्वों द्वारा समर्थित गवर्नर जनरल की नियन्त्रण शक्ति की प्रामुख्यता[1] के कारण प्रस्तावित संघ की असफलता निश्चितप्राय थी।

संघीय सभा के लिए परोक्ष निर्वाचन—ऐसा ही प्रतिक्रियावादी और राष्ट्रवादी तत्वों के प्रभाव को कम करने के लिए यह भी व्यवस्था किया गया कि संघीय विधान मण्डल के निम्न सदन के लिए निर्वाचन परोक्ष रीति से और उच्च सदन के लिए प्रत्यक्ष रीति से हो। इस संघीय विधान मण्डल को कमजोर करने का एक और तरीका था। इसके तो कम ना प्रमुख शक्ति विशिष्ट निषेध था, उसकी विधायी और वित्तीय सक्षमता आवश्यक या विशेष शक्तियों और ब्रिटिश संसद की अन्तिम सत्ता के अधीन थी व उसका प्रतिनिधित्व स्वरूप साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक मण्डलों से विभाजित था।

केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय स्वायत्तता में हस्तक्षेप कर सकती थी—१९३५ के अधिनियम ने प्रान्तों को स्वायत्तता प्रदान की और संघीय प्रान्तीय व समवर्ती सूचियों में शक्तियों का विधिवत् रूप से विभाजन कर दिया। फिर भी उसने प्रान्तीय क्षेत्र में संघीय सरकार के हस्तक्षेप के लिए पर्याप्त रास्ते छोड़ दिए थे। गवर्नर जनरल आपात की उद्घोषणा निकाल कर संघीय ढाँचे को पूर्णतः विनष्ट कर सकता था। पुनश्च जैसे ही कोई गवर्नर अपने प्रान्त में संविधान विफल होने की उद्घोषणा करता, प्रान्त का सम्पूर्ण प्रशासन सीधे केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में आ सकता था। जब कभी प्रान्तीय गवर्नर अपने विवेक के अनुसार काम करते अथवा व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करते थे, वे गवर्नर जनरल की सत्ता के अधीन होते थे। इसके अलावा गवर्नर जनरल १९३५ के अधिनियम धारा १२६ अ के अधीन प्रान्तीय सरकारों को निर्देश जारी कर सकता था जिन्हें वह भारत की शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक समझता।

अवशिष्ट शक्तियों का बँटवारा—१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय संघ की एक अन्य विशेषता अवशिष्ट शक्तियों के वितरण से सम्बन्ध रखती थी। सामान्यतः संघीय संविधान इन शक्तियों को या तो केन्द्र को अथवा इकाइयों को प्रदान करता है। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों को देखते हुए १९३५ के अधिनियम ने अपने विवेक के अनुसार यह निश्चय करने की शक्ति कि अमुक अवशिष्ट शक्ति केन्द्र को दी जानी चाहिए अथवा प्रान्तों को, गवर्नर जनरल को दे दी।

संघ लागू नहीं—इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि १९३५ के अधिनियम में प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ कोई संघ नहीं था। यह कुछ ऐसी विलक्षणताओं का मिश्रण था जिसकी इतिहास में कोई सानी नहीं मिलता। एक

१ वही, पृ० ४७४-७५।

ओर तो यह राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई शक्तियों को सन्तुष्ट करने का प्रयास था दूसरी ओर यह साम्राज्यवाद के पृष्ठपोषकों देशी रजवाड़ों सम्प्रदायवादियों और ब्रिटिश औद्योगिक व व्यापारिक हितों को सारत बड़ा का दम्भ प्रयत्न था। कहने का सार यह है कि प्रस्तावित संघ भारतीयों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का उत्तर नहीं अपितु केन्द्र में उत्तरदायी शासन की प्रगति पर स्थापना के प्रभाव को कम करने की एक सूक्ष्म चेष्टा थी। अतः हम प्रो० के० टी० शाह के शब्दों में कह सकते हैं कि संघीय योजना के लिये किसी प्रकार का सन्तोष अनुभव करना कठिन है।

८१ संघीय कार्यपालिका

द्वैध शासन प्रणाली-(क) गवर्नर जनरल और परिषद्—१९३५ के अधिनियम ने प्रस्तावित संघीय सरकार में उत्तरदायित्व के तत्व का समावेश करने के विचार से द्वैध कार्यपालिका की योजना की। संघीय विषयों को सरक्षित और हस्तान्तरित दो भागों में बाँट दिया गया। प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले, धार्मिक मामले और कबायली इलाके सरक्षित विषय थे। इन विषयों का प्रबन्ध करने में गवर्नर जनरल मन्त्रियों से परामर्श किये बिना अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था। तथापि तीन कार्यकारी परिषद् जो [illegible] मतदान के अधिकार के बिना संघीय विधान मण्डल के दोनों सदनों के सदस्य होने को थे गवर्नर जनरल को सहायता देने के लिये थे। संघीय कार्यपालिका का यह भाग अर्थात् परिषद् संघीय विधान मण्डल के प्रति किसी प्रकार उत्तरदायी नहीं था।

(ख) गवर्नर जनरल और मन्त्रिपरिषद्—चार सुरक्षित विषयों को छोड़कर संघीय प्रशासन के शेष सब विषय मन्त्रीय उत्तरदायित्व के क्षेत्र में आते थे। इन विषयों का शासन प्रबन्ध गवर्नर जनरल एक मन्त्रिपरिषद् की सहायता और मन्त्रणा से करने को था। मन्त्री अनुदेश पत्र में निर्धारित उपबन्धों के अनुसार गवर्नर जनरल के द्वारा नियुक्त किए जाने को थे। उसे उस दल के नेता को जिसका संघीय विधान मण्डल में बहुमत होता प्रधानमन्त्री चुनना था और प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर दूसरे मन्त्रियों को नियुक्त करना था। मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से संघीय विधान मण्डल के दोनों सदनों के प्रति उत्तरदायी थी यद्यपि उत्तरदायित्व को एक कानूनी दायित्व नहीं बना दिया गया। मन्त्रिपरिषद् की कार्यपालिका सत्ता में समस्त हस्तान्तरित विषय आ जाते थे। इन विषयों का शासन प्रबन्ध करने में गवर्नर जनरल से साधारणत यह आशा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करेगा।

गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व—१९३५ के अधिनियम ने मन्त्रीय शासन में गवर्नर जनरल को वैधानिक प्रधान नहीं बनाया। इसके विपरीत उसने उसे निम्न विशेष उत्तरदायित्व सौंप दिए—(१) भारतवर्ष या उसके किसी भाग में शान्ति भंग करने वाले खतरों का निवारण (२) संघ सरकार की आर्थिक स्थिरता और

शान्ति सुरक्षित रखना (३) अल्पसंख्यक वर्गों के उचित हितों की रक्षा करना (४) लोक सेवाओं के सदस्यों के कानूनी अधिकारों और उचित हितों की रक्षा करना (५) देशी राज्यों के अधिकारों और उनके नरेशों की मर्यादा की रक्षा करना (६) ब्रिटिश व्यापारिक हितों के विरुद्ध विभेद का निवारण और (७) इस बात का प्रबन्ध करना कि अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय द्वारा किए जाने वाले कार्यों के सम्पादन में किसी अन्य विषय सम्बन्धी कार्य से कुछ बाधा न पड़े। जब कभी गवर्नर जनरल यह समझता कि मन्त्रियों द्वारा दिए गए परामर्श से उनके इन उत्तरदायित्वों में से किसी के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना है उस समय वह मन्त्रियों के परामर्श की उपेक्षा करके अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता था। गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व खाली कागजी रक्षा कवच ही नहीं थे। उनका मन्तव्य उत्तरदायी शासन को भ्रष्ट करना था। प्रो० कीथ के मतानुसार यदि उनका निर्वचन असुचित रीति से किया जाता तो वे संघीय उत्तरदायित्व की सम्भावना को नष्ट कर सकते थे। सुभाष बोस के मत में गवर्नर जनरल को १९३५ के एक्ट द्वारा सौंपे गए ये उत्तरदायित्व उन कड़वी गोली के समान थे जिसे चबाने योग्य बनाने के हेतु उस पर विशेष उत्तरदायित्व नाम वाला चीनी का मुलम्मा लगा दिया गया था।

गवर्नर जनरल की दूसरी विशेष शक्तियाँ—गवर्नर जनरल और बहुत-सी दूसरी स्वविवेकी तथा विशेष शक्तियों का प्रयोग करता था। कार्यकारी क्षेत्र में वह फेडरल रेलवे प्राधिकार के सदस्यों व अध्यक्ष की और अजमेर, मारवाड़, कुर्ग तथा ब्रिटिश बिलो-चिस्तान के चीफ कमिश्नरों की नियुक्ति करने में अपने विवेक के अनुसार कार्यवाही कर सकता था। वित्तीय परामर्शदाता, आडीटर जनरल, एडवोकेट जनरल और गवर्नरों की नियुक्ति करने में उसे अपने व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग का अधिकार था। वह रिज़र्व बैंक के डायरेक्टरों की नियुक्ति करता था।

व्यक्तिगत निर्णय व स्वविवेक के अधिकार में अन्तर—१९३५ के एक्ट के अनुसार गवर्नर जनरल व गवर्नरों को ये दो शक्तियाँ 'विशेष अधिकार' के रूप में दी गयी थीं। दोनों अधिकारों में अन्तर बड़ा सूक्ष्म था। गवर्नर जनरल के लिए व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार के प्रयोग की अवस्था में निजी सलाहकारों की मन्त्रणा लेना आवश्यक था यद्यपि वह परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं था। परन्तु विवेकशक्ति के अधिकार के प्रयोग में वह पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र था।

व्यवस्थापन के क्षेत्र में गवर्नर जनरल की विशेष शक्तियाँ—अपने विवेक के अनुसार काम करते हुए वह संघीय विधान मण्डल का आह्वान, स्थगन या विघटन कर सकता था, उसके किसी एक या दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता था और उन्हें सन्देश भेज सकता था। संघीय विधान मण्डल द्वारा पास किए गए विधेयक गवर्नर जनरल की स्वीकृति के बिना कानून नहीं बन सकते थे। गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपनी अनुमति देने या न देने अथवा

सार सुरक्षित रखना (३) अल्पसंख्यक वर्गों के उचित हितों की रक्षा करना (४) लोक सेवाओं के सदस्यों के कानूनी अधिकारों और उचित हितों की रक्षा करना, (५) देशी राज्यों के अधिकारों और उनके नरेशों की मर्यादा की रक्षा करना, (६) ब्रिटिश व्यापारिक हितों के विरुद्ध विभेद का निवारण और (७) इस बात का प्रबन्ध करना कि अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय द्वारा किए जाने वाले कार्यों के सम्पादन में किसी अन्य विषय सम्बन्धी कार्य से कुछ बाधा न पड़े। जब कभी गवर्नर जनरल यह समझता कि मन्त्रियों द्वारा दिए गए परामर्श से उनके इन उत्तरदायित्वों में से किसी के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना है उस समय वह मन्त्रियों के परामर्श की उपेक्षा करके अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता था। गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व मानो कागजी रक्षा कवच ही नहीं थे। उनका मन्तव्य उत्तरदायी शासन को भ्रष्ट करना था। प्रो० कीथ के मतानुसार यदि उनका निर्वचन संकुचित रीति से किया जाता तो वे मन्त्रीय उत्तरदायित्व की सम्भावना को नष्ट कर सकते थे। सुभाष बोस के मत में गवर्नर जनरल को १९३५ के एक्ट द्वारा सौंपे गए ये उत्तरदायित्व उस कड़वी गोली के समान थे जिसे खाने योग्य बनाने के हेतु उस पर विशेष उत्तरदायित्व नाम वाला खांड का मुलम्मा चढ़ा दिया गया था।

गवर्नर जनरल की दूसरी विशेष शक्तियाँ—गवर्नर जनरल और बहुत-सी दूसरी स्वविवेकी तथा विशेष शक्तियों का प्रयोग करता था। कार्यकारी क्षेत्र में वह लोकसेवा आयोग के सदस्यों व अध्यक्ष को और अजमेर मारवाड़ कुर्ग तथा बिलो चिस्तान के चीफ कमिश्नरों को नियुक्त करने में अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था। वित्तीय परामर्शदाता, आडीटर जनरल, एडवोकेट जनरल और गवर्नरों की नियुक्ति करने में उसे अपने व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग का अधिकार था। वह रिजर्व बैंक के डायरेक्टरों को नियुक्त करता था।

व्यक्तिगत निर्णय व स्वविवेक के अधिकार में अन्तर—१९३५ के एक्ट के अनुसार गवर्नर जनरल व गवर्नरों को ये दो शक्तियाँ 'विशेष अधिकार' के रूप में दी गयी थी। दोनों अधिकारों में अंतर बड़ा सूक्ष्म था। गवर्नर जनरल के लिए व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार के प्रयोग की अवस्था में निजी मन्त्रणाकारों का मन्त्रणा लेना आवश्यक था यद्यपि वह परामर्श का मानने के लिये बाध्य नहीं था। परन्तु विवेकाधिकार के अधिकार के प्रयोग में वह पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र था।

व्यवस्थापन के क्षेत्र में गवर्नर जनरल की विशेष शक्तियाँ—अपने विवेक के अनुसार काम करते हुए वह संघीय विधान मण्डल का आह्वान, स्थगन या विघटन कर सकता था उसके किसी एक या दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता था और उन्हें संदेश भेज सकता था। संघीय विधान मण्डल द्वारा पास किए गए विधेयक गवर्नर जनरल की स्वीकृति के बिना कानून नहीं बन सकते थे। गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपनी अनुमति देने या न देने अथवा

सदस्य जिनकी संख्या १०४ थी शासकों द्वारा मनोनीत होने को थे। ब्रिटिश भारत के १५० निर्वाचन स्थानों का विभिन्न प्रान्तों के बीच निम्न प्रकार से वितरण निश्चित हुआ था—

बंगाल	२०	उड़ीसा	५
मद्रास	२०	पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त	५
यू० पी०	२०	सिन्ध	५
बम्बई	१६	बलूचिस्तान	१
बिहार	१६	दिल्ली	१
पंजाब	१६	अजमेर मारवाड़	१
सी० पी० और बरार	८	कुर्ग	१
आसाम	५	अप्रान्तीय	१०

साम्प्रदायिक आधार पर स्थानों का बटवारा निम्न प्रकार से निश्चित हुआ—

साधारण	७५	सिक्ख	४
अनुसूचित जातियाँ	६	यूरोपियन	७
मुस्लिम	४०	आंग्ल भारतीय	१
स्त्रियाँ	६	भारतीय ईसाई	२

ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन मण्डलों के आधार पर प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित होने को थे। मताधिकार सम्पत्ति था और उच्च सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताओं पर आश्रित था। सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत में मतदाताओं की कुल संख्या १ [illegible] ००० के लगभग थी। अधिकांश दूसरे संघों में संघीय विधान मण्डल के उच्च सदन राज्यों की भाँति से निर्वाचित होते हैं। भारत में इस प्रणाली को नहीं अपनाया गया। यहाँ संघ के समस्त एककों को समान प्रतिनिधित्व देने के सिद्धान्त का भी पालन नहीं किया गया। कूपलैण्ड के मतानुसार यह हिन्दू एकात्मिकता के साथ की गई एक रियायत थी।

राज्य परिषद् एक स्थायी निकाय थी उसका विघटन नहीं हो सकता था। उसके तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष हट जाने को थे। तथापि प्रत्येक सदस्य नौ वर्षों के लिए निर्वाचित होने को था।

संघीय सभा—संघीय विधान मण्डल के निम्न सदन का नाम संघीय सभा था। इसके सदस्यों की संख्या ३७५ निश्चित की गई थी। इन स्थानों में १२५ स्थान राज्यों के लिए निर्धारित कर दिए गए थे। ब्रिटिश भारत के २५० स्थानों में से ४ स्थान [illegible] और व्यापार, उद्योग तथा श्रम के लिए निश्चित कर दिए गए थे। शेष २४६ विभिन्न प्रान्तों में निम्न प्रकार से वितरित किए गए थे—

बंगाल	३७	उड़ीसा	५
मद्रास	३७	पश्चिमोत्तर	
यू० पी०	३७	सीमा प्रान्त	५
बम्बई	३०	सिंध	५
पंजाब	३०	बलूचिस्तान	१
बिहार	३०	दिल्ली	२
सी०पी० और बरार	१५	अजमेर-मारवाड़	१
आसाम	१०	कुर्ग	१

विभिन्न सम्प्रदायों वर्गों और हितों का प्रतिनिधित्व निम्न प्रकार से होने को था—

साधारण (जिसमें १६ स्थान अनुसूचित जातियों के लिए शामिल हैं)	१०५	आंग्ल भारतीय	४
मुस्लिम	८२	स्त्रियाँ	६
सिक्ख	६	व्यापार और उद्योग	११
यूरोपियन	८	श्रम	१०
भारतीय ईसाई	८	भूस्वामी	७

संघीय सभा का कार्यकाल साधारणतः पांच वर्ष निश्चित हुआ था लेकिन इसके पूर्व भी उसका विघटन किया जा सकता था।

संघीय सभा के गठन में एक अपूर्व विशेषता यह थी कि ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि साम्प्रदायिक आधार पर प्रान्तीय विधान मण्डलों द्वारा परोक्ष रीति से चुने जाने को थे। इस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम प्रतिनिधि प्रान्तीय विधान सभाओं के क्रमशः हिन्दू और मुस्लिम सदस्यों द्वारा पृथक् पृथक् निर्वाचित किए जाने को थे।

संघीय विधान मण्डल की शक्तियाँ प्रभुत्व शक्ति विहीन निकाय— प्रस्तावित संघीय विधान मण्डल का स्वरूप अलोकतन्त्रात्मक था और उसकी शक्तियाँ अत्यन्त सीमित थी। संघीय सूची और समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों के सम्बन्ध में उसे कानून बनाने की शक्ति प्राप्त थी। यदि गवर्नर जनरल आपात की उद्घोषणा निकाल देता तो विधान मण्डल प्रान्तीय विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सकता था।

(क) विधायी शक्तियाँ—उसकी विधायी सम्पन्नता के कई प्रतिबन्ध लगे हुए थे। वह किसी भी प्रकार प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न विधान मण्डल नहीं था। उसे संविधायी शक्तियाँ प्राप्त नहीं थी। वह संविधान अधिनियम में कोई संशोधन नहीं कर सकता था और न भारत के ऊपर लागू होने वाले ब्रिटिश संसद के अधिनियमों को ही संशोधित अथवा रद्द कर सकता था। कतिपय विशेष प्रकार के विधेयक गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना विधान मण्डल में पुनः स्थापित नहीं किए जा सकते थे। भारत

की शान्ति और सुव्यवस्था सम्बन्धी अपने विशेष उत्तरदायित्व से सम्बन्ध रखने वाले विधान मण्डल में विचाराधीन किसी विधेयक पर अथवा उसकी किसी धारा पर गवर्नर जनरल चलती हुई बहस बन्द कर सकता था। संघीय विधान मण्डल द्वारा पास किए गए समस्त प्रस्ताव गवर्नर जनरल के निषेधाधिकार के अधीन थे। गवर्नर जनरल संघीय विधान मण्डल की सहमति के बिना अध्यादेश जारी करके और गवर्नर जनरल के अधिनियम पास करके उसकी इच्छा की अवहेलना कर सकता था।

(६) (ख) वित्तीय शक्तियाँ—संघीय विधान मण्डल की वित्तीय शक्तियाँ भी अत्यन्त परिमित थीं। करारोपण और व्यय से सम्बन्धित प्रस्ताव केवल गवर्नर जनरल की सिफारिश पर ही पुनःस्थापित किए जा सकते थे। विधान मण्डल बजट पर (गवर्नर जनरल के वेतन के सिवाय) वाद विवाद कर सकता था लेकिन व्यय का ८० प्रतिशत से अधिक भाग मत निरपेक्ष था। मत सम्पन्न भाग की स्थिति में भी गवर्नर जनरल संघीय विधान मण्डल द्वारा अस्वीकृत या कम की गई किसी अनुदान माँग को बहाल कर सकता था।

(५) कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण—संघीय विधान मण्डल का संघीय कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण केवल हस्तान्तरित विषयों तक सीमित था जो गवर्नर जनरल की स्वविवेकी शक्तियों और विशेष उत्तरदायित्वों की परिधि में नहीं आते थे। मन्त्रि-परिषद् उसके प्रति उत्तरदायी था लेकिन गवर्नर और उसकी परिषद् उसके नियन्त्रण से पूर्णतः विमुक्त थे।

(६) मुख्यतः एक विचारात्मक निकाय—संघीय विधान मण्डल सरकार की नीतियों और कार्यों की आलोचना कर सकता था तथा जनता की शिकायतों पर विचार विनिमय कर सकता था। कहने का सार यह है कि १९३५ के अधिनियम के अधीन संघीय विधान मण्डल मुख्यतः एक विचारात्मक निकाय था।

८३ संघीय न्यायालय

न्यायालय का गठन—१९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने एक संघीय न्यायालय की स्थापना का उपबन्ध किया था। १ अक्टूबर १९३७ को इस न्यायालय का उद्घाटन कर दिया गया। न्यायालय एक प्रधान न्यायाधिपति और दो दूसरे न्यायाधीशों से मिलकर बना था। न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट अपने हस्ताक्षर और मुद्रा-सहित अधिपत्र द्वारा करता था। प्रधान न्यायाधिपति का वेतन ७,००० रुपया प्रति मास और दूसरे प्रत्येक न्यायाधीश का ५,५०० रुपया प्रति मास था। न्यायाधीश सदाचार पर्यन्त पद धारण करते थे। सेवा निवृत्ति की अवस्था ६५ वर्ष थी। वे कदाचार अथवा शरीर अथवा मन की दुर्बलता के आधार पर सम्राट के द्वारा पदच्युत किए जा सकते थे।

न्यायालय का क्षेत्राधिकार (क) प्रारम्भिक—संघीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार प्रारम्भिक और अपीलीय दोनों प्रकार का था। उसका प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (क)

के स्वायत्त एकक हो गए। 'अब केन्द्रीय सरकार के अधीनस्थ कोई प्रान्त नहीं रहे, अपितु ग्यारह स्वायत्त राज्य थे। उनकी स्वायत्तता कानून मान्य थी और वे अपने निश्चित क्षेत्र के भीतर अपने निजी अधिकार से कार्यपालिका और विधायिनी शक्तियों का प्रयोग कर सकते थे। केन्द्रीय सरकार की सौंपी गई निरीक्षण और नियन्त्रण की शक्तियों को बिल्कुल तो नहीं हटाया गया लेकिन उन्हें अत्यन्त सीमित और ठीक ठीक निश्चित अवश्य कर दिया गया।

तीन सूचियाँ—१९३५ के अधिनियम में भारत सरकार और प्रान्तों के सम्बन्धों को संघीय आधार पर निश्चित किया था। अधिनियम में तीन सूचियाँ थीं। इन सूचियों में इस बात का साफ-साफ उल्लेख कर दिया गया था कि संघ, केन्द्र और प्रान्तों की प्रशासनिक, विधायिनी और वित्तीय शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं। संघीय सूची में ५९ विषय थे जिनका प्रबन्ध केवल संघीय सरकार ही कर सकती थी। इस सूची में प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले, धर्म सम्बन्धी विषय, करेन्सी, डाक और तार, आकाशवाणी, संघीय रेल, बीमा, नमक और आयकर आदि विषय सम्मिलित थे। प्रान्तीय सूची में ५४ विषय थे जिनका प्रबन्ध साधारण परिस्थितियों में केन्द्र के हस्तक्षेप के बिना प्रान्तीय सरकारें कर सकती थीं। शान्ति और सुव्यवस्था, न्याय, पुलिस, जेल, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्थानीय स्वशासन और वन आदि विषय इस सूची में आते थे। समवर्ती सूची में ३६ विषय सम्मिलित थे जिनका प्रबन्ध केन्द्र और प्रान्त दोनों कर सकते थे। व्यवस्था यह थी कि संघीय कानून और प्रान्तीय कानून में मतभेद होने की स्थिति में, जब तक कि प्रान्तीय कानून को विचारार्थ सुरक्षित न रख लिया गया हो और गवर्नर जनरल अथवा सम्राट ने उस पर अपनी स्वीकृति न दे दी हो, संघीय कानून प्रभावी होगा। समवर्ती विषयों में से कुछ निम्न थे—फौजदारी और व्यवहार कानून व कार्यवाही, श्रम, श्रमिक संघ, श्रमिक कल्याण और औद्योगिक झगड़े।

प्रान्तों की स्वायत्तता पर प्रतिबन्ध—यह स्पष्ट है कि प्रान्तीय सरकारें अपने निश्चित क्षेत्र में भी केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं थीं। गवर्नर जनरल अधिनियम की धारा १०२ के अधीन युद्ध अथवा आन्तरिक अशान्ति के संकट को देखते हुए आपात की घोषणा निकाल सकता था जिससे केन्द्र प्रान्त के क्षेत्र का अतिक्रमण कर सकता था। गवर्नर जनरल उन विधेयकों पर जिन्हें गवर्नर उसके द्वारा विचार के लिए सुरक्षित रख लेता अपनी अनुमति देना अस्वीकार कर सकता था। यदि धारा ९३ के अधीन गवर्नर प्रान्त के भीतर शासन तन्त्र के विफल हो जाने की उद्घोषणा कर देता तो प्रान्तीय स्वायत्तता के स्थान पर गवर्नर का पूर्ण शासन लागू किया जा सकता था। इस उद्घोषणा के प्रभावस्वरूप स्वयं प्रान्तीय शासन को केन्द्र की अधीनता में लाया जा सकता था। साधारण परिस्थितियों में भी जब कभी गवर्नर अपने विवेक के अनुसार कार्य करते अथवा अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करते, गवर्नर जनरल के नियन्त्रण में होते थे। अन्तत

यदि गवर्नर व्यापक भारत में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के दृष्टिकोण से प्रांतीय सरकारों के लिए कतिपय निर्देश जारी करना आवश्यक समझता तो १९१९ के अधिनियम की धारा १२६ के अधीन निर्देश करता था।

(ख) प्रान्तों में उत्तरदायी शासन—१९३५ के अधिनियम के अधीन प्रान्तीय स्वायत्तता का अभिप्राय प्रान्तों के ऊपर केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्ति ही नहीं था। इसका एक दूसरा अभिप्राय भी था, अर्थात् इसने प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की। स्वयं प्रस्तावना ने ही प्रान्तीय स्वायत्तता के इस दूसरे पक्ष को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया था [illegible] में उन्हीं शक्तियों का कार्यान्वित करने में केन्द्रीय नियन्त्रण और अनुशासन से अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने वाले उत्तरदायी शासन के अनुसार शासित होना ही है। १९१९ के अधिनियम ने द्वैध शासन प्रणाली के रूप में आंशिक उत्तरदायित्व की स्थापना की थी। नए अधिनियम ने दोहरे शासन का अन्त कर दिया। सुरक्षित और हस्तान्तरित विभागों का भेद समाप्त हो गया और प्रान्तीय प्रशासन का पूरा भार प्रान्तीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी एक मन्त्रि-परिषद् के जिम्मे दिया गया।

उत्तरदायी शासन के ऊपर प्रतिबन्ध—उत्तरदायी शासन के ऊपर कई प्रकार के प्रतिबन्ध थे। पूर्ण उत्तरदायी शासन प्रणाली में प्रान्तीय गवर्नरों को वैधानिक प्रधान होना चाहिए। १९३५ के अधिनियम में ऐसा नहीं किया गया। गवर्नरों को विशेष स्वविवेकी शक्तियाँ और कुछ विशेष उत्तरदायित्व दे दिए गए जिनका निर्वाह करने में वे मन्त्रियों से परामर्श किए बिना और यदि परामर्श करते भी तो उसे स्वीकार किए बिना कार्य कर सकते थे। ये रक्षा-कवच उत्तरदायी शासन के पैरों में बेड़ियों के समान थे। यदि गवर्नर इनका बारम्बार और स्वेच्छाचारिता से प्रयोग करते तो वे उत्तरदायी शासन की नींव तक को भस्मीभूत कर सकते थे। इस प्रकार प्रान्तीय स्वायत्तता एक भी अर्थ में पूर्ण अथवा प्रतिबन्ध-मुक्त नहीं थी।

८५ गवर्नर

गवर्नर की वैधानिक स्थिति में परिवर्तन—१९३५ के अधिनियम ने प्रान्त की कार्यपालिका शक्ति गवर्नर में निहित की। गवर्नर सम्राट् का प्रतिनिधि होता था। प्रान्तों में संघीय सिद्धान्त और उत्तरदायी शासन की पुनः स्थापना ने गवर्नर की वैधानिक स्थिति में परिवर्तन कर दिया। जब गवर्नर मन्त्रियों की मन्त्रणा पर कार्य करता था वह गवर्नर जनरल के नियन्त्रण से मुक्त होता था लेकिन जब वह अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता था गवर्नर जनरल के निरीक्षण और नियन्त्रण के अधीन होता था।

नियुक्तियाँ और उपलब्धियाँ आदि—बम्बई, मद्रास और बंगाल के गवर्नरों को सम्राट् भारत मन्त्री की सिफारिश पर नियुक्त करते थे और अन्य प्रान्तों के

गवनरों को वायसराय की सिफारिश पर। उनकी उपलब्धियां[1] पदावधि और सेवा की शर्तें वे ही रहीं जो १६१९ के अधिनियम के अधीन थीं। नए अधिनियम ने उनकी राजकीय शान शौकत में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं की।

गवनर की शक्तियां—१६३५ के अधिनियम ने द्वयशासन प्रणाली का अन्त कर दिया। साधारण परिस्थितियों में गवनर से यह आशा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा का पालन करेगा। लेकिन अधिनियम का उद्देश्य गवनर को वैधानिक शासक बनाना नहीं था। अधिनियम ने गवनर को इतनी विपुल शक्तियां दे दी थीं कि यदि वह मन चाहे ढंग से उनका प्रयोग करने का हठ करता तो सदैव की भांति ही स्वेच्छाचारी शासक बना रह सकता था।

विशेष (स्वविवेकी) शक्तियां—कतिपय मामलों का प्रबन्ध करने में जिन्हें मन्त्रीय उत्तरदायित्व तथा व्यवस्थापन के क्षेत्र से बाहर रखा गया था, गवनर मन्त्रियों का परामर्श प्राप्त किए बिना ही अपने विवेक के अनुसार काय कर सकता था। कार्यकारी क्षेत्र में गवनर की स्वविवेकी शक्तियां निम्न विषयों से सम्बन्ध रखती थीं—(१) अपवर्जित क्षेत्रों का प्रशासन (२) मन्त्रियों की नियुक्ति और पदच्युति[2] (३) मन्त्रियों के वेतनों को जब तक कि वे विधानमण्डल द्वारा निश्चित न कर दिए जाएं निश्चित करना (४) ऐसी हिंसक और विनाशकर कार्यवाहियों को रोकना जिनका उद्देश्य शासन को नष्ट भ्रष्ट करना हो (५) पुलिस विभाग की सूचनाओं को ऐसे व्यक्तियों को (मन्त्रियों सहित) दिए जाने से रोकना जिनके लिए उसने आदेश न दिया हो (६) प्रान्तीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति (७) प्रतिरक्षा आदि के सम्बन्ध में गवनर जनरल के निर्देशों को कार्यान्वित करना और (८) अपने व्यक्तिगत कर्मचारी मण्डल को नियुक्त करना और उसका वेतन निश्चित करना।

विधायी क्षेत्र में गवनर की स्वविवेकी शक्तियां निम्न विषयों से सम्बन्ध रखती

---

१ गवनरों के वार्षिक वेतन (रुपयों में) प्रत्येक प्रांत के नाम के साथ साथ दिए जाते हैं। सजावट, यात्रा, फर्नीचर, पदाविष्ट स्टाफ और मनोरंजन आदि के भत्ते कोष्ठों में दिए गए हैं। मद्रास १२० ००० (५७५०००) बम्बई १२० ००० (५, ८४००) बंगाल १,२० ००० (६०७३००) यू०पी० १२० ००० (२६७०००) पंजाब १०० ००० (१,४१,२००) बिहार १०० ००० (१०२ ०००, सी० पी० ७२ ००० (१०३ २००), आसाम ६६ ०० (१४० १००) पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त ६६ ००० (११२८८), सिन्ध ६६,००० (१२६,८००) उड़ीसा ६६ ००० (१०३,०००)।

२ सिन्ध के प्रधान मन्त्री खान बहादुर अल्लाबख्श की पदच्युति ने जब कि उन्हें प्रान्तीय विधान मण्डल का विश्वास प्राप्त था गवनर की पदच्युत करने की शक्ति की वास्तविकता को सिद्ध कर दिया।

थी—(१) प्रान्तीय विधान मण्डल का आमन्त्रण और स्थगन तथा विधान सभा का विघटन, (२) प्रान्तीय विधान मण्डल में कतिपय विशेष प्रकार के विधेयकों की पुनःस्थापना के लिए पूर्व अनुमति देना (३) किसी विधेयक अथवा उसकी किसी धारा पर गवर्नर द्वारा विचार रोक देना (४) प्रान्तीय विधान मण्डलों द्वारा पास किए गए विधेयकों पर स्वीकृति देना, निषेधाधिकार का प्रयोग करना अथवा उन्हें गवर्नर जनरल के विचारार्थ सुरक्षित कर लेना तथा (५) अध्यादेश जारी करना और गवर्नर के अधिनियम अधिनियमित करना।

जहाँ तक वित्तीय क्षेत्र का सम्बन्ध है गवर्नर इस बात का निश्चय करने में कि कौन सा विषय मत सापेक्ष है और कौन सा नहीं। वह प्रान्तीय विधान मण्डल द्वारा कम या अस्वीकृत की गई किसी अनुदान माँग को यथापूर्व स्थापित करने में अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था।

धारा ९३—गवर्नर की जिन स्वविवेकी शक्तियों का ऊपर वर्णन किया गया है उनके अलावा १९३५ के अधिनियम की धारा ९३ ने गवर्नर को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वविवेकी शक्ति और प्रदान की थी। इसके अनुसार कार्य करते हुए गवर्नर इस बात की उद्घोषणा निकाल सकता था कि प्रान्त में संविधान के उपबन्धों के अनुसार शासन संचालित नहीं किया जा सकता। उद्घोषणा निकाल देने पर वह मन्त्रिपरिषद को पदच्युत कर सकता था, विधान सभा का विघटन कर सकता था और उच्च न्यायालय के सिवाय प्रान्तीय निकायों की समस्त शक्तियों को अपने हाथ में ले सकता था। नवम्बर १९३९ में जिन प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिए थे उनमें ऐसी उद्घोषणा के अधीन पूर्ण गवर्नरी शासन की स्थापना कर दी गई थी।

गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व—गवर्नर की स्वविवेकी शक्तियों द्वारा आवृत्त विषयों को छोड़कर बाकी विषय मन्त्रीय उत्तरदायित्व के क्षेत्र के भीतर आते थे। इन विषयों का प्रबन्ध गवर्नर उत्तरदायी मन्त्रियों की सहायता और मन्त्रणा से करता था। साधारण परिस्थितियों में गवर्नर से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा का पालन करे। लेकिन यहाँ भी उसके कई एक विशेष उत्तरदायित्व थे जैसे कि संघीय क्षेत्र में गवर्नर जनरल के थे। ये विशेष उत्तरदायित्व मुख्य रूप से निम्नलिखित थे—(१) प्रान्त या उसके किसी भाग में शान्ति भंग करने वाले खतरों का निवारण (२) अल्पसंख्यक वर्गों के उचित हितों, सरकारी नौकरों के कानूनी अधिकारों और उचित हितों तथा देशी राज्यों के अधिकारों और उनके नरेशों की प्रतिष्ठा की रक्षा करना (३) व्यापारिक विभेद की रोकथाम (४) साधारण ढंग से अपवर्जित क्षेत्रों का प्रशासन और (५) गवर्नर जनरल के आदेशों और अनुदेशों पर अमल करना जो वह उसके लिए जारी करे। जब कभी गवर्नर को यह अनुभव होता कि मन्त्रियों द्वारा दी गई मन्त्रणा उसके किसी विशेष उत्तरदायित्व पर प्रतिकूल प्रभाव

डालती है तो वह अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य कर सकता था अर्थात् मन्त्रियों के परामर्श का उल्लंघन कर सकता था। इस बात का निर्णय वह अपने व्यक्तिगत विवेक के अनुसार करता था कि उसका कोई विशेष उत्तरदायित्व कब अन्तर्ग्रस्त होता है। इसके अलावा प्रान्त के एडवोकेट जनरल को नियुक्त करने में व प्रान्तीय पुलिस के ऊपर असर डालने वाले नियमों का संशोधन करने में गवर्नर अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता था।

प्रान्तीय गवर्नरों की स्वविवेकी शक्तियाँ व विशेष उत्तरदायित्व उन रक्षा कवचों का निर्माण करते थे जिनका भारत के राष्ट्रीय जनमत ने तीव्र विरोध किया। शान्ति और सुरक्षा व अल्पसंख्यक वर्गों के उचित अधिकार जैसे वाक्यांश अस्पष्ट थे। इनके शब्दों का यह बतलाना कि इनका क्या अर्थ है गवर्नर का काम था। ये वाक्यांश ऐसे शब्द थे, जिनके द्वारा गवर्नर दिन प्रतिदिन के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकता था और उत्तरदायी शासन को उपहास का पात्र बना सकता था। अनुभव ने यह दिखा दिया कि इन विशेष शक्तियों के सम्बन्ध में भारत के राष्ट्रवादी लोकमत का यह डर कि गवर्नर इनका बारम्बार प्रयोग करेंगे बिलकुल निराधार नहीं था।

८६. मन्त्रि परिषद्

उत्तरदायी शासन का आधार—१९३५ के अधिनियम के अधीन प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना उत्तरदायी शासन प्रणाली की स्थापना की दिशा में एक कदम था। इस प्रकार की शासन प्रणाली के अन्दर कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग वस्तुतः कुछ मन्त्रियों द्वारा होता है जो प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में कार्य करते और व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं। ये मन्त्री अपनी नीतियों और कार्यों के लिए पूर्णतया विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं और उस समय तक सत्तारूढ़ रहते हैं जब तक कि वे विधान मण्डल के विश्वास का उपभोग करते हैं। ये विधान मण्डल भी निर्वाचकों के द्वारा और [illegible] सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित [illegible] जनता के प्रतिनिधि होते हैं अतः मन्त्री भी अप्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्दिष्ट होते हैं। यह बात इस प्रान्तीय शासन के ऊपर लागू होती है।

भारतीय प्रान्तों में उत्तरदायी शासन अपूर्ण था—१९३५ के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में स्थापित उत्तरदायी शासन दो दृष्टियों से अपूर्ण था। पहली बात तो यह है कि प्रान्तीय विधान मण्डल जो मन्त्रियों पर नियन्त्रण रखते थे समस्त जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे क्योंकि मताधिकार सीमित था और निर्वाचक मण्डल सम्प्रदायगत और वर्गगत आधार पर छोटे छोटे टुकड़ों में बाँट दिए गए थे। दूसरी बात यह है कि एक ओर मन्त्रियों को तो पूर्णतः विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया था, दूसरी ओर उनकी कार्यपालिका शक्ति को अनुत्तरदायी [illegible] की विशेष शक्तियों व उत्तरदायित्वों द्वारा परिमित कर दिया था।

मन्त्रि-परिषद की नियुक्ति—१९३५ के अधिनियम के अधीन गवर्नर अपने अनुदेश पत्र में दिए गए निर्देशों के अनुसार मन्त्रि परिषद की नियुक्ति करता था। विधान मण्डल में जिस दल का बहुमत होता था गवर्नर उसके नेता को आमन्त्रित करके मन्त्रिमण्डल की रचना का काम उसके जिम्मे छोड़ देता था। यह नेता मुख्य-मन्त्री बन जाता था। शेष मन्त्री मुख्य मन्त्री की मन्त्रणा पर गवर्नर द्वारा नियुक्त किए जाते थे।

मन्त्रिपरिषद में अल्पसंख्यक वर्गों का प्रतिनिधित्व—अनुदेश पत्र के एक उपबन्ध के सम्बन्ध में जिसमें गवर्नरों को निर्देश दिया गया था कि महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्गों के प्रतिनिधियों को जहाँ तक व्यावहारिक हो मन्त्रिमण्डल में स्थान दें कुछ मत भेद था। इसके साथ ही साथ अनुदेश-पत्र के अनुसार गवर्नर से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह संयुक्त उत्तरदायित्व की वृद्धि को प्रोत्साहित करे। स्पष्ट है कि बहुमत वाले दल में अल्पसंख्यक वर्गों का कोई निर्वाचित प्रतिनिधि शामिल नहीं होता था उस स्थिति में उक्त दोनों प्रतिबन्ध एक दूसरे के प्रतिकूल पड़ सकते थे। उन प्रान्तों में जिनमें कि कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हुआ यह समस्या नग्न रूप में उठ खड़ी हुई। उदाहरणार्थ यू० पी० में कांग्रेस ने केवल उन्हीं मुसलमानों को मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित करने का निश्चय किया जो उसकी शपथ पर हस्ताक्षर करने दल में शामिल होने और उसके कार्यक्रम को स्वीकार करने के लिए तैयार थे। मुस्लिम लीग ने विधान मण्डल में कई मुस्लिम स्थानों पर कब्जा कर लिया था। उसने इन शर्तों के ऊपर कांग्रेस के साथ सहयोग करना अस्वीकार कर दिया। फलतः केवल उन्हीं मुसलमानों को मन्त्रिमण्डल में स्थान दिया गया जो कि कांग्रेस दल के सदस्य थे। मुस्लिम लीग ने इस कृत्य के विरुद्ध इस आधार पर कि कांग्रेस के मुसलमानों को विधान मण्डल के मुस्लिम सदस्यों के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है और इसलिए वे जाति के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं गवर्नर से अपील की। लेकिन चूंकि कांग्रेस दल को विधान मण्डल का समर्थन प्राप्त था इसलिए गवर्नर ने इस मामले में हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया।

मन्त्रियों की पदच्युति—१९३५ के अधिनियम ने यह भी निर्धारित कर दिया कि मन्त्री गवर्नर के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करेंगे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि गवर्नर चाहता तो मन्त्रियों को अपदस्थ कर सकता था। लेकिन जैसे उत्तरदायी शासन में इस कानूनी अधिकार का केवल प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर ही प्रयोग किया जाता है और जहाँ तक प्रधान मन्त्री का सम्बन्ध है जब तक वह विधानमण्डल का विश्वासपात्र है उसे अपदस्थ नहीं किया जा सकता। इंगलैण्ड में यही स्थिति है। वहाँ सम्राट स्वेच्छानुसार मन्त्रियों को अपदस्थ करने की अपनी सैद्धान्तिक शक्ति का कदापि प्रयोग नहीं करता। भारतवर्ष के प्रान्तीय गवर्नरों की साधारण प्रवृत्ति तो यही थी कि उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों का पालन किया जाए लेकिन कुछ गवर्नरों ने स्वेच्छाचारी शासकों की तरह काम किया। उदाहरणार्थ सिंध के प्रधान मन्त्री अल्ला बख्श

के मामले में वहाँ के गवर्नर ने पदच्युति की अपनी शक्ति का सर्वथा अवधानिक रीति से प्रयोग किया था।

मन्त्रियों की संख्या का प्रश्न—१९३५ के अधिनियम ने मन्त्रियों की संख्या के सम्बन्ध में कोई सीमा निश्चित नहीं की। दलगत राजनीति की आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न प्रान्तों में मन्त्रियों की संख्या भिन्न भिन्न थी। उदाहरणार्थ एक समय बंगाल में मन्त्रियों की संख्या सबसे अधिक (१२) और उड़ीसा में सबसे कम (३) थी।

संसद सचिव—यद्यपि संविधान ने संसद-सचिवों के लिए कोई उपबन्ध नहीं किया था लेकिन अधिकांश प्रान्तों में कई संसद-सचिव नियुक्त किए गए। संसद-सचिव बहुमत वाले दल के सदस्य होने के नाते राजनीतिक कार्यपालिका के एक मुख्य भाग होते थे। वे मन्त्रियों को उनके संसदीय और प्रशासनिक कार्य में सहायता देते थे और उनका भार काफी हल्का कर देते थे। इस प्रणाली ने युवक राजनीतिज्ञों को उपयोगी शिक्षा प्रदान की, ये ही लोग आगे चलकर कुशल मन्त्री हो सकते थे। कांग्रेस प्रान्तों में संसद सचिव २५० रु० प्रतिमास वेतन पाता था।

८७ प्रान्तीय विधान मण्डल

छः प्रान्तों में द्वितीय सदन—१९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अधीन प्रान्तीय विधानमण्डल सम्राट के प्रतिनिधि गवर्नर और विधान मण्डल के एक या दो सदनों से मिलकर बनता था। ग्यारह प्रान्तों में से छः[1] द्विसदनात्मक विधान मण्डल थे। द्विसदनात्मक विधान मण्डल वाले प्रान्त का उच्च सदन विधान-परिषद् कहलाता था। ऐसे प्रान्तों के निम्न सदन अथवा दूसरे प्रान्तों के विधान मण्डल विधान सभाओं के नाम से प्रख्यात थे। आकार की दृष्टि से विधान परिषदें विधान सभाओं की तुलना में बहुत छोटी होती थीं। वे स्थायी निकाय थीं उनका विघटन नहीं हो सकता था। सदस्यों का निर्वाचन ६ वर्ष के लिए होता था तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष हट जाते थे। द्वितीय सदनों की शक्तियाँ निम्न सदनों के समकक्ष ही थी, अन्तर केवल इतना था कि धन विधेयक केवल निम्न सदनों में ही पुनःस्थापित किए जा सकते थे और अनुदान माँगों के सम्बन्ध में उच्च सदन सर्वथा शक्तिहीन थे।

उनकी क्यों स्थापना की गई—प्रान्तों में उनकी स्थापना को भारतीयों ने सन्देह की दृष्टि से देखा। सर तेजबहादुर सप्रू ने कहा था कि वे प्रतिक्रियावादी सिद्ध होंगे और प्रगतिशील व्यवस्थापन के मार्ग में रोड़े अटकायेंगे। यह भी अनुभव किया गया कि वे सर्वथा अनावश्यक थे क्योंकि विधान मण्डलों द्वारा जल्दी में और बिना ठीक से सोचे समझे पास किये गये कानूनों के ऊपर गवर्नर की शक्तियाँ पर्याप्त अंकुश रख लेती थीं। ये भय जन्य थे लेकिन जहाँ तक वास्तविकता का प्रश्न है लोकतन्त्र के उद्देश्य की प्रतिष्ठापिता के इन भयों ने कोई हानि नहीं पहुँचाई क्योंकि द्विसदनात्मक विधान मण्डलों वाले लगभग सभी प्रान्तों में कांग्रेस ने पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया

---

[1] छः प्रान्त—आसाम, बंगाल, बिहार, बम्बई, मद्रास और यू० पी० थे।

और उन संयुक्त बैठकों में जिनका संविधान ने दोनों सदनों का गतिरोध दूर करने के लिये उपबन्ध किया था निम्न सदन के प्रगतिशील तत्व उच्च सदन के प्रतिगामी तत्वों को अधिक राय से हरा सकते थे।

विधान सभा उसका गठन—विधान सभा का आकार अलग अलग प्रान्तों में अलग अलग था। उदाहरणार्थ यू पी की विधान सभा में पृथक साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक मण्डलों के आधार पर निर्वाचित २२८ सदस्य थे। विभिन्न वर्गों और जातियों के बीच स्थानों का वितरण निम्न प्रकार से किया गया था—साधारण (जिसमें अनुसूचित जातियों के २० स्थान भी शामिल थे) १४०, मुस्लिम ६४, यूरोपियन २ आंग्ल ईसाई २ आंग्ल भारती १ वाणिज्य और उद्योग ३ भू-स्वामी ६ विश्वविद्यालय १ श्रम ३ स्त्रियां ६ (चार हिन्दू और दो मुस्लिम)।

उसकी अवधि—विधान सभा की अवधि ५ वर्ष की थी लेकिन गवर्नर उसकी पूरी अवधि की समाप्ति के पूर्व भी उसका विघटन कर सकता था। द्वितीय विश्व युद्ध के बीच गवर्नरों को इस बात की विशेष रूप में शक्ति दे दी गई थी कि वे युद्ध की समाप्ति तक के लिए प्रान्तीय विधान सभाओं की अवधि बढ़ा दें। सभा अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती थी।

कानून निर्माण करने की शक्तियाँ—प्रान्तीय विधान मण्डल चाहे वह एक सदनात्मक होता अथवा द्विसदनात्मक प्रान्तीय सूची में गिनाए गए समस्त विषयों पर कानून बनाने के लिए सक्षम था। वह समवर्ती सूची के विषयों पर भी कानून बना सकता था लेकिन इसमें एक शर्त थी और वह यह कि यदि प्रांतीय कानून उसी विषय से सम्बद्ध केन्द्रीय कानून के प्रतिकूल पड़ता तो वह विफल हो जाता था और उसके स्थान पर केन्द्रीय कानून प्रभावी होता था। गवर्नर की विशेष शक्तियों के कारण प्रांतीय विधान मण्डल की विधायी शक्तियों के ऊपर कई प्रतिबन्ध लगे हुए थे। कतिपय विधेयकों की पुनःस्थापना के लिए उसकी पूर्व अनुमति आवश्यक थी। वह निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था और उसे वे स्वतन्त्र विधायिनी शक्तियाँ प्राप्त थी जिनके द्वारा वह विधानमण्डल की सहमति के बिना ही अध्यादेश और गवर्नर के अधिनियम जारी कर सकता था।

वित्तीय शक्तियाँ—प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना के साथ ही साथ प्रान्तीय विधान मण्डल की वित्तीय शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई। यदि विधान मण्डल द्विसदनात्मक होता तो यह आवश्यक था कि वार्षिक बजट दोनों सदनों के सम्मुख रखा जाय लेकिन अनुदान माँगों पर मतदान देने का अधिकार केवल विधान सभा को प्राप्त था। मत सापेक्ष अनुदान माँगों का अनुपात लगभग ७५ प्रतिशत था।

प्रशासन के ऊपर नियन्त्रण—प्रान्तीय विधानमण्डल प्रान्तीय प्रशासन के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण रखता था। मन्त्रिमण्डल के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके वह उसे त्यागपत्र देने के लिए विवश कर सकता था। वह सरकार की भूलों को प्रकट

कर सकता था, उसकी नीतियों का निरनुमोदन कर सकता था और प्रश्नों अनुपूरक प्रश्नों कामरोको प्रस्तावों और बजट वाद विवादों के द्वारा जनता की शिकायतों को सरकार के कानों तक पहुँचाया जा सकता था।

८८ मताधिकार और निर्वाचक मण्डल

साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक मण्डल—मॉटफोर्ड सुधारों की तरह १९३५ के अधिनियम के अधीन भी भारत की निर्वाचन पद्धति जातियों वर्गों और हितों के सिद्धान्त के ऊपर आधारित थी। अब तक जो पृथक साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक मण्डल वर्तमान थे, उनमें श्रम और स्त्रियों के लिए और निर्वाचक मण्डल जोड़ दिए गये।

प्रतिनिधित्व में गुरुभार—प्रतिनिधित्व में गुरुभार की पद्धति भी बनी रही। मुसलमानों की आबादी मद्रास में ७ १% और यू० पी० में १४ ८ प्रतिशत थी परन्तु उन्होंने मद्रास में १ प्रतिशत और यू० पी० में २७ प्रतिशत स्थान प्राप्त किए। यूरोपियनों के साथ विशेष रूप से पक्षपात किया गया। उनकी जनसंख्या १ प्रतिशत की १/ ४ थी परन्तु उन्हें प्रान्तीय विधान मण्डलों में ३ प्रतिशत और प्रस्तावित संघीय सभा में साढ़े पाँच प्रतिशत स्थान दिए गए।

कुल निर्वाचक—१९३५ के अधिनियम ने सम्पत्ति और शिक्षा विषयक अहर्ताओं में कमी करके १९१९ के अधिनियम के ऊपर कुछ सुधार किया था। फलतः साढ़े तीन करोड़ व्यक्तियों ने जिनमें ६० लाख स्त्रियाँ थीं मतदान का अधिकार प्राप्त किया। मांटफोर्ड सुधारों के अधीन भारत की कुल जनसंख्या के केवल साढ़े तीन प्रतिशत भाग को ही मतदान का अधिकार प्राप्त था लेकिन १९३५ के अधिनियम के अधीन भारत की कुल संख्या के १४% अथवा कुल वयस्क जनसंख्या के २७/ भाग को मतदान का अधिकार मिल गया।

८९ गृह सरकार

एक औपचारिक परिवर्तन—१९३५ के अधिनियम ने गृह सरकार में थोड़े से औपचारिक परिवर्तन किए। अधिनियम ने भारत के प्रशासन के ऊपर भारत मन्त्री का निरीक्षण निर्देशन और नियन्त्रण की शक्ति का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। यह शक्ति अब सम्राट में निहित कर दी गई। लेकिन यह परिवर्तन नाममात्र का था। यद्यपि सम्राट अग्रभूमि में आ गया लेकिन व्यवहार में उसकी शक्ति का प्रयोग भारत मन्त्री ही करता रहा। जब कभी गवर्नर जनरल और गवर्नर अपने विवेक के अनुसार आचरण करते थे अथवा अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करते थे, उस समय भारत मन्त्री उनका निरीक्षण और नियन्त्रण करता था। अधिनियम ने भारतीय परिषद का उत्सादन कर दिया।

भारत मन्त्री के परामर्शदाता—अधिनियम ने भारत मन्त्री की सहायता के लिए तीन से न्यून और ६ से अनधिक परामर्शदाताओं की व्यवस्था की। कम-से कम

आधे परामर्शदाताओं के लिए यह आवश्यक था कि वे नियुक्ति से पूर्व दस वर्ष तक भारत में नौकरी कर चुके हों और उन्हें भारतवर्ष छोड़े दो वर्ष से अधिक न हुए हों। परामर्शदाता पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किए जाते थे और १ ८० पौंड वार्षिक वेतन प्राप्त करते थे। जिन परामर्शदाताओं का निवास स्थान भारत में था उन्हें वेतन के अतिरिक्त ६०० पौंड वार्षिक भत्ता मिलता था। इस व्यय का भार इंग्लैण्ड के कोष पर था भारत के कोष पर नहीं। भारत मंत्री परामर्शदाताओं से व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से जैसे चाहता परामर्श कर सकता था पर न वह उनके परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं था।

सारांश

१६ ५ के भारत सरकार अधिनियम का भारत के राष्ट्रवादी लोकमत ने तीव्र विरोध किया और उसे एक प्रतिगामी कानून बताया। इस अधिनियम ने वास्तविक सत्ता भारतीय जनता को न सौंपकर ब्रिटिश अधिकारियों के ही हाथों में रहने दी। उसने केन्द्र में द्वैध कार्यपालिका की पुनःस्थापना करके आंशिक उत्तरदायी शासन का सूत्रपात किया और एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया। प्रान्तों में उसने द्वैध शासन प्रणाली का उत्पादन कर दिया और प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना की जिसके ऊपर कई कठोर प्रतिबन्ध लगे हुए थे। संघीय सिद्धान्त के अनुरूप ही अधिनियम ने तीन सूचियों में केन्द्र और प्रान्तों के बीच शक्तियों का विशद रूप से विभाजन किया। इसके अलावा उसने एक संघीय न्यायालय की स्थापना के लिए उपबन्ध किया।

१६३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ में सर्वमान्य की समस्त प्रामिक विशेषताएं पाई जाती थीं लेकिन कुछ दृष्टियों से वह बिलकुल बेजोड़ था। भारतवर्ष में उसका चारों ओर से विरोध किया गया और उसे प्रतिक्रियावाद की शक्तियों को सुदृढ़ करने का एक प्रयास बताया गया। संघ निर्माण की असाधारण प्रक्रिया के अलावा एककों में किसी प्रकार की एकरूपता नहीं थी। प्रस्तावित संघ न्यूनाधिक रूप से लोकतन्त्रात्मक प्रान्तों के स्वेच्छाचारी ढंग से शासित राज्यों का एक अस्वाभाविक गठबन्धन होने को था। प्रान्तों और राज्यों के सम्बन्ध में संघीय सरकार को समान सत्ता प्राप्त होने की नहीं थी। प्रान्त तो संघ में स्वतः ही सम्मिलित होने को थे लेकिन राज्यों का प्रवेश उनके शासकों की इच्छा पर निर्भर था। संघीय विधान मण्डल के उच्चसदन में प्रस्तावित संघ के अवयवी एककों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया और उनके प्रतिनिधि शासकों द्वारा मनोनीत होने को थे। स्वयं संघीय विधान मण्डल के लिए ही विलक्षण गठन का प्रस्ताव किया गया। उसका निम्न सदन परोक्ष रीति से निर्वाचित होने को था।

प्रस्तावित संघीय कार्यपालिका द्वैध होने को थी। प्रतिरक्षा वैदेशिक मामलों धार्मिक मामलों और कबाइली इलाकों को सुरक्षित विषय माना गया था। इसका

शासन प्रबन्ध गवर्नर जनरल तीन कार्यकारी परिषदों की सहायता से करने को था। शेष विषयों का शासन प्रबन्ध गवर्नर जनरल उन मन्त्रियों की सहायता से करने को था जो विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी थे। लेकिन मन्त्रीय क्षेत्र में भी गवर्नर जनरल के कई एक विशेष उत्तरदायित्व थे जिनका प्रबन्ध करने में वह अपने व्यक्तिगत निर्णय को प्रयोग कर सकता था। इस प्रकार गवर्नर जनरल किसी प्रकार एक वैधानिक शासक नहीं था। कार्यकारी, विधायी और वित्तीय क्षेत्रों में वह विशाल वास्तविक शक्तियों का उपभोग करता था।

संघीय विधान मण्डल द्विसदनात्मक होने को था। उच्च सदन (राज्य परिषद) में २६० सदस्य होने को थे जिनमें १०४ सदस्य राज्यों का प्रतिनिधित्व करने को थे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों में से ६ तो गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत होने को थे और शेष १५० सदस्य साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक मण्डलों के द्वारा प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित होने को थे। निम्न सदन (संघीय सभा) के सदस्यों की संख्या ३७५ निश्चित हुई थी। ब्रिटिश भारत के २५० सदस्य परोक्ष रीति से निर्वाचित होने को थे। संघीय विधानमण्डल प्रभुत्व शक्ति विहीन कानून निर्मात्री निकाय था। उसकी विधायिनी और वित्तीय सत्ताएँ गवर्नर जनरल की विशेष शक्तियों के अधीन थीं।

संघीय न्यायालय में जिसका उद्घाटन १ अक्टूबर १९३७ को हुआ, एक मुख्य न्यायाधिपति और दो दूसरे न्यायाधीश सम्मिलित थे। इसे प्रारम्भिक, अपीलीय और परामर्शीय क्षेत्राधिकार प्राप्त था। लेकिन वह सर्वोच्च न्यायालय नहीं था क्योंकि उसके पास से अपीलें प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति के पास भेजी जा सकती थीं।

१९३५ के अधिनियम ने प्रान्तों को एक नया वैधानिक स्टेटस प्रदान किया जिसे प्रान्तीय स्वायत्तता के नाम से अभिहित किया गया। इसके दो अर्थ थे—(क) प्रान्तीय सरकारों को अपने उल्लिखित क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से मुक्ति प्राप्त हो और (ख) प्रान्तों में पूरे पैमाने पर उत्तरदायी शासन की स्थापना हो। लेकिन व्यवहारतः प्रान्तीय स्वायत्तता इन दोनों में से एक भी अर्थ में पूर्ण या सच्ची नहीं थी। केन्द्रीय सरकार कई रीतियों से प्रान्तीय सरकारों के क्षेत्र को अतिक्रान्त कर सकती थी। इसके अलावा प्रान्तों का उत्तरदायी शासन गवर्नरों व गवर्नर जनरल की विशेष शक्तियों के कारण अत्यन्त सीमित हो गया था।

गवर्नर जनरल की तरह प्रान्तीय गवर्नर भी वास्तविक शासक था। उसे पर्याप्त स्वविवेक शक्तियाँ और विशेष उत्तरदायित्व प्राप्त थे। कार्यकारी विधायी और वित्तीय मामलों में वह कई अवसरों पर अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था। अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर और अध्यादेश व गवर्नर के अधिनियम जारी करके वह विधान मण्डल की इच्छा को अवरुद्ध कर सकता था।

गवर्नर प्रान्त का प्रशासन मन्त्रि-परिषद् की सहायता और मन्त्रणा से करता था। साधारणतः उससे यह आशा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा के

अनुसार कार्य करेगा। लेकिन यदि गवर्नर को यह मान होता कि मंत्रियों द्वारा दी गई मन्त्रणा का उसके किसी विशेष उत्तरदायित्व के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है उस दशा में वह अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता था। मन्त्री सामूहिक रूप से प्रान्तीय विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी थे। लेकिन वे गवर्नर के द्वारा भी अपदस्थ किए जा सकते थे उदाहरणार्थ सिन्ध के प्रधान मन्त्री के०बी० अल्लाबख्श को वहाँ के गवर्नर ने पदच्युत कर दिया था। यह उत्तरदायी शासन की प्रवंचना थी।

प्रान्तीय विधान मण्डल को प्रान्तीय सूची व समवर्ती विषयों पर कानून बनाने का अधिकार था। वह समवर्ती सूची के विषयों पर भी कानून बना सकता था लेकिन इसमें एक शर्त थी और वह यह कि प्रान्तीय विधानमण्डल द्वारा पास किया गया कोई कानून यदि केन्द्रीय विधानमण्डल द्वारा उसी विषय पर पास किए गए किसी कानून के प्रतिकूल पड़ता तो उस स्थिति में केन्द्रीय विधान मण्डल द्वारा पास किया गया कानून ही प्रभावी हो सकता था। प्रान्तीय विधानमण्डल में सर्वशक्तिमत्ता गवर्नर की विशेष शक्तियों द्वारा मर्यादित थी। १९३५ के अधिनियम ने प्रान्तीय मताधिकार को विस्तृत कर दिया और मतदान का अधिकार ब्रिटिश भारत की १४ प्रतिशत जनसंख्या को प्रदान किया।

गृह सरकार में अधिनियम ने कुछ ही औपचारिक परिवर्तन किए। भारतीय परिषद का उन्मूलन कर दिया गया और भारतीय मन्त्री की सहायता के लिए छः से अनधिक व तीन से न्यून परामर्शदाता नियुक्त किए गए।

यह स्मरणीय है कि प्रस्तावित संघ की स्थापना नहीं की गई और १९३५ के अधिनियम का केवल प्रान्तीय भाग ही १ अप्रैल १९३७ को कार्यरूप में परिणत किया गया।

अध्याय १२

प्रान्तीय स्वायत्तता पर आचरण

६० निर्वाचन (फरवरी १६३७)

प्रान्तीय स्वायत्तता का उदघाटन—पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम का भारतीय लोकमत के सभी महत्वपूर्ण वर्गों ने तिरस्कार किया। अधिनियम द्वारा प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ ने व्यापक विरोध को जन्म दिया। १९३० में ब्रिटिश सरकार के अनुशासित दासों, अर्थात् देशी नरेशों ने संघीय विचार का जोर शोर से अनुमोदन किया था लेकिन अब उन्होंने भी उसकी ओर से पीठ मोड़ ली। फलत अधिनियम के संघीय भाग को स्थगित कर दिया गया क्योंकि अखिल भारतीय संघ की रचना उस समय तक सम्भव नहीं थी जब तक कि कम से-कम इतने राज्य जिनकी जनसंख्या संघ राज्यों की कुल जनसंख्या की आधी हो और जो संघीय विधानमण्डल के उच्च सदन में समस्त राज्यों के लिए निश्चित कुल स्थानों में कम से कम आधे के अधिकारी हों, उसमें प्रविष्ट न हो जाए। अवसर आने पर नरेशों ने अपने भाग्य को शेष भारत के साथ संयुक्त करना अस्वीकार करके संघीय योजना की हत्या कर डाली। फिर भी अधिनियम के भाग ३ को (जो प्रान्तीय शासन से सम्बन्ध रखता था) कार्यरूप में परिणत किया गया और फरवरी १९३७ में प्रान्तीय विधानमण्डल के लिए सम्पन्न होने वाले साधारण निर्वाचनों के पश्चात् उसी वर्ष पहली अप्रैल को नवीन संविधान में निर्दिष्ट प्रान्तीय स्वायत्तता का उदघाटन किया गया। जुलाई १९३५ जब कि अधिनियम पास किया गया था और फरवरी १९३७ के बीच में निर्वाचन क्षेत्रों के निर्धारण मतदाता-सूचियों की तैयारी तथा प्रान्तों और केन्द्र के वित्तीय सम्बन्धों की आवश्यक अदल-बदल की प्रारम्भिक कार्यवाहियां पूरी कर ली गईं।

कांग्रेस १९३५ के सम्पूर्ण अधिनियम के विरुद्ध थी लेकिन उसने नए संविधान को नष्ट भ्रष्ट करने के उद्देश्य से निर्वाचनों में भाग लेने का निश्चय किया। मुस्लिम लीग ने संघ को तो अस्वीकार कर दिया लेकिन निर्वाचनों में प्रान्तीय विधान मण्डलों के लिए अपने प्रत्याशी खड़े करना तय किया। उदारवादियों ने अधिनियम में सीमित उपबन्धों का तीव्र विरोध किया लेकिन वे नए संविधान को एक बार अच्छी तरह से जांच कर लेने के पक्ष में थे। इस प्रकार निर्वाचनों के दौरान में भारत का प्रत्येक राजनीतिक दल मैदान में उपस्थित था।

निर्वाचन-परिणाम—निर्वाचन के परिणाम महत्वपूर्ण थे। छः प्रान्तों (मद्रास बिहार बम्बई यू० पी० सी पी और उड़ीसा) में जिनमें ब्रिटिश भारत की दो तिहाई जनसंख्या आ जाती थी कांग्रेस ने पूर्ण बहुमत प्राप्त किया। आसाम में उसने

१०८ स्थानों में से ३५ पर अधिकार कर लिया और वह सबसे शक्तिशाली दल के रूप में अवतरित हुई। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में कांग्रेस को ५० में से १९ स्थान मिले। मुस्लिम लीग समस्त प्रान्तों के ४०० मुस्लिम स्थानों में से केवल ५१ ही प्राप्त कर सकी।

६१ पद ग्रहण

कांग्रेस में मतभेद—निर्वाचनों के पश्चात् कांग्रेस के सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि पद ग्रहण किया जाय या नहीं। छः प्रान्तों में तो उसका पूर्ण बहुमत था और शेष प्रान्तों में से कुछ में वह मन्त्रिमण्डल बनाने की स्थिति में थी। कांग्रेस का वामपक्ष कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की रचना का घोर विरोधी था। जवाहरलाल नेहरू ने यहां तक कह दिया कि पद-ग्रहण उस ध्येय के प्रति विश्वासघात होगा जिसे हमने स्वीकार किया है।' सुभाष बोस के मतानुसार पद-ग्रहण पराजय की स्वीकारोक्ति के तुल्य था। कांग्रेस के समाजवादी और साम्यवादी गुटों ने सदस्य के कार्यक्रम का समर्थन किया लेकिन बहुमत दक्षिणपंथियों का था जिनके नेता सरदार पटेल राजगोपालाचारी और राजेन्द्रप्रसाद थे। दक्षिणपंथियों को महात्मा गांधी का भी मौन समर्थन प्राप्त था। मार्च १९३७ में दिल्ली में कांग्रेस महासमिति की बैठक हुई। उसमें दक्षिण पंथियों ने वामपक्षियों को बहुमत से हरा दिया और अन्तिम रूप से यह निश्चित किया गया कि उन प्रान्तों में जहां विधानमण्डलों में कांग्रेस का बहुमत है और जहां कांग्रेस दल के नेता को इस बात का सुस्पष्ट आश्वासन मिल जाय कि गवर्नर मन्त्रियों के वैधानिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाया जा सकता है।

कांग्रेस द्वारा गवर्नरों से आश्वासन की मांग—कांग्रेस इस परम्परा का विकास करना चाहती थी कि गवर्नर को विशेष शक्तियों के सम्बन्ध में भी मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण होना चाहिए। कांग्रेस ने साफ साफ शब्दों में यह मांग की कि गवर्नरों को उस समय भी जब कि संविधान के अधीन उनसे यह अपेक्षा की जाती हो कि वे व्यक्तिगत विवेक के अनुसार कार्य करें मन्त्रियों के परामर्श पर ही कार्य करना चाहिए। चूंकि गवर्नर उक्त आश्वासन देने के लिए तैयार नहीं हुए अतः जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था वहां के विधानमण्डलों के कांग्रेस दल के नेता ने मन्त्रिमण्डल बनाने का आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। ब्रिटिश अधिकारियों ने यह दृष्टि बिन्दु ग्रहण किया कि इस प्रकार का आश्वासन संविधान में संशोधन किए बिना नहीं दिया जा सकता था इसके विपरीत महात्मा गांधी ने कहा कि संविधान में ऐसी कोई चीज नहीं है जो गवर्नरों को अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग मन्त्रियों के परामर्श पर करने से रोकती हो। उनका मत था कि १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत आवश्यक अभिसमय विकसित किए जा सकते हैं। चूंकि इस वाद विवाद ने कानूनी रूप धारण कर लिया था अतः बहुत से प्रसिद्ध विधिवेत्ताओं ने इसमें भाग लिया। प्रख्यात विधान शास्त्री प्रो० कीथ ने कांग्रेस के दृष्टिकोण का समर्थन किया।

अन्तरिम मन्त्रिमण्डल—जिस समय यह वाद विवाद चालू था और छः प्रान्तों में कांग्रेस ने पद ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया, गवर्नरों ने अल्पसंख्यक दलों के नेताओं द्वारा निर्मित मन्त्रिमण्डलों को प्रतिष्ठापित कर दिया। ये अलोकप्रिय मन्त्रिमण्डल विधान मण्डल का सामना नहीं कर सकते थे और न ही अपने बजट पास करा सकते थे। गतिरोध तीन महीने तक चलता रहा। धीरे धीरे दोनों विरोधी पक्षों (सरकार और कांग्रेस) ने अपने दृष्टिकोण को नरम किया।

समझौता—जुलाई में गवर्नर जनरल ने यह घोषणा की कि भारतीय जनता मुझ पर इस बात का भरोसा रख सकती है कि मैं भारत में संघीय शासन के सिद्धान्तों की पूर्ण और चरम स्थापना के लिए अनवरत गति से कार्य करूंगा।' यद्यपि कोई स्पष्ट वचन तो नहीं दिया गया किन्तु लार्ड लिनलिथगो ने यह कह दिया था कि दिन प्रतिदिन के प्रशासन में गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग नहीं करेंगे। वायसराय के वक्तव्य ने कोई वैधानिक आधार नहीं छोड़ा।[1] किन्तु कांग्रेस ने उसके सान्त्वनामूलक स्वर का मित्रतायुक्त जवाब दिया। ७ जुलाई १९३७ को कांग्रेस कार्यकारिणी ने एक ओर नए अधिनियम से भिड़न्त और दूसरी ओर (सामाजिक सुधार के) रचनात्मक कार्यक्रम को चलाने के लिए।[2] कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाने की आज्ञा दे दी। कांग्रेस के यह निर्णय करने पर अन्तरिम मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिए और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल सत्तारूढ़ हो गए। कुछ काल पश्चात् आसाम और उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त में भी कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बन गए।

९२ कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता पर आचरण

शासकों के रूप में राजद्रोही—पद ग्रहण के साथ साथ कांग्रेस ने युद्धों अथवा और कारावास के पुराने युग के स्थान पर रचनात्मक राजनीतिज्ञता के एक नवीन युग में पदार्पण किया।[3] अब तक जो राजद्रोही रहे थे, वे शासकों के रूप में अवतरित हुए और इस क्षमता में उन्होंने अपने नौकरशाही विरोधियों गवर्नरों और आई० सी० एस० पदाधिकारियों के साथ मिलकर काम किया। आठ प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल उस समय तक सत्तारूढ़ रहे जब तक कि द्वितीय विश्वयुद्ध के सूत्रपात पर उन्होंने त्यागपत्र नहीं दे दिए।

गवर्नरों का नियत कम विशेष शक्तियों का यदा कदा प्रयोग—कांग्रेसी नेताओं का यह भय कि गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का अत्यधिक प्रयोग करेंगे कुछ अतिशयोक्ति सा सिद्ध हुआ। यह भी नहीं है कि गवर्नर वैधानिक प्रधानमात्र हो गए हों। वे सक्रिय शासक बने रहे। यदि उनमें और मन्त्रियों में मतभेद होने के बहुत कम अवसर आए तो इसका श्रेय उन दोनों को ही समान रूप से जाता है। मन्त्रियों और

---

१ कूपलैण्ड—'इण्डिया ए रिस्टेटमेंट' पृ० १५६।

२ जवाहरलाल नेहरू—'दी यूनिटी ऑफ इण्डिया' पृ० ५६।

३ पट्टाभि सीतारामय्या—'दी हिस्ट्री ऑफ दी नेशनलिस्ट मूवमेंट' पृ० ६०।

गवर्नरों दोनों ने ही अत्यन्त सतर्कतापूर्वक काम किया। रक्षा-कवच रद्द नहीं किए गए। वे सब हो मन्त्रियों और गवर्नर के वाद विवादों की पृष्ठभूमि में रखे थे। कई अवसरों पर उनका प्रयोग भी किया गया। १९३८ के प्रारम्भ में यू० पी० और बिहार में राजनीतिक बन्दियों को मुक्त करने के प्रश्न पर मन्त्रियों और गवर्नरों में मतभेद उत्पन्न हो गया। गवर्नर जनरल ने संविधान की धारा १२६ के अधीन सम्बद्ध गवर्नरों को यह अनुदेश दे दिया कि वे अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा को न मानें क्योंकि इससे अमन और चैन बनाए रखने के उसके विशेष उत्तरदायित्व पर असर पड़ता है। इस पर मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफे दे दिए लेकिन अन्ततोगत्वा यह गतिरोध समझौते की बातचीत के द्वारा तय हो गया। सन्तोषजनक हल खोज निकाला गया और मन्त्रि-मण्डलों ने पुनः काम सम्हाल लिया। उड़ीसा में इसी प्रकार का संकट एक अस्थायी नौकरशाही पदाधिकारी की गवर्नर के पद पर नियुक्ति को लेकर उठ खड़ा हुआ लेकिन स्थिति को स्थायी गतिरोध का रूप धारण करने से रोक लिया गया। व्यवस्थापन के क्षेत्र में गवर्नरों ने केवल चार बार ही निषेधाधिकार का प्रयोग किया।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की शक्ति—यह स्मरणीय है कि कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता की तुलनात्मक रूप से सफलता का कारण विधानमण्डलों में कांग्रेस दलों की शक्ति और अनुशासन था। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को जिस विशाल बहुमत का समर्थन प्राप्त था गवर्नर उसकी महत्ता को समझते थे और निपट दूरदर्शिता के कारण वे लोकतन्त्र की शक्तियों के साथ रोज रोज के संघर्षों से बचने के लिए बाध्य थे।

केन्द्रीय कांग्रेस का नियन्त्रण—कांग्रेस दलों की अनुशासित शक्ति का कारण केवल उनका स्थायी बहुमत ही नहीं था अपितु केन्द्रीय कांग्रेस संगठन और उसके संसदीय बोर्ड का एकात्मक नियन्त्रण भी था। कूपलैण्ड के मत में कांग्रेस की एकात्मक नीति प्रान्तीय स्वायत्तता और उत्तरदायी शासन का उल्लंघन करती थी।[1] उसका कथन है कि कांग्रेस मन्त्रिमण्डल सम्बद्ध विधान मण्डलों के प्रति इतने उत्तरदायी नहीं थे जितने कि कांग्रेस केन्द्र के प्रति। इसके विपरीत कांग्रेस का विचार यह था कि संसदीय बोर्ड के प्रभाव ने स्वस्थ राष्ट्रीय दृष्टिकोण का संचार किया और संकुचित प्रान्तीयता की वृद्धि को रोका।

कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों की सफलताएं—अपनी पदारूढ़ि के अट्ठाइस महीनों में कांग्रेस ने कतिपय ऐसी सफलताएं प्राप्त की जिन पर वह गर्व कर सकती थी।[2] सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उन्होंने निर्वाचन घोषणा पत्र में दिए गए वचनों को पूरा करने की चेष्टा की। खेतिहरों की जमींदारों के अत्याचारों से रक्षा हो सके और वे ऋणग्रस्तता से छुटकारा पा सकें इसके लिए कई प्रान्तों में एक से सुधार हुए। शिक्षा

---

१ कूपलैण्ड— इण्डिया ए रिस्टेटमेंट पृ० १६१।

२ उपर्युक्त पुस्तक पृ० १६१।

के क्षेत्र में यू० पी० और बिहार में प्रशंसनीय तरक्की हुई। इन प्रांतों में अशिक्षा के उन्मूलन के लिए महात्मा गांधी की बुनियादी तालीम की योजना को अपनाया गया। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों ने ग्राम पुनर्गठन, कुटीर उद्योगों के विकास और ग्राम-पंचायतों के पुनरुत्थान की ओर भी ध्यान दिया। हरिजनों की दशा में सुधार करने के भी प्रयास किए गए। कांग्रेस कार्यक्रम में मद्य निषेध को मुख्य स्थान प्राप्त था। इस सुधार के पूर्ण प्रवर्तन का अभिप्राय यह था कि १८ करोड़ रुपयों के राजस्व का बलिदान कर दिया जाए। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत को नीरस कर देने की नीति एक ही दफ़ा में कार्यान्वित नहीं की जा सकती थी तथापि लगभग सभी कांग्रेस प्रांतों में इस नीति का श्रीगणेश कर दिया गया। बम्बई और मद्रास ने इस दिशा में नेतृत्व ग्रहण किया। मद्य शुल्क राजस्व की हानि को बिक्रीकर जैसे राजस्व के नए स्रोतों की उद्भावना करके और प्रशासन के व्यय में कमी करके पूरा किया गया।

६१ गैर-कांग्रेसी प्रांतों में प्रांतीय स्वायत्तता

उत्तरदायी शासन में गवर्नरों के हस्तक्षेप के दृष्टान्त—गैर कांग्रेसी प्रान्तों की हालत इतनी अच्छी नहीं थी। पंजाब को छोड़कर जहां यूनियनिस्ट मन्त्रिमण्डल ने स्थायी शासन का निर्माण किया था शेष प्रान्तों के मन्त्रिमण्डल दुर्बल और अस्थायी थे। गवर्नरों के स्वेच्छाचारी व्यवहार के उदाहरण रोज़ रोज़ देखने को मिलते थे। अक्टूबर १९४२ में सिंध के गवर्नर ने मुख्यमन्त्री खानबहादुर अल्लाबख्श को इस आधार पर पदच्युत कर दिया कि वह उसके विश्वास भाजन नहीं थे। यह उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध था क्योंकि पदच्युति के समय मुख्यमन्त्री को विधान मण्डल का समर्थन प्राप्त था। जुलाई १९४३ में बंगाल के मुख्यमन्त्री फजलुल हक को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया। मुख्यमन्त्री ने बाद में इस बात की शिकायत की थी कि, 'गवर्नर सम्पूर्ण विचार विनिमय पर एकाधिकार कर लेता था और अपने मन्त्रियों पर अपने निर्णय लाद देता था।' बंगाल के एक मन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने दिन प्रति दिन के प्रशासन में गवर्नर के हस्तक्षेप के कारण अपने पद से त्याग-पत्र देना आवश्यक समझा।

सारांश

१९३५ के अधिनियम का प्रांतीय भाग १ अप्रैल १९३७ को प्रवर्तन में आया। साधारण निर्वाचनों में जो उस वर्ष फरवरी में सम्पन्न हुए [illegible] प्रांतों में कांग्रेस ने पूर्ण बहुमत प्राप्त किया और दो प्रांतों में वह सबसे शक्तिशाली दलों के रूप में अवतरित हुई।

पद ग्रहण के प्रश्न पर कुछ मतभेद था। जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था वहाँ उसने उस समय तक मन्त्रि मण्डल बनाना अस्वीकार कर दिया जब तक कि गवर्नर

यह आश्वासन न दे दें कि वे अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग मन्त्रियों की मन्त्रणा पर नहीं करेंगे। गवर्नरों ने इस प्रकार का वचन देना अस्वीकार कर दिया फलतः कांग्रेस दलों के नेताओं ने मन्त्रिमण्डल बनाने के आमन्त्रण को ठुकरा दिया। इन प्रान्तों में अंतरिम मन्त्रिमण्डल को प्रतिस्थापित किया गया। जुलाई में कांग्रेस दल और सम्बद्ध गवर्नरों के एक समझौते के परिणामस्वरूप यह गतिरोध पूरा हो गया। फलतः कांग्रेस ने छः प्रान्तों में और बाद में आठ प्रान्तों में शासन-सूत्र को सम्हाल लिया।

कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। गवर्नर वैधानिक शासक तो नहीं बने लेकिन उन्होंने अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग बहुत कम अवसरों पर किया। गैर कांग्रेसी प्रान्तों में जिनमें पंजाब बंगाल या सिंध स्थिति दूसरी रही। इन प्रान्तों में गवर्नरों ने दिन प्रतिदिन के शासन में हस्तक्षेप किया।

अध्याय १३

महायुद्ध और वैधानिक गतिरोध

६४ भारत और महायुद्ध

वायसराय द्वारा भारत के युद्ध-ग्रस्त होने की घोषणा—३ सितम्बर १९३९ को द्वितीय विश्वयुद्ध का ज्वालामुखी फूट पड़ा। इस विस्फोट ने भारत में एक गम्भीर वैधानिक संकट उत्पन्न कर दिया। इंगलैण्ड ने नाजी जर्मनी के विरुद्ध लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लक्ष्य की घोषणा करके हथियार उठाये। वायसराय ने भारतीय जनता के उन प्रतिनिधियों को जो केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय विधान मण्डलों में थे बिना किसी प्रकार की सूचना दिए अथवा उनसे बिना किसी प्रकार की मन्त्रणा किए ही यह घोषणा कर दी कि भारत भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल है।

महात्मा गांधी का दृष्टिकोण—महात्मा गांधी को वायसराय ने एक 'इण्टरव्यू' के लिए आमन्त्रित किया। महात्मा जी ने कहा कि मेरी अपनी सहानुभूति तो इंगलैण्ड और फ्रांस के साथ है लेकिन उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह बात उन्होंने व्यक्तिगत रूप में कही थी कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में नहीं। कुछ समय बाद उन्होंने हरिजन में लिखा कि 'अंग्रेजों को जो भी सहायता दी जाए, वह बिना किसी शर्त के दी जानी चाहिए।'[1]

कांग्रेस की प्रतिक्रिया—कांग्रेस के ऊपर इसकी दूसरी प्रतिक्रिया हुई। जिस अलोकतन्त्रात्मक ढंग से भारत को युद्ध में झोंक दिया गया था, उसका कांग्रेस ने तीव्र विरोध किया। 'एक ऐसे उद्देश्य के लिए जो उसका अपना नहीं था एक ऐसे झण्डे के नीचे जिसने उसका अपना झण्डा गिरा दिया था और ऐसे नेताओं की अधीनता में जो उसके अपने नेताओं से सलाह लेना नहीं चाहते थे—भारत को क्या नैतिक उत्साह होता वह क्या सहायता प्रदान करता?'[2] जिस समय अप्रैल १९३० में भारतीय सैनिकों की एक टुकड़ी अदन में भेजी गई थी कांग्रेस ने सरकार को चेतावनी दे दी थी कि 'वह भारतीय जनता की सहमति के बिना भारत के ऊपर युद्ध थोपने और भारतीय साधनों के युद्ध में प्रयोग की समस्त चेष्टाओं का प्राण पण से विरोध करेगी।' सरकार ने इस चेतावनी पर कोई ध्यान नहीं दिया तथा अगस्त में और अधिक भारतीय सैनिकों को मिस्र और सिंगापुर भेज दिया। इसके

१ दी हरिजन २३, सितम्बर १९३९।

२ पट्टाभि सीतारामय्या—दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस भाग २ पृ० १२४५।

विरोधस्वरूप कांग्रेस ने अपने समस्त सदस्यों को केन्द्रीय विधान-सभा से हटा लिया और प्रान्तीय कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को आदेश दिया कि वे ब्रिटिश सरकार की तैयारियों में किसी प्रकार से कोई सहायता न दें।[1]

कांग्रेस का प्रस्ताव १४ सितम्बर १९३९—लेकिन इन सबसे महत्वपूर्ण भी जब भारत को युद्धग्रस्त घोषित किया गया भारतीय विधान मण्डलों से किसी प्रकार की मन्त्रणा नहीं की गई। 'अपनी सहमति के बिना और अपने प्रतिनिधियों के अनुमोदन के बिना भारत के लाखों स्त्री-पुरुषों ने स्वयं को युद्धग्रस्त पाया। ब्रिटिश संसद को उस संशोधन अधिनियम के पास करने में जिसने कि भारतीय जनता की स्वतन्त्रताओं को कुचलने के लिए उसके ब्रिटिश शासकों के हाथों में भयंकर व्यापक शक्तियाँ सौंप दीं केवल ११ मिनट का समय लगा। कांग्रेस ने अपने दृष्टिकोण को जवाहरलाल द्वारा तैयार किए गए और १४ सितम्बर १९३९ को पास किए गए कार्यसमिति के प्रस्ताव में स्पष्ट किया। कांग्रेस ने उस मनमाने ढंग के ऊपर क्षोभ प्रकट किया जिससे कि ब्रिटिश सरकार एक ऐसी लड़ाई में जो कि भारत की अपनी नहीं थी भारत को घसीटे ले जा रही थी। कांग्रेस ने यह साफ साफ कह दिया कि वह फासिज्म के विरुद्ध है और उस उद्देश्य की जिसको लेकर इंगलैण्ड और फ्रांस लड़ाई में प्रविष्ट हुए हैं प्रशंसा करती है। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था हम नाजियों की विजय नहीं चाहते थे और हमारी सहानुभूति पूर्णत उनकी ओर थी जिनके ऊपर आक्रमण किया गया था।[3]

युद्ध के उद्देश्यों की स्पष्ट करने की माँग—लेकिन इससे पूर्व कि भारत लोकतन्त्र की सहायता करता भारत में लोकतन्त्र की स्थापना होनी आवश्यक थी। हमारे आदेश पर स्वयं पराधीन वे (भारतीय) दूसरों को स्वतन्त्र करने के लिए कैसे संग्राम करते।[4] कांग्रेस प्रस्ताव ने ब्रिटिश सरकार से यह माँग की कि वह अपने युद्ध के उद्देश्यों को साफ साफ बतला दे और पूछा क्या इन उद्देश्यों में साम्राज्यवाद का उन्मूलन शामिल है? क्या ब्रिटिश सरकार भारत के प्रति एक ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्र का सा जिसकी नीति अपनी जनता की इच्छाओं के अनुसार संचालित हो व्यवहार करने के लिए तैयार है? कांग्रेस की माँग थी कि यदि इंगलैण्ड स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की रक्षा करने के लिए लड़ाई लड़ रहा है तो उसे भारत में भी स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की स्थापना करनी चाहिये। हमारे लिए स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं हो सकता यदि वह स्वयं हमें ही प्राप्त नहीं है।[5] कटु अनुभवों ने उसे सिखा दिया था कि ब्रिटिश सरकार या

१ 'एण्डियन एनुअल रजिस्टर १९३९' पृ० २१४।
२ एच०एन० ब्रेल्सफोर्ड— सब्जेक्ट इण्डिया पृ० ५३।
३ जवाहरलाल नेहरू— दी यूनिटी ऑफ इण्डिया, पृ० ३६१।
४ एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—वही पृ० ५४।
५ जवाहरलाल नेहरू— दी यूनिटी ऑफ इण्डिया', पृ० ३१४।

भारत सरकार के युद्धकालीन वचनों या वक्तव्यों पर विश्वास नहीं किया जा सकता।[1] फलत कांग्रेस ने माग की कि इगलण्ड को चाहिए कि वह भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर दे। इस माग का आशय यह था कि भारत को युद्ध के पश्चात् अपना सविधान बनाने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए और ब्रिटिश नेकनीयती के प्रमाणस्वरूप तुरन्त ही लोक शासन की स्थापना होनी चाहिए। किसी भी घोषणा की वास्तविक कसौटी उसका वर्तमानकालीन उपयोजन है।' कांग्रेस ने यह माग किसी सौदेबाजी की भावना से अनुप्राणित होकर नहीं की थी और न वह इगलण्ड की कठिनाई से अपना मतलब निकालने के लिए ही उत्सुक थी। भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा इसलिए आवश्यक थी कि भारत की जनता को उस लड़ाई के बारे मे जो कि उसकी अपनी नहीं थी उत्साह पैदा हो जाए। यदि सरकार ने ऐसी घोषणा नहीं की तो यह स्पष्ट था कि लड़ाई का उद्देश्य साम्राज्यवादी विशेषाधिकार को ज्यों का त्यों कायम रखना था इस प्रकार की लड़ाई से भारत को क्या लेना-देना था? भारत सहयोग देने को इच्छुक था लेकिन वह यह सहयोग बराबर के साथी की हैसियत से देना चाहता था।

उदारवादियों द्वारा कांग्रेस माग का समर्थन—यहां यह स्मरणीय है कि उदारवादियों ने भी कांग्रेस की माँग का समर्थन किया और सरकार से प्रार्थना की कि वह वर्तमान केन्द्रीय सरकार के स्थान पर जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने में शीघ्रता करे।

मुस्लिम लीग का दृष्टि बिन्दु—मुस्लिम लीग भी इगलण्ड को बिना किसी शर्त के सहायता देने के लिए तैयार नहीं थी। वह युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा के विरुद्ध नहीं थी लेकिन उसने यह स्पष्ट कर दिया था कि मुसलमानों के साथ पूरा न्याय होना चाहिये और सरकार को चाहिए कि वह उसकी रजामन्दी के बिना भारत को कोई आश्वासन न दे।

६५ सरकार का उत्तर और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का त्याग-पत्र

वायसराय की मुलाकातें और श्वेतपत्र—१७ अक्टूबर १९३९—कांग्रेस ने सरकार से जो आश्वासन मांगा था वह उसे नहीं मिला। सम्राट भारत मन्त्री और गवर्नर जनरल सबने वक्तव्य दिए लेकिन उनके वक्तव्यों में केवल पुरानी बातें दुहराई गई थीं और भारतीय स्वतन्त्रता के प्रश्न की कोई चर्चा नहीं थी। लार्ड लिनलिथगो ने मुलाकातों का एक तांता शुरू किया और ५२ व्यक्तियों से भेंट की। उन्होंने इस बात का पूरा ध्यान रखा कि वे समस्त जातियों के हितों और देशी नरेशों के दृष्टिकोणों को भली भांति समझ लें। इन सब बातचीतों का जो नतीजा १७ अक्टूबर १९३९ के श्वेतपत्र में प्रकाशित हुआ उससे किसी को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वायसराय को दृष्टिकोणों का स्पष्ट भेद दिखाई दिया। स्पष्ट है कि यदि कोई व्यक्ति इन मत

१ पट्टाभि सीतारामय्या—'दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस', पृ० १२६।

भेदों की लाड लिलियगों की सी सूझबूझ के साथ खोज करता, तो उनकी खोज करने में कोई कठिनाई नहीं होती। यह उसी चिरपरिचित फूट डालो और राज्य करो वाली नीति की पुनरावृत्ति थी। दृष्टिकोणों के इन स्पष्ट भेदों को देखते हुए वायसराय भारतीय देशभक्तों को केवल उसी बात की याद दिला सकते थे जो कि उनके पूर्ववर्तियों ने बार बार कही थी अर्थात् भारत की उन्नति का स्वाभाविक लक्ष्य औपनिवेशिक पद को प्राप्त करना है। उन्होंने इस बात की घोषणा की कि युद्ध की समाप्ति पर १९३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित संघीय संविधान में विभिन्न सम्प्रदायों दलों और स्वार्थों के प्रतिनिधियों तथा देशी नरेशों से मन्त्रणा करके उचित संशोधन कर लिया जाएगा। स्पष्ट है कि वे एक संविधान सभा का नहीं अपितु दूसरी गोलमेज परिषद का वचन दे रहे थे। जहाँ तक भारत की इस मांग का सम्बन्ध था कि केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना होनी चाहिये वायसराय केवल एक ऐसी मन्त्रणा गोष्ठी का ही आश्वासन दे सकते थे जिनके साथ वे समय समय पर युद्ध संचालन के सम्बन्ध में विचार विनिमय कर सकें।

प्रांतीय कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का त्यागपत्र—वायसराय के वक्तव्यों ने किसी को सन्तुष्ट नहीं किया और विरोध का एक तूफान खड़ा कर दिया। उन्होंने भारत के स्वतन्त्रता और समानता के दावे को अस्वीकार करने के लिए प्रतिक्रियावादियों और अल्पसंख्यक वर्गों के विरोध का चतुरतापूर्वक प्रयोग किया था। भारत के राष्ट्रवादियों ने इस दृष्टिकोण को अपने लिए अपमानजनक समझा। जवाहरलाल नेहरू के अनुसार इसका अभिप्राय यह था कि "ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उन्मूलन के बारे में अन्तिम निर्णय करना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ही हाथ में है।" कांग्रेस कुछ कहने के लिए लाचार हो गई। उसने रोटी मांगी थी उसे मिला पत्थर। १ अक्टूबर को कार्य समिति ने प्रान्तीय कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों से कहा कि वे अपना अपना त्यागपत्र दे दें। नवम्बर में वायसराय ने संविधान की धारा ९३ के अधीन एक उद्घोषणा जारी की और उन आठ प्रान्तों में जहां कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्याग पत्र दे दिए थे परामर्श दाताओं के शासन की स्थापना कर दी।

वायसराय का परिस्थिति को साम्प्रदायिक रूप देना—अपने वक्तव्य द्वारा उत्पन्न किए गए तीव्र विरोध से परेशान होकर वायसराय ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के साथ पुनः वार्ता शुरू की। उन्होंने अपनी कार्यपालिका परिषद के विस्तार करने का वचन दिया ताकि उसमें भारतीय दलों के प्रतिनिधि भी शामिल हो सकें। लेकिन इसमें एक शर्त थी और वह यह कि प्रान्तीय प्रश्न व प्रान्तों में संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने के सम्बन्ध में समस्त सम्प्रदायों के बीच समझौता होना चाहिए। इससे और भी उलझनें बढ़ गई। यह ऐसी चतुरता थी जिसका उद्देश्य एक विशुद्ध राजनीतिक समस्या को साम्प्रदायिक रूप देना था। जैसी कि आशा की जानी चाहिए कांग्रेस ने इस आधार पर समझौते की बातचीत करना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार गतिरोध पैदा हो गया और वह युद्ध के आद्योपान्त बना रहा।

९६ अगस्त की घोषणा (१९४०)

कांग्रेस द्वारा सहयोग का प्रस्ताव—लगभग एक साल बीत गया और भारत की राजनीति में विकास इतना कि मार्च १९४० में मुस्लिम लीग ने अपने द्विराष्ट्र सिद्धांत की घोषणा की और पाकिस्तान की मांग उपस्थित की, कोई सारभूत परिवर्तन नहीं हुआ। लड़ाई की हालत ब्रिटेन के लिए बहुत खतरनाक हो गई। इन महीनों में ब्रिटिश सेना की पराजय और जर्मन हवाई बेड़े द्वारा परिचालित भयंकर हवाई हमलों के कारण ब्रिटेन अपने इतिहास के सबसे नाजुक दौर से गुजर रहा था। चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल प्रधान मंत्री हो गए थे। कांग्रेस ने पुनः ब्रिटेन के साथ सहयोग करने के लिए दोस्ती का हाथ बढ़ाया। ७ जुलाई १९४० के अपने प्रस्ताव में कार्यसमिति ने देश की रक्षा के लिए प्रभावशाली संगठन में पूरा-पूरा सहयोग देने का निश्चय किया। सहयोग के लिए कांग्रेस की शर्तें ये थीं—(१) पूर्ण स्वाधीनता के लिए भारत के अधिकार की स्वीकृति (२) तात्कालिक शासन के रूप में केन्द्र में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना।

अगस्त की घोषणा—लेकिन ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस द्वारा बढ़ाए गए दोस्ती के हाथ को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। उसने केन्द्रीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और कहा कि ऐसा करना सारे संविधान को बदलना है जो कि युद्धकाल में नहीं हो सकता। सरकार के अपने जो प्रस्ताव थे वे ८ अगस्त के वायसराय के वक्तव्य में प्रकाशित हुए। वक्तव्य में वचन दिया गया था कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् यथाशीघ्र भारत को औपनिवेशिक पद दे दिया जायगा और एक प्रतिनिधिक संविधान निर्मात्री निकाय की स्थापना की जाएगी। यह स्वीकार कर लिया गया था कि नए संविधान को बनाने की जिम्मेदारी मुख्यतः भारतीयों के ऊपर होगी। यह स्पष्ट नहीं था कि प्रतिनिधिक संविधान निर्मात्री निकाय का अभिप्राय पूर्ण विकसित संविधान सभा से था अथवा भावी एक और गोलमेज परिषद् से। [illegible] इस प्रकार के निकाय की स्थापना करने के प्रस्ताव को प्रांतिक सरकारों वाली धारा ने [illegible] कर दिया था। घोषणा में कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार ऐसे किसी दल या सत्ता को नहीं दे सकती जिसे देश के बड़े और शक्तिशाली तत्व मानने के लिए तैयार न हों। स्पष्ट है कि ये शक्तिशाली तत्व मुस्लिम लीग, दूसरे प्रतिगामी अल्पसंख्यक वर्गों के संगठन और देशी नरेश थे।

जहाँ तक वर्तमान का सम्बन्ध था, वक्तव्य में (१) बनी हुई कार्यपालिका परिषद् में कुछ भारतीय प्रतिनिधियों को सम्मिलित करने और (२) एक ऐसी युद्ध सलाहकार परिषद् की स्थापना करने की जिसमें विभिन्न दलों के नेता व देशी राज्यों के प्रतिनिधि शामिल हों, बात कही गई थी।

परिणाम—वायसराय के वक्तव्य से कांग्रेस को सन्तोष नहीं हुआ और उसने इसकी ओर ध्यान न देते हुए मांग ठुकराने से भी इनकार कर दिया। महात्मा गांधी के अनुसार उसने भारत और इंग्लैण्ड के बीच की खाई को और चौड़ा कर दिया। सरकार ने अल्पसंख्यक वर्गों के प्रश्न के सम्बन्ध में जो रुख ग्रहण किया था कांग्रेस ने उसका विशेष रूप से विरोध किया और सरकार के ऊपर यह आरोप लगाया कि वह इस प्रश्न को भारत की उन्नति के मार्ग में एक दुस्तर बाधा बनाए रख रही है। कांग्रेस का दृष्टिकोण यह था कि अल्पसंख्यक वर्गों की समस्या भारतीयों के सुलझाने के लिए थी। अंग्रेजी सरकार उसमें अवांछित अनधिकृत टांग अड़ाकर उसे व्यर्थ में ही पेचीदा बनाए दे रही थी। मुस्लिम लीग संघ ने अगस्त के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया यद्यपि भिन्न कारणों से। उसने वायसराय के वक्तव्य में निहित संयुक्त भारत के विचार का विरोध किया और कहा कि भारत का विभाजन ही समस्या का एकमात्र हल है। उसने इस बात पर भी बल दिया कि उसकी सम्मति के बिना कोई भी भावी संविधान अन्तरिम या अन्तिम निर्मित नहीं होना चाहिए और कार्यकारिणी परिषद के किसी भी पुनर्निर्माण में उसके और कांग्रेस के बीच में ५०-५० के सिद्धान्त को लागू किया जाना चाहिए।[2] इस प्रकार ब्रिटिश सरकार की नीति ने साम्प्रदायिक समस्या को और भी उलझा दिया तथा कांग्रेस कार्यसमिति की सम्मति में गृह कलह और संघर्ष के लिए प्रत्यक्ष प्रोत्साहन व उत्तेजना थी।

९७ व्यक्तिगत सत्याग्रह

कांग्रेस का असहयोग पर वापस आना—अगस्त प्रस्ताव जवाहरलाल नेहरू और सी० राजगोपालाचारी जैसे नेताओं के क्रिया कलापों के लिए जो भारत की प्रतिरक्षा में सक्रिय सहयोग चाहते थे और जिनके नेतृत्व में कांग्रेस ने पूना में महात्मा गांधी के युद्ध प्रयत्न सम्बन्धी शान्तिवादी और मत त्याग को अस्वीकार कर दिया था एक प्रतिघात था। अब पुनः कांग्रेस ने महात्मा गांधी को मार्गदर्शन के लिए आमन्त्रित किया। गांधीजी ने वायसराय से प्रार्थना की कि वे उन्हें देश की जनता को भारत के युद्ध प्रयत्न में सहायता देने से रोकने की स्वतन्त्रता दें। वायसराय ने इसे अस्वीकार कर दिया। फलतः महात्मा गांधी ने सीमित पैमाने पर व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया।

केवल प्रतीकात्मक विरोध—सत्याग्रह आन्दोलन केवल नैतिक विरोध की अभिव्यक्ति था। उसका लक्ष्य ब्रिटिश सरकार को तंग करना अथवा किसी भी प्रकार धुरी राष्ट्रों को सहायता देना नहीं था। इस सत्याग्रह में अहिंसा के पालन पर विशेष बल दिया गया और सामूहिक कार्यवाही को प्रत्यक्ष रूप में निषिद्ध कर दिया गया। केवल कुछ चुने हुए सत्याग्रहियों को ही यह दुहराना हुआ कि जन या धन से ब्रिटेन के

१ इण्डियन एनुअल रजिस्टर—१९४ पृ १९८।
२ कूपलैण्ड—इण्डिया ए रिस्टेटमेण्ट पृ २०२।

युद्ध प्रयत्न में सहायता देना गलत है' सत्याग्रह करने की अनुमति दी गई। पंजाब के मुख्यमन्त्री सर सिकन्दर हयात खाँ ने महात्मा गाँधी के ऊपर आरोप किया कि जिस समय इंगलैण्ड अपने जीवन मरण के संघर्ष में निरत है, वे उसकी पीठ में छुरा भोंक रहे हैं। "किन्तु वास्तविकता यह है कि सत्याग्रह आन्दोलन का स्वरूप केवल प्रतीकात्मक ही था। जिस समय अंग्रेज जाति अपने जीवन मरण का झूला झूल रही थी गाँधी ने उसके ऊपर कठोर आघात करना अनैतिक समझा और बहुत हल्का आघात किया।"[1] फिर भी मई १९४१ तक लगभग १४००० सत्याग्रही जेल पहुँच गए।[2] 'इनमें छह प्रान्तों के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री २९ मन्त्री और २९० प्रान्तीय विधान मण्डलों के सदस्य थे।'[3]

९८ कार्यपालिका परिषद का विस्तार और आंशिक भारतीयकरण

महत्वपूर्ण उपाय—राष्ट्रवादी भारत की माँगों की ओर ध्यान न देते हुए वायसराय ने जुलाई १९४१ में अपनी कार्यपालिका परिषद् में पाँच सदस्य और शामिल कर लिए। पहले उसमें वायसराय सहित आठ सदस्य थे अब बढ़कर तेरह हो गए। जिन नए पाँच सदस्यों को नियुक्त किया गया था वे भारतीय थे। इस प्रकार अब कार्यपालिका परिषद में भारतीयों की कुल सदस्य संख्या आठ हो गई। लेकिन कार्यपालिका परिषद का यह आंशिक भारतीयकरण एक महत्वपूर्ण उपाय था क्योंकि सभी महत्वपूर्ण विभाग प्रतिरक्षा गृह वित्त अंग्रेजों के ही हाथों में बने रहे। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने ही इस विस्तृत कार्यपालिका परिषद का बहिष्कार किया। जिन नए सदस्यों को वायसराय ने अपने विवेक के अनुसार चुना था वे सबके सब उसके ही मर्ज़ी मिज़ाज वाले थे। सम्भवतः एक डा० अम्बेडकर को छोड़कर और किसी को किसी संगठित दल का समर्थन प्राप्त नहीं था। इसके अभाव में कार्यपालिका परिषद एक अनुत्तरदायी निकाय बनी रही। उसके ऊपर वायसराय का प्रभुत्व ज्यों का त्यों कायम रहा।

९९ क्रिप्स मिशन (मार्च १९४२)

जापान का युद्ध प्रवेश और भारत को खतरा—७ दिसम्बर, १९४१ को जापान युद्ध-स्थल में कूद पड़ा। अब विश्वयुद्ध ने एक नया रूप ग्रहण किया। यूरोप में तो धुरी राष्ट्रों का मार्ग रूस से रोके रखा गया लेकिन एशिया में जापान की विजयवाहिनी अप्रतिहत गति से आगे बढ़ी। मलाया इण्डोचायना और इण्डोनेशिया ने जापान की सेनाओं के सम्मुख आत्म समर्पण कर दिया। फरवरी १९४२ के अन्त तक बर्मा का पराभव भी अपरिहार्य दीखने लगा। इस तरह युद्ध का खतरा भारत

१ एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड— सब्जेक्ट इण्डिया पृ० २९।
२ कूपलैण्ड— इण्डिया ए रिस्टेटमेंट पृ० २०५।
३ एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—वही, पृ० २९।

के निकटतर आता जा रहा था। बहुत कम भारतीयों को यह विश्वास था कि इंगलैण्ड में जापानी आक्रमण से भारत की रक्षा करने की शक्ति है। चर्चिल तक ने इस बात को स्वीकार किया कि इंगलैण्ड के पास भारत की रक्षा करने के पर्याप्त साधन नहीं हैं।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन—भारत के सिर पर मंडराते हुए इस खतरे ने कांग्रेस की नीति में परिवर्तन कर दिया। प्रमुख कांग्रेसियों को दिसम्बर १९४१ में जेल से मुक्त कर दिया गया था। जवाहरलाल नेहरू ने नतृत्व में तत्कालिन हलचलें फिर एक बार महात्मा गांधी की शांतिवादी की नीति से हट गई। अपनी ही प्रार्थना पर गांधीजी नतृत्व के भार से मुक्त कर दिए गए। अब सत्याग्रह कांग्रेस की नीति नहीं रहा। जवाहरलालजी देश का प्रतिरक्षा के लिए संगठित करना चाहते थे। वह सरकार के साथ सहयोग करने के लिए तैयार थे लेकिन कुछ शर्तों पर। उस समय एक अभिमानी साम्राज्य को जो फासिस्ट सर्वाधिकारवाद से भिन्न है सहायता देने का कोई प्रश्न नहीं था। सितम्बर १९४१ में चर्चिल से पूछा गया था कि क्या एटलांटिक चार्टर जो सब जातियों को अपना मनोवांछित शासन प्रणाली का पसन्द करने का अधिकार देता है भारत के ऊपर भी लागू होगा? चर्चिल ने इस प्रश्न के उत्तर में 'नहीं' जनाब कहा था। भारत को यह 'नहीं' अच्छी तरह याद थी। लेकिन जापान की पूर्वीय विजय-यात्रा ने ब्रिटिश सरकार को विवश कर दिया कि वह भारत की ओर नया दृष्टिबिन्दु ग्रहण करे।

विश्व जनमत का दबाव—फरवरी १९४२ में चीन के नेता मार्शल च्यांग-काई शेक भारत आए और उन्होंने इंगलैण्ड से अपील की कि वह भारत की स्वतन्त्रता की मांग पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करे। अमरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट के बारे में भी यह प्रख्यात है कि वह चर्चिल पर इस बात का दबाव डाल रहे थे कि वह भारत का ऐच्छिक सहयोग प्राप्त करने के लिए कुछ करें। इस प्रकार युद्ध के संकटों और विश्व जनमत के दबाव ने क्रिप्स मिशन के लिए रंगमंच तैयार कर दिया।

क्रिप्स मिशन की घोषणा—रंगून पतन के चार दिन बाद ११ मार्च १९४२ को चर्चिल ने संसद में घोषणा की कि 'जापान की प्रगति के कारण भारत के लिए जो खतरा पैदा हो गया है उसे देखते हुए हम यह आवश्यक समझते हैं कि हमलावर से देश की रक्षा करने के लिए हमें भारत के सभी वर्गों का संगठन करना चाहिए और सर स्टैफर्ड क्रिप्स ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि के रूप में भारतीय गतिरोध का अन्त करने के लिए भारत प्रस्थान करें।' इस घोषणा का भारत में स्वागत किया गया क्योंकि क्रिप्स की यहाँ बहुत ख्याति थी। यही वह व्यक्ति थे जो रूस को मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में खींच लाए थे। इसके अलावा वह एक समाजवादी थे और भारत के कई चोटी के राष्ट्रवादी नेताओं से उनके मित्रतायुक्त सम्बन्ध थे। वह पहले भी दो बार भारत आ चुके थे।

के समनुचिन्तित बलूचिस्तान का विरोध किया। सिक्ख पाकिस्तान की स्थापना के घोर विरोधी थे और उन्होंने कह दिया कि हम प्रस्तावित भारतीय संघ से पंजाब के पृथक्करण का समस्त संभव उपायों से प्रतिरोध करेंगे। उदारवादियों तक ने दीर्घसूत्री प्रस्तावों को यह कहकर कि वे 'आत्मनिर्णय के उपहास हैं' अस्वीकार कर दिया।

कांग्रेस का दृष्टिकोण—कांग्रेस ऐसे प्रत्येक प्रस्ताव के विरुद्ध थी जिसका लक्ष्य भारत को खण्डित करना हो चाहे विचार के आधार पर और चाहे भावना के आधार पर। क्रिप्स योजना का उद्देश्य अनिश्चित संख्या के विभाजनों की सम्भावना के दरवाजे खोल देना था।[1] ५६२ देशी रजवाड़ों को भारत संघ में सम्मिलित न होने का जो अधिकार प्रलोभन दे दिया गया था कांग्रेस ने उसका तीव्र विरोध किया। यह बात स्पष्ट थी कि राज्य नए संविधान के निर्माण में प्रतिगामी तत्त्वों का सा काम करते लेकिन इस बात का कोई आश्वासन नहीं था कि ये संविधान की रचना के पश्चात् भारतीय अल्स्टर नहीं हो जायेंगे। स्पष्ट है कि जब तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद इन राज्यों में अपना अड्डा जमाए रखता भारत अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सकता था।

संक्रान्तिकालीन प्रस्तावों के ऊपर वार्ता भंग—यद्यपि कांग्रेस का आदर्श सम्पूर्ण भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करना था और उसने क्रिप्स प्रस्ताव द्वारा पृथक्करण की भावना को प्रोत्साहन दिए जाने का विरोध किया लेकिन फिर भी वह किसी भी प्रादेशिक इकाई को उसकी इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ में सम्मिलित होने के लिए विवश करने की बात मन में नहीं सोच सकती थी। इस प्रकार सम्भव था कि कांग्रेस दीर्घसूत्री प्रस्तावों के ऊपर अपनी स्वीकृति दे देती। इनके ऊपर वार्ता भंग नहीं हुई लेकिन तात्कालिक वर्तमान के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव थे उनके ऊपर समझौते की बात चीत टूट गई। ये प्रस्ताव ब्रिटिश नेकनीयती की कसौटी थे। यहाँ दो अनुल्लंघनीय कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं। कांग्रेस प्रधान के साथ अपनी पहली भेंट के समय पर स्टेफर्ड क्रिप्स ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया था कि अस्थायी राष्ट्रीय सरकार के साथ वायसराय का सम्बन्ध वैसा ही होगा जैसा कि सम्राट का ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से होता है। लेकिन बाद में क्रिप्स अपनी इस बात से हट गए और उन्होंने कहा कि ऐसा दूरव्यापी वैधानिक परिवर्तन असम्भव है और वायसराय की निरंकुश शक्तियाँ ज्यों की त्यों कायम रहेंगी। इससे एक नई समस्या पैदा हो गई और समझौता असम्भव हो गया। दूसरी कठिनाई प्रतिरक्षा से सम्बन्ध रखती थी। कांग्रेस की माँग थी कि उस आक्रमण को देखते हुए जो हमारे सिर पर लटक रहा है प्रतिरक्षा के ऊपर भारत का प्रभावशाली नियन्त्रण होना चाहिए। यही वह कसौटी है जिससे

१ जवाहरलाल नेहरू—दी डिस्कवरी आफ इण्डिया पृ० ८५।
२ एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—'सब्जेक्ट इण्डिया' पृ० ६७।

हम परख करते हैं।' लेकिन ब्रिटिश सरकार वायसराय की कार्यपालिका परिषद् में केवल एक भारतीय सदस्य को रखने के लिए तैयार थी जिसके अधीन जन सम्पर्क विभाग, सैन्य विघटन और युद्धोत्तर पुनर्निर्माण, पट्रोल का नियन्त्रण, सैनिकों की सुख सुविधाओं की व्यवस्था और कैन्टीन संगठन आदि विषय होते। इन दोनों कठिनाइयों ने भारत की जनता का विश्वास करने और उसे सच्ची सत्ता हस्तान्तरित करने की ब्रिटिश सरकार की अनिच्छा को स्पष्ट कर दिया।

मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण—मुस्लिम लीग ने भी क्रिप्स प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उसने अपनी अस्वीकृति की घोषणा कांग्रेस के निर्णय की प्रतीक्षा करने के बाद की। कहा जाता है कि मि० जिन्ना ने मुस्लिम लीग की स्वीकृति के लिए एक प्रस्ताव का मसविदा तैयार किया था। परन्तु जब कांग्रेस ने क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया तब उन्होंने उसे फाड़ डाला। अपने प्रस्ताव में मुस्लिम लीग ने इस बात पर सन्तोष प्रकट किया कि मुसलमानों के पृथक्करण के दावे को मान्यता दे दी गई है लेकिन सम्पूर्ण क्रिप्स-योजना को उसकी जकड़बन्दी के कारण अस्वीकार कर दिया। लीग ने इस बात पर बल दिया कि ऐसे किसी जन निर्णय में जिसका उद्देश्य यह तय करना हो कि कोई प्रान्त भारतीय संघ में रहे या उससे चला जाए केवल मुसलमानों को ही भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। इस तरह से क्रिप्स अभिनय समाप्त हो गया। राष्ट्रवादियों की दृष्टि में समस्त घटनाचक्र नाटकीय प्रदर्शन मात्र था जिसका अभिनय अमरीकन आलोचकों को सन्तुष्ट करने के लिए किया गया था। क्रिप्स जिन प्रस्तावों को लाए वे बड़े कठोर थे और उन्हें या तो पूरा का-पूरा स्वीकार किया जा सकता था अथवा पूरा-का-पूरा अस्वीकार। इस प्रकार समझौते की गुंजायश शुरू से ही नहीं रही थी। पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में उसमें प्रत्येक दल को प्रसन्न करने वाली बातें थीं। कांग्रेस को प्रसन्न करने के लिए इन प्रस्तावों की पृष्ठभूमि में सर्वोपरि औपनिवेशिक स्वराज्य व संविधान सभा का उल्लेख था जिसे प्रारम्भ में ही ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से पृथक् हो जाने की घोषणा कर देने का अधिकार दिया गया था। मुस्लिम लीग के लिए सबसे बड़ी बात यह थी कि किसी भी प्रान्त को भारतीय संघ से अलग हो जाने का हक था। नरेशों को न केवल इस बात की आज़ादी थी कि वे चाहें तो इस संघ में शामिल हों या न हों बल्कि संविधान सभा में रियासतों के प्रतिनिधि भेजने का एक मात्र अधिकार भी उन्हें दे दिया गया था। उनमें सत्ता हस्तान्तरित करने का इरादा बिलकुल नहीं था।'

१०० भारत छोड़ो आंदोलन

निराशा और व्यग्रता का वातावरण—जिस ढंग से क्रिप्स वार्ता एकाएकी भंग हुई और क्रिप्स को वापस बुलाया गया तथा इस विषय में जो बाद विवाद ब्रिटिश संसद में हुआ इन सबने इस विचार को मज़बूत कर दिया कि यह सम्पूर्ण क्रिया कलाप एक राजनीतिक युक्ति मात्र थी जिसका उद्देश्य विश्व लोकमत को धोखे

में धन झोंकना और एक अनुमानित असफलता का भार भारतीय जनता के ऊपर लाद देना था। स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार का इरादा वास्तविक सत्ता का हस्तान्तरित करने का नहीं था। फलत देश निराशा निरुत्साहता और व्यग्रता के गर्त में डूब गया। यह राष्ट्र के लिए बहुत ही कष्टदायक अवस्था थी क्योंकि पूर्व की ओर से आसन्न आक्रमण का भय था। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है— जनता की निपट निराशा को साहस और प्रतिरोध की भावना में बदलना आवश्यक था। यद्यपि इस प्रतिरोध का आधार ब्रिटिश अधिकारियों के प्रति कड़वाहट की भावना के विरुद्ध था लेकिन उस आक्रमणकारी के विरोध में भी परिवर्तित किया जा सकता था। निराशा और दासता दूसरे की ओर भी ऐसी दृष्टिकोण को ओर ऐसी प्रकार की भावना और दुर्दशा को उत्पन्न करती।[1] अगस्त १९४२ के बाद में महात्मा गांधी ने उग्रतापूर्वक सोचना शुरू कर दिया। भारत छोड़ो विचार उनके मस्तिष्क में जमने लगा और उन्होंने उस विचार में एक नैतिकता दिखाकर विकसित किया।

भारत छोड़ो नारा—उनका निश्चय पक्का हो गया था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य तुरन्त समाप्त होना आवश्यक है क्योंकि इसके भारत में आक्रमणकारी का विरोध करने की नैतिक शक्ति आ सकती है। सन् १९४२ की लुई फिशर से उन्होंने एक भेंट में कहा था अंग्रेजों के यहाँ से चले जाने और न चले जाने के बीच का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। मेरा यह आशय नहीं कि प्रत्येक अंग्रेज अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर चल जाए। वे इस बात के लिए भी तैयार थे कि ब्रिटिश सेनाएं स्वतन्त्र भारत की सरकार के साथ एक सन्धि करके यहाँ ठहरी रहें। लेकिन उन्होंने जिस बात पर बल दिया वह यह थी कि अंग्रेज भारतीय जनता के हाथ में सत्ता हस्तान्तरित कर दें। चूंकि अंग्रेजों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे भारत छोड़कर चले जायेंगे इसलिए कुछ न कुछ कार्यवाही करनी आवश्यक थी। भय और निष्क्रियता असह्य थी। ब्रिटिश सरकार के प्रति सक्रिय प्रतिरोध सरकार के युद्ध-प्रयत्न के रास्ते में आना आवश्यक था। फिर भी यह निष्क्रियता की तुलना में श्रेयस्कर था।

कांग्रेस महासमिति द्वारा पास किया गया भारत छोड़ो प्रस्ताव ८ अगस्त १९४२—८ अगस्त १९४२ को कांग्रेस महासमिति ने बम्बई में भारत छोड़ो प्रस्ताव पास किया। प्रस्ताव में भारत की स्वतन्त्रता की तत्काल स्वीकृति और ब्रिटिश शासन के अन्त की माँग की गई थी। प्रस्ताव में कहा गया था कि ब्रिटिश शासन का स्थायित्व भारत की प्रतिष्ठा को घटाता और उसे दुर्बल बनाता है और अपनी रक्षा करने तथा विश्व स्वातन्त्र्य के ध्येय की पूर्ति में सहयोग देने की उसकी शक्ति में क्रमिक ह्रास उत्पन्न करता है ... स्वतन्त्र भारत को अपनी जनता की सम्मिलित इच्छा और शक्ति के बल पर आक्रमण का कारगर ढंग से विरोध करने में

---

१ जवाहरलाल नेहरू— दी डिस्कवरी आफ इण्डिया पृ ३३९।

समर्थ बना देगी।' प्रस्ताव ने एक अस्थायी सरकार के निर्माण का सुझाव दिया 'जिसका प्रथम कर्त्तव्य अपनी समस्त सशस्त्र तथा अहिंसात्मक शक्तियों द्वारा मित्र-राष्ट्रों से मिलकर भारत की रक्षा करना होगा। अस्थायी सरकार जनता के समस्त वर्गों के लिए स्वीकार्य संविधान की रचना करने के लिए एक विधान निर्मात्री परिषद् की योजना बनाएगी। यह संविधान संघीय होगा और जिसके अन्तर्गत संघ में सम्मिलित होने वाले समस्त इकाइयों को अधिकतम स्वायत्तता प्राप्त होगी। अवशिष्ट शक्तियाँ भी इन इकाइयों में निहित होंगी।' अन्त में प्रस्ताव ने यह स्वीकृति दी कि यदि ब्रिटिश सरकार स्वतन्त्रता की माँग को [illegible] अधिक से अधिक विस्तृत परिमाण पर [illegible] आन्दोलन प्रारम्भ किया जाये [illegible] भारत की [illegible] और मुक्ति [illegible]।

कर ले गई थी। इस दमनचक्र ने गने विद्रोह को तो दबा लिया लेकिन भूमिगत आन्दोलन कई महीनों तक चलता रहा और जयप्रकाश नारायण राममनोहर लोहिया तथा अरुणा आसफअली तुल्य समाजवादी नेताओं ने उसका मार्गदर्शन किया।

महात्मा गांधी का उपवास (फरवरी १९४३) और उनकी कारावास से मुक्ति (मई १९४४)—महात्मा गांधी ने आगाखाँ किले में जहाँ उन्हें गिरफ्तार करके रखा गया था जनता के पागलपन और सरकार की पाशविकता को आहत हृदय से देखा। १९४३ की प्रथम तिथि को उन्होंने वायसराय को एक पत्र लिखा और उसमें इस आक्षेप को स्वीकार किया कि कांग्रेस हिंसा के विस्फोट के लिए उत्तरदायी है। पत्र में उन्होंने समझौते की बातचीत करने का भी प्रस्ताव उपस्थित किया। लेकिन वायसराय ने जो कुछ हो चुका था उस सबके लिए उन्हें और कांग्रेस को उत्तरदायी ठहराया। पत्र व्यवहार का कोई फल नहीं निकला। महात्मा गांधी इस स्थिति को सहन नहीं कर सके। उन्होंने १० फरवरी १९४३ को २१ दिन का उपवास प्रारम्भ कर दिया। उनकी वृद्धावस्था और दुर्बल स्वास्थ्य को देखते हुए उनके उपवास ने जनता को अपार चिन्ता में डाल दिया। लेकिन उनका उपवास सकुशल समाप्त हो गया जो कि डाक्टरों की राय में चमत्कार से कम नहीं था। आगे के बारह महीनों में उनके विश्वस्त मन्त्री महादेव देसाई और और पतिव्रता स्त्री कस्तूरबा का देहान्त हो गया। अप्रैल १९४४ में वह ज्यादा बीमार हो गए और सरकार ने उन्हें ६ मई १९४४ को कारावास से मुक्त कर दिया।

१०१ वेविल योजना और शिमला सम्मेलन (जून जुलाई १९४५)

अक्टूबर १९४३ में लार्ड लिनलिथगो का कार्यकाल समाप्त हो गया और लार्ड वेविल भारतवर्ष के वायसराय हुए। अपनी नियुक्ति के कुछ समय बाद उन्होंने घोषणा की कि मैं अपने थैले में बहुत सी चीजें ला रहा हूं। लार्ड वेविल ने इस बात का भी अस्पष्ट संकेत दिया कि वह अपने साथ भारत की राजनीतिक समस्या का समाधान लेकर आ रहे हैं। लेकिन उन्होंने अपना थैला को १४ जून १९४५ तक नहीं खोला। इसके पहले उन्होंने इंगलैण्ड की यात्रा की और सम्राट की सरकार से सलाह मशविरा किया।

नई योजना की पृष्ठभूमि—अब वायसराय के थैले से एक नयी योजना निकली। इस योजना का जिसे भारतीयों ने बाद में एक और धतता कहकर तिरस्कृत कर दिया परीक्षण करने के पूर्व परिस्थितियों की ओर ध्यान देना आवश्यक है जो उसकी पृष्ठभूमि में थी। यूरोप में लड़ाई समाप्त हो गई थी और मित्र राष्ट्रों को विजय प्राप्त हुई थी। इंगलैण्ड का लोकमत श्रमिक दल की ओर झुकता जा रहा था। श्रमिक दल भारत के सम्बन्ध में एक नयी नीति का प्रतिपादन कर रहा था उसका कथन था कि भारत को स्वतन्त्रता मिल जानी चाहिए। चर्चिल की अनुदार ीय सरकार इस घटनाचक्र को बेचैनी से देख रही थी। ११ नवम्बर १९४२ को

जिस चर्चिल ने कहा था 'मैं सम्राट का प्रथम मन्त्री ब्रिटिश साम्राज्य का दिवाला निकालने के लिए नहीं बना। वे बदल नहीं गए थे। हिंसक पशु कभी एकादशी का व्रत नहीं करता। लेकिन चर्चिल ठहरे राजनीति के अखाड़े के कुशल मल्ल। उन्होंने मतदाताओं की सहानुभूति श्रमिक दल की ओर से अपनी ओर करने के लिए एक निर्वाचन चाल की आवश्यकता समझी। यही वेविल योजना और शिमला सम्मेलन का पृष्ठभूमि है।

योजना की शर्तें—१४ जून १९४५ को लार्ड वेविल ने भारतीय जनता के नाम एक घोषणा ब्राडकास्ट किया। उसमें उन्होंने अपनी जिस योजना की घोषणा की उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) ब्रिटिश सरकार भारत के राजनीतिक गतिरोध को दूर करना व उसे स्वशासन के लक्ष्य की ओर अग्रसर करना चाहता है। (२) इस लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए वायसराय की कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों की एक नई सूची तैयार की जाए जिसके सब सदस्य—खाली वायसराय और प्रधान सेनापति को छोड़कर (जो युद्ध-मन्त्री बना रहेगा) भारत के राजनीतिक नेता हों। (३) वैदेशिक मामलों का विभाग (सीमान्त और कबायली मामलों को छोड़कर) परिषद के भारतीय सदस्य के हाथ में होगा। (४) परिषद में सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या होगी।[१] (५) कार्यकारिणी परिषद अन्तर्कालीन राष्ट्र य सरकार के तरीके होगी और गवर्नर जनरल 'निषेधाधिकार' का प्रयोग अकारण नहीं करेगा। (६) गवर्नर जनरल की दोहरी स्थिति से उनके भारत सरकार के प्रधान और साथ ही ब्रिटिश हितों के प्रतिनिधि होने के कारण जो दुविधा उत्पन्न हो सकती है उसे दूर करने के लिए अन्य उपनिवेशों के समान भारत में अंग्रेजी वाणिज्य तथा दूसरे हितों की रक्षा के लिए हाई कमिश्नर नियुक्त किया जाएगा। (७) इन प्रस्तावों से भारत के भावी स्थायी संविधान पर मन्त्रियों के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा उनकी रचना भारतीय अपने आप करेंगे।

योजना का वास्तविक रूप—यह स्पष्ट है कि वेविल-योजना ने लम्बे समय से चली आ रही हुई भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या पर कोई हल पेश नहीं किया। उसका कार्य क्षेत्र वर्तमान तक ही सीमित था और उसके प्रस्ताव वही थे जो कि क्रिप्स योजना के अन्तर्कालीन प्रस्ताव थे। क्रिप्स के दिनों में प्रश्न था—भारतीयों को कितनी शक्ति दी जाए? इस बार यह प्रश्न न होकर भारतीयों के बीच शक्ति समान अनुपात दो भागों में बाँट देने का प्रश्न था। मुख्य समस्या नयी कार्यकारिणी परिषद की सदस्य संख्या की थी।

---

१ यहाँ भोलाभाई लियाकत अली पैक्ट का जिस पर ११ जनवरी १९४५ को हस्ताक्षर हुए चर्चा करना आवश्यक है। इस पैक्ट में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समानता के आधार पर केन्द्र में एक अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना का प्रस्ताव किया गया था। यह सोचा गया था कि इस समझौते को महात्मा गांधी की स्वीकृति प्राप्त है।

शिमला-सम्मेलन——वायसराय ने शिमला में २२ प्रतिनिधि भारतीयों का एक सम्मेलन[1] बुलाया। सम्मेलन २९ जून को आशामय वातावरण में प्रारम्भ हुआ। लेकिन शीघ्र ही वह मतभेद जो सदैव पृष्ठभूमि में रहा था फिर सम्मुख आ गया।[2] कांग्रेस ने हिन्दू-मुस्लिम समानता की बात स्वीकार कर ली लेकिन मि० जिन्ना इस बात पर अड़ गए कि कार्यकारिणी परिषद् के लिए मुस्लिम सदस्य मनोनीत करने का अधिकार केवल मुस्लिम लीग को मिलना चाहिए। कांग्रेस ने इस दावे का विरोध किया क्योंकि उसकी स्वीकृति का यह आशय था कि कांग्रेस भी एक विशुद्ध हिन्दू संस्था है और उसका कोई राष्ट्रीय स्वरूप नहीं है। पंजाब के प्रधान मन्त्री मलिक खिज्र हयात खां ने भी मि० जिन्ना के दावे का विरोध किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कार्यकारिणी में एक मुसलमान सदस्य पंजाब का भी प्रतिनिधि होना चाहिए। लेकिन मि० जिन्ना किसी तरह समझौता करने के लिए राजी नहीं हुए।

मि० जिन्ना की हठधर्मी की चट्टान से टकराकर शिमला सम्मेलन चूर-चूर हो गया। लार्ड वैवल ने १४ जुलाई को उसके भंग होने की घोषणा कर दी। इस प्रकार यह निश्चित हो गया [illegible] सफलता असम्भव है। [illegible] की कुंजी एक बार फिर मुस्लिम लीग के हाथ में रह गयी। मि० जिन्ना ने वैवल योजना का तिरस्कार किया और उसे एक जाल बताया जिसको स्वीकार करने से पाकिस्तान की प्राप्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता।

सारांश

सितम्बर १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध का ज्वालामुखी फट पड़ा और वायसराय ने केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय विधान मण्डलों से परामर्श किए बिना ही यह घोषणा कर दी कि भारत भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल है। कांग्रेस ने इस अलोकतन्त्रात्मक कार्यवाही का घोर विरोध किया। उसने ब्रिटिश सरकार से मांग की कि वह अपने युद्ध उद्देश्यों को स्पष्ट करे। चूंकि इंगलैण्ड कहने को स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लड़ रहा था इसलिए कांग्रेस ने इंगलैण्ड से मांग की कि वह भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर दे। कांग्रेस की दृष्टि में स्वतन्त्रता की घोषणा इसलिए आवश्यक थी ताकि भारत की जनता में उस युद्ध के बारे में जो उसको अपना भी था उत्साह उत्पन्न हो जाए।

---

१ शिमला सम्मेलन में जो व्यक्ति आमन्त्रित किए गए थे उनमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के अध्यक्षों के अलावा समस्त प्रान्तों के मुख्य मन्त्री और भूतपूर्व मुख्य मन्त्री, भूलाभाई देसाई, नियाकत अली खां, श्री शिवराज और मास्टर तारासिंह भी शामिल थे।

२ पाठक—महात्मा गांधी, पृ० २६।

सरकार ने इस माँग का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। सम्राट, भारत मन्त्री और गवर्नर जनरल सबने वक्तव्य दिए लेकिन उनके वक्तव्यों में सब पुरानी बातें थीं और भारतीय स्वतन्त्रता के प्रश्न की कोई चर्चा नहीं की गई थी। फलतः आठों प्रान्तों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिए।

अपने वक्तव्य द्वारा उत्पन्न किए गए तीव्र विरोध से परेशान होकर वायसराय ने अगस्त प्रस्ताव (१९४०) की घोषणा कर दी। भारत को वचन दिया गया कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् यथाशीघ्र उसे औपनिवेशिक पद दिया जाएगा और नए संविधान के निर्माण करने का उत्तरदायित्व भारतीयों के कन्धे पर होगा। जहाँ तक वर्तमान का सम्बन्ध था वायसराय की बढ़ी हुई कार्यपालिका परिषद् में कुछ प्रतिनिधि भारतीयों को सम्मिलित करने और एक युद्ध-सलाहकार परिषद् की स्थापना करने की बात कही गई थी।

अगस्त प्रस्ताव से कांग्रेस को बिलकुल सन्तोष नहीं हुआ और महात्मा गांधी के अनुसार उसने इंगलैण्ड और भारत के बीच की खाई को और चौड़ा कर दिया। वास्तव में यह जवाहरलाल नेहरू और सी० राजगोपालाचारी जैसे नेताओं की हलचलों के ऊपर जो भारत की प्रतिरक्षा में सक्रिय सहयोग चाहते थे एक प्रतिघात था।

महात्मा गांधी ने सीमित व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया जो केवल नैतिक विरोध की अभिव्यक्ति था। इसमें अहिंसा के पालन पर विशेष बल दिया गया था और केवल कुछ चुने हुए व्यक्तियों को ही सत्याग्रह करने की अनुमति दी गई थी।

दिसम्बर १९४१ में जापान युद्ध में कूद पड़ा। इससे स्थिति पर्याप्त बदल गई। मित्र राष्ट्रों के लिए भारत का पूर्ण सहयोग नितान्त आवश्यक हो गया। अमरिका के राष्ट्रपति ने इंगलैण्ड के ऊपर यह दबाव डाला कि वह भारत के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करे। अमरिकन राष्ट्रपति के दबाव से प्रभावित ब्रिटिश सरकार ने भारत के संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजने का निश्चय किया। क्रिप्स योजना ने युद्ध के पश्चात् भारत की स्वतन्त्रता का वचन दिया लेकिन इसके साथ ही साथ पृथक् भारत से पाकिस्तान की स्थापना करने की भी चर्चा थी। वर्तमान के सम्बन्ध में उसने कार्यकारिणी परिषद् के भारतीयकरण का प्रस्ताव किया। लेकिन नई परिषद् के साथ उत्तरदायी मंत्रिमण्डल का सा व्यवहार नहीं किया जाने को था। इसके अलावा प्रतिरक्षा विभाग अंग्रेजों के ही हाथों में रहने को था। भारत के सभी राजनीतिक दलों ने क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया।

भारतवर्ष में लोगों की आम धारणा यह थी कि क्रिप्स योजना जनता की आँखों में धूल झोंकने का एक प्रयास मात्र था। जिस ढंग से समझौते की बातचीत भंग हुई उसने सारे देश में असन्तोष की एक लहर पैदा कर दी। ८ अगस्त, १९४२ को कांग्रेस महासमिति ने भारत छोड़ो प्रस्ताव पास कर दिया और महात्मा गांधी के

१०३ पाकिस्तान की मांग को जन्म देने वाले कारण

मुस्लिम लीग की राजनीति की रचना में विद्यमान'—विभाजन की मांग का अभिप्राय मूलरूप से स्पष्ट सम्बन्ध विच्छेद था। लेकिन यह ठीक ही कहा गया है कि पाकिस्तान पृथक्तावाद की नीति का स्वाभाविक निष्कर्ष था। मुस्लिम लीग ने पृथक मतदान रक्षा कवचों की बढ़ती हुई मांगों तथा अन्य बहुत सी तरकीबों द्वारा उत्तेजित की गई पृथकतावादी भावना की नींव पर खड़ा किया था।[1] रक्षा कवचों द्वारा जो कुछ भी प्राप्त किया जा सकता था १९३७ तक वह सब प्राप्त कर लिया गया था। मुस्लिम लीग एक प्रतिक्रियावादी संस्था थी उसके ऊपर मुस्लिम नरेशों, जमींदारों, उद्योगपतियों तथा अन्य दूसरे प्रतिगामी तत्वों का नियन्त्रण था। उसके पास सामाजिक और आर्थिक सुधार का कोई कार्यक्रम नहीं था फिर यह मुस्लिम जनता को किस प्रकार अपनी ओर आकृष्ट करती? उसके ऊपर किस प्रकार अपना प्रभाव जमाती? स्पष्ट है कि एक नए नारे की आवश्यकता थी। पृथक मत, पृथक निर्वाचन मण्डल, पृथक प्रान्त इत्यादि रक्षा कवच सम्बन्धी मांग की जा चुकी थी और पूरी हो चुकी थी। अगला कदम सम्भवतः पृथक राज्य की मांग करना था। यह मुस्लिम लीग की राजनीति की रचना में विद्यमान था।[2] पाकिस्तान की मांग चाहे तार्किक दृष्टि से असंतोषपूर्ण और ऐतिहासिक दृष्टि से तथा आर्थिक दृष्टि से विनाशकारी और अल्पसंख्यक वर्गों की समस्या के समाधान के रूप में स्पष्टतया अव्यावहारिक ही क्यों न रहा हो परन्तु वह एक मुस्लिम नारे को अवश्य ही प्रचण्ड रूप दे सकता थी और मुस्लिम जनता को लीग के झण्डे के नीचे एकत्र करने में समर्थ था।

कांग्रेस और संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने का प्रश्न—यह सही है कि पृथक्तावाद का तत्व मुस्लिम लीग को पाकिस्तान की तरफ बराबर खींच रहा था लेकिन हमें यह भी न भूलना चाहिए कि कतिपय अन्य महत्वपूर्ण कारणों ने इस प्रक्रिया की गति तीव्र कर दी। इन कारणों में से एक कारण १९३५ के अधिनियम के अधीन कांग्रेस के बहुमत वाले प्रान्तों में लीग और कांग्रेस के संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने का प्रश्न था। ऐसा मालूम पड़ता है कि १९३७ के निर्वाचन से पूर्व कांग्रेस लीग सहयोग के बारे में कुछ अस्पष्ट सा समझौता था। मि० जिन्ना ने स्वयं इन दलों के बीच अच्छे सहयोग के आधार पर कांग्रेस के साथ मिलकर संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने की इच्छा प्रकट की थी। उन्होंने लिखा था— वस्तुतः इस समय कांग्रेस और लीग में किसी प्रकार का कोई सारभूत अन्तर नहीं है। हम कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में सम्पूर्ण रूप से सहयोग देंगे।[3] लीग विश्वासपूर्वक यह आशा करती थी कि उससे कांग्रेस के साथ संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए कहा जाएगा।[4] कांग्रेस के पास से आशानुरूप

---

१ मेहता और पटवर्धन— दी कम्युनल ट्रायंगल, पृ० ११९।
२ मेहता और पटवर्धन—वही पृ० ११९।
३ सय्यद— जिन्ना पृ० ५५६।
४ साइमण्ड्स— दी मेकिंग आफ पाकिस्तान पृ० ५३।

आमन्त्रण पाया। लेकिन कांग्रेस ने संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए लीग के सामने (यू० पी० में) कुछ शर्तें रखी। वे शर्तें निम्नलिखित थीं, (१) 'मुस्लिम लीग गुट एक पृथक गुट की तरह काम करना बन्द कर देगा, (२) संयुक्त प्रांत की विधान सभा में मुस्लिम लीग के जो वर्तमान सदस्य हैं वह कांग्रेस दल के भाग हो जाएँगे और वह कांग्रेस दल का नियन्त्रण व अनुशासन मानना होगा, (३) संयुक्त प्रांत का मुस्लिम लीग संसद निकाय भंग कर दिया जाएगा और भविष्य में इस निकाय द्वारा किसी भी उप निर्वाचन में सदस्य खड़े नहीं किए जाएँगे।'[1] वैधानिक दृष्टि से और साधारण संसदीय मापदण्डों द्वारा कांग्रेस की कार्यवाही का औचित्य सिद्ध किया जा सकता था।[2] चूंकि कांग्रेस के पास बहुमत काफी था, अतः वह मुस्लिम लीगियों को अपनी शर्तों के अलावा अन्य किन्हीं शर्तों पर लेने पर बाध्य नहीं थी। कांग्रेस का विश्वास था कि उसकी शर्तें मन्त्रिमण्डलों के अनुशासन की दृष्टि से आवश्यक थीं। इनके द्वारा मन्त्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत पर काम कर सकते थे। लेकिन कांग्रेस के आलोचकों ने उसे विजयोन्मत्त बताया। मुस्लिम लीग ने इन शर्तों पर जिनका अभिप्राय उसका विघटन और कांग्रेस में विलीनीकरण था सहयोग देने से इनकार कर दिया।

यह संदिग्ध है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच ऐसा सहयोग किसी प्रकार व्यावहारिक था। तथापि, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मन्त्रिमण्डल में हिस्सा न मिलने से मुस्लिम लीग अत्यंत असंतुष्ट हुई। कूपलण्ड के अनुसार यह मि० जिन्ना का प्रत्यक्ष तिरस्कार था।[3] उन्होंने कहा— मुसलमान कांग्रेस सरकार की अधीनता में न तो न्याय की ही और न सबके साथ समान व्यवहार की ही आशा कर सकते हैं। किसी समय उन्हें हिन्दू मुस्लिम एकता का दूत कहा गया था अब वह शायद भारत में साम्प्रदायिक अहंकार और कलह के प्रतीक हो गए। उन्होंने कांग्रेस की कठोर से कठोर आलोचना शुरू कर दी उसे फासिस्ट हिन्दू संस्था बताया और कहा कि वह देश के अन्य दलों विशेषकर मुस्लिम लीग को कुचलने पर तुली हुई है। भारतीय इतिहास के एक युग विधायक अवसर पर समन्वयमूलक रुख ग्रहण करने में कांग्रेस की असफलता का उल्लेख करते हुए साइमण्ड्स ने लिखा है 'पाकिस्तान के निर्माण में इससे अधिक और किसी एक घटना ने सहायता नहीं दी।' यह कथन स्पष्टतः अतिशयोक्ति है फिर भी इसमें सत्य का थोड़ा अंश अवश्य है।

कांग्रेस का जनसम्पर्क आन्दोलन—जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में प्रारम्भ किए गए कांग्रेस के जन-सम्पर्क आन्दोलन ने भी मुस्लिम लीग को विद्रोही बना दिया। कांग्रेस ने इस बात पर बल दिया कि देश के सामने असली समस्या साम्प्रदायिक नहीं अपितु आर्थिक है और मुस्लिम जनता को अपने साथ मिलाने की कोशिश की।

१ दी हिंदुस्तान टाइम्स—३० जुलाई १९३७।
२ साइमण्ड्स—'दी मेकिंग ऑफ पाकिस्तान" पृ० ५४।
३ कूपलण्ड—'इंडिया, ए रिस्टेटमेण्ट', पृ० १८३।

कुछ समय तक यह आन्दोलन जोरों से चला और कांग्रेस में मुस्लिम सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। लेकिन शीघ्र ही इसकी प्रतिक्रिया भी शुरू हो गई। मुस्लिम लीग ने इस आन्दोलन को अपने अस्तित्व के लिए एक चुनौती समझा। मि० जिन्ना के अनुसार इस आन्दोलन का लक्ष्य मुसलमानों में फूट डालना, उन्हें दुर्बल करना और उन्हें अपने विश्वसनीय नेताओं से पृथक करना था। लीग के पास कोई आर्थिक कार्यक्रम तो था नहीं, फलतः उसने 'इस्लाम खतरे में है' का नारा बुलन्द किया और तकरीर भड़काने की टेक्नीक[1] का आश्रय लिया। उसने कांग्रेस के विरुद्ध जो लोमहर्षक प्रचार किया, उसे प्रत्यक्ष सिद्ध हिन्दू तानाशाही बताया जिसकी अधीनता में मुसलमानों की स्थिति गुलामों से भी बदतर हो गई थी। मुस्लिम लीग इस तथ्य को जानबूझकर भूल गई कि कांग्रेसी प्रान्तों के कुल ५ मन्त्रियों में से ६ मन्त्री मुसलमान थे और ५ मन्त्री दूसरे अल्पसंख्यक वर्गों के प्रतिनिधि थे।

हिन्दुओं के अत्याचार का ढिंढोरा—मुस्लिम जनता के बीच उत्तेजना की एक लहर व्याप्त हो जाए, इस आशय से मुस्लिम लीग ने हिन्दुओं के अत्याचार का अपनी पूरी शक्ति के साथ ढिंढोरा पीटा। कांग्रेस को पदग्रहण किए हुए मुश्किल से आठ महीने बीते होंगे कि मार्च १९३८ में मुस्लिम लीग ने पीरपुर के राजा साहब की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसका उद्देश्य मुसलमानों विशेषकर लीग के कार्यकर्त्ताओं के साथ किए गए दमन और अत्याचार की शिकायतों की जाँच करना था। १५ नवम्बर १९३८ को समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की। रिपोर्ट में समिति ने मुसलमानों के कष्टों की एक लम्बी सूची दी और निष्कर्ष निकाला कि बहुमत के अत्याचार से बढ़कर और कोई अत्याचार नहीं हो सकता।[2] कांग्रेस ने प्रस्ताव किया कि अभियोगों की निष्पक्ष जाँच कराई जाए लेकिन लीग ने वायसराय से न्याय निवारण करवाना अधिक श्रेयस्कर समझा। यह नहीं मालूम कि वायसराय ने लीग द्वारा कांग्रेस पर लगाए गए अभियोगों के ऊपर कोई कार्यवाही की या नहीं। इस सम्बन्ध में सरकार का जो दृष्टिकोण था उसे संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर हैरी हेग ने अपने पद से अलग हो जाने के बाद प्रकट किया। उन्होंने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के विवेक और विचारपूर्ण नीति की प्रशंसा की। प्रो० कूपलैण्ड ने भी जो कि कांग्रेस के किसी प्रकार हिमायती नहीं हैं, लिखा है कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने साम्प्रदायिक अन्याय अथवा उत्पीड़न की नीति का बिल्कुल आश्रय नहीं लिया था।[3] मुस्लिम लीग का अपने निरर्थक अभियोगों की सचाई अथवा निष्पक्ष जाँच की आवश्यकता से कोई नाता नहीं था। उसने उत्पीड़न की गाथा को मुस्लिम जनता पर अपना प्रभाव बनाए रखने और कांग्रेस को पराजित करने के लिए अत्यन्त उपादेय पाया।

---

१ मेहता और पटवर्धन—वही पृ० १२०।
२ राजेन्द्रप्रसाद—खण्डित भारत पृ० २२५।
३ कूपलैण्ड—इण्डिया, ए रिस्टेटमेण्ट, १८५।

दुर्भाग्यवश १९३७ और १९४२ के वर्षों में लीग की यह टकनीक सफल हो गई। इस बीच मुस्लिम स्थानों के लिए जो ६१ उप निर्वाचन हुए, उनमें लीग ने ४७ और कांग्रेस ने केवल १४ स्थान प्राप्त किए।

हिन्दू साम्प्रदायिकता—पाकिस्तान की मांग के रूप में मुस्लिम पृथकतावाद की पराकाष्ठा के लिए कुछ अंशों में हिन्दू महासभा जैसे कतिपय संगठन भी दोषी हैं। प्रारम्भिक चरणों में महासभा के नेता पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय जैसे प्रमुख राष्ट्रवादी थे और उनका मुख्य उद्देश्य कांग्रेस की शक्ति को बढ़ाना था। १९२४ में अपने अध्यक्षीय भाषण में पं० मालवीय ने कहा था यदि किसी हिन्दू ने कांग्रेस का विरोध किया तो यह लज्जा की बात होगी। लेकिन धीरे धीरे कट्टर पंथी और प्रतिक्रियावादी तत्वों ने महासभा के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। मार्शल एडवर्ड्स तो अपनी पुस्तक में बालगंगाधर तिलक को पाकिस्तान की मांग को भड़काने वाला नेता बतलाता है। तिलक के समय जो राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हुई वह आवश्यक रूप से हिन्दू धर्म सम्बन्धी भावनाओं से ओतप्रोत थी। १९३७ में वी० डी० सावरकर ने हिन्दू राष्ट्र के अपने सिद्धान्त का प्रचार करना शुरू कर दिया। १९३९ में उन्होंने कहा "भविष्य में हमारी राजनीति विशुद्ध हिन्दू राजनीति होगी।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद मुस्लिम पृथकतावाद की प्रतिक्रिया था। उसने साम्प्रदायिक भावना की आग तो नहीं फूंकी लेकिन उसकी ज्वालाओं को अवश्य ऊंचा उठाया और मुसलमानों को पाकिस्तान की ओर बढ़ने में प्रेरित किया।

जिन्ना का नेतृत्व—पाकिस्तान राजनीति में सबसे अधिक जिन्ना का प्रमुख हाथ था। १९३४ के पश्चात् मुस्लिम लीग का नेतृत्व जिन्ना ने किया। वह एक सफल इन्द्रप्रस्थिक व कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने निर्द्वन्द्व सिद्धान्त को वास्तविक राजनीतिक व सामाजिक शक्ति प्रदान की। यद्यपि जीवन के प्रारम्भ में जिन्ना का सम्बन्ध मुस्लिम जाति धर्म व भाषा से अधिक नहीं रहा परन्तु प्रान्तीय स्वतन्त्रता के प्राप्ति काल से उसके जीवन में यकायक जो परिवर्तन व उन्नति आयी, वह एक विस्मयकारी घटना था। जिन्ना व्यावहारिक राजनीतिज्ञ होने के नाते केवल साध्य की पवित्रता में भरोसा रखता था। पाकिस्तान के निर्माण के लिए उसने सभी शक्तियों और तरीकों को अपनाया। जिन्ना ने इस भावना की पुष्टि की कि भारत में मुस्लिम जनता एक पृथक राष्ट्र का दावा कर सकती है। जाति धर्म भाषा संस्कृति व इतिहास सभी दृष्टियों से मुस्लिम जनता की एक पृथक राष्ट्र निर्माण की मांग यथोचित है। वह कहता था कि जिस देश में हिन्दू मुसलमान से एक सत्र के सत्रह अनुपात बहुमत रखने को आशा करता है वहाँ मुस्लिम जाति का अखण्ड भारत में रहना कदापि सम्भव नहीं। इस्लाम खतरे में है इस नारे द्वारा उसने मुसलमानों के हृदय को जीता और उन्हें पृथक राष्ट्र बनाने के संग्राम की ओर अग्रसर किया। उसने साम्प्रदायिक प्रगति की ओर उससे सरकार का भी सहयोग प्राप्त किया। वह वर्षों में कमालपाशा के जीवन से अत्यधिक प्रभावित था

और उसके साधन जर्मनी के हिटलर से भी मिलते जुलते थे। इस कथन में सत्यता है कि मुस्लिम पृथकता की नींव जो सर सैयद अहमद खाँ ने १९ वीं शताब्दी में डाली थी उसे जिन्ना ने २० वीं शताब्दी में पूर्ण किया।

अंग्रेजों का हाथ—भारत के ब्रिटिश महाप्रभुओं ने साम्प्रदायिक विष की वृद्धि में सबसे अधिक योगदान दिया। उन्होंने भारत की इन दोनों जातियों के हृदय में एक दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा किया और इस अविश्वास को बढ़ाया। मेहता और पटवर्धन के शब्दों में पाकिस्तान का विचार अंग्रेज भारतीय नौकरशाही के लिए नया नहीं था।[1] १९३९ में स्वयं वायसराय ने बड़े विस्मय के साथ इस बात को नोट किया था कि कतिपय सरकारी पदाधिकारी पाकिस्तान के विचार के प्रति बड़े उत्साही थे।[2] १९४० के पश्चात् जबकि मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान को अपना लक्ष्य घोषित कर दिया था उसने ब्रिटिश सरकार से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन प्राप्त किया। अनुदार दल के भारत मन्त्री मि० एमरी पाकिस्तान की माँग के प्रति सहानुभूति रखते हैं ऐसा प्रख्यात था। अपने सार्वजनिक भाषणों में वह हिन्दू मुसलमानों के मतभेदों का सदा जोर शोर से उल्लेख किया करते थे। एक अवसर पर उन्होंने कहा था भारतीय स्वतन्त्रता के भावी आगार में कई भवनों के लिए स्थान हैं। यह हम पहले देख चुके हैं कि क्रिप्स प्रस्ताव ने विभाजन की सम्भावना को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया था। ब्रिटिश सरकार ने बाद की समस्त उद्घोषणाओं में खण्डित भारत का निरूपण किया यद्यपि वह दिखाने को एकता के गीत गाते रहे।

कतिपय विद्वानों का यह मत है कि पाकिस्तान निर्माण में लार्ड मिंटो ने जिस साम्प्रदायिकता के बीज का सूत्रपात किया था उसकी पूर्ति लार्ड माउन्टबेटन ने की। बाँटो और शासन करो दोनों रूप में प्रयुक्त होता—यह अंग्रेजी शासकों की नीति का साध्य व साधन दोनों था। अंग्रेजी सरकार दूरदर्शी थी और अपने हित को सदैव सम्मुख रखती थी। इस कथन में बड़ी सत्यता है। अंग्रेजों ने किसी भी निज प्रशासित देश को स्वेच्छा व सरलता से स्वतन्त्र नहीं किया। स्वतन्त्रता देने के पूर्व उन्होंने सम्बन्धी देश को गहरा आघात (Parting kick) पहुँचाया। आयरलैंड, भारत, चीन व अफ्रीका और एशिया के कई देश इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अंग्रेज स्वतन्त्र भारत को एक कमजोर राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे क्योंकि कमजोर भारत उनके हित में लाभकर सिद्ध होता। परिणामतः उन्होंने विभाजन के विचार को बल दिया।

१०४ द्वि राष्ट्र सिद्धांत

सिद्धांत का विवरण—मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग और तथाकथित द्वि राष्ट्र सिद्धांत का १९३७ और १९४० के बीच में विकास किया गया। मि० जिन्ना

---

१ मेहता और पटवर्धन—वही पृ० ७८।

२ टामस एलनिस्ट— इण्डिया फार फ्रीडम पृ० ५९।

ने मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में (१९४०) अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए द्वि राष्ट्र सिद्धांत का स्पष्ट रूप से समर्थन किया। उन्होंने कहा "ये (हिंदू धर्म और इस्लाम) शाब्दिक अर्थ में धर्म नहीं हैं प्रत्युत ये दो पृथक और स्पष्ट सामाजिक व्यवस्थाएं हैं। हिंदू और मुसलमान कभी एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में रह सकते हैं, यह कोरा स्वप्न है। हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक सिद्धांत सामाजिक रीति-रिवाज, दर्शन और साहित्य एक दूसरे से सर्वथा पृथक हैं। उनका परस्पर रोटी बेटी का संबंध नहीं है। वस्तुत दोनों का परस्पर विरोधी भावनाओं पर आधारित सभ्यताएं पृथक्-पृथक् हैं। जीवन पर दोनों भिन्न प्रकार से विचार करते हैं। दोनों के जीवन संबंधी दृष्टिकोण में अन्तर है। यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं और मुसलमानों का पृथक्-पृथक् ऐतिहासिक साधनों से प्रेरणा मिलती है। उनकी पुरातन गाथाएं उनके वीर और उन वीरों की कहानियाँ पृथक् पृथक् हैं। प्राय एक वीर दूसरे का शत्रु माना गया है और एक का विजय दूसरे की पराजय। ऐसे दो राष्ट्रों को एक राज्य में गूथने का प्रयत्न जिसमें एक अल्पसंख्यक है दूसरा बहुसंख्यक अवश्य असन्तोष उत्पन्न करेगा और उस शासन व्यवस्था का अन्त करके छोड़ेगा जो ऐसा राज्य चलाने का प्रयत्न करेगी।[1]

इस सिद्धांत ने उन सबको जो भारत के दो पृथक, एक हिंदू और एक मुस्लिम, राज्यों के रूप में विभाजन के समर्थक थे एक नया आधार दिया। अलीगढ़ के मुहम्मद अफजल हुसैन कादरी और प्रोफेसर जफरुल हसन ने यह दावा किया कि भारत के मुसलमान स्वत एक राष्ट्र हैं। हिन्दुओं तथा अन्य गैर मुसलमान दलों से उनका राष्ट्रीय अस्तित्व सर्वथा भिन्न है। वस्तुत सुमेर, जर्मन और चीनी में जितना पार्थक्य था उससे कहीं अधिक पार्थक्य हिंदू और मुसलमानों में है।[2] अलहमजा ने कहा कि भारत एक देश नहीं है उसमें कई देश हैं और इसलिए उसे कई राष्ट्रों में विभक्त समझना चाहिए।[3]

सिद्धांत का आधार धर्म—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्वि राष्ट्र सिद्धांत इस बात को लेकर चला था कि धर्म की भिन्नता ने हिंदुओं और मुसलमानों का एक राष्ट्र के रूप में संगठित होना असम्भव कर दिया है। यह धारणा सर्वथा निराधार थी। राष्ट्रीयता वस्तुत एक मनोवैज्ञानिक तत्व है। यह पारस्परिक एकानुभूति की भावना है। इस एकानुभूति की भावना को उत्पन्न करने वाले तत्व हैं धर्म तो उनमें से केवल एक है। भौगोलिक एकता, समान भाषा और संस्कृति सामान्य इतिहास और परम्परायें आदि तत्व भी राष्ट्रीय भावना की वृद्धि करते हैं। जहाँ तक भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों का संबंध है उनमें ये अधिकांश तत्व उपस्थित हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारत सदैव ही एक प्राकृतिक इकाई रहा है। डा० राजेन्द्र प्रसाद

1 राजेन्द्रप्रसाद— खण्डित भारत पृ १२।
2 राजेन्द्रप्रसाद— खण्डित भारत पृ २।
3 अलहमजा— पाकिस्तान ए नेशन पृ० ७।

ने ठीक ही कहा है "संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं है जिसे समुद्र और पहाड़ों के कारण भारत जैसा अखण्ड रूप प्राप्त हो।" भारतवर्ष में धार्मिक भेदों के कारण प्रजातीय और भाषा सम्बन्धी एकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक बंगाली मुसलमान का किसी पंजाबी मुसलमान की अपेक्षा बंगाली हिन्दू से अधिक निकट सम्बन्ध होता है। बंगाल के हिन्दू और मुसलमान एक भाषा बोलते हैं और यह भाषा सिन्ध के हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा से पृथक् होती है। दोनों ही जातियों ने सामान्य भारतीय संस्कृति के विकास में सहयोग दिया है। यह मिली जुली संस्कृति दोनों के सम्मिलित पुरुषार्थ का फल है। कविता और संगीत में, चित्रकला और स्थापत्यकला में हिन्दू और मुस्लिम परम्पराओं का स्वतःप्रसूत मिश्रण हुआ है। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच यदि कोई वास्तविक अन्तर है तो वह है धर्म का। लेकिन यह साधारणतः स्वीकार किया जाता है कि केवल धर्म ही राष्ट्रीयता का अनिवार्य आधार नहीं है और फिर अधिकांश भारतीय मुसलमान उन हिन्दुओं के वंशज हैं जिन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था। क्या इसका यह आशय है कि धर्म बदल लेने से राष्ट्रीयता भी बदल जाती है?

सिद्धान्त की दुर्बलता—इसमें कोई सन्देह नहीं कि द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त एक राजनीतिक मूर्खता था। लेकिन दुर्भाग्यवश राजनीति के क्षेत्र में वे राजनीतिज्ञ जो प्रत्येक मूल्य पर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए कृतनिश्चय होते हैं, मूर्खताओं का अत्यन्त बुद्धिमत्ता से उपयोग करते हैं। भारतवर्ष में यही हुआ। भारतवर्ष में सांस्कृतिक समन्वय की साधना शताब्दियों से चली आ रही थी। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने उसमें बाधा पहुँचाई और फिर उनके मित्रों सम्प्रदायवादियों ने उसके विकास का पथ अवरुद्ध किया। द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त जो इस समन्वय साधना की सम्भावना का ही निषेध करता था साम्राज्यवादियों और सम्प्रदायवादियों की अभिसन्धि का तर्कसंगत निष्कर्ष था। राष्ट्रीयता मुख्य रूप से भावना का एक मामला है, मानस की एक स्थिति है, शताब्दियों के सामान्य जीवन द्वारा निर्मित सहयोग की एक अनुभूति है, उसे तर्कविहीन परन्तु अनवरत भावुक अपीलों द्वारा विध्वस्त किया जा सकता है। भारतवर्ष जैसे देश के बारे में जहाँ की अशिक्षित जनता के चतुर और कुसंस्कार प्रचार द्वारा सुगमतापूर्वक धोखे में डाला जा सकता है यह विशेष रूप से सत्य है। मुस्लिम लीग के नेताओं ने मुस्लिम जनता की अशिक्षा और धार्मिक भावनाओं का पूरा लाभ उठाया और दुर्भाग्यवश उसमें एक पृथक् राष्ट्रवाद की चेतना का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की। कोई आश्चर्य नहीं कि पाकिस्तान के नारे ने अधिकांश मुस्लिम जनता का उत्साहपूर्ण समर्थन प्राप्त किया।

राष्ट्रीय राज्य और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग—पाकिस्तान के समर्थकों ने द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के विरुद्ध एक शक्तिशाली तर्क की उपेक्षा की। यदि भारत के हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं तो फिर पाकिस्तान की स्थापना होने के पश्चात् उन मुसलमानों का क्या होगा जो भारत में बच रहेंगे? क्या वे भारत में विदेशियों की तरह रहेंगे?

पाकिस्तान में अमुस्लिमों का क्या होगा ? स्पष्ट है कि दोनों ही राज्यों में शक्तिशाली राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग शेष रहेंगे ? लेकिन डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद के शब्दों में राष्ट्रीय राज्य और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग दोनों में परस्पर विरोध है। [1]

राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय राज्य—मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए राष्ट्रीय गृह की अपनी माँग को राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सुप्रसिद्ध सिद्धांत पर आधारित किया। जे०एस० मिल ने इस सिद्धान्त का निम्न शब्दों में निरूपण किया है जहाँ एक राष्ट्रीयता किसी भी मात्रा में विद्यमान हो, उस राष्ट्रीयता के सब सदस्यों को एक ही शासन की अधीनता में जो स्वयं उनका ही एक भाग हो संयुक्त करने के लिए 'प्राथमिकता' कम है। प्रथम महायुद्ध के दौरान यह सिद्धान्त बहुत प्रख्यात हो गया और राष्ट्रपति विल्सन की चौदह शर्तों की आधारशिला बना। युद्ध के पश्चात् यूरोप के मानचित्र की नए सिरे से रचना की गई और राष्ट्रीयताओं की राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने के लिए कई नए राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ।

लेकिन अब कुछ समय से राजनीतिक विचारधारा का झुकाव 'एक राष्ट्र एक राज्य सिद्धान्त' के विरुद्ध हो गया है क्योंकि यह न व्यावहारिक ही है और अवांछनीय भी। राष्ट्रीयताएं एक दूसरे के साथ इतनी अधिक घुलमिल गई है कि वे सटे हुए प्रदेशों में निवास करती हुई कम पाई जाती है। समस्त विभिन्न जातीय राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्गों को निकालकर किसी एकजातीय राष्ट्रीय राज्य का सृजन करना असम्भव है। चाहे कुछ भी हो छोटे छोटे प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य एटोमिक युग में अप्रचलित हो गये हैं। फलतः आधुनिक विश्व की सबसे बड़ी आवश्यकता एक ऐसे राजनीतिक सिद्धांत का सृजन करना है जिसमें राज्य और राष्ट्र सहव्यापी न हों।' फ्रीडमान के अनुसार 'राष्ट्रीयता अब राज्य के लिए आधार प्रदान नहीं कर सकती।' वस्तुतः रूस और स्विटजरलैंड जैसे बहुराष्ट्रीय राज्य इस बात को सिद्ध करते हैं कि एक संघीय राज्य की छत्रछाया में विभिन्न राष्ट्रीयताएं शान्तिपूर्वक निवास कर सकती हैं। और अपनी विशिष्ट संस्कृतियों का विकास तथा संधारण कर सकती हैं। लेकिन भारतवर्ष में मुस्लिम पृथक्तावादियों ने न तर्क की परवाह की और न इतिहास की। वे सर सैयद अहमद खाँ के शब्दों से जिन्होंने कहा था कि हिन्दू और मुसलमान भारतमाता की दो आँखें हैं काफी आगे निकल गये थे। यह भी स्मरणीय है कि द्वि राष्ट्र सिद्धान्त ने हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओं के क्रियाकलापों और उद्घोषणाओं से भी बहुत-कुछ प्रोत्साहन प्राप्त किया। १९ ७ में वी० डी० सावरकर ने घोषणा की 'भारतवर्ष को एक एकात्म और सहजातीय राष्ट्र नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत भारतवर्ष में मुख्य रूप से दो राष्ट्र हैं—हिन्दू और मुसलमान।'[2] यह स्मरणीय है कि इसके एक

१ राजेन्द्रप्रसाद— खण्डित भारत पृ० ४८।

२ हिन्दू महासभा के अहमदाबाद अधिवेशन के अध्यक्षपद से दिया गया व्याख्यान।

ही वर्ष पश्चात् १९३८ में मुस्लिम लीग ने द्वि राष्ट्र सिद्धान्त को गम्भीरतापूर्वक उपस्थित किया।

१०५ पाकिस्तान के लिए आन्दोलन

पाकिस्तान का विचार—बहुधा कहा जाता है कि भारतीय मुसलमानों के लिए एक पृथक राज्य का विचार कविवर इकबाल के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ। मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन (१९३०) में उन्होंने कहा था "कम से कम पश्चिमोत्तर भारत के मुसलमानों का अन्तिम भाग्य मुझे एक दृढ़ पश्चिमोत्तर भारतीय मुस्लिम राज्य की रचना प्रतीत होता है।"[1] इस विचार का विरोध और उपहास तक हुआ, परन्तु उसने कैम्ब्रिज में पढ़ने वाले कतिपय युवक मुस्लिम छात्रों की कल्पना को उत्तेजित किया। उसका नेता रहमत अली था। उसने सबसे पहले १९३३ में भारतीय मुसलमानों को एक राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किया और प्रस्तावित नए राज्य पाकिस्तान के लिए एक योजना तयार की। रहमत अली के पाकिस्तान में पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, कश्मीर और बलूचिस्तान सम्मिलित करने का सुझाव था। उसकी योजना में बंगाल और आसाम को मिलाकर बंग इस्लाम और हैदराबाद के राज्यक्षेत्र का उस्मानिस्तान बनाने की भी चर्चा की गई थी। रहमत अली ने अपने विचार को लोकप्रिय बनाने के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ किया और पाकिस्तान का समर्थन करने वाले पम्फलेटों को ब्रिटिश संसद के सदस्यों तथा गोलमेज परिषद में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों में बाँटा। वस्तुतः उनकी योजना का कोई असर नहीं हुआ और जफरुल्ला खाँ ने संयुक्त संसद समिति के सामने भाषण देते हुए उसे काल्पनिक तथा अव्यावहारिक बताकर अस्वीकार कर दिया।

मुस्लिम लीग पाकिस्तान के लक्ष्य को अपनाती है—सच तो यह है कि १९३७ के पूर्व मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के विचार में कोई विशेष रुचि नहीं ली। निर्वाचन के पश्चात् जब लीग के नेताओं की संयुक्त मन्त्रिमण्डल की आशाएँ फलवती न हो सकीं तब उन्होंने इस्लाम खतरे में है का नारा बुलन्द किया और मुस्लिम जनता को

---

१ यह स्मरणीय है कि इकबाल ने केवल एक ऐसे स्वायत्त राज्य के सृजन की कल्पना की थी जो भाषा, संस्कृति, इतिहास, धर्म और आर्थिक हितों की एकता के आधार पर आधारित हो। उन्होंने मुसलमानों के लिये किसी एक प्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य अथवा राज्यों की माँग नहीं की थी। कूपलैण्ड के अनुसार वे सम्पूर्ण भारत का एक ऐसा शिथिल संघ चाहते थे जिसमें कि केन्द्रीय ससीम सरकार केवल उन शक्तियों का उपभोग करती हो जो कि उसके संघीय राज्यों की स्वतन्त्र सहमति द्वारा निश्चित की जाएँ। थॉमस एडवर्ड के साथ एक भेंट में इकबाल ने अपना यह विचार व्यक्त किया था कि "पाकिस्तान की योजना ब्रिटिश सरकार, मुस्लिम जाति और हिन्दू जाति सबके लिए घातक होगी।"

पाकिस्तान का इन्द्रजाल दिखाकर अपनी स्थिति मजबूत करने की चेष्टा थी। यह स्मरणीय है कि १९३७ के निर्वाचन में मुस्लिम लीग को करारी हार खानी पड़ी थी विशेषकर मुस्लिम-बहुल प्रान्तों में। उदाहरणार्थ बंगाल में वह ११९ मुस्लिम स्थानों में से केवल ३९ पर ही अधिकार कर सकी थी। पंजाब में उसने ८६ स्थानों में से केवल १ ही प्राप्त किया। १९३७ के पश्चात मुस्लिम लीग की शक्ति बहुत तेजी से बढ़ी। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि १९३८ में सिन्ध प्रान्तीय मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में सभापति पद से भाषण देते हुए मि० जिन्ना ने भारत के विभाजन की माँग उपस्थित की। लेकिन यह माँग अभी प्रयोगात्मक थी और जनवरी १९४० में मि० जिन्ना ने एक अंग्रेजी पत्र में लिखा, "भारत में दो राष्ट्र हैं और दोनों को अपनी मातृभूमि के शासन में सामान्य भाग मिलना चाहिए।"[1] कूपलैण्ड ने ठीक ही लिखा है, "भाग लेना पृथक्करण नहीं है और मि० जिन्ना ने अभी उस रेखा को पार नहीं किया था।"[2] लेकिन तीन महीने बाद ही उन्होंने पाकिस्तान का नारा बुलन्द करना शुरू कर दिया। अपने लाहौर अधिवेशन (मार्च १९४०) में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान का प्रस्ताव पास किया। प्रस्ताव में माँग की गई थी कि "भारत के पश्चिमोत्तर और पूर्वी क्षेत्र जैसे मुस्लिम बहुल क्षेत्रों को आपस में मिलाकर स्वतन्त्र राज्य के रूप में संगठित किया जाना चाहिए।" अपने अध्यक्षीय भाषण में मि० जिन्ना ने घोषणा की, "राष्ट्र की किसी भी परिभाषा के अनुसार मुसलमान एक राष्ट्र हैं, अतः उनकी अपनी निवासभूमि, अपना प्रदेश और अपना राज्य होना चाहिए।" इस अधिवेशन के कुछ ही समय बाद मि० जिन्ना ने एसोसिएटेड प्रेस ऑफ अमेरिका को एक वक्तव्य दिया और उसमें कहा कि पाकिस्तान एक लोकतन्त्रात्मक संघीय राज्य होगा जिसमें पश्चिम में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, बलूचिस्तान, सिन्ध और पंजाब व पूर्व में बंगाल और आसाम सम्मिलित होंगे।

पाकिस्तान का विरोध—१९४० के पश्चात् 'पाकिस्तान' मुस्लिम लीग की विचारधारा का केन्द्रबिन्दु हो गया। भारतीय मुसलमानों को दृढ़ सेटिक लक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रान्तियों तथा गुटों ने मुस्लिम लीग के शासन वर्ग में रहना स्वीकार किया। लेकिन यह पाकिस्तान की माँग पर आधार के पद की तरह अभी न थी। पाकिस्तान की धारणा का स्वयं मुसलमानों के बीच ही पर्याप्त विरोध हुआ। अखिल भारतीय स्वतन्त्र मुस्लिम सम्मेलन ने जिसका अधिवेशन दिल्ली में हुआ और जिसमें सिन्ध के प्रधान मन्त्री अल्लाबख्श ने अध्यक्षता की (अप्रैल १९४०) पाकिस्तान की योजना की तीव्र आलोचना की और कहा कि यह योजना मुसलमानों को एक पृथक्त्व निराशावाद में धकेल देगी।[3] उसमें तुर

[1] टाइम एण्ड टाइड १९ जनवरी, १९४०—कूपलैण्ड—इण्डिया ए रिस्टेटमेण्ट पृ० १९१।

[2] कूपलैण्ड—वही पृ० १९१।

[3] राजपूत द्वारा उद्धृत—'मुस्लिम लीग' पृ० ६९।

उलेमा ए हिन्द भी पाकिस्तान की माँग की कट्टर विरोधी थी। उसका कथन था राष्ट्रीय दृष्टि से प्रत्येक मुसलमान भारतीय है। मजलिस ए अहरार ए हिन्द पश्चिमो त्तर सीमाप्रान्त के खुदाई खिदमतगार बलूचिस्तान के राष्ट्रवादी मुस्लिम मजलिस भारतीय मोमिन सम्मेलन और अखिल भारतीय शिया राजनीतिक सम्मेलन आदि दूसरी कई मुस्लिम संस्थाएं पाकिस्तान के विरुद्ध थीं। जहाँ तक गैर मुस्लिमों का सम्बन्ध है उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया था कि वे अपनी मातृभूमि को टुकड़ा करने खण्डित करने वाले प्रत्येक प्रयास का प्राणपण से विरोध करेंगे। पंजाब के सिख अपनी छोटे लेकिन जोशपूर्ण सम्प्रदाय के भविष्य के ऊपर विभाजन के सम्भाव्य परिणामों के बारे में विशेष रूप से शंकित थे और उसका डट कर विरोध करने के लिए कटिबद्ध थे।

कांग्रेस का दृष्टिकोण—कांग्रेस निरन्तर अखण्ड भारत के आदर्श की अनु गामिनी थी। जहाँ कांग्रेस ने स्वयं को मुस्लिम लीग की पाकिस्तान योजना के विरुद्ध घोषित किया वह प्रति छुट जनता के ऊपर बलात् शासन के लिए तैयार नहीं थी और प्रादेशिक आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मानती थी। लेकिन उसका कथन था कि आत्मनिर्णय का सिद्धान्त मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में निवास करने वाले सभी लोगों के ऊपर लागू होना चाहिए।

विरोध की असफलता—मुस्लिम लीग की माँग थी कि मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में आत्मनिर्णय का अधिकार केवल मुसलमानों को ही मिलना चाहिए। तथापि पाकि स्तान का विरोध दो मुख्य कारणों से असफल सिद्ध हुआ। साम्प्रदायवादियों ने अशिक्षित और श्रद्धालु मुस्लिम जनता को हिन्दू तानाशाही का भय दिखाया और घृणाभाव का जमकर प्रचार किया। भोलीभाली जनता उनकी बातों में आ गई। मुस्लिम लीग ने धार्मिक भावना और भावुकता का जो तूफान खड़ा कर दिया विवेक की आवाज उसमें निःशब्द हो गई। इसके साथ ही साथ ब्रिटिश अधिकारियों ने जिन्होंने कि भारतवर्ष में जानबूझकर भेद नीति से काम लिया एकता बनाए रखने के सारे प्रयत्नों को निष्फल कर दिया। आंग्ल भारतीय नौकरशाही ने मि. जिन्ना का पक्ष पर चला लिया और उनके उस पृथकतावादी संघर्ष को जिसने कि भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या को जटिल व साम्राज्यवादी प्रभुत्व को दीर्घ कर दिया सहानुभूति तटस्थता के साथ निहारा।

क्रिप्स योजना और पाकिस्तान—पृथकतावादियों के प्रति ब्रिटिश सहानुभूति क्रिप्स प्रस्तावों (अप्रैल १९४२) में जिनका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं स्पष्ट रूप से व्यक्त होती थी। क्रिप्स योजना में कहा गया था कि द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के तुरन्त बाद भारत का नया संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा की रचना की जाएगी। यह मान लिया गया था कि यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नए संविधान को स्वीकार न करना चाहे तो उसे वर्तमान वैधानिक स्थिति को कायम रखने का अधिकार रहे किन्तु साथ में यह व्यवस्था भी रहेगी कि यदि वह प्रान्त बा

में चाहे तो संविधान में सम्मिलित कर लिया जाए । नए संविधान में सम्मिलित न होने वाले प्रान्तों को यदि वे चाहें तो सम्राट की सरकार नया संविधान देना स्वीकार करेगी और उनका पद भी पूर्ण रूप से भारतीय संघ के समान ही होगा । स्पष्ट है कि योजना में पाकिस्तान की बात प्रकारान्तर से स्वीकार कर ली गई थी । कांग्रेस ने इस योजना को भारतीय एकता की मान्यता के ऊपर कठोर आघात ठीक ही बताया। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग के आन्दोलन के लिए हरी झण्डी दिखा दी और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच संयुक्त भारत के आधार पर समझौते के सब प्रयास निष्फल कर दिए । इस गतिरोध ने भयंकर जी के पिनाक का रूप धारण कर लिया और मुस्लिम लीग की हठधर्मी के कारण उनके निवारण के समस्त प्रयत्न असफल हो गए ।

राजगोपालाचारी का प्रस्ताव—१९४४ में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने गतिरोध को दूर करने की एक असफल चेष्टा की । उन्होंने एक प्रस्ताव उपस्थित किया जिसे महात्मा गांधी का समर्थन प्राप्त था यद्यपि बाद में कांग्रेस ने उसका विरोध किया । इस प्रस्ताव ने पाकिस्तान के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया और इसमें निम्न बातें थीं (१) मुस्लिम लीग स्वतन्त्रता सम्बन्धी भारत की मांग का स्वीकार करेगी और संक्रमण काल के लिए अस्थायी सरकार बनाने में कांग्रेस के साथ सहयोग करेगी । (२) युद्ध के पश्चात् एक कमीशन नियुक्त होगा जो भारत के उत्तर-पश्चिम और उत्तर पूर्व की ऐसी सीमाएं निश्चित करेगा जिनमें मुसलमान स्पष्ट बहुमत में हों । इन क्षेत्रों के समस्त निवासियों का मत निर्णय यह निश्चित करेगा कि उन्हें भारत से अलग होना चाहिए या नहीं । (३) पृथक्करण की स्थिति में प्रतिरक्षा यातायात और दूसरे अनिवार्य प्रयोजनों के लिए समझौते किए जाएंगे । (४) ये शर्तें तभी लागू तथा स्वीकृत होंगी जब कि ब्रिटिश सरकार भारत को सच्चा उत्तरदायित्व तथा सम्पूर्ण सत्ता हस्तान्तरित कर दे ।

मि० जिन्ना ने राजाजी की योजना को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया । उन्होंने इस योजना द्वारा प्राप्त होने वाले लंगड़े और दीमक लगे पाकिस्तान का तिरस्कार कर दिया और कहा कि मैं सिन्ध पंजाब पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त बलूचिस्तान बंगाल और आसाम की अपनी मांग पर टस से मस नहीं होऊंगा । इसके अलावा वे मुस्लिम बहुल क्षेत्रों के गैर मुस्लिम निवासियों को अपने भाग्य निर्णय में कोई अधिकार देने के लिए तैयार नहीं थे ।

१०६ कैबिनेट मिशन और उसके बाद

१९४६ के बसन्त से भारत के संवैधानिक और साम्प्रदायिक गतिरोध के निवारण का अन्तिम दौर प्रारम्भ हुआ । उस समय तक केन्द्र में पुरानी सरकार के स्थान पर अन्तरिम सरकार की स्थापना हो गई थी । भारतवर्ष में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान मण्डलों के लिए साधारण निर्वाचन हो चुका था और उसके महत्वपूर्ण परिणाम प्रकट हुए थे ।

कांग्रेस ने केन्द्र और प्रान्तों में लगभग सभी हिन्दू स्थानों पर विजय प्राप्त कर ली थी। इसी तरह मुस्लिम लीग ने कुल ४९५ मुस्लिम स्थानों में से ४४६ स्थानों पर अधिकार कर लिया था। उसे यदि कहीं असफलता प्राप्त हुई तो केवल पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में। लीग को मंत्रिमण्डल बनाने में केवल बंगाल और सिन्ध में सफलता मिली लेकिन उसकी निर्वाचन विजय ने यह सिद्ध कर दिया था कि मुस्लिम जाति समग्र रूप से पाकिस्तान की मांग का समर्थन करती है।

जिस समय भारतवर्ष में निर्वाचन हो रहे थे ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने भारत के प्रति अपनी सरकार की नीति के सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण वक्तव्य दिए। एक वक्तव्य में उन्होंने कहा कि ब्रिटिश भारत के पूर्ण स्वतन्त्रता और निश्चय करने के कि वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहे या न रहे अधिकार को स्वीकार करती है। अपने दूसरे वक्तव्य में उन्होंने घोषणा की कि एक अल्पसंख्यक वर्ग को इस बात की छूट नहीं दी जा सकती कि वह बहुसंख्यक वर्ग की राजनीतिक प्रगति के मार्ग में रोड़े अटकाए। इसके साथ ही साथ उन्होंने अपनी सरकार के इस निश्चय की भी घोषणा की कि भारतीय समस्या का समाधान प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का एक शिष्टमण्डल भेजा जाएगा।

कैबिनेट मिशन भारत में—कैबिनेट मिशन ने जिसमें भारत मन्त्री लार्ड पथिक लारेंस व्यापार मण्डल के प्रधान सर स्टैफोर्ड क्रिप्स और फर्स्ट लार्ड ऑफ एडमिरेल्टी मि० ए० वी० एलेक्जेण्डर शामिल थे २३ मार्च १९४६ को भारत में पदार्पण किया। कैबिनेट मिशन के सदस्यों ने भारत आने के तुरन्त बाद ही यहां के विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं और प्रतिनिधियों से बातचीत आरम्भ कर दी। ५ मई को मिशन ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के चार चार प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन शुरू किया। लेकिन सम्मेलन किसी समझौते सूत्र को निकालने में सफल न हुआ और अन्ततः १२ मई को भंग हो गया। इस पर कैबिनेट मिशन ने १६ मई १९४६ के राजपत्र में अपने निजी प्रस्तावों की घोषणा कर दी।

कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव (क) पाकिस्तान की अस्वीकृति—राज-पत्र ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग का ध्यानपूर्वक परीक्षण किया और निष्कर्ष निकाला कि एक प्रभुत्व सम्पन्न मुस्लिम राज्य की स्थापना अव्यवहारिक है। कैबिनेट मिशन ने कहा कि पाकिस्तान साम्प्रदायिक समस्या का ठीक समाधान नहीं है सकता। पाकिस्तान की मांग को अस्वीकार करते हुए उसने भारत के एक संघ के निर्माण का प्रस्ताव किया जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्त और देशी राज्य दोनों सम्मिलित हों। भारत संघ ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से अलग हो जाने के लिए स्वतन्त्र होगा।

(ख) संविधान सभा—संविधान सभा के बारे में मिशन ने बताया कि उसके सदस्यों के निर्वाचन का आधार साम्प्रदायिक होगा जिसके अनुसार प्रान्तीय विधान सभाओं के धार्मिक सम्प्रदायों को १० लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया जाएगा। यह संविधान सभा भारत के लिए एक संविधान बनाएगी जो कुछ शर्तों के अधीन होगा।

(ग) भारत संघ अन्तरिम सरकार—इन शर्तों में एक यह थी कि भारत संघ वैदेशिक मामलों, प्रतिरक्षा तथा यातायात का नियन्त्रण करेगा, दूसरे सब विषय तथा अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों में निहित होंगी। जब तक संविधान बनकर तैयार हो उस समय तक के लिए कैबिनेट मिशन ने एक ऐसी अन्तरिम सरकार की स्थापना का प्रस्ताव किया जिसे भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त हो और जिसमें सभी विभाग जनता के विश्वासपात्र नेताओं के हाथों में रहें।

प्रान्तों के वर्गीकरण के ऊपर वादानुवाद—कैबिनेट मिशन की योजना के सर्वाधिक विवादास्पद विषयों में से एक विषय यह था जो प्रान्तों के वर्गीकरण से सम्बन्ध रखता था। इस योजना के अनुसार प्रान्तीय प्रतिनिधि संविधान सभा के प्रारम्भिक अधिवेशन के पश्चात् तीन विभागों में बँट जाएँगे। विभाग (क) में बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त, मद्रास, उड़ीसा और संयुक्तप्रान्त, विभाग (ख) में पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, पंजाब और सिन्ध तथा विभाग (ग) में आसाम और बंगाल सम्मिलित होंगे। यह स्पष्ट है कि अन्तिम दो विभागों में मुसलमानों का बहुमत था। इन विभागों को इस बात का निश्चय करना था कि प्रान्तों के लिए समूह विधान की व्यवस्था की जाए अथवा नहीं और अगर ऐसा किया जाए तो समूह को किन विषयों का प्रबन्ध सौंपा जाए। लार्ड पैथिक लारेंस के अनुसार कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों में "तीन स्तरों के संविधान की कल्पना की गई थी जिसमें सबसे ऊपर भारत संघ होगा ... सबसे नीचे प्रान्त होंगे। लेकिन इसके अतिरिक्त हम यह सोचते हैं कि प्रान्त गुटों के रूप में इसलिए एक साथ सम्मिलित होना चाहें कि सामूहिक रूप से वे एक प्रान्त या अपना और बड़ा क्षेत्र का शक्तियों का संचालन कर सकें।"[1]

अपने प्रस्तावों के पैरा १५ (५) में कैबिनेट मिशन ने कहा था— "प्रान्तों को समूह बनाने की स्वतन्त्रता होगी और प्रत्येक समूह यह तय करेगा कि कौन कौन से विषय समग्र रूप से सामूहिक शासन में रहें। पैरा १९ (५) में उसने कहा था ये विभाग अपने अपने समूह के प्रान्तों के संविधान को तैयार करेंगे और यह भी तय करेंगे कि क्या उन प्रान्तों के लिए कोई सामूहिक संविधान तैयार करना चाहिए। यदि ऐसा हो तो कौन से विषय सामूहिक संविधान के अन्तर्गत रहने चाहिए। प्रस्तावों में यह भी कह दिया गया था कि प्रान्त को अपने समूह से निकल जाने का अधिकार होगा। नए संविधान के अन्तर्गत प्रथम निर्वाचन होने के पश्चात् नया प्रान्तीय विधान मण्डल इस प्रकार का निर्णय कर सकेगा।"

कांग्रेस और लीग के निर्वाचनों में विरोध—स्पष्ट है कि प्रान्तों के वर्गीकरण से सम्बन्ध रखने वाली धाराओं को कुछ गोल मोल शब्दों में व्यक्त किया गया था। निस्सन्देह कांग्रेस ने उनका कुछ और अर्थ लगाया तथा मुस्लिम लीग ने कुछ और। कांग्रेस के दृष्टिकोण से समूहों का निर्माण ऐच्छिक था समझौते की बात चीत के

---

[1] माइकेल ब्रेचर द्वारा उद्धृत— "कैबिनेट मिशन एण्ड आफ्टर" पृ० ५६।

काय मे सहायता दे। कांग्रेस ने यह आमन्त्रण स्वीकार कर लिया और सहयोग के लिए लीग से पुन अनुरोध किया लेकिन लीग टस से मस नहीं हुई। इस पर २ सितम्बर को अन्तरिम सरकार की स्थापना हो गई और श्री जवाहरलाल नेहरू उसके उपाध्यक्ष नियुक्त हुए।

प्रत्यक्ष कार्यवाही का दिन और उसका परिणाम—इसी बीच में घटना चक्र प्रभजन की गति से आगे बढ़ चुका था। मुस्लिम लीग ने १६ अगस्त को प्रत्यक्ष कार्यवाही का दिन निश्चित किया था। बगाल सरकार ने उस दिन सार्वजनिक छुट्टी कर दी। प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस को कलकत्ता और सिलहट में गम्भीर उपद्रव हुए। कलकत्ता के उपद्रव में लगभग ७००० व्यक्ति मारे गये। इसी प्रकार सिलहट और ढाका में भी भयकर रक्तपात हुआ। हिंसा की आग पूर्वी बगाल में जा पहुंची। नोआखाली और टिपरा में जो अत्याचार और रक्तपात हुआ उसने चारों ओर आतक पैदा कर दिया। नारी निर्यातन बलपूर्वक विवाह बलात्कार जबरन धर्म परिवर्तन घरों में आग लगा देने उन पर सामूहिक हमले और प्रसिद्ध परिवारों के इन हमलों के शिकार होने से पूर्वी बगाल में जो अविश्वास फैल गया था वह तीन वर्ष पूर्व बगाल में हुई सामूहिक मृत्युओं से कहीं अधिक भीषण था।[1] केन्द्रीय सभा में वक्तव्य देते हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने साफ कह दिया कि दगे मुस्लिम लीग की पहल और उत्तेजना दिलाने से हुए हैं।

मुस्लिम लीग का अन्तरिम सरकार में प्रवेश—कांग्रेस द्वारा नियन्त्रित अन्तरिम सरकार की स्थापना पर लीग बहुत बेचैन हो रही थी। वायसराय लार्ड वेवल भी लीग को अन्तरिम सरकार में लाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। वार्ताओं के दौरान में उन्होंने सन्तुष्टिकरण नीति से काम लिया था और अक्टूबर में वे मुस्लिम लीग के पाच मनोनीत सदस्यों को बिना उससे इस बात का स्पष्ट वचन लिये कि वह सविधानसभा के काय में सहयोग देगी अन्तरिम सरकार में शामिल करने के लिए सहमत हो गए। मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों ने सविधान सभा के काय में कोई सहयोग नहीं दिया।

१०८ अंग्रेजों का भारत छोड़ने का निश्चय

बिगड़ती हुई परिस्थिति—जैसी कि आशका की जाती थी अन्तरिम सरकार में कांग्रेस लीग की सयुक्तता ने स्थिति को और भी खराब कर दिया। साम्प्रदायिक हालत तेजी से बिगड़ गई। बगाल में जो उपद्रव हुए थे बिहार गढ़मुक्तेश्वर (यू पी०) लाहौर और रावलपिण्डी (पश्चिमी पंजाब) में उनकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। सम्पूर्ण प्रशासन छिन्न भिन्न हुआ जा रहा था। गृह-युद्ध के स्पष्ट लक्षण दिखाई दे रहे थे। मुस्लिम लीग ने हलाकू और चगेजखाँ के दिनों को पुनरुज्जीवित करने की जो धमकी दी थी वह मूतरूप धारण करती हुई प्रतीत होती थी।

२ फरवरी १९४७ की घोषणा—ब्रिटिश सरकार ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत की स्थिति अब उसके काबू से बाहर निकल गई तथा निर्णय करने में

[1] पट्टाभि सीतारामय्या— दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस भाग २ पृ० ८ ६।

जितना ही विलम्ब किया जाएगा उतनी ही यहां की हालत और खराब हो जाएगी। उसने भारत के भाग्य को उसकी जनता के हाथों में छोड़कर यहां से चले जाने का निश्चय किया। प्रधान मन्त्री एटली ने २० फरवरी १९४७ की महत्वपूर्ण घोषणा में इस निर्णय को व्यक्त किया। उन्होंने कहा सम्राट की सरकार स्पष्ट रूप से अपने इस निश्चय को सूचित कर देना चाहती है कि वह जून १९४८ तक जिम्मेदार भारतीयों के हाथ में शक्ति सौंपने के कार्य को सम्पन्न कर देगी। यह घोषणा करते समय ब्रिटिश सरकार ने आशा प्रकट की कि ब्रिटिश शक्ति के भारत से हट जाने की बात भारतीय राजनीतिज्ञों के हृदय में यथार्थबुद्धि पैदा कर देगी और उन्हें वास्तविकताओं का सामना करने तथा उचित समझौता निकालने की सामर्थ्य प्रदान करेगी। लेकिन घोषणा ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि सब प्रकार से प्रतिनिधित्वपूर्ण संविधान सभा जून १९४८ से पूर्व कोई संविधान न बना सकी तो उस स्थिति में 'सम्राट की सरकार को यह विचार करना पड़ेगा कि ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय सरकार का दायित्व पूरे का पूरा ब्रिटिश भारत की किसी केन्द्रीय सरकार को या विभक्त करके वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को अथवा किसी ऐसे ढंग से जो सर्वोचित तथा भारतीयों के लिए यथासंभव लाभपूर्ण हो सौंपा जाए। सत्ता हस्तान्तरण के कार्य को सुगम करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने जो कदम उठाए उनमें एक वायसराय वावेल को वापस बुलाना और उनके स्थान पर लार्ड माउन्टबेटन को नियुक्त करना था।

कांग्रेस द्वारा विभाजन स्वीकार—जैसा कि स्पष्ट है २० फरवरी के वक्तव्य ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग का अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लिया था। फिर लीग ने अखण्ड भारत के आधार पर समझौता करने की कोई उत्सुकता प्रकट न की। उसका संविधान सभा का बहिष्कार चलता रहा और देश की राजनीतिक स्थिति अधिकाधिक बिगड़ती गई। नए वायसराय लार्ड माउन्टबेटन ने परिस्थिति का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया और निर्णय निकाला कि देश की हालत सुधारने के लिए एक क्रांतिकारी उपाय का अवलम्बन करना परम आवश्यक है तथा वह क्रांतिकारी उपाय देश का विभाजन है। उन्होंने भारत के राजनैतिक विभाजन पर आधारित एक योजना तैयार की। कांग्रेस ने आरम्भ में अखण्ड भारत के प्राप्ति के लिए संघर्ष किया था। परिस्थितियों से विवश होकर उसने अनुभव किया कि देश के विभाजन को स्वीकार करना ही ब्रिटिश शासन के अन्त करने और देश को गृहयुद्ध से बचाने का एकमात्र मार्ग है। इसी समय सरदार वल्लभ भाई पटेल ने विभाजन का समर्थन करते हुए कहा कि यदि शरीर का कोई अंग बिल्कुल खराब हो जाय ऐसी अवस्था में उसे शरीर में रखने की अपेक्षा उसे शरीर से पृथक करना उचित समझा है उसी तरह की अवस्था मुसलमानों की भारत में थी। इससे पूर्व कि विभाजन का विष समस्त भारत में व्याप्त हो जाय पटेल ने पाकिस्तान की निर्माण की स्वाभाविक आवश्यकता बता दी। महात्मा गांधी यद्यपि विभाजन के समर्थक नहीं थे परन्तु जैसा कि मुंशी ने अपनी पुस्तक 'ट्रांसफर ऑफ पॉवर' (Transfer of pow-r) में लिखा

है कि हिन्दू मुसलमानों के बीच जो रक्त की होली हुई उससे उनका हृदय बदल गया था और अप्रत्यक्ष रूप से तथा अनिच्छा से उन्होंने अपनी स्वीकृति प्रकट की। लियोनार्ड मुसले का कथन है कि हिन्दुस्तान को कांग्रेस का [illegible] बनाना हो करना तो ठीक है और यह निर्णय हुआ भी इसी तरह।[1] विभाजन को स्वीकार करने का निर्णय उसके २ अप्रैल १९४६ वाले प्रस्ताव के अनुकूल ही था। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि कांग्रेस किसी प्रादेशिक इकाई की जनता को उसकी घोषित और इच्छा के विरुद्ध भारत में बने रहने के लिए विवश करने की बात भी नहीं सोच सकती।

माउण्टबेटन-योजना ३ जून १९४७—माउण्टबेटन-योजना की घोषणा ३ जून १९४७ को की गई। इसमें भारत और पाकिस्तान दो पृथक् डोमिनियनों की स्थापना व बंगाल और पंजाब के विभाजन का निर्णय किया गया था। उसमें अंग्रेजों के भारत से हटने की तारीख को घटा कर १५ अगस्त १९४७ कर दिया था। यह भी तय किया गया था कि बंगाल और पंजाब की विधान सभाओं में मुस्लिम और गैर मुस्लिम बहुल जिलों के जो प्रतिनिधि हैं वे भारत अथवा पाकिस्तान में शामिल होने के प्रश्न पर पृथक्-पृथक् मतदान देंगे। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त और सिलहट (आसाम का मुस्लिम बहुल क्षेत्र) वयस्क मताधिकार पर आधारित जनमत निर्णय द्वारा अपने भविष्य का निर्णय करने को थे। सिन्ध में विधान सभा सामूहिक रूप से इस प्रश्न पर मत प्रदान करने को थी। ब्लोचिस्तान अपनी प्रतिनिधि संस्थाओं की एक संयुक्त बैठक में अपने भविष्य का निर्णय करने को था। इन व्यवस्थाओं के परिणाम पूर्व निश्चित थे। पंजाब के पश्चिमी और बंगाल के पूर्वी जिलों ने पाकिस्तान के पक्ष में मत दिया। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध और ब्लोचिस्तान ने भी यही किया। फलतः १५ अगस्त १९४७ को भारत और पाकिस्तान का दो स्वतन्त्र राज्यों के रूप में अवतरण हुआ। स्वतन्त्र भारत और पाकिस्तान की स्थापना अभूतपूर्व साम्प्रदायिक उपद्रवों, अपहरणों और अनगिनत नर हत्याओं के बीच हुई। इन पाशविक उपद्रवों के फलस्वरूप ५ लाख से अधिक व्यक्ति काल कवलित और एक करोड़ २० लाख से अधिक [illegible] हुए। भारतीय इतिहास का यह दुःखित अध्याय अभी जनता की स्मृति-पटल पर ताजा ही है अतः उसका यहाँ विशद विवरण देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

१०६ १९४७ का भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम

अधिनियम के मुख्य उपबन्ध—माउण्टबेटन योजना के आधार पर ब्रिटिश संसद ने जुलाई १९४७ में भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पास किया। (१) इस अधिनियम ने १५ अगस्त १९४७ को भारत और पाकिस्तान दो प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न राज्यों की स्थापना की और दोनों को औपनिवेशिक पद प्रदान किया। यह व्यवस्था की गई कि ब्रिटिश सरकार दोनों डोमिनियनों की संविधान-सभाओं को सत्ता हस्तान्तरित कर

---

[1] लियोनार्ड मोसले— भारत में ब्रिटिश राज्य के अन्तिम दिन पेज १६२।

देगी और इन संविधान-सभाओं को अपने अपने देशों के लिए इच्छानुरूप संविधान बनाने की स्वतन्त्रता होगी। (२) यह निर्धारित किया गया कि प्रत्येक डोमिनियन का डोमिनियन मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर ब्रिटिश सम्राट द्वारा नियुक्त एक एक गवर्नर जनरल होगा। अधिनियम ने यह उपबन्धित कर दिया कि गवर्नर जनरल और प्रांतीय गवर्नर भविष्य में स्वेच्छाचारी शासकों के रूप में कार्य नहीं करेंगे। दूसरे शब्दों में उन्हें समस्त मामलों में अपनी विवेकी शक्तियों और उत्तरदायित्वों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार आचरण करना पड़ेगा। (३) प्रत्येक डोमिनियन की संविधान सभा उसके विधान मण्डल के रूप में कार्य करेगी तथा उसकी वैधानिक शक्तियों के ऊपर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा (४) प्रत्येक डोमिनियन के विधान मण्डल को पूर्ण विधायिनी शक्ति प्राप्त होगी और १५ अगस्त, १९४७ के पश्चात् ब्रिटिश संसद द्वारा पास किया कोई अधिनियम किसी डोमिनियन पर उसके विधान मण्डल की स्वीकृति के बिना लागू नहीं होगा। (५) अधिनियम ने भारत मन्त्री के पद को समाप्त कर दिया। (६) जब तक नया संविधान बनकर तैयार नहीं हो जाता १९३५ का भारत सरकार अधिनियम कुछ संशोधित होकर भारत का वैधानिक कानून बना रहेगा। (७) जहां तक भारतीय राज्यों का प्रश्न है उनके ऊपर से ब्रिटिश सार्वभौमता समाप्त हो गई और उन्हें नए डोमिनियनों के साथ अपने भावी सम्बन्धों को तय करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए।

१८ जुलाई को अधिनियम पर सम्राट की स्वीकृति प्राप्त हो गई और १५ अगस्त १९४७ को यह प्रभावी हो गया। इस प्रकार भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त हुआ। सैकड़ों वर्षों के पश्चात् भारतवर्ष ने स्वतन्त्रता प्राप्त की परन्तु इसके साथ ही साथ उसे कई दुरूह समस्याओं का भी सामना करना पड़ा। राजनीतिक दृष्टि से भारत सदियों से अखण्ड रहा था उसके विभाजन ने भूभाग की मूल कठिनाइयां खड़ी कर दी। सबसे जटिल समस्या थी देशी राज्यों की। वे अपने को स्वतन्त्र घोषित कर सकने या अपनी इच्छानुसार जिस डोमिनियन में चाहते शामिल हो सकते थे। यहां भारत के बाल्कनिस्तान बनने का गम्भीर खतरा विद्यमान था। यदि देशी नरेश स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित करने व अपने कानूनी अधिकार का प्रयोग कर सकने तो भारत की स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रहता। अंग्रेजों ने दीर्घकाल तक भारत का शोषण किया था और जान-जान व उसमें एक और धन लगा चुके। क्या यह एक जानी-बूझी चेष्टा नहीं थी उस स्वतन्त्रता को अस्तव्यस्त करने के लिए जो उदारता के इतने अधिक प्रदर्शन के साथ दी गई थी? चर्चिल जैसे कई अनुदार राजनीतिज्ञों ने तो यहां तक कहा था कि भारत की स्वाधीनता मृग-मरीचिका से अधिक कुछ नहीं होगी यह गृह-युद्ध की लपटों से छत-विछत हो जाएगा और उसमें अराजकता फैल जाएगी। फलतः इंगलैण्ड उस पर पुनः अपनी प्रभुत्व शक्ति लाने में समर्थ होगा। यह भारतीय राजनीतिज्ञों के साहस और दूरदर्शिता के प्रति श्रद्धांजलि है कि वे अत्यन्त काल में ही देश की स्वतन्त्रता की जड़ जमाने और सीजुर साम्राज्यवादियों की आशाओं को निर्मूल करने में सफल हुए।

११० अंग्रेजों ने भारत क्यों छोड़ा ?

बहुधा पूछा जाता है कि अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्यवादी शासन को क्यों समाप्त कर दिया ? एक उत्तर यह है कि १६४६ में श्रमिक दल सत्तारूढ़ हुआ और वह भारतीय स्वतन्त्रता के प्रस्ताव का समर्थन करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध था। लेकिन यह व्याख्या विशेष सन्तोषजनक नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत छोड़ने का निर्णय कुशल राजनीतिज्ञता का अथवा महात्मा गांधी के शब्दों में ब्रिटिश राष्ट्र का सबसे भला काम था। लेकिन इस बात में सन्देह है कि यह सर्वथा ऐच्छिक था। यह एक तथ्य है कि इंगलैण्ड की समाजवादी सरकार भी उपनिवेशवाद के प्रतिकूल नहीं रही है। आज भी न्यूनाधिक रूप से छोटे और बड़े उपनिवेशों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद एक जीवित शक्ति है। तब फिर इंगलैण्ड ने अपने भारतीय साम्राज्य से हाथ धोने का क्यों निश्चय किया ?

परिस्थितियों की विवशता— सबसे महत्वपूर्ण कारण डा० पट्टाभि सीतारामय्या के अनुसार समय की गति और परिस्थितियों की विवशता है। यह श्रेष्ठ आदर्शवाद नहीं अपितु परिस्थितियों का बल था जिसने अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध ने इंगलैण्ड की शक्ति और प्रतिष्ठा को [illegible] कर दिया था। आर्थिक दृष्टि से उसका दिवाला निकल चुका था और वह अमरीका का मोहताज होकर ही बने रह सकता था। नोर्मन ने अपनी पुस्तक 'ब्रिटिश फॉरेन पालिसी' में लिखा है कि युद्ध की समाप्ति तक ब्रिटेन का इतना आर्थिक ह्रास हुआ कि वह अमरीका का एक अवकाश प्राप्त (Pensioner) बन गया था और उसका भविष्य विदेशी सहायता पर निर्भर करता था। यदि अमरीका ब्रिटेन का [illegible] नहीं देता तो सम्भवतः साम्यवाद की विजय वहां हो जाती। [illegible] अपने राष्ट्रीय और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए [illegible] की आवश्यकता थी। उसकी यह स्थिति न थी कि वह [illegible] में अपने साम्राज्यवादी प्रभुत्व को कायम रखने के लिए पर्याप्त सेना रख सकता।

ब्रिटिश शासन एक निपट असम्भावना—भारतवर्ष की परिस्थितियों ने भी इंगलैण्ड के साम्राज्यवादी शासन को एक निपट असम्भावना कर दिया था। एशिया अपनी युग युग व्यापी तन्द्रा को त्याग कर उठ खड़ा हुआ था और उपनिवेशवाद की मौत की घण्टी बज चुकी थी। भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना इतनी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी कि इंगलैंड ने जनता को शक्ति के द्वारा दबाए रखने की असारता देख ली। सन् ४२ की क्रान्ति अंग्रेजों के लिए एक स्पष्ट चेतावनी थी कि वे शीघ्रातिशीघ्र भारत छोड़ दें अन्यथा भयंकर परिणाम होंगे। आजाद हिन्द फौज का उद्भव और भारतीय नौसेना का विद्रोह भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। अंग्रेजों ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का दमन करने के लिए भारतीय सेनाओं का अब और प्रयोग नहीं किया जा सकता। अंग्रेज अपनी राजनीतिक व्यवहार बुद्धि और अनिवार्यता उपस्थित होने पर समझौते

की तत्परता के लिए प्रख्यात हैं। स्पष्ट था कि यदि अंग्रेज राजी से नहीं जाते तो नाराजी से जाना पड़ता। फलतः उन्होंने भारत छोड़ने का और जनता की सद्भावनाओं को जीतने का निश्चय किया।

१११ सुभाष बोस और आज़ाद हिंद फौज

सुभाषचन्द्र बोस और उनकी आज़ाद हिन्द फौज ने भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। यहाँ उनका कुछ विशद प्रसंग निर्देश करना उचित प्रतीत होता है। नेताजी भारतीय स्वतन्त्रता के एकनिष्ठ पुजारी थे। मातृभूमि की परतन्त्रता की बेड़ियों को काटने के लिए उन्होंने जो अपूर्व बलिदान किए उनके कारण उनका नाम देश के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित

रहेगा। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना अपने जीवन का ध्येय निर्धारित किया। देशबन्धु चित्तरंजनदास के नेतृत्व में उनके राजनीतिक जीवन का श्रीगणेश हुआ और उन्होंने शीघ्रतापूर्वक अनवरत गति से उन्नति की। जब वे ३४ वर्ष के थे कलकत्ता के मेयर निर्वाचित हुए। १९३८ में वे कांग्रेस के अध्यक्ष बने। अगले वर्ष भी उन्होंने कांग्रेस का अध्यक्ष पद जीत लिया। इस बार उन्होंने महात्मा गांधी का खुला विरोध करने पर भी सफलता प्राप्त की। लेकिन कुछ समय बाद ही कांग्रेस के दक्षिण पक्ष के साथ उनका मतभेद इतना तीव्र हो गया कि उन्होंने संस्था छोड़ दी और अपने एक पृथक दल फारवर्ड ब्लाक की स्थापना की।

सुभाष बोस कांग्रेस के वामपक्ष का प्रतिनिधित्व करते थे। वे सरदार पटेल और राजेन्द्रप्रसाद की तरह कट्टर गांधीवादी नहीं थे। अहिंसा का सिद्धान्त उन्हें केवल एक नीति के रूप में मान्य था। यदि गांधीजी भारतीय राष्ट्रवाद के सूर्य थे जिनके चारों ओर कांग्रेस के समस्त ग्रह परिभ्रमण करते थे तो सुभाष बोस एक नक्षत्र थे जिनका अपना एक पृथक ग्रहपथ था। देश के नवयुवकों का संगठन करने में उन्होंने बहुत काम किया था। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के भी वे अध्यक्ष रहे थे। उनका विचार था कि राजनीति के क्षेत्र में गांधीजी असफल रहे हैं।

आज़ाद हिन्द फौज और सुभाष बोस—जुलाई १९४० में भारत सुरक्षा अधिनियम के अधीन सुभाष बोस को गिरफ्तार कर लिया गया। जेल में स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण सरकार ने उन्हें छोड़ दिया और उनके घर पर ही उन्हें नजरबंद कर

दिया। २६ जनवरी १९४१ को वे रहस्यमय ढंग से गायब हो गए और मुल्ला का भेष धारण कर उत्तरी भारत अफगानिस्तान और रूस होते हुए जर्मनी आ पहुंचे। जुलाई, १९४३ में उन्होंने दक्षिण-पूर्वी एशिया में आजाद हिन्द फौज का नेतृत्व सम्हाल लिया। आजाद हिन्द फौज का संगठन सितम्बर १९४१ में भारत के एक क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस ने किया था। इस फौज में वे साठ हजार भारतीय सैनिक सम्मिलित थे जिन्हें ब्रिटिश सेनापतियों ने जापानियों की दया के ऊपर छोड़ दिया था। ये देशभक्त सैनिक रासबिहारी बोस के आह्वान पर जापान की सहायता से भारत की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने को कृत संकल्प हो गए। कप्तान मोहनसिंह ने आजाद हिन्द फौज में नई जान फूंकी और उसे देश की स्वतन्त्रता के लिए मर मिटने का गुरु मन्त्र दिया। वे उसके प्रथम सेनापति थे। जब सुभाष बोस स्थान पर पहुंचे तो आजाद हिन्द फौज को मुंह मांगा वरदान एवं सर्वश्रेष्ठ नेता प्राप्त हो गया। सुभाष बोस को सेना संचालन का कोई अनुभव नहीं था। लेकिन उन्होंने अपने जादू भरे व्यक्तित्व अपूर्व संगठन क्षमता और विलक्षण भाषण कला द्वारा आजाद हिन्द फौज को जिसके पास न अस्त्र शस्त्र का समुचित प्रबन्ध था और न भोजनादि का, एक अनिवार्य लड़ाकू सेना बना लिया। उनके 'दिल्ली चलो' नारे ने सिपाहियों में अपूर्व उत्साह पैदा किया सिपाही अतिशय कठिन परिस्थितियों में रहे और शतकोटि आपत्तियां आने पर भी अपने दृढ़ निश्चय से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए।

उनके मिशन की असफलता और उनकी मृत्यु—आजाद हिन्द फौज ने बर्मा में शानदार लड़ाई लड़ी और कुछ समय के लिए भारत की भूमि में प्रवेश किया। नेताजी की अस्थायी सरकार ने कुछ समय तक मनीपुर और विष्णुपुर के क्षेत्र से राज्य क्षेत्र में जिसका विस्तार लगभग १५००० वर्ग मील था, काम किया। लेकिन युद्ध सामग्री रसद और अन्य सहायता के अभाव और पराजित जापानियों के स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण के कारण आजाद हिन्द फौज को भित्र राष्ट्रों के सम्मुख घुटने टेकने पड़े। सुभाष बोस अपने मिशन को प्राप्त करने में असफल हुए और १८ अगस्त १९४५ को जापान में आत्म समर्पण के कुछ समय बाद ही ४८ वर्ष की अल्पायु में एक हवाई दुर्घटना में उनका देहान्त हो गया।

देश द्रोही नहीं देश भक्त—सुभाष बोस की मृत्यु ने उन्हें अमर बना दिया। भारत की जनता उन्हें अपने देश के एक ऐसे महान सपूत के रूप में सदा याद रखेगी जिसने उसकी स्वतन्त्रता के लिए अपना सर्वस्व बलिदान किया। सुभाष बाबू के हृदय में विदेशी शासन के प्रति घोर घृणा का भाव था। कतिपय पश्चिमी लेखकों ने उन्हें विभीषण बताया। लेकिन यह दोषारोपण सर्वथा मिथ्या था। उन्होंने आजाद हिन्द फौज के एक कठपुतली सेना होने के आरोप का प्रतिवाद किया। अपने सम्बन्ध में एक बार उन्होंने कहा था कि "यदि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ मुझे फुसलाने अथवा परवश करने में असफल हो चुके हैं तो कोई और राजनीतिज्ञ ऐसा करने में सफल नहीं हो सकता।" सुभाष बोस का यह दृढ़ विश्वास था कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में विजय प्राप्त

करने के लिए विदेशी सहायता की अनिवार्य आवश्यकता है। तिलक की भांति उनका भी यह विश्वास था कि अपने साध्य की सिद्धि के लिए मन चाहे साधनों का प्रयोग किया जा सकता है।

सुभाष बोस में जहां इतने गुण थे वहां उनमें कुछ दुर्बलताएं भी थीं। उनमें एक बड़ा दोष यह था कि वे स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बना पाते थे। उनके चरित्र में अहम्मन्यता की प्रधानता थी और अकेले संघर्ष रत रहना उनके लिए सर्वाधिक सुखकर था। महात्मा गांधी के साथ उनके गम्भीर मतभेद थे और उन्होंने कांग्रेस हाई कमाण्ड के 'अवस्थायित्ववाद' के विरुद्ध भयंकर युद्ध किया। वस्तुतः उन पर स्वयं फासिस्ट प्रवृत्तियों वाला व्यक्ति होने का सन्देह किया जाता था। लेकिन उनके वीरतापूर्ण अन्त ने उनकी दुर्बलताओं की स्मृति को भुला दिया और देशवासियों के हृदय मन्दिर में उनकी मूर्ति भारतीय स्वतन्त्रता के उस अमर साधक के रूप में विराजमान है जिसने मातृभूमि की मुक्ति के लिए अपना तन मन धन सभी कुछ निछावर कर दिया।

सारांश

१९३५ के अधिनियम के प्रारम्भ होने के पश्चात मुस्लिम राजनीति में एक नया मोड़ उपस्थित हुआ। अब तक मुस्लिम पृथकतावाद ने अपनी मांग को पृथक निर्वाचक मण्डल, गुरुभार और संरक्षणों तक ही सीमित रखा था। लेकिन १९३८ में द्वि राष्ट्र सिद्धान्त सामने आया और १९४० में मुस्लिम लीग ने पृथक मुस्लिम राज्य पाकिस्तान की मांग अंगीकृत की।

पृथक्करण की इस प्रकार की मांग पृथकतावाद का स्वाभाविक निष्कर्ष था। इसने इसकी प्रत्येक चीज का त्याग कर मुस्लिम लीग ने मुस्लिम जनता पर अपना प्रभाव जमाए रखने के लिए पाकिस्तान का नारा बुलन्द किया। पाकिस्तान की मांग के लिए कुछ और कारण भी उत्तरदायी थे। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ मिलकर संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाना अस्वीकार कर दिया। लीग इससे बहुत क्रुद्ध हुई और कांग्रेस [illegible] के लिए [illegible] तैयार कर दिया। कांग्रेस ने [illegible] पैमाने पर जिस जन-सम्पर्क आन्दोलन को शुरू किया था, मुस्लिम लीग ने [illegible] और [illegible] प्रान्तों में हिन्दू [illegible] की आवाज उठाई थी। [illegible] लीग को मुस्लिम सहानुभूति में सहायता मिली और मुस्लिम समाज पर उसका प्रभाव जम गया। हिन्दू महासभा के [illegible] हिन्दू साम्प्रदायिकता का [illegible] हुआ। [illegible] भारतीय [illegible] में [illegible] और न कुछ [illegible]। उनका [illegible] ने भी पृथकतावाद की भावना को [illegible] दिया।

द्वि राष्ट्र सिद्धान्त मुस्लिम लीग की विचारधारा का केन्द्रबिन्दु और उसकी पाकिस्तान की मांग का आधार बन गया। उसने दावा किया कि हिन्दू और मुसलमान

धर्मों एवं राष्ट्रीय नहीं हो सकते क्योंकि उनके धर्म दर्शन सामाजिक आचार और साहित्य एक दूसरे से भिन्न हैं। यह एक विकट सिद्धान्त था। इसने धर्म को राष्ट्रीयता की एकमात्र कसौटी माना और इस तथ्य की उपेक्षा की कि भारतीय मुसलमान उन हिन्दुओं के वंशज हैं जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। यदि यह बात मान भी लिया जाए कि हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उनके दो पृथक राज्य होने चाहिए। एक राष्ट्र एक राज्य एक मिथ्या सिद्धान्त है और स्विट्ज़रलैण्ड तथा सोवियत रूस जैसे बहुराष्ट्रीय राज्य यह सिद्ध करते हैं कि एक संघीय राज्य की छत्रछाया में कई राष्ट्रीयताएं शान्तिपूर्वक रह सकती हैं।

ही अस्वीकार कर दिया। राजाजी के सूत्र ने भी मुस्लिम बहुल क्षेत्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान लिया। लेकिन कांग्रेस के अधिकारी वर्ग ने उसका तिरस्कार किया और मि० जिन्ना ने भी उसे ठुकरा दिया। इसी बीच में मुस्लिम लीग के साम्प्रदायिक घृणामय प्रचार ने एक भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी और देश गृहयुद्ध की ओर बढ़ता हुआ मालूम पड़ने लगा।

१९४५ में इंगलैण्ड में श्रमिक दल सत्तारूढ़ हुआ और उसने भारतीय समस्या को नए सिरे से सुलझाने का निश्चय किया। भारत में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान मण्डलों के जो निर्वाचन हुए उनसे महत्त्वपूर्ण नतीजे सामने आए। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के प्रश्न को लेकर चुनाव लड़ा था। उसे ४९५ में से ४४६ स्थानों पर विजय प्राप्त हुई। उसे असफलता का सामना केवल पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में ही करना पड़ा। स्पष्ट है कि उसकी माँग को मुस्लिम समाज के बहुमत का समर्थन प्राप्त था।

१९४६ के शुरू में प्रधान मन्त्री एटली ने दो महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिए। इन वक्तव्यों में उन्होंने भारत के स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकार किया और कहा कि अल्पसंख्यक वर्ग को इस बात की छूट नहीं दी जा सकती कि वह बहुमत की राजनीतिक प्रगति के मार्ग को रोके रखे। इसके कुछ ही समय बाद राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के लिए कैबिनेट मिशन ने भारत की यात्रा की। अपनी योजना में मिशन ने पाकिस्तान की माँग को अस्वीकार कर दिया और भारत संघ के लिए तीन स्तर वाले संविधान को बनाने के उद्देश्य से एक संविधान सभा की स्थापना का

सुझाव दिया। जब तक नया संविधान बन कर तैयार न हो जाए उस समय तक के लिए उसने एक ऐसी अन्तरिम सरकार की स्थापना का जिसमें भारत के प्रमुख दलों के प्रतिनिधि सम्मलित हों, प्रस्ताव किया।

कबिनेट मिशन पचाट के प्रकाशन के उपरात भारत मे घटनाचक्र बडी तेजी से घोर भयकरता से बढा। लीग के प्रतिनिधियों ने संविधान सभा का बहिष्कार किया। यद्यपि लीग अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हुई लेकिन पाकिस्तान को प्राप्त करने के प्रयोजन से। उनके प्रत्यक्ष कार्यवाही आन्दोलन ने विशाल साम्प्रदायिक उपद्रवों की एक शृंखला शुरू कर दी। इंगलैण्ड ने जब देखा कि वह भारत में अपना साम्राज्यवादी प्रभुत्व और अधिक कायम नहीं रख सकता तो उसने २० फरवरी १९४७ को जून १९४८ तक भारत छोड देने के अपने ऐतिहासिक निर्णय की घोषणा कर दी। मार्च १९४७ में लार्ड वेवल के स्थान पर लार्ड माउंटबेटन भारत के वायसराय बनकर आए। [illegible] विभाजन और [illegible] भारत और पाकिस्तान की स्थापना [illegible] तैयार था। [illegible] स्थिति को देखते हुए काग्रेस ने एक प्रकार से [illegible] रूप में विभाजन को स्वीकार कर लिया। १५ अगस्त १९४७ को ३ जून [illegible] के अनुसार देश का विभाजन हो गया और पाकिस्तान तथा भारत दो प्रभुत्व सम्पन्न राज्यों के रूप में अवतरित हुए।

अध्याय १५

भारत का नया संविधान

११२ संविधान सभा और नए संविधान का निर्माण

संविधान सभा की मांग—भारतीय गणराज्य का वह संविधान जो २९ जनवरी १९५ को शुरू हुआ भारत की संविधान सभा के परिश्रम का फल था जिसका सबसे पहले ९ दिसम्बर १९४६ को आयोजन किया गया था और जिसने २६ नवम्बर १९४९ को अपना काम पूरा किया। कांग्रेस ने वयस्क मताधिकार पर आधारित ऐसी निर्वाचित संविधान सभा की मांग जो भारत के लिए एक संविधान बना सके सबसे पहले १९३४ में की थी। कांग्रेस ने १९३६ में और फिर बाद के वर्षों में इस मांग को बारम्बार दुहराया लेकिन उसका कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। यह महायुद्ध की विभीषिका का ही फल था जिसने १९४२ में इंगलैंड को क्रिप्स प्रस्तावों में निर्वाचित संविधान सभा के द्वारा भारत के अपने संविधान बनाने के अधिकार को मानने के लिए विवश कर दिया। बाद में ब्रिटिश अधिकारियों ने भारत के प्रति अपनी नीति के सम्बन्ध में जो भी महत्वपूर्ण वक्तव्य दिए उन सब में उन्होंने अपनी इस स्वीकृति को बार-बार दुहराया। भारत की संविधान सभा का गठन कैबिनेट मिशन योजना के उपबन्धों के आधार पर हुआ था।

गठन और निर्वाचन प्रक्रिया—संविधान सभा भारत के प्रमुख सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों से मिलकर बनी थी। विभिन्न प्रान्तों और राज्यों के बीच स्थानों का वितरण मोटे तौर से १ ? लाख की जनसंख्या के ऊपर एक प्रतिनिधि के हिसाब से किया गया था। प्रान्तों में सदस्यों के निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रान्तीय सभा साम्प्रदायिक निर्वाचक समूहों में विभाजित एक निर्वाचक मण्डल के रूप में काम करती थी। ये निर्वाचक समूह आनुपातिक प्रतिनिधित्व के द्वारा एकल संक्रमणीय मत पद्धति के अनुसार अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करते थे। देशी राज्यों के प्रतिनिधित्व की प्रणाली वार्ता के द्वारा निश्चित होने के लिए छोड़ दी गई थी। कैबिनेट मिशन योजना के अधीन प्रस्तावित संविधान सभा की कुल सदस्य संख्या ३८९ थी। इस संख्या में देशी राज्यों के ९३ प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे।

प्रान्तों के लिए स्थानों का निर्धारण निम्न प्रकार से हुआ—

प्रतिनिधित्व-तालिका

विभाग क

प्रांत	साधारण	मुस्लिम	कुल जोड़
संयुक्त प्रान्त	४७	[illegible]	५५
मद्रास	४५	४	४९
बिहार	३१	५	३६
बम्बई	१९	२	२१
सी० पी०	१६	१	१७
उड़ीसा	९	०	९
योग	१६७	२०	१८७

विभाग ख

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	सिक्ख	योग
पंजाब	८	१६	४	२८
सिन्ध	१	३	०	४
पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त	०	३	०	
योग	९	२२	४	३५

विभाग ग

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	योग
बंगाल	२७	३[illegible]	६०
आसाम	७	३	१०
योग	[illegible]	[illegible]	[illegible]

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि [illegible] और कुछ [illegible] प्रत्येक [illegible] प्रतिनिधि [illegible] और पाकिस्तान का [illegible] प्रतिनिधि [illegible]।

संविधान सभा की सीमाएँ—कैबिनेट मिशन योजना के अधीन स्थापित संविधान सभा प्रभुत्व सम्पन्न संस्था नहीं थी। उसकी शक्तियाँ सीमित थीं। उसकी सत्ता मूलभूत सत्ता और प्रक्रिया [illegible] शर्तों से मर्यादित थी।[1] [illegible] कैबिनेट मिशन योजना में वर्णित उस संविधान का मुख्य स्वरूप में कोई फेरफार न कर सकती थी।

---

1 [illegible] एन० [illegible]—दी कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया' पृ० १३-१४।

उदाहरणार्थ वह केन्द्र की प्रतिरक्षा, यातायात और वैदेशिक मामले छोड़कर अन्य कोई विषय हस्तान्तरित नहीं कर सकती थी। इसके अलावा वह ब्रिटिश संसद की अन्तिम सत्ता के अधीन थी।

मुस्लिम लीग द्वारा बहिष्कार—संविधान सभा का पहला अधिवेशन ९ दिसम्बर १९४६ को हुआ। प्रथम अधिवेशन के अवसर पर लीग के प्रतिनिधि उसमें सम्मिलित नहीं हुए। मुस्लिम लीग ने उसका बहिष्कार किया। बाद में यह अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हुई किन्तु वहां उसने हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के लिए पृथक्-पृथक् संविधान सभा की स्थापना की मांग की। तथापि सभा ने मुस्लिम लीग के सदस्यों की अनुपस्थिति के बावजूद भी अपना काम का भाग बना वातावरण प्राप्त था।

स्वतन्त्रता के पश्चात्—भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने संविधान सभा के स्वरूप को बिलकुल बदल दिया। अब वह पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संस्था बन गई। कैबिनेट मिशन योजना के अधीन उसके ऊपर जो प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे वे सब हट गए। सभा ने विभिन्न समितियों की रिपोर्टों पर विचार किया और ३१ अगस्त १९४७ को डाक्टर अम्बेदकर की अध्यक्षता में इन रिपोर्टों के आधार पर नए संविधान के प्रारूप को अन्तिम रूप देने के लिए एक प्रारूपसमिति नियुक्त की। प्रारूप समिति ने प्रारूप २१ फरवरी १९४८ को अध्यक्ष के सम्मुख उपस्थित किया और २६ फरवरी को उसे जनता के लिए प्रकाशित कर दिया गया। ५ नवम्बर १९४८ को प्रारूप संविधान संविधान सभा के सम्मुख उपस्थित किया गया और २६ नवम्बर १९४९ को उसे कतिपय परिवर्तनों सहित अंतिम रूप से पास व अंगीकृत किया गया। इस प्रकार संविधान सभा को स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाने में दो वर्ष ग्यारह महीने व आठ दिन लगे। नया संविधान २६ जनवरी १९५० के दिन प्रवृत्त हो गया।

११३ नए संविधान की प्रमुख विशेषताएं

लिखित और कठोर संविधान—भारत का नया संविधान संसार का सबसे बड़ा संविधान है। इसमें ३९५ अनुच्छेद और ८ अनुसूचियां हैं। इस प्रकार यह एक

१ संघीय शक्ति समिति, संघीय संविधान समिति, राज्य संविधान समिति, मूलभूत अधिकारों और अल्पसंख्यक वर्गों पर परामर्शदात्री समिति, कबायली क्षेत्रों पर परामर्शदात्री समिति आदि।

लिखित संविधान है। यह एक अभिप्राय में कठोर भी है। देश का कोई भी विधान मण्डल उसके सबसे महत्वपूर्ण उपबन्धों को केवल संशोधित नहीं कर सकता। लेकिन यदि हम अपने संविधान की अमेरिका, स्विटजरलैंड और आस्ट्रेलिया के संविधानों से तुलना करके देखें तो पता चलेगा कि हमारा संविधान इन देशों के संविधानों की अपेक्षा कम कठोर है। संविधान में वर्णित संशोधन की प्रक्रिया न बहुत कठिन है न बहुत जटिल। संविधान ने राष्ट्रपति को यह शक्ति दे दी है कि वह आपात की उद्घोषणा निकालकर उसके संघीय ढांचे को एकात्मक ढांचे में बदल सकता है। इससे भी संविधान में लचीलेपन के तत्व का समावेश हो गया है। यदि राज्य परिषद् अपने दो तिहाई बहुमत से घोषणा कर दे कि राज्य सूची में प्रगणित प्रमुख विषय का संघीय विधान मण्डल के क्षेत्राधिकार में आना राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है तो उस विषय पर साधारण परिस्थितियों तक में संघीय विधान मण्डल कानून बना सकता है।

यह भारत को प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित करता है—संविधान भारत को एक प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित करता है। भारतीय संविधान का गणराज्यात्मक स्वरूप इस तथ्य से प्रकट है कि राज्य का दायित्वधारी प्रधान कोई आनुवंशिक नरेश नहीं, अपितु निर्वाचित राष्ट्रपति है। सार्वभौम वयस्क मताधिकार का सूत्रपात, पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन गणों और अस्पृश्यता का अन्त, समर्थनीय मूल अधिकारों का अनुदान तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका का संगठन आदि तथ्य ऐसे हैं जो भारतीय संविधान के लोकतन्त्रात्मक आधार की पुष्टि करते हैं। संविधान की प्रस्तावना में भारत के समस्त नागरिकों के लिए स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व प्राप्त कराना है और इस लक्ष्य को प्रस्तावना में प्राप्त कर लिया गया है। भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य है लेकिन इससे उसकी प्रभुत्व शक्ति पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

एकात्मक आभा सहित संघीय संविधान—संविधान भारत में संघीय राज्य की स्थापना करता है। उसने निर्धारित किया कि भारत अर्थात् इण्डिया राज्यों का संघ होगा। दूसरे संघों की तरह भारत में भी दो प्रकार की सरकार है—संघ की सरकार और राज्यों की सरकारें। संविधान शक्तियों का केन्द्र और अवयवी इकाइयों के बीच तीन सूचियों—संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची में बिल्कुल स्पष्ट रूप से वितरण करता है लेकिन यह स्मरणीय है कि यद्यपि भारतीय संघ में संघ शासन की सामान्य विशेषताएं तो अवश्य विद्यमान हैं वह एक प्रकार का संघ रहा है। उसमें निश्चित रूप से एकात्मक अभिनति है। भारत अमेरिकन संघ की अपेक्षा कनाडियन संघ के अधिक समीप है।

संसदीय शासन प्रणाली—संविधान ने भारतसंघ के लिए केन्द्र और राज्यों दोनों स्थानों पर संसदीय शासन प्रणाली को अंगीकृत किया है। भारत में राष्ट्रपति

और राज्यों के राज्यपालों (अथवा राजप्रमुखों) से यह आशा की जाती है कि वे वैधानिक प्रधान के रूप में कार्य करेंगे। यद्यपि संविधान ने उनकी स्थिति को बिलकुल स्पष्ट नहीं किया है। तथापि मन्त्री वैधानिक दृष्टि से विधानमण्डल के निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी हैं। यह चीज भविष्य के गर्भ में छिपी हुई है कि भारत की संसदीय प्रणाली इंगलैण्ड के आदर्श का अनुगमन करेगी अथवा अपने एक नए आदर्श का निर्माण करेगी।

भारतीय संविधान में समन्वय प्रवृत्ति

भारतीय संस्कृति में समन्वय की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति भारत के नवीन संविधान में दृष्टिगोचर होती है। हमारे विधान निर्माताओं का उद्देश्य संविधान को श्रेष्ठ व प्रगतिशील बनाने का था। इसलिए इसमें विश्व के अन्य संविधानों की अपेक्षा समन्वय एवं मौलिकता दोनों के दर्शन होते हैं। हमारे संविधान पर सबसे अधिक प्रभाव १९३५ के भारत के संविधान का पड़ा है। उदाहरण के लिए संविधान में संघात्मकता संकटकालीन शक्ति व्यवस्था तीन सूचियाँ व इकहरी नागरिकता आदि में १९३५ का अनुकरण दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार ब्रिटेन की संसदीय पद्धति को हमने भारत में व्यावहारिक रूप दिया है। कनाडा से हमने अवशिष्ट शक्तियों का केन्द्र में निहित होना लिया है। संविधान में राजनीति निर्देशक तत्व तथा राज्य सभा में कला साहित्य और विज्ञान के आधार पर सदस्यों का मनोनीत करने की प्रणाली आयरलैण्ड के विधान से ली है। हमारे संविधान के प्रस्तावना की भाषा फ्रांस के संविधान की भाषा से मिलती जुलती है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के स्वरूप संगठन व शक्तियों में अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय का प्रभाव दिखाई पड़ता है। जहाँ तक संविधान में मौलिकता का प्रश्न है वह भी संविधान में प्राप्त है। समस्त चुनावों का नियन्त्रण एवं चुनाव कमीशन द्वारा होता इस संविधान की अपनी विशेष व्यवस्था है। इसी भाँति संविधान में वर्णित मताधिकार प्रणाली में विभिन्न पद्धतियों का समन्वय तथा संविधान में संविधानपरता और संघात्मकता और एकात्मकता नवीनता और ठोस का समन्वय हमारा निजी अनूठी विशेषता के द्योतक हैं। यह अवश्य है कि संविधान में पश्चिमी पद्धतियों को भारतीय प्राचीन पद्धतियों के स्थान पर विशेष स्थान दिया है लेकिन ऐसा करना स्वाभाविक और आवश्यक भी था। भारत की प्राचीन शासन पद्धति में वर्तमान भारत की समस्याओं का कोई हल नहीं मिलता और प्राचीन हिन्दू शासन पद्धतियाँ भी पृथक पृथक थीं। लेकिन फिर भी संविधान में भारतीय संस्कृति की रक्षा का सफल प्रयास किया गया है। गाँधी जी के विचारों की संविधान पर गहरी छाप मौजूद है। भारतीय संस्कृति सहनशीलता तथा न्यायप्रियता के अनुकरण में विश्वास रखती है। हमने समन्वय द्वारा विशालता व सहृदयता का परिचय दिया।

मूल अधिकार— संविधान में एक अध्याय नागरिकों के मूल अधिकारों के ऊपर है। इन अधिकारों का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता और इन्हें न्यायालयों द्वारा बाध्यता दी जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि वह कानून अथवा अध्यादेश जो

इनमें किसी अधिकार का अपहरण करता है और उच्च न्यायालयों व सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किया जा सकता है। नागरिक इन अधिकारों के प्रवर्तन और संरक्षण के लिए सर्वोच्च न्यायालय अथवा राज्यों के उच्च न्यायालयों की शरण तक जा सकते हैं। मूलभूत अधिकारों (अनुच्छेद १२ से ३५ तक) में भारत के नागरिकों को यह गारण्टी दी गई है कि वे कानून की दृष्टि में बिना भेदभाव के बराबर समझे जाएँगे उन्हें भाषण उपासना और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता रहेगी शान्तिपूर्वक सभाएं करने और समुदाय बनाने का उन्हें अधिकार रहेगा संघ के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र में घूमने फिरने की कहीं भी बसने की और किसी भी जीविका वाणिज्य या व्यवसाय की स्वतन्त्रता का व उपभोग करेंगे। संविधान ने मानव के पण्य और बलात् श्रम का प्रतिषेध कर दिया है और नागरिकों का अन्त करण की तथा धर्म के अबाध मानने

धार्मिक अधिकार प्रदान किए हैं। धर्म के सम्बन्ध में संविधान ने प्रत्येक नागरिक को अपनी स्वेच्छानुसार धर्म का चुनाव करने से पालन करने की स्वतन्त्रता दे दी है। यदि किसी व्यक्ति का धर्म में विश्वास नहीं है तो वह अपने धर्म विरोधी विचारों को भी धारण कर सकता है। राज्य स्वयं का किसी धर्म विशेष से सम्बन्ध नहीं करता और सब धर्मों पर सम दृष्टि रखता है। राज्य का मुख्य उद्देश्य नागरिकों की भौतिक सामाजिक और राजनैतिक उन्नति करना है, उनकी आध्यात्मिक उन्नति का पथ व्यक्ति स्वयं प्रशस्त कर सकता है यह उसका व्यक्तिगत या वैयक्तिक मामला है।

११४ नागरिकों के मूल अधिकार

अधिक विस्तृत और यथार्थ—भारत के संविधान ने नागरिकों को कई मूल अधिकार प्रदान किए हैं। अमरिका, सोवियत रूस और अन्य प्रथम आदि संसार के प्रमुख देशों के संविधान में भी एक अध्याय नागरिकों के मूल अधिकारों पर विद्यमान है। इस प्रकार नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान करना हमारे संविधान की कोई अपनी निजी विशिष्ट विशेषता नहीं है लेकिन अन्य कि जो अब तक हम कहते आ रहे हैं नए भारतीय संविधान में जनता को प्रदान किए गए मूल अधिकार दूसरे अन्य देशों के संविधानों में पाए जाने वाले मूल अधिकारों से अधिक विस्तृत और यथार्थ हैं। चाहे नए संविधान ने भारत की जनता को मूल अधिकार नाम की वस्तु सब प्रथम प्रदान की है, इस पूर्व जनता मूल अधिकारों से सर्वथा वंचित थी, अतः इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। संविधान के भाग ३ का जिसमें इन अधिकारों का एक लम्बी सूची दी गई है भारत के मैग्ना कार्टा के नाम से पुकारा गया है।

अधिकारों की सात श्रेणियां—संविधान में वर्णित अधिकारों की सात श्रेणियां हैं—(१) समता अधिकार (२) स्वातन्त्र्य अधिकार (३) शोषण के विरुद्ध अधिकार (४) धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार (५) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (६) सम्पत्ति का अधिकार और (७) संवैधानिक उपचारों के अधिकार।

(१) **समता अधिकार**—समता के अधिकार में राज्य के सम्मुख समता, धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर किसी भी प्रतिबन्ध और राज्याधीन नौकरी के विषय में अवसर-समता सम्मिलित है। संविधान अस्पृश्यता का अन्त करके और दूकानों, सार्वजनिक भोजनालयों तथा मनोरंजन के स्थानों में सब लोगों को समान रूप से प्रवेश का तालाब, कुओं, स्नानघाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग का अधिकार देकर समता अधिकार को व्यावहारिक बना देता है। समता अधिकार सेना या विद्या सम्बन्धी उपाधियों को छोड़कर शेष उपाधियों को समाप्त करता है। समता अधिकार पूर्ण है और वह सब नागरिकों को बिना किसी अपवाद के प्राप्त है। फिर भी संविधान में इस बात का उल्लेख है कि स्त्रियों, बच्चों और पिछड़े हुए वर्गों को समान धरातल पर लाने के लिए विशेष उपबन्ध किए जा सकते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत के संविधान का लक्ष्य भारत में सामाजिक

लोकतन्त्र की स्थापना करना है। अमेरिका संसार का सबसे प्रगतिशील लोकतन्त्रात्मक देश है लेकिन वहाँ भी रंग के आधार पर विभेद की भावना का दण्ड योग्य अपराध नहीं माना गया। अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान में जिन समता अधिकारों का उल्लेख किया गया है, वे अमेरिकन संविधान के समता अधिकारों की अपेक्षा अधिक वास्तविक और विध्यात्मक हैं।

(२) स्वातन्त्र्य अधिकार—स्वातन्त्र्य अधिकार (अनुच्छेद १६) इस बात की गारण्टी देता है कि सब नागरिकों को वाक स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का, संस्था या संघ बनाने का, भारत राज्य क्षेत्र में अबाध संचरण का, भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का, सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्यय करने का तथा कोई वृत्ति उपजीविका व्यापार या कारबार करने का अधिकार होगा।

(३) स्वातन्त्र्य अधिकार पर प्रतिबन्ध—स्वातन्त्र्य अधिकार किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं है। इनके ऊपर कई बड़े बड़े प्रतिबन्ध लगे हुए हैं और इन प्रतिबन्धों की कई विधान विशारदों ने कड़ी आलोचना की है। उदाहरणार्थ उनका कथन है कि निवारक निरोध अधिनियम के अधीन जिसे संविधान का सम्मोदन प्राप्त है किसी भी नागरिक को तीन महीने तक और संसद की स्वीकृति मिलने पर इससे भी अधिक समय तक बिना परीक्षण के जेल में रखा जा सकता है। आलोचकों का मत है कि यह कानून स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की भावना के प्रतिकूल है इसकी आड़ में शासन अपने राजनीतिक विरोधियों को कुचल सकता है। इसके विपरीत राज्य की मान्यता यह है कि समाज विरोधी तत्वों का सामना करने के लिए ये प्रतिबन्ध आवश्यक हैं। भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर संविधान अधिनियम (प्रथम संशोधन) द्वारा जिसे संसद ने जून ५१ में पास किया था और अधिक प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं। यह अधिनियम राज्य को एक प्रकार कानून की निर्मिति का अधिकार देता है जो राज्य की सुरक्षा विदेशी राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्धों सार्वजनिक व्यवस्था, सुशालता व नैतिकता के हित में हो अथवा न्यायालय की मानहानि, अपकीर्ति या अपराध की उत्तेजना से सम्बन्ध में हो। आलोचकों ने इस संशोधन की कठोर आलोचना की है और इसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर भयंकर आघात बताया है। सत्तालोलुप शासक इस अधिनियम का प्रयोग कर जनता को उसकी आधारभूत स्वतन्त्रताओं से वंचित कर सकता है।

(४) शोषण के विरुद्ध अधिकार—शोषण के विरुद्ध अधिकार मानव के पण्य और बेट-बेगार तथा इसी प्रकार के अन्य बलात् श्रम का प्रतिरोध करता है व इस उपबन्ध के उल्लंघन को अपराध ठहराता है जो कानून के अनुसार दण्डनीय है। संविधान इस बात का भी उपबन्ध करता है कि चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को किसी कारखाने में नौकर न रखा जाएगा और न किसी दूसरी संकटमय नौकरी में लगाया

जाएगा। इन अधिकारों का उद्देश्य भारत में एक ऐसी समाज व्यवस्था को कायम करना है जिसमें कि सबल व्यक्ति निबल का शोषण न कर सकें। ये अधिकार नव-जात भारत राज्य को लोक कल्याणकारी राज्य का रूप प्रदान करते हैं।

(४) धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार—भारतवर्ष विभिन्न धर्मों की सम्मिलन भूमि है। संविधान ने समस्त नागरिकों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार प्रदान किया है (अनुच्छेद २५)। इन अधिकारों के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि इनका प्रयोग सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य आदि के अधीन रहते हुए किया जाए। संविधान ने यह भी निर्धारित किया है कि राज्य द्वारा पोषित शिक्षा संस्थाओं में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी और राज्य से अभिज्ञात शिक्षा-संस्थाओं में जो राज्य की निधि से सहायता पाती हैं किसी भी विद्यार्थी को धार्मिक शिक्षा में भाग लेने अथवा धार्मिक उपासना में संलग्न होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकेगा। तथापि संविधान ने इस बात का उपबन्ध कर दिया है कि राज्य धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियमन अथवा निर्बन्धन कर सकता है और हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म-संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोल सकता है।

(५) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार—संविधान में संस्कृति और शिक्षा-सम्बन्धी अधिकारों का भी उल्लेख है। अनुच्छेद २६ में कहा गया है कि भारत के नागरिकों के किसी विभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा और राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित न रखा जाएगा। अनुच्छेद ३० धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार देता है व इस बात का उपबन्ध करता है कि शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है। ये अधिकार भारत में अल्पसंख्यक वर्गों के लिए एक नए युग का उद्घाटन करते हैं और उन्हें सांस्कृतिक स्वाधीनता की गारण्टी देते हैं।

(६) सम्पत्ति का अधिकार—अनुच्छेद ३१ सम्पत्ति के अधिकार का निरूपण करता है। संविधान ने निश्चित किया है कि "कोई व्यक्ति कानून के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा" और कोई भी सम्पत्ति सार्वजनिक उपयोग के लिए मुआवजा दिए बिना कब्जाकृत या अर्जित नहीं की जा सकती। इसके अलावा राज्य के विधानमण्डल द्वारा पास किया गया कोई भी ऐसा कानून जो सम्पत्ति

के अनिवार्य अर्जन का उपबंध करता हो तब तक प्रभावी नहीं होगा, जब तक कि उस पर राष्ट्रपति की अनुमति न मिल गई हो। वैयक्तिक सम्पत्ति से सम्बद्ध संविधान के उपबन्ध काफी विवादास्पद रहे हैं। समाजवादी और साम्यवादी इन उपबन्धों की कठोर आलोचना करते हैं। विधान शास्त्रियों का भी यह मत है कि इन उपबन्धों के कारण भारतवर्ष में समाजवाद के अनिवार्य तत्वों सहित लोकतन्त्र की स्थापना करना कठिन हो जाएगा जमींदार और सम्पत्तिशाली वर्ग कृषि-सुधारों के मार्ग में रोड़े अटका सकते हैं। उक्त आलोचना निराधार नहीं है यह इस बात से स्पष्ट है कि कतिपय राज्यों द्वारा पास किए गए जमींदारी उन्मूलन कानूनों को वैध करने के लिए संविधान का संशोधन करना पड़ा है।

(७) संवैधानिक उपचारों के अधिकार—संविधान उन संवैधानिक उपचारों के अधिकारों का भी उपबन्ध करता है जिनके द्वारा उपर्युक्त अधिकारों को प्रवर्तित कराया जा सकता है। संविधान का अनुच्छेद ३२ प्रत्येक नागरिक को इस बात के लिए अधिकृत करता है कि वह संविधान द्वारा प्रदत्त किए गए अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए न्यायालयों की शरण ले सकता है। इन अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को एक आदेश या लेख जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) परमादेश (Mandamus) प्रतिषेध (Prohibition) अधिकार पृच्छा (Quo warranto) और उत्प्रेषण (Certiorari) के प्रकार के लेख भी हैं निकालने की शक्ति प्राप्त है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन—यह स्पष्ट है कि साधारण परिस्थितियों में संविधान द्वारा प्रदत्त किए गए नागरिकों के मूल अधिकारों की न्यायतया रक्षा आवश्यक की जा सकती है। दूसरे शब्दों में यदि राज्य साधारण परिस्थितियों में नागरिकों के इन मूल अधिकारों के अतिक्रमण का प्रयास करे तो न्यायालय उनकी रक्षा में प्रवृत्त हो सकता है। अन्य प्रजातन्त्रात्मक देशों में भी मूल अधिकारों की यही स्थिति है। इसके अलावा अमेरिका की तरह भारत में भी न्यायपालिका को यह अधिकार दे दिया गया है कि यदि संसद अथवा राज्य विधानमण्डल द्वारा पास किया गया कोई कानून मूल अधिकारों के प्रतिकूल हो तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है।

परन्तु भारतीय संविधान के मूल अधिकारों में कतिपय ऐसी बातें हैं जिनके ऊपर बराबर विवाद उठ खड़ा हुआ है। प्रत्येक अधिकार के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। ये प्रतिबन्ध ऐसे हैं जिनके बारे में कहा जा सकता है कि यदि संविधान एक हाथ से अधिकार देता है, तो दूसरे हाथ से उसे छीन लेता है। भारत के संविधान के विपरीत अमेरिका का संविधान नागरिकों के मूल अधिकारों का बिलकुल निर्भ्रान्त रूप से निरूपण करता है। भारत में मूल अधिकारों के ऊपर जो प्रतिबन्ध लगाए गए हैं उनकी वजह से कभी-कभी न्यायपालिका के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह कार्यपालिका अथवा विधानमण्डलों के अतिक्रमणों के विरुद्ध उनकी रक्षा कर सके।

सम्भवत भारतीय संविधान द्वारा गारण्टी किए गए मूल अधिकारों का सबसे विवादास्पद पहलू यह तथ्य है कि इन अधिकारों में सबसे महत्वपूर्ण अधिकार अर्थात् वे अधिकार जो भाषण, अभिव्यक्ति, शान्तिपूर्ण सम्मेलन और भ्रमण आदि की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखते हैं भारत के राष्ट्रपति द्वारा उस समय जब कि वह आपात की उद्घोषणा निकालता है स्थगित किए जा सकते हैं। इस प्रकार की उद्घोषणा की अवधि के दौरान में राष्ट्रपति न्यायालयों में इन मूल अधिकारों को लागू करने का अधिकार भी ले सकता है। यह ठीक है कि मूल अधिकारों का स्थगन केवल थोड़े से काल के लिए ही हो सकता है लेकिन इसके लिए किए गए उपबन्ध पर आलोचकों ने कई प्रहार किए हैं। उनका कहना है कि इन उपबन्धों की आड़ में कार्यपालिका अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकता है और जनता के ऊपर तानाशाही लाद सकती है। शासन का इन उपबन्ध के समर्थन में यह कथन है कि राष्ट्रीय शासन को संकटों में मूल अधिकारों को स्थगित करने का अधिकार राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक है और सार्वजनिक स्वतन्त्रता को कायम रखना व्यक्ति की स्वतन्त्रता से अधिक महत्वपूर्ण है। ऐसी स्थिति में बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि शासन अपनी आपात शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग करता है। यदि शासन राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि लक्ष्य में रखते हुए अपनी आपात शक्तियों का प्रयोग करता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह सुरक्षा और व्यवस्था के नाम में जनता के स्वातन्त्र्य अधिकारों को बलिदान करता।

आइवर जेनिंग्स के मत में भारत के संविधान में दिये गये मौलिक अधिकार अस्पष्ट और जटिल सूत्रों का परिणाम है। उनमें अनेक गुण से भरे हैं और सिद्धान्तों की कमी। इनमें कुछ तो उन्नीसवीं सदी के उदारवाद के भाव पाये जाते हैं। इसमें ब्रिटेन की राजनैतिक समस्याओं के परिणाम दिखाई देते हैं। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध कांग्रेस के अनुभवों के स्मारक चिह्न भी स्पष्ट हैं तथा इसमें ऐसी सामाजिक प्रथाओं के संकेत भी प्राप्त हैं जो समय और परिस्थितियों के कारण विकसित हो गये। कुछ विद्वानों ने मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में यहाँ तक भी कह डाला है कि ये अधिकार मूल अधिकार नहीं मूल अन्याय हैं। भारतीय रक्षा कानून के अन्तर्गत मौलिक अधिकारों का अन्त किया जा सकता है और देश में सत्तारूढ़ दल उसका अनिश्चित तरीके से प्रयोग कर सकता है। केरल में कुछ समय पूर्व में जो साम्यवादियों के साथ हुआ है उससे जनता में भ्रम व क्षोभ उत्पन्न है लेकिन यह भी हम आवश्यक रूप से नहीं भूल सकते कि देश की सुरक्षा का प्रश्न व्यक्तिगत हित या दल हित से ऊपर है। इस तरह की भ्रान्ति केवल इसीलिए उत्पन्न होती है कि भारत में नौकरशाही व नेतृत्व भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं है और जनतन्त्र की सुरक्षा देश रक्षा से ऊपर मानने लगते हैं। इसके अतिरिक्त मौलिक अधिकारों की प्रयोगात्मक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ और भी आक्षेप किये गये हैं। यह ठीक है कि मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालयों की शरण ली जा सकती है लेकिन वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए

न्यायालय द्वारा सुरक्षा प्राप्त करना सम्भव नहीं। न्यायालय तक पहुँचने के लिए जो खर्चा व समय चाहिए वह हमारे देश के साधारण व्यक्ति की सीमा के बाहर है। आवश्यकता है कि न्याय भारत में सस्ता, साधारण व अविलम्ब हो। न्यायालय की अपेक्षा हम अपने अधिकारों को जनमत शक्ति द्वारा अधिक आसानी से सुरक्षित कर सकते हैं। सतत निगरानी स्वतन्त्रता का दाम है। किन्तु भारत में जनमत शक्ति अपने उद्देश्य में बहुत निकट भविष्य में सफल हो सकेगी थोड़ा कठिन प्रतीत होता है। इंग्लैंड जैसे देश में कई शताब्दियों के अविरत प्रयत्न के पश्चात जनमत अपने अधिकारों की रक्षा कर सका है। भारत जैसे निर्धन व अशिक्षित देश में जनमत को प्रभावशाली बनाने में कुछ समय लगेगा। अधिकारों के सम्बन्ध में जो चौथ [illegible] के पूर्व सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जो निर्णय दिया गया है वह बहुत महत्वपूर्ण है। इस निर्णय के अनुसार संसद मौलिक अधिकारों पर किसी भी नये कानून को पारित कर हस्तक्षेप नहीं कर सकती। शुद्ध जनतन्त्र के हित में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मौलिक अधिकारों की रक्षा प्रशंसनीय है।[1]

११५ राज्य की नीति के निर्देशक तत्व

निर्देशक तत्वों का अभिप्राय—भारतीय संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों का समावेश एक ऐसी विशेषता है जो आयरलैंड के संविधान से ग्रहण की गई है। इन निर्देशक तत्वों का पालन करना राज्य के लिए सर्वथा आवश्यक नहीं है, ये निर्देशक तत्व तो केवल आदर्श हैं। संविधान की प्रस्तावना में एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना की बात कही गई है जिसमें जीवन के सभी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में समानता, स्वतन्त्रता और न्याय विद्यमान हों। राज्य की नीति के निर्देशक तत्व उन साधनों का निरूपण करते हैं जिनके द्वारा ऐसी समाज व्यवस्था कायम की जा सकती है। अनुच्छेद ३७ ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन तत्वों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी तो भी ये देश के शासन में मूलभूत हैं और कानून बनाने में उनका प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।' अनुच्छेद ३८ में कहा गया है कि राज्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय पर आधारित समाज व्यवस्था की स्थापना का प्रयास करेगा। राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों का भाग ४ में बड़ा भार है। सुविधा की दृष्टि से इनका निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है—(क) आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक कल्याण से सम्बद्ध निर्देशक तत्व (ख) न्याय, शिक्षा और स्वतन्त्रता से सम्बद्ध निर्देशक तत्व तथा (ग) प्रशासन निर्देशक तत्व।

(क) आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक कल्याण से सम्बद्ध निर्देशक तत्व—अनुच्छेद ३९, ४१, ४२, ४३, ४६, ४७ और ४८ मुख्यतः आर्थिक मामलों से सम्बद्ध हैं। अनुच्छेद ३९ में कहा गया है कि राज्य अपनी नीति का इस प्रकार संचालन करेगा जिससे समान रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को आजीविका के समान साधन

---

१ हिन्दुस्तान टाइम्स [illegible] मार्च, १९६७।

उपलब्ध हो सकें, समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो सके आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन साधनों का अहितकारी केन्द्रण न हो सके, पुरुष और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिल सके श्रमिक स्त्रियों और पुरुषों के स्वास्थ्य तथा शक्ति और बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो सके एवं आर्थिक विवशताओं से लाचार होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु और शक्ति के अनुकूल न हों तथा शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से और नैतिक व आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो सके। अनुच्छेद ४१ बेकारी, बुढ़ापा, अंगहानि तथा अन्य अनर्ह अभाव की दशाओं में नागरिकों के सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार का स्वीकार करता है। अनुच्छेद ४२ में कहा गया है कि राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिए उपबन्ध करेगा। अनुच्छेद ४३ में कहा गया है कि राज्य श्रमिकों के लिए निर्वाह मजदूरी आदि का प्रबन्ध करेगा और कुटीर उद्योगों की उन्नति के लिए चेष्टाशील होगा। अनुच्छेद ४६ में कहा गया है कि राज्य अनुसूचित जातियों के शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा। अनुच्छेद ४७ में स्वीकार किया गया है कि आहार पुष्टि तल और जीवन स्तर को ऊंचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के सुधार करने का राज्य का कर्तव्य होगा। अनुच्छेद ४८ में कहा गया है कि राज्य कृषि और पशुपालन को वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठन करेगा व गोवध का प्रतिषेध करेगा।

(ख) न्याय, शिक्षा और लोकतन्त्र से सम्बद्ध निर्देशक तत्व—राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों में कुछ ऐसे भी हैं जो न्याय की सुरक्षा, शिक्षा के विस्तार और लोकतन्त्र के प्रसार का उपबन्ध करते हैं। अनुच्छेद ४४ और ५० न्याय की सुरक्षा से सम्बन्ध रखते हैं। अनुच्छेद ४४ में कहा गया है कि राज्य भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए समान व्यवहार संहिता प्राप्त करने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद ५० में कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण की बात कही गई है। शिक्षा के विस्तार के सम्बन्ध में अनुच्छेद ४५ ने निर्धारित किया है कि राज्य इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का प्रयास करेगा। भारत में लोकतन्त्रात्मक भावनाओं के प्रसार के लिए निर्देशक तत्वों में ग्राम पंचायतों के संघटन की बात कही गई है। अनुच्छेद ४० ने निश्चित किया है कि राज्य ग्राम पंचायतों को संघटन करने के लिए अग्रसर होगा तथा उनको ऐसी शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों।

(ग) प्रकीर्ण निर्देशक तत्व—अनुच्छेद ४९ और ५१ को हम प्रकीर्ण निर्देशक

तत्त्वों में गणना कर सकते हैं। अनुच्छेद ४९ में राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों, स्थानों और चीज़ों के संरक्षण की बात कही गई है। राज्य का यह आभार होगा कि वह विनाश, व्ययन और निर्यात से इनकी रक्षा करे। अनुच्छेद ५१ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति से सम्बन्ध रखता है। इसमें कहा गया है कि—

राज्य—

(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का

(ख) राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखने का

(ग) सङ्गठित लोगों के एक दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सन्धि बन्धनों के प्रति आदर बढ़ाने का तथा

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निबटाने के लिए प्रोत्साहन देने का प्रयास करेगा।'

निदेशक तत्त्वों का संविधानिक महत्त्व—राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों की इस आधार पर आलोचना की गई है कि इनमें केवल कुछ पवित्र इच्छाओं का ही उल्लेख मात्र है। प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा ने संविधान के अध्याय ४ की, जिसमें राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का वर्णन किया गया है, आलोचना करते हुए लिखा है कि इनमें कुछ उत्तम प्रस्ताव, बहुत-सी पवित्र इच्छाएं और कुछ ऐसे अधिकार जिनकी संविधान द्वारा गारण्टी दी जा सकती थी समाविष्ट हैं।[1] स्त्रियों और पुरुषों को समान काम के लिए समान वेतन मिले इसकी न केवल संविधान द्वारा गारण्टी ही दी जा सकती है अपितु इसे कानून द्वारा परिवर्तित भी किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रारम्भिक निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध निदेशक तत्त्वों में न होकर यदि मूल अधिकारों में समाविष्ट होता तो कहीं अधिक श्रेयस्कर था।

राज्य की नीति के ये निदेशक तत्त्व बहुत अस्पष्ट हैं। संविधान में इस बात का साफ-साफ उल्लेख कर दिया है कि 'इन उपबन्धों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी, परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी साफ-साफ कह दिया गया है कि ये तत्त्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्त्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।' इस प्रसंग में 'मूलभूत' का क्या अभिप्राय है?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त आलोचना में सत्य का एक बहुत बड़ा पक्ष है लेकिन हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि राज्य की नीति के इन निदेशक तत्त्वों में कुछ श्रेष्ठ आदर्श निहित हैं। इन आदर्शों का संविधान में समावेश राज्य को निरन्तर इस बात की स्मृति दिलाता रहेगा कि वह इन आदर्शों की सिद्धि के लिए यत्नशील हो, अपनी नीतियों को इस प्रकार निर्धारित करे ताकि ये आदर्श खाली आदर्श ही न रह जाएं अपितु मूर्तरूप धारण कर सकें। ये आदर्श किसी भी सत्तारूढ़

---

१ प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा—'इण्डियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइन्स' में 'डायरेक्टिव प्रिंसिपल्स ऑफ दी इण्डियन कान्स्टीट्यूशन', भाग १०, अङ्क ३, पृ० २४।

दल की अच्छाई और बुराई की कसौटी हो सकते हैं। जो सत्तारूढ़ दल जितना ही इन आदर्शों को मूर्तरूप देने में सफल हो उसकी उतनी ही प्रशंसा करना स्पष्ट है। जनता किसी भी सत्तारूढ़ दल की नीतियों और कार्यों का सही सही मूल्यांकन इन आदर्शों के प्रकाश में कर सकती है। इसके अलावा लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की यह अनिवार्य विशेषता है कि उसमें लोकमत समय समय पर बदलता रहता है। फलतः यदि आज एक दल शासन की बागडोर को सम्हाल रहा है तो कल दूसरा दल शासन की बागडोर सम्हाल सकता है यदि आज अनुदार प्रवृत्तियों का दल सत्तारूढ़ है तो कुछ समय पश्चात् क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का दल सत्तारूढ़ हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में राज्य की नीति के ये निर्देशक तत्व इस बात की गारन्टी करते रहेंगे कि अनुदार दल अपनी नीति के निर्धारण में इन तत्वों की पूर्णतः उपेक्षा न करे और दूसरे साथ ही साथ क्रान्तिकारी दल अपने आर्थिक व अन्य कार्यक्रमों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए यह न अनुभव करे कि संविधान में कांट छांट करने की आवश्यकता है। श्री एम० सी० सीतलवाड़ के शब्दों में राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों के सम्बन्ध में संविधान निर्माताओं का उद्देश्य था। यह उद्देश्य था कि ये तत्व प्रज्वलित ज्योति के रूप में राज्य के सभी प्राधिकारियों का राष्ट्र निर्माण के प्रयासों में मार्ग दर्शन करें और राष्ट्र धन धान्य समृद्धिशाली और शक्तिशाली बने जिससे यह विश्व के अन्य राष्ट्रों में अपना योग्य स्थान प्राप्त कर सके।[1] एन० आर० मड़ेर के मत में अभिप्राय की दृष्टि से ये सिद्धान्त नागरिक के सामाजिक सांस्कृतिक राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय सभी बातों को स्पष्ट करते हैं।

यदि इन निर्देशक तत्वों के व्यावहारिक मूल्य के सम्बन्ध में जो भ्रान्तियां हैं उनको स्पष्ट कर देना भी जरूरी है। यह भी सुस्पष्ट है कि इन निर्देशक सिद्धान्तों के कार्यान्वित होने पर ही हम हमारे देश में कल्याणकारी राज्य बनने की आशा कर सकते हैं। राजनैतिक जनतन्त्र की सफलता—आर्थिक सुरक्षा, समानता व विकास पर निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में भारत सरकार की नीति स्पष्ट है और पिछले कुछ वर्षों में पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सरकार ने जो बहुउद्देशीय योजनायें और औद्योगिक प्रगति की है वह इस बात का द्योतक है कि सरकार इन सिद्धान्तों के प्रति कितनी जागरूक और प्रयत्नशील है। देश में कानून द्वारा बुढ़ापे में पेंशन बीमारी में आर्थिक सुरक्षा, काम समय सीमा का निर्धारण तथा श्रमिक विकास व उनकी सुविधाओं की उचित व्यवस्था कर दी गई है। बापू जिन बातों के पुजारी और [illegible] थे और उनकी भावनाओं को निर्देशक तत्वों में जो स्थान दिया गया है उसे भी कार्यान्वित कर दिया गया है। इनमें से कुछ हैं जैसे ग्रामीण एकता, ग्राम पंचायतों का विकास, खादी कुटीर उद्योगों का जाल, गोवध का अंत व अनुसूचित जातियों का उत्थान। जनता में इस भ्रान्ति का भी उन्मूलन करने का प्रयत्न किया जा रहा

---

1 श्री एम० सी० सीतलवाड़— भारतीय संविधान (भाषण माला) के अन्तर्गत राज्य की नीति के निर्देशक तत्व पृ० १४।

करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।" वास्तव में अस्पृश्यता भारतीय समाज का और विशेष रूप से हिन्दू समाज का एक बहुत बड़ा कलंक रहा है। इसका अन्त करके संविधान ने धर्म निरपेक्षता के मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा को दूर कर दिया है।

धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार—संविधान के अनुच्छेद २५-२८ धर्म स्वातन्त्र्य के अधिकारों से सम्बन्ध रखते हैं और इसलिए वे नए धर्म निरपेक्ष राज्य की आधार शिला हैं। सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण तथा धर्म के अबाध मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता दी गई है। लेकिन राज्य को किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं के विनियम और निर्बन्धन से चाहे वे धार्मिक आचरण से ही सम्बद्ध क्यों न हों वंचित रखा गया है। राज्य को ऐसे कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है जो सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करते हों अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोलते हों। सिक्खों को कृपाण धारण करने का अधिकार दे दिया गया है। धार्मिक सम्प्रदायों और प्रतिबद्ध धार्मिक संस्थाओं को सम्पत्ति के उपार्जन, स्वामित्व और प्रशासन करने का अधिकार दे दिया गया है। कोई भी नागरिक ऐसे करों को देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता जिसके आगम किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिए विशेष रूप से विनियुक्त कर दिए गए हों। राज्यनिधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षा-संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती। राज्य से अभिमान्य अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली शिक्षा-संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए अथवा ऐसी शिक्षा संस्था में की जाने वाली धार्मिक उपासना में भाग लेने के लिये विद्यार्थियों को बाध्य नहीं किया जा सकता लेकिन यदि वे स्वेच्छा से चाहें तो भाग ले सकते हैं।

अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण—अनुच्छेद २९ और ३० में अल्पसंख्यक वर्गों के हितों के संरक्षण के लिए उपबन्ध निर्धारित किए गए हैं। नागरिकों के किसी विभाग को जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है उसे बनाये रखने का अधिकार होगा। राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जायगा। धर्म या भाषा पर आधारित समस्त अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और उनका प्रशासन करने का अधिकार दिया गया है। शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह विद्यालय धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है। इन समस्त उपबन्धों का ध्येय यही है कि धार्मिक मामलों में बिना किसी बाध्यता के ज्ञान विज्ञान और शिक्षा का अधिकाधिक विस्तार हो सके।

उसे ईश्वर के समान पूजनीय मानें। धियाक्रेटिक राज्य एक धर्म विशेष से सम्बद्ध होता है और उसके कायदे कानून धर्म पुस्तकों के अनुसार निर्मित होते हैं। पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही क्षेत्रों में इस प्रकार के राज्य रहे हैं।

भारत मे धर्म निरपेक्ष राज्य की आवश्यकता— भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्ष राजतन्त्र की पुन स्थापना का म तव्य बिलकुल स्पष्ट है। आजादी की लड़ाई के दौरान जिस साम्प्रदायिक विद्वेष का यहाँ विकास हुआ और जिसके कारण देश खण्डित हुआ व मानव रक्त की सरिता बही उसकी सबसे बड़ी भर्त्सना यही है कि धर्म और राजनीति का समन्वय धर्म और राजनीति दोनों के लिए ही विनाशकारी है। इसके अलावा भारत में कई धर्मों के मानने वाले लोग रहते हैं। ऐसी दशा में राज्य स्वयं को किसी एक धर्म विशेष से कैसे सम्बद्ध कर सकता है? राज्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह सब धर्मों के प्रति सम दृष्टि रखे अर्थात् धर्म निरपेक्षता की नीति को अपनाए।

धर्म निरपेक्षता और भारतीय संविधान —भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को यहाँ तक अपनाया गया है? संविधान की प्रस्तावना में ईश्वर की कोई चर्चा नहीं है और न किसी धार्मिक भावना को ही कोई स्थान दिया गया है। भारतीय गणराज्य का उद्देश्य देश में सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना करना निश्चित किया गया है। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के मूलमन्त्रों—स्वतन्त्रता समता और बन्धुता को भी प्रस्तावना में जोड़ दिया गया है। स्वतन्त्रता और समानता शब्दों की तो वैधानिक महत्ता है और बन्धुता एक नैतिक मूल्य है। धर्म शब्द युग युगान्तर से हिन्दू विधान का उद्गम रहा है। प्रस्तावना में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

नागरिकता का आधार धर्म नहीं—संविधान के भाग दो में नागरिकता के आधार और नियम का वर्णन किया गया है। नागरिकता धर्म वंश और रंग के आधार पर नहीं अपितु प्रादेशिक आधार पर निर्भर है। संविधान ने भारत राज्य क्षेत्र में जन्म अधिवास और निवास को ही नागरिकता की कसौटी माना है। संविधान के भाग तीन में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख है। इन अधिकारों को समता अधिकार स्वातन्त्र्य अधिकार संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार आदि विभिन्न भागों में बाँट दिया गया है। इन अधिकारों में वे अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने धार्मिक परम्पराओं द्वारा आरोपित भेदभावों का अन्त कर दिया है।

धार्मिक भेदभावों का अन्त—अनुच्छेद १५ जाति लिंग मूलवंश या जन्म के आधार पर विभेद का प्रतिषेध करता है। सड़कों कुओं और स्नानघाटों जैसे सार्वजनिक स्थानों के उपयोग का जनता के सभी वर्गों को अधिकार दे दिया गया है। यही सिद्धान्त राज्याधीन नौकरी के विषय में भी लागू होता है। अनुच्छेद १७ में कहा गया है कि अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता का लागू

करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।" वास्तव में अस्पृश्यता भारतीय समाज का और विशेष रूप से हिन्दू समाज का एक बहुत बड़ा कलंक रहा है। इसका अन्त करके संविधान ने धर्म निरपेक्षता के मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा को दूर कर दिया है।

धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार—संविधान के अनुच्छेद २५-२८ धर्म स्वातन्त्र्य के अधिकारों से सम्बन्ध रखते हैं और इसलिए वे नए धर्म निरपेक्ष राज्य की आधारशिला हैं। सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण तथा धर्म के अबाध मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता दी गई है। लेकिन राज्य को किसी प्रकार का लौकिक क्रियाओं के विनियम और निर्बन्धन से चाहे वे धार्मिक आचरण से ही सम्बद्ध क्यों न हों वंचित रखा गया है। राज्य को ऐसे कानून बनाने का शक्ति प्राप्त है जो सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करते हों अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोलते हों।" सिक्खों को कृपाण धारण करने का अधिकार दिया गया है। धार्मिक सम्प्रदायों और प्राइवेट धार्मिक संस्थाओं को सम्पत्ति के उपार्जन स्वामित्व और प्रशासन करने का अधिकार दे दिया गया है। कोई भी नागरिक ऐसे करों को देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता जिसके आगम किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिए विशेष रूप से विनियुक्त कर दिए गए हों। राज्यनिधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती। राज्य से अभिज्ञान अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली शिक्षा-संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए अथवा ऐसी शिक्षा संस्था में की जाने वाली धार्मिक उपासना में भाग लेने के लिये शिक्षार्थियों को बाध्य नहीं किया जा सकता लेकिन यदि वे स्वेच्छा से चाहें तो भाग ले सकते हैं।

अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण—अनुच्छेद २९ और ३० में अल्पसंख्यक वर्गों के हितों के संरक्षण के लिए उपबन्ध निर्धारित किए गए हैं। नागरिकों के किसी विभाग को जिसकी अपनी विशेष भाषा लिपि या संस्कृति है उसे बनाये रखने का अधिकार होगा। राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जायेगा। धर्म या भाषा पर आधारित समस्त अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और उनका प्रशासन करने का अधिकार दिया गया है। शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह विद्यालय धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है। इन समस्त उपबन्धों का ध्येय यही है कि धार्मिक मामलों में बिना किसी बाध्यता के ज्ञान विज्ञान और शिक्षा का अधिकाधिक विस्तार हो सके।

अनुसूचित जातियों के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध—संविधान के भाग १६ में अनुसूचित जातियों के सम्बन्ध में कतिपय विशेष उपबन्धों का उल्लेख है। कहा जा सकता है कि ये उपबन्ध धर्म निरपेक्ष राज्य की विशुद्ध विचारधारा के प्रतिकूल पड़ते हैं। परन्तु इन उपबन्धों का उतना सैद्धान्तिक महत्त्व नहीं जितना व्यावहारिक महत्त्व है। ये उपबन्ध स्थायी नहीं रहेंगे। अनुसूचित जातियाँ बहुत पिछड़ी हुई हैं व नाना प्रकार की निर्योग्यताओं की शिकार हैं। यदि उनके लिए विशेष उपबन्ध नहीं किए जाते तो फिर उनकी उन्नति कैसे होगी? जैसे ही ये जातियाँ देश में भारत के अन्य वर्गों को पकड़ लेंगी ये उपबन्ध समाप्त कर दिए जायेंगे।

११७ भारत संघ

भारत में संघीय विचार की वृद्धि—यद्यपि ब्रिटिश शासन ने भारत में उच्च कोटि की केन्द्रित एकात्मक शासन प्रणाली स्थापित कर दी थी फिर भी यह बराबर अनुभव किया जा रहा था कि भारत जैसे विशाल देश के लिए जहाँ जातियों धर्मों और भाषाओं की विभिन्नता विद्यमान है अतिशय केन्द्रीकरण किसी भी दशा में उपयुक्त नहीं है। माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में भविष्य में भारत को राज्यों के एक संघ के रूप में संगठित करने की चर्चा की गई थी। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में भारत को एक संघ के रूप में संगठित करने की बात पर स्पष्ट रूप से विचार किया गया था। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया लेकिन इस संघ का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। स्वतन्त्र भारत के संविधान निर्माताओं ने संघवाद को देश के नए संविधान के ढाँचे के आधार रूप में स्वीकार किया।

भारतीय संविधान की संघीय विशेषताएँ—संविधान संघ ने (Federation) शब्द का प्रयोग नहीं किया है। वह भारत को राज्यों की एक यूनियन कहता है।[1] फिर भी उसमें संघीय राजतन्त्र की मुख्य विशेषतायें विद्यमान हैं। संविधान ने संघ सरकार और अवयवी राज्यों की सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण कर दिया है। संघ सूची राज्य सूची और समवर्ती सूची ने प्रत्येक सरकार के क्षेत्र को निश्चित कर दिया है। साधारण परिस्थितियों में राज्य संघ सरकार के नियन्त्रण अथवा हस्तक्षेप से स्वतन्त्र हैं। दूसरे शब्दों में राज्य भारत संघ के स्वायत्त एकक हैं। संघ और राज्य दोनों ही अपनी शक्तियाँ सीधे संविधान से प्राप्त करते हैं। दूसरे संविधान देश का सर्वोच्च कानून है। उसके उपबन्ध सब सरकारों के ऊपर लागू हैं और संघ सरकार या राज्य सरकारों में से कोई भी उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में कोई सरकार केवल अपनी ही सत्ता पर शक्तियों के वितरण में हेरफेर नहीं कर

---

१ हिन्दी में Federation और Union दोनों के लिए संघ शब्द का प्रयोग चालू है।

सकती। तीसरे सविधान लिखित और कठोर है। चौथे भारत को एक स्वतन्त्र न्याय पालिका प्राप्त है जो सविधान को निर्वाचिका और अभिभाविका के रूप मे काय करती है। यदि सघीय ससद अथवा राज्य विधान मण्डलो द्वारा पास किया गया कोई कानून सविधान के उपबन्धो के प्रतिकूल पडता है तो सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय उसे असवैधानिक घोषित कर सकते है।

सविधान को सबल एकात्मक अभिनति—लेकिन हमारे सविधान ने सघवाद के नियत सिद्धान्तो मे इतना फेरफार कर दिया है कि उसे केवल अर्द्धसघीय सविधान ही कहा जा सकता है। भारत सारभूत एकात्मक विशेषताओ सहित सघीय राज्य होने की अपेक्षा सारभूत सघीय विशेषताओं सहित एकात्मक राज्य अधिक है।' यह स्मरणीय है कि प्रारूप समिति ने सविधान को सघीय कहना पसन्द नही किया। इसके विपरीत उसने सोचा कि भारत को यूनियन कहने मे लाभ है यद्यपि सविधान ढाचे मे सघीय हो सकता है। इस प्रकार सविधान ढाचे मे सघीय पर वास्तव में एकात्मक है। न केवल सविधान की भाषा मे ही अपितु उसकी भावना मे भी मुख्य बल एकरूपता पर दिया गया है जो राज्यो के मूल्य पर यूनियन को शक्तिशाली बनाता है। सविधान की सबल एकात्मक अभिनति निम्न विशेषताओ से स्पष्ट है।

शक्तिशाली केन्द्र सबसे पहली बात तो यह है कि सविधान एक शक्तिशाली केन्द्र का सृजन करता है। यह इसलिए किया गया क्योकि जिस समय सविधान बना, देश की स्थिति बडी खराब थी और सविधान निर्माताओ के मन मे इतिहास की इस शिक्षा को याद रखा कि केन्द्र कमजोर होने पर हमारा नाश हो जाता है। फलत शक्तियो के वितरण मे सबसे महत्वपूर्ण विषय सघ सूची मे रखे गए है। सघ सूची तीनो सूचियो मे सबसे लम्बी सूची है और उसमे ९७ विषय शामिल है। इसके अलावा समवर्ती सूची मे वे ४७ विषय शामिल है जिनके ऊपर सघ सरकार आवश्यकता पडने पर विधायी और प्रशासनिक अधिकार क्षेत्र का प्रयोग कर सकती है और ऐसा करने मे राज्य सरकारो का अधिकार अतिक्रमण कर सकती है। सविधान अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र में निहित करता है। सयुक्त राज्य अमरिका जैसे हिपाकार सघ मे अवशिष्ट शक्तिया अवयवी एकको को दी जाती है तथा सघीय सरकार को अत्यन्त मर्यादित और उल्लिखित शक्तियाँ सौपी जाती है। भारतीय सघ अमरिकन सघ की अपेक्षा कनाडियन सघ के अधिक निकट है।

सघ और राज्यों के लिए एक सविधान—दूसरी बात यह है कि भारत मे सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत सघ की तरह अवयवी एकको को अपने निजी सविधान बनाने का अधिकार नही दिया गया है। भारत की सविधान सभा सघ और राज्यों दोनों के लिए एकमात्र सविधान सविधायी सत्ता थी। डॉ० अम्बेदकर के शब्दो मे सघ और राज्यों दोनो का सविधान एक ही है जिससे कोई बाहर नहीं निकल सकता और जिसके अन्दर रहकर काम करना उनके लिए आवश्यक है।[1]

1 कान्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली डिबेटस, भाग ८", पृ० ३४।

दुहरी नागरिकता का अभाव—तीसरी बात यह है कि भारत का संविधान दुहरी नागरिकता को मान्यता नहीं देता। इस दृष्टि से हमारा संविधान अमरिका के संविधान से बिलकुल भिन्न है। अमरिका में प्रत्येक नागरिक न केवल समग्र देश का ही नागरिक होता है अपितु वह अपने विशेष राज्य की नागरिकता का भी उपभोग करता है। अमरिका में राज्य बहुधा अपने नागरिकों के साथ पक्षपात करते हैं उन्हें कतिपय ऐसे अधिकार और विशेषाधिकार दे देते हैं जिन्हें वे उन व्यक्तियों को जो उनके नागरिक अथवा निवासी नहीं हैं नहीं देते या कठिनता से देते हैं। भारत में हमें एकल नागरिकता के साथ दुहरा राजतन्त्र प्राप्त है। भारतवर्ष में केवल एक नागरिकता है। वह भारतीय नागरिकता है। यहाँ राज्य-नागरिकता नहीं है। प्रत्येक भारतीय को नागरिकता के एक से अधिकार प्राप्त हैं चाहे वह किसी भी राज्य में क्यों न रहता हो।

आपातकाल में संविधान एकात्मक हो सकता है—चौथी बात यह है कि आदर्शभूत संघ में दृढ़ता होती है चाहे कैसी भी परिस्थितियाँ क्यों न हों उसे एकात्मक नहीं बनाया जा सकता। इसके विपरीत भारतीय संविधान समय और परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार एकात्मक और संघीय दोनों प्रकार का हो सकता है। साधारण परिस्थितियों में वह संघीय प्रणाली के रूप में कार्य करेगा। लेकिन युद्ध और दूसरे राष्ट्रीय संकट कालों में उसे बिना किसी औपचारिक संशोधन की आवश्यकता के एकात्मक प्रणाली के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। यह भारतीय संविधान की अद्वितीय विशेषता है। आपात की उद्घोषणा निकालकर भारत संघ का राष्ट्रपति ऐसी असाधारण शक्तियाँ धारण कर सकता है जिनके फलस्वरूप राज्यों की स्वायत्तता स्थगित हो सकती है। आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल में संघ की कार्यपालिका शक्ति राज्यों तक विस्तृत हो जाती है और संसद राज्य सूची में प्रगणित विषयों के ऊपर भी कानून बनाने में समर्थ हो जाती है। यदि किसी राज्य का राज्यपाल राज प्रमुख राष्ट्रपति से इस बात की रिपोर्ट कर दे कि राज्य में संविधान के उपबन्धों के अनुसार शासन नहीं चलाया जा सकता तब भी यही प्रभाव होगा। तब राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा राज्य की सरकार के सब या कोई कृत्य अपने हाथ में ले सकता है और घोषणा कर सकता है कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद के प्राधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोक्तव्य होंगी। राष्ट्रपति संघ और राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण से सम्बद्ध संविधान के उपबन्धों को भी संशोधित कर सकता है।

साधारण परिस्थितियों में भी संघ की शक्तियाँ बढ़ायी जा सकती हैं-पाँचवीं बात यह है कि संघ की विधायनी शक्ति साधारण परिस्थितियों में भी राज्यों के मूल्य पर बढ़ाई जा सकती है। साधारणतः राज्य विधान मण्डलों को राज्य सूची में प्रगणित विषयों के ऊपर अपवर्जी अधिकार क्षेत्र प्राप्त हैं। लेकिन यदि राज्य परिषद दो तिहाई बहुमत से समर्थित प्रस्ताव के द्वारा यह घोषणा कर दे कि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से

सघीय ससद का इन विषयों में से किसी के ऊपर कानून बनाना आवश्यक है तो सघीय ससद इन विषयों में से किसी के ऊपर कानून बना सकती है।

संविधान में केन्द्रीयकरण—छठी बात यह है कि भारत में राज्यीय सरकारें केन्द्रीय सरकार से शक्ति प्राप्त करती हैं जबकि अमरीका में केन्द्रीय सरकार राज्यीय सरकारों से। अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuorypowers) भी राज्यों को न देकर केन्द्र को दी गई हैं। इस तरह जानबूझ कर केन्द्र को राज्य की अपेक्षा अधिक मजबूत बनाया गया है। लेकिन यह सघात्मक प्रवृत्ति के विरुद्ध है।

ससद राज्यों के प्रदेशों का पुनर्वितरण कर सकती है—सातवीं बात है कि भारत सघ के एककों के प्रदेश अलघनीय नहीं हैं। सघीय ससद (क) किसी राज्य से उसका कोई प्रदेश अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों को मिलाकर नया राज्य बना सकती है (ख) किसी राज्य के क्षेत्र को घटा या बढ़ा सकती है और (ग) किसी राज्य की सीमाओं या उसके नाम को बदल सकती है। संविधान के अनुच्छेद ३ में कहा गया है कि ये परिवर्तन उसी समय किए जा सकते हैं जब कि सर्व राष्ट्रपति द्वारा सम्बद्ध राज्य अथवा राज्यों के विचारों को निश्चित समय में जान लेने के पश्चात् उसकी सिफारिश पर इस प्रयोजन के लिये एक विधेयक पास कर दे।

राज्य परिषद में राज्यों का प्रतिनिधित्व—आठवीं बात यह है कि संविधान ने राज्य-परिषद में राज्यों का समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया है। अमरिका स्विट्जरलैण्ड सोवियत रूस और दूसरे टिपीकल सघों में अवयवी एककों को सघीय विधान मण्डल के उच्च सदन में विस्तार और जनसख्या के भेदों पर बिना कोई ध्यान दिये समान सख्या में स्थान देकर कानूनी समानता प्रदान की गई है। राज्य परिषद में स्थानों के वितरण के सम्बन्ध में सघात्मक पद्धति (Federal Prin iple) को नहीं अपनाया गया है। सघ सगठन के पीछे क्या आधार है स्पष्ट नहीं है। उदाहरण के लिए दहली को लगभग ३० लाख जनता पर १ स्थान दिये गये हैं जबकि राम स्थान का २ करोड़ जनसख्या पर केवल ६० स्थान मिले हैं।

राष्ट्रपति द्वारा राज्यपालों की नियुक्ति—नवीं बात यह है कि संविधान ने निर्धारित किया है कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होंगे। राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करेंगे। संविधान में उपबन्ध न की हुई किसी आकस्मिकता में राज्य के राज्यपाल के कृत्यों के निर्वहन के लिए राष्ट्रपति जैसा उचित समझे वैसा उपबन्ध बना सकेगा। यह एक और तथ्य है जो केन्द्र को राज्यों के प्रशासन पर नियन्त्रण स्थापित करने की शक्ति देता है और इसलिए सच्चे सघवाद की भावना के प्रतिकूल है। इस दृष्टि से भी भारतीय संविधान अमरिकन संविधान की तुलना से कनाडियन संविधान के अधिक निकट है।

संविधान मूलभूत मामलों में एकरूपता स्थिर करता है—दसवीं बात यह है कि कतिपय सघों में दुहरा राजत्व कानूनी प्रशासन और न्यायिक सगठन है

राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य होते हैं। इस निर्वाचक-गण के प्रत्येक सदस्य द्वारा प्रयुक्त मतों की संख्या इस प्रकार निर्धारित की जाती है कि संसद के दोनों सदनों की मत संख्या समस्त राज्यों की विधान सभाओं की मत संख्या के समान हो। किसी राज्य की विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होते हैं कि एक हजार के गुणित उस भागफल में हों जो राज्य की जनसंख्या को उस सभा के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से भाग देने से आए। संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या वह होती है जो समस्त राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों के लिए नियत सम्पूर्ण मत संख्या को संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से भाग देने से आए।[1]

प्रत्यक्ष निर्वाचन को न अपनाने के कारण—यह कहा गया है कि भारतीय राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए स्वीकृत प्रणाली वैधानिक पद्धति के लिए एक मौलिक देन है। इस प्रश्न पर संविधान सभा में काफी वाद-विवाद हुआ। कतिपय सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के पक्ष में थे। उनका मत था कि इस प्रकार की प्रणाली अधिक लोकतन्त्रात्मक होगी और राष्ट्र राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष चुनाव करने में समर्थ हो सकेगा। लेकिन अन्त में परोक्ष प्रणाली को ही अपनाया गया। इसके कई कारण थे। पहला कारण था कि प्रत्यक्ष निर्वाचित राष्ट्रपति संसदीय लोकतन्त्र के अनुकूल नहीं होता क्योंकि संसदीय लोकतन्त्र में वास्तविक कार्यपालिका शक्ति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के द्वारा प्रयुक्त होती है। 'राष्ट्रपति का वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष मतदान द्वारा निर्वाचन जबकि उसे केवल वैधानिक प्रधान ही होना है बिलकुल व्यर्थ समझा गया।'[2] संविधान निर्माताओं को भय था कि हो सकता है कि प्रत्यक्षतः निर्वाचित राष्ट्रपति अलंकारिक शासक मात्र की स्थिति से सन्तुष्ट न हो। यदि कहीं उसने वास्तविक शक्तियाँ अपने हाथों में लेने की कोशिश की तो मन्त्रिमण्डल के साथ उसका झगड़ा हो जाएगा और इसके फलस्वरूप वैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो जाएगा। इसके अलावा यह भी भय था कि १८ करोड़ मतदाताओं वाले देश में राष्ट्रपति का राष्ट्रव्यापी प्रत्यक्ष निर्वाचन विपुल व्यावहारिक कठिनाइयाँ खड़ी कर देगा। दूसरा विकल्प यह सोचा गया था कि राष्ट्रपति केवल संसद द्वारा ही निर्वाचित हो सकता है। लेकिन इस प्रस्ताव को भी अस्वीकृत कर दिया गया क्योंकि वह राष्ट्रपति को बहुमत वाले दल के हाथों का खिलौना बना देता और उसे 'स्वतन्त्रता व महिमा के समस्त प्रसाधन से वंचित कर देता।'[3] अतः संविधान में निश्चित प्रणाली को

१ चतुर्थ चुनाव के पश्चात् राष्ट्रपति के निर्वाचन में डा० जाकिर हुसैन को ४७१ २४४ मत प्राप्त हुए और उनके विरोधी उम्मीदवार श्री सुब्बाराव को ३६३ ९७१ मत मिले।

२ के० सन्थानम— दी कांस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया", पृ० ४८।

३ वही, पृ० ४८।

इसलिए अपनाया गया क्योंकि इस प्रकार से निर्वाचित राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता और साथ ही साथ वैधानिक शासक भी बना रहता।

अर्हताएँ—संविधान ने निश्चित किया है कि कोई व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र तब तक न होगा जब तक कि वह (क) भारत का नागरिक न हो, (ख) ३५ वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो, (ग) लोकसभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता न रखता हो और (घ) भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी से नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद न धारण किए हुए हो। इसका अभिप्राय यह है कि *कोई सरकारी नौकर राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने का पात्र नहीं* है। लेकिन यह नियम उस व्यक्ति के ऊपर लागू नहीं होता जो संघ के राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति अथवा किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख का पद धारण किए हुए है। (ङ) संविधान के अनुसार यह भी आवश्यक है कि राष्ट्रपति न तो संसद के किसी सदन का और न किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का सदस्य होगा। यदि संसद के किसी सदन का अथवा किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाए तो यह समझा जाएगा कि उसने उस सदन का अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपने पद ग्रहण की तारीख से रिक्त कर दिया है।

उसकी पदावधि और उपलब्धियाँ—राष्ट्रपति पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करता है। परन्तु वह अपनी पूर्ण पदावधि की समाप्ति के पूर्व त्यागपत्र दे सकता है अथवा महाभियोग द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति पुनः निर्वाचन का पात्र है। वह विभिन्न भत्तों के अलावा १०,००० रुपए प्रतिमास वेतन प्राप्त करता है। उसे बिना किराया दिए सरकारी पदावास के उपयोग का भी हक है।

राष्ट्रपति की पदच्युति—जब तक कि राष्ट्रपति अपनी पदावधि की समाप्ति के पूर्व अपने पद से त्यागपत्र न दे दे उसे संविधान के अतिक्रमण के लिए महाभियोग के अलावा अन्य किसी उपाय द्वारा अपदस्थ नहीं किया जा सकता। महाभियोग एक प्रकार का संसदीय मुकदमा है। दोषारोप दो तिहाई बहुमत से पास किए गए किसी प्रस्ताव में संसद के किसी भी सदन द्वारा उपस्थित किए जा सकते हैं। दूसरा सदन दोषारोपों की छानबीन करेगा और यदि वह दो तिहाई बहुमत से पास किए गए प्रस्ताव में यह घोषित कर दे कि दोषारोप सिद्ध हो गए हैं तो राष्ट्रपति अपने पद को रिक्त कर देगा।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ (क) कार्यकारी शक्तियाँ—संविधान संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित करता है। भारत सरकार के समस्त कार्यकारी कृत्य राष्ट्रपति की ओर से और राष्ट्रपति के नाम में सम्पादित होते हैं। राज्यों के राज्यपालों, भारत के राजदूतों और दूसरे कूटनीतिक प्रतिनिधियों, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति व दूसरे न्यायाधीशों, भारत के महान्यायवादी और नियन्त्रक

महालेखा-परीक्षक तथा संघ लोक-सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों आदि की नियुक्तियां राष्ट्रपति ही करता है। प्रथम अनुसूची के भाग (ग) के राज्यों का शासन प्रबन्ध राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त कमिश्नर अथवा लेफ्टिनेंट गवर्नर करते हैं। राष्ट्रपति सरकार की कार्यवाही के सम्यक संचालन के लिए नियम बना सकता है।

(ख) विधायिनी शक्तियां—संविधान राष्ट्रपति में विशाल विधायिनी शक्तियां भी निहित करता है। राष्ट्रपति वर्ष में कम से-कम दो बार संसद को आहूत करता है। वह संसद के किसी भी सदन का सत्रावसान और लोकसभा का विघटन कर सकता है। यदि संसद के दोनों सदन किसी विधेयक पर एकमत न हो सकें तो वह उनकी संयुक्त बैठक आहूत कर सकता है। राष्ट्रपति राज्य परिषद के १२ सदस्य भी मनोनीत कर सकता है। वह चाहे तो संसद के दोनों सदनों को पृथक रूप से और चाहे तो उन्हें संयुक्त रूप से सम्बोधित कर सकता है। वह संसद के जिस सदन को चाहे सन्देश भेज सकता है। संसद के प्रत्येक सत्र के प्रारम्भ होने पर राष्ट्रपति एक भाषण देता है। यह भाषण ब्रिटिश सम्राट द्वारा संसद में दिए गए भाषण के तुल्य होता है।

राष्ट्रपति का स्थगन निषेधाधिकार—संसद द्वारा पास किया गया कोई विधेयक उस समय तक अधिनियम नहीं बन सकता जब तक कि उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त न हो जाए। राष्ट्रपति किसी विधेयक पर यदि वह धन विधेयक नहीं है चाहे तो अपनी अनुमति दे सकता है और चाहे तो उसे रोक सकता है। लेकिन यदि उस विधेयक को (जिस पर राष्ट्रपति ने अपनी अनुमति नहीं दी है और जिसे उसने पुनर्विचार के लिए संसद के पास लौटा दिया है) संसद के दोनों सदन राष्ट्रपति के सन्देश में सुझाए गए संशोधन के सहित या रहित पुनः पास कर दें तो राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य है।

राष्ट्रपति की अध्यादेश निकालने की शक्ति—संविधान ने संसद के विश्रान्ति काल में राष्ट्रपति को अध्यादेश प्रख्यापन की भी शक्ति प्रदान की है। अध्यादेश एक विशेष प्रकार का संकटकालीन कानून होता है। अध्यादेश का बल और प्रभाव संसद के अधिनियम के तुल्य ही होता है। किन्तु अध्यादेश के लिए यह आवश्यक है कि वह संसद के पुनः समवेत होने पर उसके दोनों सदनों के समक्ष रखा जाए। अध्यादेश संसद के पुनः समवेत होने से छः सप्ताह की समाप्ति पर अथवा इस कालावधि से पूर्व दोनों सदनों द्वारा उसके निरनुमोदन का प्रस्ताव पास कर देने पर प्रवर्तन में नहीं रहता।

(ग) वित्तीय शक्तियां—राष्ट्रपति को कतिपय महत्वपूर्ण वित्तीय शक्तियां भी दी गई हैं। प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में राष्ट्रपति संसद के समक्ष 'वार्षिक वित्त विवरण' अथवा वह बजट जो भारत सरकार की उस वर्ष के लिए आकलित प्राप्तियों और व्यय को प्रकट करता है, रखवाता है। राष्ट्रपति की सिफारिश के

बिना कोई भी वित्त विधेयक सदन में पुनःस्थापित नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति संघ और राज्यों के बीच करों के वितरण के संबंध में संविधान के अनुसार हर पांच वर्ष के लिए समय समय पर एक वित्त आयोग की नियुक्ति कर सकता है।

(घ) कानूनी विमुक्तियाँ और न्यायिक परमाधिकार—राष्ट्रपति कतिपय कानूनी विमुक्तियों और न्यायिक परमाधिकारों का उपयोग करता है। वह अपने पद की शक्तियों और कर्तव्यों के निष्पादन के लिए किसी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नहीं है। वह केवल महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा ही पद से हटाया जा सकता है। उसकी पदावधि में उसके विरुद्ध किसी भी प्रकार की फौजदारी कार्यवाही नहीं चलाई जा सकती। राष्ट्रपति को उन अवस्थाओं समेत जिनमें कि दण्डादेश मृत्यु का हो कतिपय स्थितियों में सिद्धदोष व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, प्रविलम्बन, विराम या परिहार करने की अथवा दण्डादेश का निलम्बन, परिहार या लघुकरण की शक्ति प्राप्त है। जैसा कि पहले ऊपर कहा जा चुका है राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय और राज्य के उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधिपति व न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है।

(ङ) राष्ट्रपति की आपात शक्तियाँ—नए संविधान के सर्वाधिक विवादास्पद पहलुओं में से एक संघीय कार्यपालिका में निहित विपुल आपात शक्तियों से सम्बन्ध रखता है। राष्ट्रपति तीन प्रकार की आपातों का सामना करने के लिए इन असाधारण शक्तियों का प्रयोग कर सकता है (१) युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण अथवा आभ्यन्तरिक अशान्ति से उत्पन्न आपातें (२) राज्यों में वैधानिक तन्त्र विफल हो जाने से उत्पन्न आपातें और (३) वित्तीय आपातें।

(१) आपात की उदघोषणा—पहले प्रकार की आपात के सम्बन्ध में संविधान ने निर्धारित किया है कि यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि गम्भीर आपात विद्यमान है जिससे कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या आभ्यन्तरिक अशांति से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है तो वह आपात की उदघोषणा निकाल सकता है। यह स्मरणीय है कि राष्ट्रपति इस प्रकार की उदघोषणा युद्ध या बाह्य आक्रमण या आभ्यन्तरिक अशान्ति के घटित होने के पूर्व भी निकाल सकता है। आपात की उदघोषणा निकालने के राष्ट्रपति के निर्णय को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती और कोई आपात उपस्थित है या नहीं इसका निर्णय एकमात्र राष्ट्रपति के हाथों में है। लेकिन राष्ट्रपति का अधिकार संसद के नियन्त्रण का विषय है। आपात की उदघोषणा को संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाता है और वह दो मास की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहती जब तक कि उसका उस कालावधि की समाप्ति से पहले संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन न कर दिया जाए।

आपात की उदघोषणा का प्रभाव—राष्ट्रपति द्वारा की गई आपात की उदघोषणा का सुदूरव्यापी वैधानिक प्रभाव होगा। जब आपात की उदघोषणा प्रवर्तन में है, संसद को सम्पूर्ण देश के लिए अथवा उसके किसी भाग के लिए उन विषयों पर भी

कानून बनाने का अधिकार होगा जो कि राज्य सूची में प्रगणित हैं। राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को इस विषय में निर्देश देने तक होगा कि वह अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे। दूसरे शब्दों में संघीय विधान मण्डल और कार्यपालिका को राज्यों के विधान मण्डलों और कार्यपालिकाओं के कार्य का नियन्त्रण और निरीक्षण करने की शक्ति प्राप्त हो जाएगी। अपरञ्च आपात की उद्घोषणा राष्ट्रपति को संघ और राज्यों के बीच राजस्व के साधारण वितरण को संशोधित करने की शक्ति भी देगी। इस प्रकार आपात की उद्घोषणा के परिणामस्वरूप राज्यों की स्वायत्तता स्थगित हो जाएगी तथा देश का संघीय ढांचा एकात्मक रूप में परिवर्तित हो जाएगा। इतना ही नहीं, आपात की उद्घोषणा से भारत के नागरिकों को कतिपय बहुमूल्य अधिकारों, जैसे भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, शान्तिपूर्वक सभा करने की स्वतन्त्रता, भारत में निवास करने और बस जाने की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन की स्वतन्त्रता तथा वृत्ति उपजीविका कारबार और व्यापार करने की स्वतन्त्रता को स्थगित कर देगा। साधारण परिस्थितियों में ये अधिकार मौलिक हैं और नागरिक इनके अतिक्रमण के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय की शरण ले सकते हैं। परन्तु आपात की उद्घोषणा की अवधि में राष्ट्रपति नागरिकों के इस अधिकार को स्थगित कर सकता है।

स्पष्ट है कि संविधान आपातों का सामना करने के लिए संघीय कार्यपालिका को बहुत प्रबल शक्तियां प्रदान करता है। आलोचकों का कहना है कि ये शक्तियां लोकतन्त्र के प्रतिकूल हैं। जब आपात शक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले उपबन्ध पास किए जा रहे थे, विधान सभा के एक सदस्य ने कहा था, "यह लज्जा का दिन है। ईश्वर ही भारतीय जनता को बचाए।" एक अन्य सदस्य ने अनुच्छेद ३५९ के बारे में जो राष्ट्रपति को नागरिकों के मूल अधिकारों के प्रवर्तन का निलम्बन करने की शक्ति देता है, कहा कि "यह अनुच्छेद संविधान के सर्वाधिक प्रतिगामी अध्याय की शानदार पराकाष्ठा और सबसे बड़ी महिमा है।" शान्ति काल में नागरिकों को उनके मूल अधिकारों से वंचित करने की शक्ति के सहारे देश के ऊपर तानाशाही शासन लादा जा सकता है। जर्मनी के तथाकथित लोकतन्त्रात्मक वीमर संविधान के अनुच्छेद ४८ ने जर्मन राष्ट्रपति को यह शक्ति दी थी कि वह घोर संकट की स्थिति में नागरिकों के मूल अधिकारों को निलम्बित कर सकता है। हिटलर ने इस शक्ति का मनचाहा प्रयोग कर जर्मनी में अपने निरंकुश शासन की जड़ जमायी। तथापि यह स्मरणीय है कि आपातों से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रकार के उपबन्ध बहुत से लोकतन्त्रात्मक राज्यों के संविधानों में पाए जाते हैं। इनको इस आधार पर उचित ठहराया जाता है कि व्यक्ति के अधिकार असीमित नहीं हैं और राज्य की सुरक्षा की तुलना में उनका महत्व कम है। डा० एन० शुक्ला ने लिखा है ये उपबन्ध कठोर मालूम हो सकते हैं किन्तु रूप से एक ऐसे

संविधान में जो लोकतन्त्र व मूल अधिकारों की नींव के ऊपर निर्मित होने की घोषणा करता है। लेकिन इन उपबन्धों का भारत के अतीतकालीन इतिहास के प्रकाश में अध्ययन करना चाहिए। जब कभी भारत की केन्द्रीय शक्ति कमजोर हुई उसे बुरे दिनों का सामना करना पड़ा। यह भय आज भी है कि संविधान विघटन की शक्तियों की ओर से सचेत है। राज्य के अस्तित्व तक के लिए खतरा पैदा करने वाली घटनाएं घटित हो सकती हैं और यदि इस प्रकार की आकस्मिकताओं के लिए संरक्षण न हों, तो राज्य उन सबके साथ जिसे मूलभूत और प्रबल रखना है समाप्त हो जाएगा।[1]

(२) राज्यों में संवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने से उत्पन्न आपात—संविधान ने निर्धारित किया है कि बाह्य आक्रमण और आभ्यन्तरिक अशान्ति से रक्षा तथा राज्य की सरकार संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलायी जाए यह सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य है। भारत का राष्ट्रपति अपने इस कर्तव्य का अच्छी तरह से निर्वाह कर सके, इस उद्देश्य से उसे अनुच्छेद ३५६ के अधीन कतिपय विशेष शक्तियां प्रदान की गई हैं। यदि किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख से प्रतिवेदन मिलने पर या अन्यथा राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिसमें कि उस राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो राष्ट्रपति इस आशय की आपात की घोषणा निकाल सकता है। आपात की उद्घोषणा निकालने पर राष्ट्रपति राज्य की सरकार के सब या कोई कृत्य तथा राज्यपाल या राजप्रमुख अथवा राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य सब या कोई शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता और यह घोषित कर सकेगा कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद के प्राधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोक्तव्य होंगी। राज्य का उच्च न्यायालय इस सम्बन्ध में अपवाद रहेगा। इस प्रकार आपात की उद्घोषणा के समान ही राज्य में संवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की उद्घोषणा भी सम्बद्ध राज्य की स्वायत्तता को निलम्बित कर देगी और उसे समस्त विधायी और कार्यकारी मामलों में पूर्णतः संघ के प्राधिकार के अधीन कर देगी। यह उद्घोषणा दो महीने की समाप्ति पर यदि संसद के दोनों सदनों के द्वारा अनुमोदित नहीं हो जाती प्रवर्तन में नहीं रहेगा। यह उद्घोषणा एक बार में ६ महीने से अधिक के लिए नहीं निकाली जा सकता लेकिन इस नियत अवधि की समाप्ति पर प्रति बार ६ महीने के लिए बढ़ाया जा सकता है। जितनी बार इसकी अवधि बढ़ायी जाय उतनी बार संसद के अनुमोदन की आवश्यकता है। लेकिन ऐसी उद्घोषणा किसी भी अवस्था में तीन वर्ष से अधिक प्रवृत्त नहीं रहेगी।

अनुच्छेद ३५६ ने विधान सभा में तीखा वाद विवाद खड़ा कर दिया। आलोचकों ने कहा कि यह १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के विभाग ९३ का पुनरधिनियमन है। इस अनुच्छेद के समर्थन में कहा गया है कि इसके अधीन आचरण करता

[1] डा० एन० गुप्ता— दी कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया' पृ० ३३९।

हुआ राष्ट्रपति विभाग ९३ के अधीन आचरण करने वाले राष्ट्रपति से सर्वथा भिन्न होगा। राष्ट्रपति केवल संघ मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर जो संसद के प्रति उत्तरदायी है आचरण कर सकता है। स्वयं संसद में भी उस राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य उपस्थित होंगे जिसका शासन इस अनुच्छेद के अधीन निलम्बित किया जा सकता है। अनुच्छेद ३५६ का सीधा-सादा फल यह हुआ कि उद्घोषणा की स्थिति में राज्य का शासन अस्थायी रूप से संघ शासन में विलीन हो सकता है। यहाँ कहीं भी परिस्थितियों में स्वेच्छाचारिता का कोई प्रश्न नहीं उठता। केवल राज्य की स्वायत्तता पर ही कुछ काल के लिए चोट पड़ सकती है।[1]

(३) वित्तीय आघात—यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाय कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिससे भारत का वित्तीय स्थायित्व या प्रत्यय संकट में है तो वह वित्तीय आघात की उद्घोषणा निकाल सकता है। इस प्रकार की उद्घोषणा को यदि दो मास की समाप्ति के पूर्व संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदित नहीं किया जाता तो वह इस अवधि के गत होने पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी। यह उद्घोषणा एक बार में छः महीने से अधिक के लिए प्रवर्तन में नहीं रहेगी। लेकिन इसे संसद के अनुमोदन सहित प्रति बार छः महीने के लिए बढ़ाया जा सकता है तथापि वह किसी भी अवस्था में तीन साल से अधिक के लिए प्रवृत्त नहीं रहेगी।

उस कालावधि में जिसमें कि वित्तीय उद्घोषणा प्रवर्तन में है राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को वित्तीय औचित्य सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्त का पालन करने के लिए निर्देश देने तक जैसे कि निदेशों में उल्लिखित हों और सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के सहित सरकारी नौकरों के वेतन में कमी के लिए आज्ञा देने तक होगा। वह इस बात की माँग कर सकता कि विधेयक स्वीकृति के लिए उसके सम्मुख उपस्थित किया जाए। इसके अलावा संघ के वित्तीय स्थायित्व को पुनः जमाने के लिए वह अन्य आवश्यक उपाय भी कर सकता है।

११९. राष्ट्रपति स्वेच्छाचारी है या नाममात्र शासक ?

राष्ट्रपति मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करने के लिए कानूनन बाध्य नहीं है—राष्ट्रपति ऊपर वर्णित शक्तियों का किसी प्रकार प्रयोग करता? क्या ये उसकी वास्तविक शक्तियाँ हैं जिनका वह स्वेच्छानुसार प्रयोग कर सकता है? अथवा ये शक्तियाँ उसे केवल औपचारिक रूप में ही प्राप्त हैं जिनका वह केवल मन्त्रियों की मन्त्रणा के अनुसार प्रयोग करने के लिए बाध्य है। विशुद्ध न्यायिक दृष्टि रखने वाले कुछ टीकाकारों ने कहा है कि यदि राष्ट्रपति चाहे तो स्वेच्छाचारी शासक बन सकता है। संविधान के अनुच्छेद ५३ (१) में कहा गया है "संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं

[1] के० सन्थानम— दि कांस्टीट्यूशन आफ इण्डिया पृ० २८६।

या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा। डा० बी० एम० शर्मा के अनुसार "इससे राष्ट्रपति को यदि वह चाहे तो सत्ता का केवल ध्वजमात्र शासक ही नहीं अपितु वास्तविक शासक बनने का पर्याप्त क्षेत्र मिल जाता है।"[1] यह ठीक है कि अनुच्छेद ७४ (१) में निर्धारित किया है कि "राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा।" लेकिन डा० डी० एन० बनर्जी के शब्दों में प्रश्न यह उठता यह है कि क्या राष्ट्रपति अनुच्छेद ७४ (१) के अधीन अपनी मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा को समस्त परिस्थितियों में स्वीकार करने के लिए कानूनी बाध्य है? मेरा निष्कर्ष यह है कि वह नहीं है।[2] विधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भी यही मत व्यक्त किया था। उन्होंने कहा था अनुच्छेद ७४ (१) यह नहीं कहता कि राष्ट्रपति उस मन्त्रणा को मानने के लिए बाध्य होगा। उन्होंने एक एक उपनियम उपबन्ध के करने का सुझाव भी दिया था जिसके अनुसार राष्ट्रपति के लिए मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा स्वीकार करना अनिवार्य हो जाए। लेकिन इस सुझाव को कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया। एन० सन० स्वरूप ... भारतीय संविधान निश्चित परिस्थितियों में राष्ट्रपति को तानाशाह बना सकता है। उन पर दोषारोपण साधारण रूप में सम्भव नहीं। उसे १४ दिन पूर्व सूचना देने का तात्पर्य यह है कि वह कितने ही शासन में परिवर्तन कर निरंकुश बन सकता है। इंगलैण्ड मे प्रचलित अभिसमय के अनुसार सम्राट को कोई भी आज्ञापत्र जारी करने के पहले उस आदेश से सम्बन्धित पत्र पर मन्त्री के हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं। लेकिन भारत में राष्ट्रपति के लिए मन्त्रियों के हस्ताक्षर संविधान के अनुसार आवश्यक नहीं हैं। कुछ विद्वानों का मत इस तरह राष्ट्रपति की शक्तियों के सम्बन्ध मे यह है कि संविधान में वर्णित शक्तियाँ यदि वास्तविक हैं तो वह हिटलर और मुसोलिनी से कहीं अधिक निरंकुश शासक बन सकता है।

संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य—लेकिन यह कहना कि राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है संविधान का आवश्यकता से अधिक कानूनी दृष्टिकोण से निर्वचन करना है। संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य स्पष्ट है। उन्होंने भारतवर्ष के लिए पर्याप्त सोच विचार के पश्चात् संसदीय प्रणाली अंगीकृत की। यह निर्णय करते समय संविधान निर्माताओं ने मान लिया था कि संसदीय अथवा मन्त्रिमण्डल शासन प्रणाली की वे समस्त परम्पराएँ जो इंगलैण्ड में प्रचलित हैं भारत में भी प्रचलित हो जाएंगी। संसदीय शासन प्रणाली का यह सार है कि वास्तविक कार्य

---

१ बी० एम० शर्मा — इण्डियन जर्नल आफ पोलिटीकल सायंस' में प्रेसीडेण्ट आफ इण्डिया भाग ११ अंक ४ पृ० १।

२ डा० एन० बनर्जी— माडर्न रिव्यू मे पोजीशन आफ दी प्रेसीडेण्ट आफ इण्डिया [दि]सम्बर १९५० पृ० ४५८।

पालिका शक्ति मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रिपरिषद् द्वारा प्रयोक्तव्य होनी चाहिए। मन्त्रिगण विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मन्त्री सदैव राज्य के ध्वजमात्र अधिकारी प्रधान के नाम में आचरण करते हैं परन्तु यह ध्वजमात्र कार्यकारी प्रधान समस्त मामलों में अपने मन्त्रियों के परामर्श को स्वीकार करता है।

संसदीय शासन के अभिसमय—भारत की विधान सभा के संयुक्त मन्त्री और प्राध्यापक एस० एन० मुखर्जी के अनुसार संविधान के निर्माताओं ने संविधान में इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं कहा है कि राष्ट्रपति सदैव अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करेगा। उन्होंने इस चीज को इंग्लैण्ड की तरह अभिसमयों के ऊपर छोड़ दिया है।[1] प्रारूप समिति के उपाध्यक्ष डा० अम्बेडकर के अनुसार, "राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो अंग्रेजी संविधान में सम्राट की। वह कार्यपालिका का नहीं राष्ट्र का प्रधान है। वह राष्ट्र का शासन नहीं अपितु प्रतिनिधित्व करता है। वह साधारणतः मन्त्रियों के परामर्श से बंधा होगा। वह न तो उनकी मन्त्रणा के बिना और न उनकी मन्त्रणा के प्रतिकूल ही कुछ कर सकता है।"[2] भारत के राष्ट्रपति की स्थिति अमरीका के राष्ट्रपति से भिन्न है। अमरीका का राष्ट्रपति वास्तविक कार्यकारी है और वह संविधान द्वारा स्पष्ट में निहित शक्तियों का स्वविवेकानुसार प्रयोग करता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने मन्त्रियों की बात माने ही माने।

राष्ट्रपति निरंकुश क्यों नहीं हो सकता—कहने का सार यह है कि संविधान का उद्देश्य भारत के राष्ट्रपति को प्रभूत गौरवमण्डित, परन्तु वास्तविक शक्ति से हीन बनाना है। संसदीय शासन के अभिसमयों की बात छोड़ देने पर भी राष्ट्रपति निरंकुश नहीं हो सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भूले भटके ऐसे अवसर आ सकते हैं जबकि राष्ट्रपति के लिए अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा के प्रतिकूल आचरण करना सम्भव हो जाए परन्तु यदि उद्दण्डतापूर्वक उनकी मन्त्रणा का उल्लंघन करता है तो वे त्यागपत्र देकर वैधानिक गतिरोध पैदा कर सकते हैं। यदि संसद् में उनका बहुमत है और उन्हें समग्र रूप से जनता का समर्थन प्राप्त है तो राष्ट्रपति को एक अवान्तरिक मन्त्रिमण्डल की रचना कठिन हो जाएगी। इसके अतिरिक्त अधिक महत्वाकांक्षी राष्ट्रपति की बुद्धि ठिकाने लगाने के लिए महाभियोग का अस्त्र विद्यमान है। यदि राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल दो विरोधी राजनीतिक दलों से सम्बन्ध रखते हैं तो कठिनाइयाँ उठ खड़ी हो सकती हैं परन्तु साधारणतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति को वैधानिक प्रधान की तरह आचरण करना पड़ेगा। [illegible] ने उचित ही लिखा है कि 'डोमिनियनों में (कनाडा आस्ट्रेलिया आदि) में अभिसमयों द्वारा ऐसी स्थिति बन गई है कि राज्य अधिपति मन्त्रिमण्डल की सलाह से ही सब

१ दी हिन्दुस्तान टाइम्स, गणराज्य दिवस परिशिष्टांक २६ जनवरी, १९५०।

२ कांस्टीट्यूएन्ट एसेम्बली डिबेट्स, भाग ७, पृ० ३३।

कुछ करे। यही भारत में है। एम वी पीतलवाड़ व डा० जनिंग ने इसी मत का समर्थन किया है।

१२० उपराष्ट्रपति

निर्वाचन और महताएँ—नए संविधान के अधीन भारत का एक उपराष्ट्रपति होगा। वह एकल संक्रमणीय मत के द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्वाचित होगा। उप राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी व्यक्ति के पास निम्न महताओं का होना आवश्यक है। (१) उसे भारत का नागरिक होना चाहिए (२) उसकी अवस्था पैंतीस वर्ष से अधिक की होनी चाहिए (३) उसमें राज्य परिषद् के लिए सदस्य निर्वाचित होने की महता होनी चाहिए (४) उसे भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी से नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण किए हुए नहीं होना चाहिए। उस व्यक्ति को जो संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति अथवा किसी राज्य का राज्यपाल या राजप्रमुख या उप राजप्रमुख अथवा संघ का या किसी राज्य का मन्त्री है इस नियम से छूट रहेगी।

उसके कृत्य—अमेरिका के उपराष्ट्रपति की तरह भारत का उपराष्ट्रपति पदेन संघीय विधानमण्डल के उच्च सदन अर्थात् राज्य परिषद् का सभापति होगा। यदि राष्ट्रपति की मृत्यु पदत्याग पदच्युति या बीमारी के कारण राष्ट्रपति का पद अस्थायी रूप से रिक्त हो जाए तो उपराष्ट्रपति नए राष्ट्रपति के निर्वाचन होने तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। इस दृष्टि से वह अमेरिका के उपराष्ट्रपति से भिन्न है क्योंकि अमरीका का उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति की मृत्यु पदच्युति या पद-त्याग के पश्चात् शेष राष्ट्रपति अवधि के लिए स्वतः राष्ट्रपति हो जाता है। भारत का उप-राष्ट्रपति यदि वह स्वयं अपना पद त्याग न करे अथवा राज्य-परिषद के पूर्ण बहुमत से पास किए गए ऐसे प्रस्ताव के द्वारा जिस पर लोक सभा ने अपनी स्वीकृति दे दी हो अपदस्थ न कर दिया जाए तो पांच वर्ष की अवधि तक पद धारण करता है।

१२१ मन्त्रि परिषद

मन्त्रि परिषद और मन्त्रिमण्डल—चूंकि राष्ट्रपति वैधानिक शासक है इसलिए भारत संघ की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रि परिषद् है जो सिद्धान्ततः राष्ट्रपति में निहित शक्तियों का वास्तविक रूप से प्रयोग करती है। यहां हम मन्त्रिमण्डल और मन्त्रि परिषद के भेद को समझ सकते हैं। संविधान में केवल मन्त्रि परिषद का ही उल्लेख है। मन्त्रिमण्डल एक अनौपचारिक निकाय है और उसमें सबके सब मन्त्री शामिल नहीं हैं दूसरे शब्दों में वह मन्त्रि-परिषद् का एक भाग है अथवा जैसे कि ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के बारे में कहा जाता है चक्र के अन्दर एक चक्र है। मन्त्रि परिषद् में

वे कई छोटे मन्त्री (राज्य मन्त्री और उपमन्त्री) भी शामिल रहते हैं जिन्हें कि मन्त्रि-मण्डल का स्तर प्राप्त नहीं होता। मन्त्रिमण्डल मन्त्रि परिषद की वास्तविक नीति निर्मात्री समिति है और वह ऊँचे मन्त्रियों से मिलकर बनता है।

मन्त्रि-परिषद की रचना—संविधान ने मन्त्रि परिषद् की रचना के लिए निम्न प्रक्रिया निश्चित की है। अनुच्छेद ७५ (१) कहता है प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा। राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में अपनी व्यक्तिगत रुचि प्रदर्शित करने का अत्यल्प अवसर है। लोक-सभा में जिस दल का बहुमत है राष्ट्रपति उसके नेता को प्रधान मन्त्री नियुक्त करने के लिए बाध्य है। यदि लोक सभा में कई दल हों और उनमें से किसी को भी स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो उस स्थिति में राष्ट्रपति अवश्य अपनी थोड़ी सी रुचि-स्वातन्त्र्य का प्रयोग कर सकता है। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति के पश्चात राष्ट्रपति को उसके द्वारा चुनी गई टीम स्वीकार करनी पड़ती है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जो कि संसद के दोनों सदनों में से किसी का भी सदस्य नहीं है मन्त्री नियुक्त किया जाता है तो उसे छः महीने की समाप्ति पर, यदि वह इसी बीच में दोनों सदनों में से किसी एक का सदस्य निर्वाचित नहीं हो जाता अपना पद रिक्त करना पड़ेगा।

मन्त्रिमण्डल के कृत्य—संघ शासन मन्त्रिमण्डल की स्थिति सबसे महत्वपूर्ण है। उसकी शक्तियाँ और उत्तरदायित्व अत्यन्त व्यापक हैं। उसे प्रशासनिक व्यवस्थात्मक और वित्तीय मामलों का प्रबन्ध करना पड़ता है। वह मन्त्रिमण्डल ही है जो कि भारत-संघ की साधारण शासकीय नीति निश्चित करता है। वह सम्पूर्ण शासन का संचालन करता है। उसका प्रत्येक सदस्य एक या एक से अधिक विभागों का प्रधान होता है। मन्त्रिमण्डल संसदीय विधानमण्डल के व्यवस्थात्मक कार्यक्रम को भी तैयार करता है। सरकारी विधेयकों को संसद में मन्त्री ही पुनःस्थापित करते हैं। वे ही उन्हें पास करवाते हैं। लोक सभा में बहुमत होने के कारण संसद में मन्त्रि-मण्डल की स्थिति अत्यन्त प्रभावपूर्ण होती है। यदि कोई सदस्य स्वयं किसी विधेयक को उपस्थित करता है और इस विधेयक के पीछे मन्त्रिमण्डल का समर्थन नहीं होता तो उसके पास होने की बहुत कम सम्भावना समझनी चाहिए। इसके मन्त्रिमण्डल को कई वित्तीय कृत्य भी करने पड़ते हैं। वह बजट तैयार करता है। वह इस बात का निश्चय करता है कि कौन कौन से कर लगाए जाएँगे और संघ की आय किस प्रकार खर्च होगी। समस्त वित्त विधेयकों का मन्त्रियों द्वारा पुनःस्थापित किया जाना आवश्यक है। अन्ततः मन्त्रिमण्डल भारत संघ की वैदेशिक नीति निर्धारित करता है और इसलिए यह निश्चित करता है कि भारत संघ के संसार के अन्य देशों के साथ क्या सम्बन्ध होंगे।

लोक-सभा के प्रति उत्तरदायित्व—चौथी बात यह है कि मन्त्रिमण्डल लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। इस उत्तरदायित्व का अभिप्राय यह है कि मन्त्रिमण्डल और इस दृष्टि से सम्पूर्ण मन्त्रि-परिषद् उसी समय तक सत्तारूढ़ रहती है जब तक कि उसे लोक सभा का विश्वास अर्थात् उसके सदस्यों के बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है। जैसे ही मन्त्रिमण्डल न यह विश्वास खोया मन्त्रिमण्डल के त्याग के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह या तो पद त्याग कर दे अथवा राष्ट्रपति को लोक सभा विघटन करने और नए साधारण निर्वाचनों का आदेश देने की मन्त्रणा प्रदान करे।

यह उत्तरदायित्व सामूहिक है—यह स्पष्ट है कि मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डल एक टीम है और उसके सदस्य साथ ही साथ डूबते अथवा साथ ही साथ तरते हैं। यदि एक मन्त्री कोई कार्य करता है तो वह सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल का कार्य समझा जाता है और किसी एक मन्त्री की गलती समग्र टीम का पद-त्याग करा सकती है। यदि लोक सभा किसी एक मन्त्री के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देती है तो सारे मन्त्रियों को त्यागपत्र देना पड़ता है। यह भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता है कि उसमें लोक सभा के प्रति मन्त्रि परिषद् के सामूहिक उत्तरदायित्व को स्पष्ट रूप से और उल्लिखित रूप से उप-बंधित कर दिया गया है। ... और ... में सामूहिक उत्तरदायित्व सम्पूर्णतः अभिसमय पर आधारित है।

प्रधानमन्त्री का नेतृत्व—पांचवी बात यह है कि मन्त्रिमण्डल प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में कार्य करता है। संविधान के अनुच्छेद ७४ (१) में यह निर्धारित करते हैं कि एक मन्त्रि परिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा। ... को ... ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की भांति ... स्थिति का औपचारिक मान्यता दी है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की भांति वह न केवल Primus inter pares अर्थात् बराबर वालों के बीच में प्रथम ही है अपितु Inter stellas luna minores अर्थात् ... के बीच चन्द्रमा भी है। वह वह ही है जो दूसरे मन्त्रियों का चुनाव करता है। वह वह ही है जो उनके बीच विभागों का वितरण करता है। वह वह ही है जो मन्त्रिमण्डल की बैठकों के कार्यक्रम को निश्चित करता है और उनकी अध्यक्षता करता है। वह किसी भी समय किसी मन्त्री से त्यागपत्र की मांग कर और उसके स्थान पर किसी अन्य मन्त्री की नियुक्ति कर मन्त्रिमण्डल में फेर बदल कर सकता है। यदि प्रधानमन्त्री त्यागपत्र देता है तो इसका अभिप्राय यह है कि सब मन्त्रियों को त्यागपत्र देना पड़ेगा। यदि प्रधानमन्त्री और किसी अन्य मन्त्री के बीच मतभेद हो जाए, तो वह परवर्ती ही है जिसे कि या तो त्यागपत्र देना पड़ता है या झुकना पड़ता है।

प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता मन्त्रिमण्डल के सामुदायिक उत्तरदायित्व के लिए आवश्यक गारण्टी है। डॉ० अम्बेडकर के शब्दों में "स्पष्ट है कि सामुदायिक उत्तर-दायित्व के लिए कोई कानूनी अनुशक्ति नहीं हो सकती। वह एकमात्र अनुशक्ति जिसके

द्वारा सामुदायिक उत्तरदायित्व को प्रभावी किया जा सकता है प्रधानमन्त्री के द्वारा है। मेरे मन में सामुदायिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त द्वारा प्रभावी होता है। एक सिद्धान्त तो यह है कि कोई भी व्यक्ति मन्त्रिमण्डल के लिए उस समय तक मनोनीत नहीं होगा जब तक कि प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा न हो। दूसरा सिद्धान्त यह है कि यदि प्रधानमन्त्री यह कि अमुक मन्त्री का अपने पद से हटना आवश्यक है, तो वह मन्त्रिमण्डल का सदस्य नहीं रहेगा।[1]

प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल और राष्ट्रपति के बीच मुख्य कड़ी भी है। वह मन्त्रिमण्डल के निर्णयों को राष्ट्रपति तक पहुंचाता है। यदि राष्ट्रपति संघीय मामलों के प्रशासन से सम्बन्ध रखने वाली सूचनाओं तथा व्यवस्थापन सम्बन्धी प्रस्तावों की मांग करे तो इन चीज़ों को उसके पास पहुंचाना प्रधानमन्त्री का कर्तव्य है। इसमें प्रधान मन्त्री को साधारण नीति के मामलों पर शासन का मुख्य प्रवक्ता समझा जाता है। अपनी मूर्धन्य स्थिति के कारण प्रधानमन्त्री दल की घरेलू और वैदेशिक नीति के स्वरूप निर्धारण में निर्णायक हाथ रखता है।

अधिपति नहीं नेता—इस प्रकार प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का केन्द्रबिन्दु है। लेकिन उसकी उच्चता का यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि वह स्वेच्छाचारी है और दूसरे मन्त्री खाली उसके अनुसार ही है। वह नेता है अधिपति नहीं। साधारणतः मन्त्रिमण्डल के सदस्य दल के मुख्य नेता होते हैं और प्रधानमन्त्री उनके सहयोग तथा सदभावना के बिना अपनी स्थिति कायम नहीं रख सकता। वह जानता है कि मन्त्री उसके दास नहीं साथी हैं और उसे उनके साथ इसी प्रकार का व्यवहार करना पड़ता है।

संघीय विधान मण्डल

१२३ संसद

नए संविधान के अधीन संघीय (केन्द्रीय) विधान मण्डल संसद कहलाता है। यह एक द्विसदनात्मक विधान मण्डल है जो राष्ट्रपति तथा संसद के दोनों सदनों से मिल कर बना है। ये सदन क्रमशः राज्य परिषद तथा लोक सभा के नाम से प्रख्यात हैं। संविधान ने निर्धारित किया है कि संसद के सदनों का वर्ष में कम से कम दो बार आहूत होना आवश्यक है और उनके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए निश्चित तारीख के बीच ६ मास का अन्तर न होगा। इस उपबन्ध के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति (१) संसद के सदनों को अथवा किसी सदन को आहूत कर सकता है (२) सदनों का सत्रावसान कर सकता है तथा (३) आवश्यकता पड़ने पर लोक-सभा का विघटन कर सकता है।

---

१ कांस्टी यूएंट एसेम्बली डिबेटस, भाग ७ पृ० ११९।

१२४ राज्य-परिषद्

रचना—संसद का उच्च सदन राज्य परिषद के नाम से प्रख्यात होगा। जैसा कि इसके नाम से ध्वनित होता है, यह सदन राज्यों अर्थात् भारत-संघ के अंगभूत एककों के प्रतिनिधियों से मिलकर बनेगा। लेकिन जिस प्रकार अधिकांश टिपीकल संघों के उच्च सदनों में विभिन्न अवयवी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है वैसा भारत में नहीं किया गया है। संविधान ने राज्य-परिषद की अधिकतम सदस्य संख्या २५० निश्चित की है। इनमें से १२ सदस्यों को राष्ट्रपति नाम निर्देशित करेगा। ये १२ सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें साहित्य विज्ञान कला और सामाजिक सेवा के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है। शेष सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि होंगे। आज राज्यों के बीच स्थानों का बटवारा निम्न प्रकार से किया गया है—

राज्य		राज्य	
आन्ध्र प्रदेश	१८	पंजाब	११
आसाम	७	राजस्थान	१०
बिहार	२२	उत्तर प्रदेश	३४
महाराष्ट्र	१९	पश्चिमी बंगाल	१६
गुजरात	११	जम्मू और कश्मीर	४
केरल	९	नागालैण्ड क्षेत्र	१
मध्य प्रदेश	१६	दिल्ली	३
मद्रास	१७	हिमाचल प्रदेश	२
मैसूर	१२	मनीपुर	१
उड़ीसा	१०	त्रिपुरा	१
		पांडिचेरी	१
		कुल	२२८
		राष्ट्रपति द्वारा नामज़द	१२

सदस्यों की अर्हताएं और निर्वाचन—राज्य परिषद के सदस्य चुने जाने के लिए व्यक्ति में निम्न अर्हताएं होनी आवश्यक हैं। उसे भारत का नागरिक होना चाहिए उसकी अवस्था कम-से-कम तीस वर्ष होनी चाहिए और उसमें ऐसी अन्य अर्हताएं होनी चाहिए जो संसद निर्मित कानून के द्वारा निश्चित की जाएं। राज्य परिषद के लिए प्रतिनिधि परोक्ष रीति से चुने जाएंगे। राज्यों के प्रतिनिधि जनता के प्रत्यक्ष मत के द्वारा नहीं अपितु प्रत्येक राज्य की विधान सभा के द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत के द्वारा निर्वाचित किए जावेंगे। क्षेत्रों के प्रतिनिधि ऐसे ढंग से चुने जायेंगे जैसा कि संसद निश्चित करे।

स्थायी सदन—राज्य परिषद् एक स्थायी सभा होगी। दूसरे शब्दों में उसका विघटन नहीं होगा। परिषद् के सदस्य ६ वर्ष के लिए निर्वाचित होंगे और उनमें से एक तिहाई प्रत्येक दो वर्ष की समाप्ति पर निवृत्त हो जायेंगे। भारत का उप-राष्ट्रपति पदेन राज्य परिषद् का सभापति होगा। परिषद् अपने सदस्यों में से किसी एक को उप-सभापति चुनेगी।

१२८ लोकसभा

रचना और निर्वाचन—संसद का निम्न सदन लोकसभा के नाम से प्रसिद्ध होगा। यह उन ५०० सदस्यों से मिलकर बनता था जो वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। परन्तु संविधान (सातवाँ संशोधन) अधिनियम पारित होने के पश्चात् लोकसभा में राज्यों में प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में से सीधे जनता द्वारा चुने हुए सदस्य ५०० से अधिक न होंगे (जम्मू तथा कश्मीर राज्य के प्रतिनिधि उस राज्य के विधान मण्डल द्वारा निर्वाचित होंगे, राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होंगे) और संघ क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने के लिए २० से अधिक सदस्य न होंगे जो कि संसद के कानून द्वारा बताए हुए तरीके से चुने जायेंगे।

प्रत्येक राज्य को उतने स्थान दिए जाएँ कि उनके प्रतिनिधियों तथा जनसंख्या का अनुपात यथासम्भव सभी के लिए एक जैसा हो।

जन प्रतिनिधित्व अधिनियम द्वारा लोक सभा में वर्तमान स्थानों का वितरण निम्न प्रकार से किया गया है —

राज्य	स्थान	राज्य	स्थान
आंध्र	४१	राजस्थान	२२
आसाम	१२	उत्तर प्रदेश	८५
बिहार	५३	पश्चिमी बंगाल	४०
हरियाणा	६	जम्मू व कश्मीर क्षेत्र	६
महाराष्ट्र	४५		
गुजरात		अंडमान व निकोबार	१
केरल	१९	दिल्ली	७
मध्यप्रदेश	३७	हिमाचल प्रदेश	६
मद्रास	३९	लक्षद्वीप	१
मैसूर	२७	मनीपुर	१
उड़ीसा	२०	त्रिपुरा	२
पंजाब	१३	आंग्ल भारतीय (नामजद)	२

नए संविधान ने पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचक-गणों का उन्मूलन कर दिया है लेकिन अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के हित का दस वर्ष की अवधि के लिए संरक्षण का प्रबन्ध किया है। उसने राष्ट्रपति को यह भी अधिकार दे दिया है कि यदि उसकी राय हो कि लोक सभा में आंग्ल भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वह लोक सभा में उस समुदाय के दो से अधिक सदस्य नाम निर्देशित कर सकता है। लोक सभा के लिए होने वाले निर्वाचनों के प्रयोजनार्थ राज्यों को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में इस प्रकार विभाजन कर दिया जाएगा जिससे यह सुनिश्चित रहे कि प्रति ७५०,००० जन-संख्या के लिए एक से कम सदस्य न होगा।

सदस्यों की अर्हताएं—कोई व्यक्ति लोक सभा के लिए निर्वाचित होने के लिए तब तक अर्ह न होगा जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो। कम से कम २५ वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो और ऐसी अन्य अर्हताएं न रखता हो जो संसद निर्मित किसी कानून के द्वारा या अधीन निश्चित की जाएं।

सदन की अवधि—साधारणतः लोकसभा की अवधि अपने प्रथम अधिवेशन के लिए नियुक्त तारीख से ५ वर्ष की है और यह कालावधि समाप्ति होने पर उसको विघटित कर देना आवश्यक है। परन्तु लोक सभा को उसकी पूर्ण अवधि के समाप्त होने से पूर्व भी विघटित किया जा सकता है। जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है लोक सभा की इस कालावधि को एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है लेकिन उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के छः मास पश्चात् यह कालावधि समाप्त हो जाएगी।

संसद सदस्यों के विशेषाधिकार (Privileges) संविधान के अनुच्छेद १०५ के अनुसार संसद सदस्यों को वे ही विशेषाधिकार होंगे जो ब्रिटेन में पार्लियामेन्ट के हैं। सदस्यों को विशेषाधिकार की प्राप्ति इसलिए आवश्यक है कि वे निडर और निष्पक्ष रूप से विभिन्न विषयों पर विचार कर सकें और उन्हें प्रकट भी कर सकें। इन अधिकारों में उन्हें विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता, उन्हें गिरफ्तार न होने की स्वतन्त्रता आदि सम्मिलित है। स्वयं सदन इन अधिकारों की रक्षा करता है। सदन का अध्यक्ष इनका संरक्षक कहलाता है। मौलिक अधिकार और संसद के विशेषाधिकारों के बीच यदि संघर्ष हो तो ऐसी अवस्था में कौन महत्त्वपूर्ण है इस पर भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने अभी हाल में परामर्श के रूप में मत प्रकट किया है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार सदन के अन्तर्गत यदि इन अधिकारों का हनन हो तो सदन उस अपराधी को दण्ड देने का अधिकार रखता है। किन्तु सदन के प्रांगण के बाहर के विषयों में उच्च-न्यायालयों को हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त है किन्तु अब भी यह विवादास्पद विषय बना हुआ है।

अध्यक्ष (The Speaker)—लोक-सभा अपने दो सदस्यों को क्रमशः अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनेगी। अध्यक्ष सदन की कार्यवाही का संचालन करेगा, उसमें व्यवस्था और अनुशासन कायम रखेगा और उनके सदस्यों के विशेषाधिकारों की रक्षा करेगा।

साधारणत अध्यक्ष की स्थिति वही होती जो ब्रिटिश कॉमन सभा के स्पीकर की है। उसका सर्वथा निष्पक्ष तथा दलगत भावनाओं से उच्च होना आवश्यक है। तथापि यह निश्चित नहीं है कि ये सब अभिसमय भारत में भी लागू हों और भारतीय लोक सभा का अध्यक्ष ब्रिटिश स्पीकर की भांति अपने दल का सदस्य नहीं रहेगा तथा राजनीति से पृथक हो जाएगा। आज जो स्थिति है उसका श्री जी० वी० मावलंकर ने निम्न शब्दों में सारांश दिया है--

"भारत में लोक सभा का अध्यक्ष ब्रिटिश कॉमन सभा के स्पीकर की तरह राजनीतिक झगड़े से पूर्णत बाहर नहीं है। ...... अध्यक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह राजनीति से बना रह ... उसके क्रिया कलाप कारी मर्यादित हों। वह अपने दल का सदस्य बना रह सकता है लेकिन उस दल के मामलों में विवादग्रस्त एवं मामलों में जिनकी ... सम्भावना हो भाग न लेना चाहिए। कहने का सार यह है कि उसे किसी प्रकार के प्रचार के साथ स्वयं को एकरूप न करना चाहिए और न ऐसे मत व्यक्त करने चाहिएँ जिनसे कि उसके अध्यक्ष पद के दलगत बन जाने की सम्भावना हो अथवा जिनसे इस बात का कि अध्यक्ष निष्पक्ष है भाव ... हो।"[1]

श्री पं० मावलंकर के विचारों का अनुसरण करते हुए हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री नेहरू ने कहा था कि लोक सभा के अध्यक्ष का पद बड़े सम्मान व प्रतिष्ठा का है। यह पद मंत्रियों के पद समकक्ष है। संसदीय शासन प्रणाली को रक्षा के लिए अध्यक्ष पद का सम्मान करना हमारे लिए अनिवार्य है।

१२६ संसद के दो सदनों के पारस्परिक सम्बन्ध

धन विधेयकों के सम्बन्ध में संसद के दो सदनों की स्थिति समान नहीं है। वित्तीय व्यवस्थापन के सम्बन्ध में लोक सभा की स्थिति मुख्य है और राज्य परिषद की शक्तियाँ अत्यन्त मर्यादित हैं। संविधान ने निश्चित किया है कि धन विधेयक केवल लोक सभा में ही पुनः स्थापित किया जा सकता है। जब ही लोक सभा उसे पास कर देती है वह सिफारिशों के लिए राज्य परिषद के पास भेजा जाता है। राज्य परिषद के लिए यह आवश्यक है कि वह विधेयक को अपनी सिफारिशों सहित चौदह दिन के भीतर ही भीतर लोक सभा के पास वापस लौटा दे। इसके पश्चात् लोक सभा चाहे तो इन सिफारिशों में से किसी को स्वीकार करे अथवा अस्वीकार विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास किया हुआ समझा जाएगा। यदि राज्य परिषद चौदह दिन के भीतर ही भीतर विधेयक को लोक सभा के पास वापस नहीं भेज पाती तब भी वह दोनों सदनों द्वारा पास किया हुआ समझा जाएगा। इस प्रकार राज्य-परिषद् धन विधेयक के अधिनियम में केवल दो सप्ताह की देरी कर सकती है। इस दृष्टि से परिषद्

---

१ जी० वी० मावलंकर--- 'पार्लियामेण्ट्री अफेयर्स में पार्लियामेण्ट्री लाइफ इन इण्डिया', भाग ४ अंक १ पृ० १४।

ब्रिटिश लार्ड सभा के तुल्य है। ब्रिटिश लार्ड सभा भी धन विधेयकों के बारे में सर्वथा शक्तिहीन है।

धन विधेयकों से अन्य विधेयकों के बारे में—लेकिन धन विधेयकों से अन्य विधेयकों के बारे में दोनों सदनों की शक्तियाँ समान हैं। कोई भी अवित्तीय विधेयक उस समय तक अधिनियम का रूप धारण नहीं कर सकता जब तक कि वह संसद के दोनों सदनों द्वारा पास न कर लिया जाए। लोक सभा को राज्य परिषद के निर्णय का उल्लंघन करने की शक्ति नहीं होगी। इस दृष्टि से राज्य परिषद ब्रिटिश लार्ड-सभा से स्पष्टतः भिन्न है। ब्रिटिश लार्ड सभा धन विधेयकों से अन्य विधेयकों के सम्बन्ध में भी केवल विलम्ब करने वाले सदन के रूप में ही कार्य करता है।

संयुक्त बैठकें—कभी कभी ऐसा हो सकता है कि किसी अवित्तीय विधेयक के ऊपर लोक सभा और राज्य परिषद में मतभेद हो जाए। ऐसी स्थिति में गतिरोध दूर करने के लिए दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक की जा सकती है। संयुक्त बैठक में यदि कोई निर्णय करना होता है तो वह सीधे-सादे बहुमत के द्वारा किया जाता है। संयुक्त बैठक में लोक सभा का बोलबाला रहेगा क्योंकि उसकी सदस्य संख्या राज्य परिषद की सदस्य संख्या से दुगुनी होगी। दूसरे शब्दों में उच्च सदन उन मामलों में भी जो कि धन से सम्बद्ध नहीं हैं घाटे में रहेगा। भारतीय राज्य-परिषद ब्रिटिश लार्ड सभा की तरह गौण सदन नहीं होगी। फिर भी उसकी स्थिति लोक सभा की तुलना में नीची रहेगी।

कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण—संघीय कार्यपालिका के ऊपर दोनों सदनों का जो नियन्त्रण है जिस सीमा तक नियन्त्रण है उस क्षेत्र में भी यही बात दिखाई देती है। संविधान मन्त्रि परिषद को दोनों सदनों के प्रति नहीं अपितु अकेले लोक सभा के प्रति उत्तरदायी बनाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य-परिषद सरकार की नीति पर विचार विमर्श कर सकती है प्रश्नों और 'कामरोको' प्रस्तावों द्वारा उसके ऊपर कुछ प्रभाव भी डाल सकती है। लेकिन सरकार के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे अपदस्थ करना केवल लोक सभा के बूते की ही बात है।

१२७ संसद की शक्तियाँ और मर्यादाएँ

(क) विधायिनी शक्तियाँ—संविधान संघ सूची और समवर्ती सूची में प्रगणित समस्त विषयों पर कानून बनाने की शक्ति संसद में निहित करता है। साधारणतः वह राज्य-सूची में सम्मिलित विषयों पर कानून बनाने के लिए सक्षम नहीं है। लेकिन यदि राज्य परिषद् घोषणा कर दे कि इन विषयों में से कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है तो संसद उसके सम्बन्ध में कानून बना सकती है। संकटकालीन घोषणा के प्रवर्तन काल में अथवा राज्य में संविधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की उद्घोषणा के प्रवर्तन काल में भी राज्य विषयों के ऊपर कानून बना सकती है।

साधारणत राज्य विषय संसद की सक्षमता से बाहर है—संसद की शक्तियों पर एक प्रतिबन्ध यह है कि उस पूर्ण और सर्वश्री संविधान संविधायी शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं। वह राज्यों के विधान मण्डलों की सहमति के बिना संविधान के महत्वपूर्ण उपबन्धों को संशोधित नहीं कर सकती।

संसद प्रभुत्व सम्पन्न कानून निर्मात्री निकाय नहीं है—इससे भारत व संसद और ब्रिटिश संसद के बीच के एक स्पष्ट अन्तर का पता चलता है। ब्रिटिश संसद प्रभुत्व-सम्पन्न विधान मण्डल है उसे पूर्ण संविधान संविधायी शक्तियाँ प्राप्त हैं और वह देश के संविधान को जिस रूप से चाहे संशोधित कर सकती है। इसके अलावा भारतीय संसद द्वारा पास किए गए कानून न्यायिक पुनरीक्षण के विषय हैं। उन कानूनों को जो संविधान के किन्हीं उपबन्धों के प्रतिकूल पड़ते हैं सर्वोच्च न्यायालय और राज्य के उच्च न्यायालय अवधानिक घोषित कर सकते हैं। ब्रिटिश संसद इस प्रकार के किसी प्रतिबन्ध के अधीन नहीं है।

राष्ट्रपति का निषेधाधिकार—यहाँ हम संसद की शक्तियों पर ऊपर एक अन्य प्रतिबन्ध की चर्चा कर सकते हैं। प्रत्येक विधेयक के लिए राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त होने पर ही उसे संविधि पुस्तक में दर्ज किया जा सकता है। लेकिन जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं राष्ट्रपति संसद द्वारा पास किए गए किसी विधेयक पर अपनी अनुमति देना अस्वीकार कर सकता है और उसे पुनर्विचार के लिए संसद के पास वापस भेज सकता है। लेकिन कार्यपालिका का यह निषेधाधिकार केवल निलम्बनात्मक (Suspensory) ही है अन्तिम नहीं। राष्ट्रपति विधेयक के अधिनियम में खाली देर कर सकता है उसकी हत्या नहीं कर सकता। संसद के दोनों सदन विधेयक को दुबारा सीधे सादे बहुमत से पास करके राष्ट्रपति के निषेधाधिकार का अतिक्रमण कर सकते हैं।

(ख) वित्तीय शक्तियाँ—संसद को विपुल वित्तीय शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। वह संसद की थैली को नियन्त्रित करती है। जब तक संसद का अनुमोदन न हो जनता के ऊपर कोई कर नहीं लगाए जा सकते और न किसी प्रकार का कोई व्यय ही किया जा सकता है। तथापि व्यय की कुछ ऐसी मदें अवश्य हैं जिन पर संसद में मतदान नहीं हो सकता। हाँ विचार विमर्श अवश्य हो सकता है। इन मदों का व्ययभार संसद के अनुमोदन सहित भारत संचित निधि के ऊपर पड़ता है।

(ग) संसद का संघीय कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण—चूंकि भारतवर्ष में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है अतः संघीय मन्त्रि परिषद संसद के नियन्त्रण में रहकर कार्य करती है। इस नियन्त्रण का प्रयोग लोक सभा के द्वारा किया जाता है जिसके प्रति मन्त्रि परिषद सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। यदि मन्त्रि-परिषद् लोक सभा का विश्वास खो देती है तो लोक सभा उसे (१) सीधे अविश्वास का प्रस्ताव पास करके (२) किसी सरकारी विधेयक को अस्वीकार करके

अथवा (३) सरकारी विधेयक में ऐसा संशोधन पास करके जिससे सरकार सहमत न हो अपदस्थ कर सकती है। संसद प्रश्नों और कामरोको प्रस्ताव आदि के माध्यम से प्रशासन के ऊपर सतर्क दृष्टि रख सकती है और जनता का ध्यान सरकार के क्रिया-कलापों की ओर आकृष्ट कर सकती है। संसद का कोई भी सदस्य सरकार के कार्यों और नीतियों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रश्न पूछ सकता है। निःसन्देह यह सरकार की नीतियों को प्रकाश में लाने के लिए अथवा उसे सार्वजनिक महत्व के ऐसे मामलों में आवश्यक कदम उठाने के लिए विवश करने के लिए जिनकी उसने उपेक्षा की है शक्तिशाली उपाय है। कामरोको प्रस्ताव सदन के साधारण कार्य व्यापार को स्थगित करने का ... वाली वर्षा अथवा भाषण उपद्रव आदि सार्वजनिक ... पर ... किया जा सके प्रस्ताव है। कामरोको प्रस्ताव ... पर विचार अप्रटता और दुर्बलता तथा कार्यपालिका ... की है। संसद का नियन्त्रण कार्यपालिका को सतर्क रखता है और ... काम करने से रोकता है।

भारत में संसदीय जनतन्त्र —(Working of Parliamentory democracy in India) भारतीय संविधान ने भारत ... और राज्यों स्थानों पर संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया है। संविधान निर्माता ब्रिटिश संसदीय शासन प्रणाली की सफलता से प्रभावित थे और इसी पद्धति को भारत में लागू करने के लिए उत्सुक थे। यदि भारत के संविधान का विस्तृत रूप से अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट भी हो जाता है कि सैद्धांतिक दृष्टि से इसमें संसदीय पद्धति के सभी आधारभूत तत्व पाये जाते हैं। हमारे यहाँ की संसद (Parliament) का संगठन निर्वाचन उसकी अधिकार शक्तियाँ सभी बातों में ब्रिटेन की पार्लियामेण्ट से मिलती जुलती हैं। संविधान में कई स्थानों पर यह भी स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है कि जब तक भारतीय पार्लियामेण्ट अपने निजी नियम व व्यवस्था न बनायें ब्रिटेन में प्रचलित नियमों व पद्धतियों का अनुसरण किया जायगा। हमारी पार्लियामेण्ट मेज की पुस्तक हाउस आफ कामन्स व हाउस आफ लार्ड्स के नियम संहिता के रूप में स्वीकार करती है। भारत के प्रधान मन्त्री की नियुक्ति व शक्तियां मन्त्रियों का सामूहिक उत्तरदायित्व मन्त्री परिषद् का लोकसभा के प्रति उत्तरदायित्व विरोधी दल का निर्माण सदन में बहुमत का संगठन स्पीकर का निष्पक्ष होना आदि आदि बातें इसका द्योतक है कि भारत में संसदीय प्रणाली कार्यान्वित हो रही है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रणाली सफलता से भारत में कार्य कर रही है? क्या इसका भविष्य भारत में उज्ज्वल है?

संसदीय जनतन्त्र की सफलता केवल संवैधानिक व्यवस्था पर ही निर्भर नहीं करती इसकी सफलता को मापने के लिए हमें कुछ व्यावहारिक तथ्यों की ओर भी

ध्यान देना होगा जिनमे प्रमुख हैं। (१) भारत में चुनाव व नेतृत्व (२) देश में विरोधी दल और उनकी समालोचना पद्धति (३) ठोस व स्थायी जनमत। यह विदित होता है कि भारत में चारों चुनाव बड़ी सफलता के सझे गए और सारे तन्त्र में मतदाताओं ने भाग लिया। पर चुनावों में जाति, धर्म भाषा सम्बन्धी साम्प्रदायिक भावनाओं का बड़ा प्रभाव रहा है। राष्ट्रीय उन्नति को गौण और साम्प्रदायिक भावनाओं को प्राथमिकता दी गई है। परिणामतः पार्लियामेण्ट के भीतर व बाहर राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक नेतृत्व का विकास पूर्णतया नही हो पाया है। पार्लियामेण्ट में आशा की जाती है कि वह सदस्यों को आकर्षित करे जो पूर्ण रूप से और समर्पित कार्यों में अपने को समर्पित कर दे। राजनैतिक प्रश्न का समाज के हित की दृष्टि से मह्रिष व उससे जो कम शिक्षा प्राप्त सदस्यों का अनुपात २५ / है। समाज में वकालत का व्यवसाय करने वाला का अनुपात धीरे धीरे घट रहा है और समाज सेवा करने वाला का बल बढ़ रहा है। जरूरत तो इस बात की है कि भारत में इस उन लोगों का हो जो राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय हित की दृष्टि से विषयों पर निष्पक्ष रूप से विचार कर सकें। दूसरा प्रश्न है विरोधी दल का। यह विदित है कि सभी चुनावों के पश्चात् कांग्रेस का बहुमत रहा। संसद में प्रत्येक विरोधी दलों के सदस्यों की संख्या बहुत कम है जो संगठित होने पर भी पर्याप्त सरकार नहीं बना सकते। उनके द्वारा प्रस्तुत आलोचनाओं और आलोचना में रचनात्मक उन्नति के स्थान पर प्रान्तीय प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। तीसरा भारत का जनमत विकसित नहीं है। उससे देश में राजनैतिक सुरक्षा नहीं आ पाई है।

इन उपयुक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी है कि भारत में कुछ ऐसी बौद्धिक संस्थाओं का निर्माण हो जो समय समय पर विभिन्न राजनैतिक व अन्य मामलों पर निष्पक्ष रूप से विचार कर सकें और सरकार को परामर्श दे सकें। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि देश में प्रेस की स्वतन्त्रता का दुरुपयोग न किया जाय। विश्वविद्यालयों में पत्रकारिता का कोर्स शुरू किया जाए। देश में एक प्रभावशाली प्रेशर (Pressure groups) का जाल बिछा दिया जाए जिसमें भिन्न भिन्न प्रकार के विचार आते हैं। इस तरह के समुदाय प्रत्यक्ष रूप से जनमत का निर्माण करते हैं और सरकारी नीति को प्रभावित भी करते रहते हैं।

संविधान में संशोधन (Amendment in the Constitution) भारतीय संविधान में परिवर्तन की गुंजाइश होनी चाहिए। भारत के नवीन संविधान में ठोस व लचीलापन का समन्वय है। संविधान के अनुच्छेद ३६८ में संशोधन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में कहा गया है। भारत संविधान निर्मात्री सभा में संविधान संशोधन प्रक्रिया के सम्बन्ध में जानने हुए डा॰ अम्बेडकर ने ३ पद्धतियों का निरूपण किया था। पहली पद्धति के अनुसार संविधान में संसद साधारण बहुमत से संशोधन कर सकती है। इसमें राज्यों में विधान परिषद् के निर्माण व समाप्ति जैसे विषय सम्मि

नित हैं। दूसरी पद्धति के अनुसार पार्लियामेण्ट के सदस्यों के $\frac{2}{3}$ मत प्राप्ति पर ही संशोधन कर सकते हैं। इसमें संविधान के तीसरे व चौथे अध्यायों में वर्णित विषय रक्खे गये और तीसरी पद्धति के अनुसार संविधान में संशोधन में पार्लियामेण्ट के $\frac{2}{3}$ बहुमत तथा $\frac{1}{2}$ राज्यों की स्वीकृति प्राप्ति पर ही सम्भव हो सकता है। इसमें निम्न विषय सम्मिलित किए गए हैं —

(१) राष्ट्रपति का चुनाव व चुनाव पद्धति के सम्बन्ध में
(२) संघीय कार्यपालिका सम्बन्धी
(३) केन्द्र शासित राज्यों के लिए न्यायान्तर व्यवस्था
(४) संघीय न्यायपालिका व संघ व राज्यों के बीच विधायिनी सम्बन्ध
(५) संविधान में दी गई ७वीं अनुक्रमणिका
(६) राज्यों का संसद में प्रतिनिधित्व
(७) संविधान में वर्णित संशोधन प्रक्रिया के सम्बन्ध में परिवर्तन सम्बन्धी।

संविधान लागू होने के प्रथम दस वर्षों में ९ संशोधन किए गए और अब तक १८ संशोधन किये जा चुके हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि इससे संविधान का महत्व कम हो गया है परन्तु परिस्थितियों के प्रभाव के कारण—संविधान में संशोधन करना जरूरी था।

संघीय न्यायपालिका

१२८ भारत का सर्वोच्च न्यायालय

संघ में न्यायपालिका की विशेष स्थिति—लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली में स्वतन्त्र और सुसंगठित न्यायपालिका का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसका कर्त्तव्य है कि वह सरकार को अपनी शक्ति के स्वेच्छाचारी ढंग से प्रयोग करने से रोके और नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की रक्षा करे। संघीय शासन प्रणाली में संघीय न्यायपालिका का कार्य और भी महत्वपूर्ण होता है वह संविधान के अभिभावक का कार्य करती है। संविधान में संघीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों अथवा राज्यों की सरकारों के बीच शक्तियों का विभाजन होता है। ऐसी पद्धति में क्षेत्राधिकार के प्रश्न पर मतभेद अथवा विवाद उठ खड़े होना सर्वथा स्वाभाविक है। इसके अलावा संघीय संविधान शासन के विभिन्न अंगों की शक्तियों और कर्त्तव्यों का स्पष्ट रूप से निरूपण कर देता है तथा उनकी मर्यादाएं बांध देता है। इसलिए यदि शासन का कोई विभाग अपना अपने क्षेत्राधिकार की सीमाओं से आगे बढ़ती है, तो विवाद उठ खड़े हो सकते हैं। केवल एक शक्तिशाली न्यायपालिका ही इन विवादों को सुलझा सकती है और शासन के विभिन्न अंगों को उनके लिए निश्चित सीमाओं के भीतर रख सकती है। भारत का नया संविधान स्वरूप में संघीय है। इसी के अनुसार इस प्रकार के विवादों को सुलझाने के लिए और संविधान के अभिरक्षक व अन्तिम

निर्वाचक के रूप में कार्य करने के लिए एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है।

सर्वोच्च न्यायालय का गठन—नए संविधान के अधीन संस्थापित सर्वोच्च न्यायालय देश का सबसे ऊँचा न्यायमण्डल है। वह संघ की न्यायपालिका के शिखर पर आसीन है। उसका गठन १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के उपबन्धों के अधीन स्थापित संघीय न्यायालय के स्थान को ऊँचा उठाकर उसे अधिक अधिकार प्रदान कर दिया गया था। सर्वोच्च न्यायालय भी उन और उनसे भी अधिक शक्तियों का प्रयोग करता है जिनका प्रयोग प्रिवी कौंसिल करती थी।[1] कुछ मामलों में इन शक्तियों को पर्याप्त बढ़ा दिया गया है।

नए संविधान की धारा १२४ के अनुसार भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का एक मुख्य न्यायाधिपति तथा जब तक संसद कानून द्वारा बढ़ाए नहीं, सात अन्य न्यायाधीश होते हैं। अन्य न्यायाधीशों की संख्या सर्वोच्च न्यायालय (न्यायाधीशों की संख्या) अधिनियम १९५६ द्वारा बढ़ाकर दस कर दी गई थी और अब इनकी संख्या १४ कर दी गई है।

हमारे संविधान में (adhoc) न्यायाधीश नियुक्त करने के लिए भी प्रबन्ध किया गया है। यदि किसी समय अधिवेशन करने अथवा जारी रखने के लिए संख्या पूरी न हो तो मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति से पूर्व अनुमति लेकर तथा उस उच्च न्यायालय के मुख्य की सलाह से वहाँ के किसी भी न्यायाधीश को बैठकों पर बुला सकता है। परन्तु सभी ऐसे न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय का सदस्य बनने की योग्यता रखते हों और उन्हें वही भत्ते मिलते जो कि एक सर्वोच्च न्यायालय के सदस्य को मिलते हैं।

न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा अर्हताएं—संविधान ने यह स्पष्ट उपबन्ध कर दिया है कि संसद कानून द्वारा न्यायाधीशों की संख्या को घटा या बढ़ा सकती है। सर्वोच्च न्यायालयों के तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करके, जिनसे इस प्रयोजन के लिए परामर्श करना राष्ट्रपति आवश्यक समझे राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति को नियुक्त करता है।

सर्वोच्च न्यायालय के दूसरे न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से करता है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए कोई व्यक्ति तब तक अर्ह न होगा जब तक कि वह (१) भारत का नागरिक न हो (२) राज्य के किसी उच्च न्यायालय में पाँच वर्ष से अन्यून काम न कर चुका हो (३) किसी उच्च न्यायालय का दस वर्ष से अन्यून अधिवक्ता न रह चुका हो और (४) अथवा राष्ट्रपति उसे पारंगत विधिवेत्ता न समझता हो।

---

१ सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना के साथ भारत का प्रिवी कौंसिल से सम्बन्ध टूट गया है।

न्यायाधीशों के वेतन आदि—सर्वोच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को बिना किराया दिए पदावास के उपयोग का हक है। मुख्य न्यायाधिपति को ५००० रु० प्रतिमास और दूसरे प्रत्येक न्यायाधीश को ४००० रु० प्रतिमास वेतन मिलता है। न्यायाधीश जहां एक बार नियुक्त हुए फिर उनके भत्तों, उपलब्धियों और विशेषाधिकारों में उनके लिए अलाभकारी किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। न्यायाधीशों को नौकरी की गारण्टी दी जाती है। उनके सेवा निवृत्त होने की आयु ६५ वर्ष निश्चित की गई है।

न्यायाधीशों की पदच्युति—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को अपने पद से केवल उसी समय हटाया जा सकता है जबकि सिद्ध कदाचार अथवा असमर्थता के लिए उनके हटाए जाने हेतु संसद के दोनों सदनों ने राष्ट्रपति के सम्मुख एक समावेदन रख दिया हो और राष्ट्रपति ने उसके हटाए जाने का आदेश दे दिया हो। समावेदन के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा और उपस्थित व मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत के द्वारा पास किया गया हो। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सेवा निवृत्त होने के पश्चात् किसी न्यायालय में अथवा किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत करने अथवा उपस्थित होने से वंचित कर दिए गए हैं।

सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियां—भारत का सर्वोच्च न्यायालय एक शक्तिशाली निकाय है। उसकी शक्तियां अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के सहित किसी अन्य संघ की सर्वोच्च न्यायिक सत्ता की शक्तियों से अधिक हैं। वह एक अभिलेख न्यायालय है और उसे अपने अवमान के लिए दण्ड देने की शक्ति के सहित एसे न्यायालय की सब शक्तियां प्राप्त हैं।

(क) अभिलेख न्यायालय—अभिलेख न्यायालय वह उच्च न्यायालय होता है जिसके निर्णयों और न्यायिक कार्यवाहियों को नित्य स्मृति के लिए लिख लिया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय के अभिलेखों का साक्ष्यात्मक मूल्य होता है और जब किसी न्यायालय के सम्मुख उन्हें उपस्थित किया जाता है तब उनकी साक्षी पर किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं किया जा सकता।

(ख) सर्वोच्च न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय प्रारम्भिक अपीलीय और परामर्शीय क्षेत्राधिकारों का प्रयोग करता है। उसका अपवर्जी प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (१) भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्यों के बीच के (२) एक ओर भारत सरकार और कई राज्य या राज्यों तथा दूसरी ओर एक या अधिक अन्य राज्यों के बीच के अथवा (३) दो या अधिक राज्यों के बीच के, किसी विवाद में यदि और जहां तक ऐसा कोई प्रश्न उपग्रस्त है (चाहे कानून का हो चाहे तथ्य का) जिस पर किसी कानूनी अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर है वहां तक होता है। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का

विस्तार उस विवाद पर नहीं है जो पूर्वकालीन देशी राज्यों के साथ की गई संधियों के उपबन्धों से सम्बन्ध रखता है और जिसमें कोई राज्य एक पक्ष है।

(ग) सर्वोच्च न्यायालय का अपीलीय क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार में तीन तरह के मामले आते हैं—(क) संवैधानिक (ख) दीवानी और (ग) फौजदारी। संवैधानिक मामलों में किसी उच्च न्यायालय के चाहे वह फौजदारी विषयक और चाहे दीवानी कार्यवाही में दिए गए निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में हो सकती है यदि वह उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उस मामले में संविधान के निर्वाचन का कोई सारवान् विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। दीवानी मामलों में उच्च न्यायालय के किसी निर्णय आज्ञप्ति या अंतिम आदेश की अपील सर्वोच्च न्यायालय में होगी यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित करे कि विवाद विषय की राशि का मूल्य २०,००० रु० से कम नहीं है अथवा अपील में कोई सारवान् विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। फौजदारी मामलों में किसी उच्च न्यायालय के दिए हुए निर्णय की सर्वोच्च न्यायालय में अपील होगी यदि उस उच्च न्यायालय ने (१) अपील में किसी अभियुक्त व्यक्ति की विमुक्ति के आदेश को उलट दिया है तथा उसको मृत्यु दण्डादेश दिया है (२) अपने अधीन न्यायालय से किसी मामले को परीक्षण करने के हेतु अपने पास मांग लिया है तथा उस परीक्षण में अभियुक्त व्यक्ति को सिद्धदोष ठहराया है और मृत्यु दण्डादेश दिया है अथवा (३) प्रमाणित किया है कि मामला सर्वोच्च न्यायालय में अपील किए जाने लायक है। संसद कानून के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को बढ़ा सकती है।

संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को कतिपय परामर्शीय कृत्य भी दिए हैं। यदि राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि कानून या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है जो सार्वजनिक महत्व का है तो उस पर वह सर्वोच्च न्यायालय की राय प्राप्त कर सकता है। इस क्षेत्राधिकार के अधीन राष्ट्रपति उन विवादों को भी सर्वोच्च न्यायालय को राय देने के लिए सौंप सकता है जो पूर्वकालीन देशी राज्यों के साथ की गई संधियों और समझौतों के निर्वचन को अन्तर्ग्रस्त करते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय और मूल अधिकार—सर्वोच्च न्यायालय भारत के नागरिकों की स्वतन्त्रताओं और मूल अधिकारों का रक्षक है। यदि किसी विधान मण्डल द्वारा पास किया गया कोई कानून उन मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है जो संविधान में जनता को प्रदान किए हैं तो न्यायालय उसको शून्य घोषित कर सकता है। निवारक निरोध अधिनियम के खण्ड १४ के मामले में यह किया गया था राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश निकालकर इस खण्ड को अपमार्जित कर दिया। अभी हाल ही में राज्यों के उच्च न्यायालयों ने और सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद १६ और ३१ के प्रतिकूल पड़ने वाले कतिपय कानूनों को निष्फल किया है।

संविधान का अभिरक्षक और निवचक—सर्वोच्च न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण और मूल अधिकारों के प्रवतन के लिए लेख निकाल सकता है। इस प्रकार अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय की तरह भारत के सर्वोच्च न्यायालय को विधान मण्डलों द्वारा पास किए गए कानूनों का पुनरीक्षण करने और उन्हें यदि वे संविधान के किसी उपबन्ध के विरुद्ध हों अवैध घोषित करने की शक्ति दे दी गई है। दूसरे शब्दों में सर्वोच्च न्यायालय संविधान का अभिरक्षक और निवचक है।

सर्वोच्च न्यायालय की स्वतन्त्रता—संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करने व उसे कार्यपालिका या व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप अथवा प्रभाव से दूर रखने का उचित उपबन्ध कर दिया है। न्यायाधीश जहाँ एक बार नियुक्त हुए, फिर उन्हें एक अत्यन्त कठिन प्रक्रिया के अलावा अन्य किसी रीति से अपदस्थ नहीं किया जा सकता। इसके अलावा न्यायधीशों के वेतन और सर्वोच्च न्यायालयों के प्रशासनिक व्ययों का भार भारत का संचित निधि के ऊपर पड़ता है। ये व्यय संघीय विधान मण्डल के मतापेक्षी नहीं हैं।

एक व्यक्ति आयोग (One man commission) सर्वोच्च न्यायालय की *अखण्डता व स्वतन्त्रता के प्रसंग में एक व्यक्ति आयोग के विषय में चर्चा करना अनुपयुक्त नहीं होगा। अभी हाल में भारत सरकार ने भ्रष्टाचार व अन्य मामलों के सम्बन्ध में एक व्यक्ति आयोग नियुक्ति की परिपाटी प्रारम्भ की है। इस आयोग में साधारणतया सर्वोच्च या उच्च न्यायालयों का रिटायर्ड न्यायाधीश होता है।* इस आयोग का काय हस्तान्तरित विषय पर जाँच व मत देने का है। सरकार उसे स्वीकार या रद्द करने में स्वतन्त्र है किन्तु न्यायालय की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए रिटायर्ड न्यायाधीश के मत का मूल्य उतना ही होना चाहिए।

सारांश

भारत के नए संविधान की रचना मन्त्री मिशन योजना के उपबन्धों के *अधीन १९४९ में निर्मित संविधान सभा ने की थी। यह संसार का सबसे बड़ा और विस्तृत वैधानिक प्रलेख है। इसमें आठ अनुसूचियों के अलावा ३९५ अनुच्छेद हैं। यह कठोर भी है यद्यपि अमेरिका के संविधान से कम कठोर है। यह रूप में संघीय है लेकिन इसकी आत्मा एकात्मक है। इसने भारतवर्ष में निर्वाचित संसदीय शासन* प्रणाली को अंगीकृत किया है। इसमें नागरिकों के मूल अधिकारों के ऊपर एक अध्याय है। ये अधिकार समयनीय हैं। लेकिन इसमें से कुछ महत्वपूर्ण अधिकारों को आपात कालों में स्थगित किया जा सकता है। हमारे संविधान की एक अनुपम विशेषता राज्य नीति के निदेशक तत्व हैं। इन तत्वों को न्यायालय द्वारा बाध्यता नहीं दी जा सकती। ये तत्व उन व्यक्तियों के लिए जो राज्य की सत्ता का प्रयोग करते हैं नैतिक सिद्धान्तों के रूप में हैं। संविधान ने भारतवर्ष में धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना की है। इस राज्य में सब धर्मों को समान दृष्टि से देखा जाता है।

भारतीय संविधान में संघीय शासन तन्त्र के विशिष्ट लक्षण विद्यमान हैं। राज्यों और संघ के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन है। संविधान देश का सर्वोच्च कानून है और संविधान के अभिभावक तथा निर्वाचक के रूप में न्यायपालिका का अपना विशेष स्थान है। लेकिन संविधान में सबल एकात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है और वह केवल अर्द्ध संघीय है। केन्द्र को अवशिष्ट शक्तियाँ सहित व्यापक शक्तियाँ दी गई हैं। साधारण परिस्थितियों तक में केन्द्र राज्यों की स्वायत्तता में हस्तक्षेप कर सकता है। आपातकाल में संविधान को बिना किसी औपचारिक संशोधन के एकात्मक बनाया जा सकता है।

संघीय कार्यपालिका—भारत संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गई है। वह राज्यों की विधान सभाओं तथा संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों द्वारा परोक्षत निर्वाचित होता है। संविधान ने राष्ट्रपति को विपुल कार्यपालिका, विधायिनी, वित्तीय और न्यायिक शक्तियाँ प्रदान की हैं। लेकिन साधारणतः राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा पर करता है। वह वैधानिक शासक है और उसकी स्थिति ब्रिटिश शासक के समान है। कुछ अधिकारी विद्वानों का कहना है कि चूंकि राष्ट्रपति सब मामलों में मन्त्रियों की मन्त्रणा को मानने के लिए कानूनन बाध्य नहीं है अतः वह कतिपय परिस्थितियों में वास्तविक शासक अथवा तानाशाह बन सकता है।

लेकिन संसदीय शासन प्रणाली में जिसे कि भारत में अपनाया गया है वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद् होती है। मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किया जाता है और दूसरे मन्त्री प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। मन्त्रिपरिषद् प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में विधान मण्डल के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करती है।

संघीय विधान मण्डल—संघीय विधान मण्डल अथवा संसद द्विसदनात्मक है। उच्च सदन (राज्य परिषद्) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा परोक्षत निर्वाचित होता है। उसकी अधिकतम सदस्य-संख्या २५० है १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम निर्देशित होते हैं। लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या ५०० थी परन्तु अब ५२० कर दी गई है। इसके सदस्य वयस्क मताधिकार और संयुक्त निर्वाचक गणों के आधार पर जनता द्वारा सीधे निर्वाचित होते हैं लोकसभा की साधारण कालावधि ५ वर्ष है। राज्य परिषद स्थायी सदन है। उसके सदस्य ६ वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं पर तु तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष निवृत्त हो जाते हैं। संसद के दोनों सदन शक्तियों और प्रभाव की दृष्टि से समान नहीं हैं। वित्तीय मामलों में लोकसभा परमश्रेष्ठ है लेकिन अवित्तीय मामलों में दोनों सदन बराबर हैं।

संविधान संशोधन प्रक्रिया—भारत के संविधान में ३ प्रकार की संशोधन प्रक्रिया रक्खी गयी है (१) पार्लियामेन्ट के साधारण बहुमत द्वारा (२) $\frac{2}{3}$ बहुमत द्वारा (३) पार्लियामेंट के $\frac{2}{3}$ बहुमत तथा $\frac{1}{2}$ संघीय एककों की स्वीकृति द्वारा। *तीसरी पद्धति से राज्यों का संविधान में महत्त्व बढ़ा दिया गया है।* भारतीय संविधान में इस प्रकार ठोस व लचीलापन का समन्वय है। अब तक १८ संशोधन संविधान में किये जा चुके हैं।

भारत में संसदीय जनतन्त्र—भारत में संसदीय जनतन्त्र सिद्धान्त १५ वर्ष से लागू किया जा रहा है। हमारे संसदीय जनतन्त्र की व्यावहारिक सफलता में योग्य जन नेतृत्व ठोस जनमत तथा मजबूत विरोधी दल की कमियाँ हैं। इसकी सफलता के लिये भारत में जन शिक्षा, राजनैतिक जागृति तथा योग्य व ईमानदार पत्रकारिता व बौद्धिक पुर्षों के निर्माण व विकास की आवश्यकता है।

संघीय न्यायपालिका—संविधान ने एक सर्वोच्च न्यायालय का प्रबन्ध किया है। यह न्यायालय संघ का अन्तिम निर्णायक है। इसके साथ ही साथ यह देश का सर्वोच्च न्यायमण्डल भी है। यह भारत के मुख्य न्यायाधिपति और ७ दूसरे न्यायाधीशों से मिलकर बनता है। यह प्रारम्भिक और अपीलीय क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता है। उसके अपीलीय क्षेत्राधिकार में वैधानिक दीवानी और फौजदारी के मामले आते हैं। तथ्य या कानून के किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर राष्ट्रपति उनसे परामर्श भी ले सकता है। भारत का सर्वोच्च न्यायालय संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली निकायों में से है।

भारतीय संविधान में संघीय राज्यतन्त्र के विशिष्ट लक्षण विद्यमान हैं। राज्यों और संघ के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन है। संविधान देश का सर्वोच्च कानून है और संविधान के अभिभावक तथा विवेचक के रूप में न्यायपालिका का अपना विशेष स्थान है। लेकिन संविधान में अनेक एकात्मक प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं और वह केवल अर्द्ध संघीय ही है। केन्द्र को अत्यधिक शक्तियाँ तथा अवशिष्ट शक्तियाँ दी गई हैं। असाधारण परिस्थितियों में केन्द्र राज्यों की स्वायत्तता में हस्तक्षेप कर सकता है। आपातकाल में संविधान को बिना किसी औपचारिक संशोधन के एकात्मक बनाया जा सकता है।

संघीय कार्यपालिका—भारत संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गई है। वह राज्यों की विधान सभाओं तथा संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों द्वारा परोक्षत निर्वाचित होता है। संविधान ने राष्ट्रपति को विस्तृत कार्यपालिका, विधायिनी, वित्तीय और न्यायिक शक्तियाँ प्रदान की हैं। लेकिन साधारणतया राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रियों की मन्त्रणा पर करता है। वह संवैधानिक शासक है और उसकी स्थिति ब्रिटिश शासक के समान है। कुछ अधिकारी विद्वानों का कहना है कि चूँकि राष्ट्रपति सब मामलों में मन्त्रियों की मन्त्रणा को मानने के लिए कानूनन बाध्य नहीं है अतः वह कतिपय परिस्थितियों में वास्तविक शासक अथवा तानाशाह बन सकता है।

लेकिन संसदीय शासन प्रणाली में जिसे कि भारत में अपनाया गया है वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद् होती है। मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किया जाता है और दूसरे मन्त्री प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। मन्त्रिपरिषद प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में विधान मण्डल के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करती है।

संघीय विधान मण्डल—संघीय विधान मण्डल अथवा संसद द्विसदनात्मक है। उच्च सदन (राज्य परिषद) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा परोक्षत निर्वाचित होता है। उसकी अधिकतम सदस्य-संख्या २५० है १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम निर्देशित होते हैं। लोकसभा की अधिकतम सदस्य-संख्या ५०० थी परन्तु अब ५२० कर दी गई है। इसके सदस्य वयस्क मताधिकार और संयुक्त निर्वाचक गणों के आधार पर जनता द्वारा सीधे निर्वाचित होते हैं लोकसभा की साधारण कालावधि ५ वर्ष है। राज्य परिषद स्थायी सदन है। उसके सदस्य ६ वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं परन्तु तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष निवृत्त हो जाते हैं। संसद के दोनों सदन शक्तियों और प्रभाव की दृष्टि से समान नहीं हैं। वित्तीय मामलों में लोकसभा परमेष्ठ है लेकिन अवित्तीय मामलों में दोनों सदन बराबर हैं।

संविधान संशोधन प्रक्रिया—भारत के संविधान में ३ प्रकार की संशोधन प्रक्रिया रक्खी गयी है (१) पार्लियामेण्ट के साधारण बहुमत द्वारा (२) $\frac{2}{3}$ बहुमत द्वारा (३) पार्लियामेंट के $\frac{2}{3}$ बहुमत तथा $\frac{1}{2}$ संघीय इकाइयों की स्वीकृति द्वारा। तीसरी पद्धति से राज्यों को संविधान में महत्व प्रदान किया गया है। भारतीय संविधान में इस प्रकार ठोस व लचीलापन का समन्वय है। अब तक १८ संशोधन संविधान में किये जा चुके हैं।

भारत में संसदीय जनतन्त्र—भारत में संसदीय जनतन्त्र पिछले १५ वर्षों से लागू किया जा रहा है। हमारे संसदीय जनतन्त्र की व्यावहारिक सफलता में योग्य जन नेतृत्व, ठोस जनमत तथा मजबूत विरोधी दल की कमियाँ हैं। इसकी सफलता के लिये भारत में जन शिक्षा, राजनैतिक जागृति तथा योग्य व ईमानदार पत्रकारिता व बौद्धिक गुटों के निर्माण व विकास की आवश्यकता है।

संघीय न्यायपालिका—संविधान ने एक सर्वोच्च न्यायालय का उपबन्ध किया है। यह न्यायालय संघ का अन्तिम निर्वचक है। इसके साथ ही साथ वह देश का सर्वोच्च न्यायमण्डल भी है। यह भारत के मुख्य न्यायाधिपति और ७ दूसरे न्यायाधीशों से मिलकर बनता है। वह प्रारम्भिक और अपीलीय क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता है। उसके अपीलीय क्षेत्राधिकार में वैधानिक, दीवानी और फौजदारी के मामले आते हैं। तथ्य या कानून के किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर राष्ट्रपति उससे परामर्श भी ले सकता है। भारत का सर्वोच्च न्यायालय संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली निकायों में से है।

अध्याय १६

भारत का नया संविधान—क्रमश

(राज्य की सरकार)

भारत संघ के राज्य

भारत संघ के राज्य क्षेत्र में राज्यों के राज्य क्षेत्र समाविष्ट हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् राज्यों का जो एकीकरण किया गया उसके परिणाम स्वरूप अट्ठाईस राज्य थे। अण्डमान निकोबार द्वीपों को पृथक श्रेणी में रखा गया था। राज्यों को ४ श्रेणियों में बांटा गया था जिनका उल्लेख संविधान की प्रथम अनुसूची में मिलता है। सन् १९५३ में आन्ध्रप्रदेश का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों पर संविधान में सातवां संशोधन किया गया। वर्तमान भारत संघ में दो प्रकार के राज्य हैं। एक वो है जो संघ की स्वतन्त्र इकाइयां हैं और दूसरे केन्द्र प्रशासित। ये सब निम्न तालिका में दिखाया गया है।

संघीय इकाइयां	केन्द्र प्रशासित
१ आन्ध्रप्रदेश	१ देहली
२ आसाम	२ हिमाचल प्रदेश
३ उड़ीसा	३ मनिपुर
४ पंजाब	४ त्रिपुरा
५ पश्चिमी बंगाल	५ गोआ डामन ड्यू
६ बिहार	६ पांडिचेरी
७ मद्रास	
८ मध्यप्रदेश	
९ महाराष्ट्र	
१० उत्तरप्रदेश	
११ गुजरात	
१२ मैसूर	
१३ राजस्थान	
१४ केरल	
१५ जम्मू कश्मीर	
१६ नागालैण्ड	

नए संविधान के अधीन राज्यों का पद—नया संविधान भारत को एक संघ बनाता है। फलतः राज्य जो संघ के अवयवी एकक हैं एक स्वायत्त स्टेटस का उपभोग करते हैं। संविधान संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट वितरण करता है। साधारण परिस्थितियों में कतिपय विषय राज्यों के अपवर्जी शासाधिकार में आते हैं लेकिन संविधान में ऐसे कुछ उपबन्ध विद्यमान हैं जो संघ सरकार को उन विषयों पर भी जो कि राज्य सूची में प्रगणित हैं कानून बनाने और नियन्त्रण रखने की शक्ति प्रदान करते हैं। यह प्रबन्ध भारत को शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिए किया गया है। इसलिए नया संविधान केन्द्रवाद और संघवाद के बीच समझौता है।

१३० संघ तथा राज्यों के सम्बन्ध

शक्तियों का वितरण—संविधान व्यवस्थापन के विभिन्न विषयों को तीन सूचियों—संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची—में बांटता है। ये सूचियां सातवीं अनुसूची में दी हुई हैं। संघ सूची में वे विषय हैं जिनके ऊपर संघीय (केन्द्रीय) सरकार को अपवर्जी अधिकार प्राप्त है और जिनके ऊपर वह कानून बना सकती है।

(१) संघ सूची—संघ सूची में ९७ विषय हैं। प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, नागरिकता, देशीयकरण तथा अन्यदेशीय, रेल, राष्ट्रीय राजपथ, चलार्थ, टंकण और विधिमान्य, विदेशी विनिमय, भारत का रिज़र्व बैंक, डाकघर बचत बैंक, विदेशी वाणिज्य, बीमा आदि विषय संघ सूची में सम्मिलित हैं।

(२) राज्य सूची—राज्य सूची में सार्वजनिक व्यवस्था, पुलिस, जेल, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, शिक्षा, कृषि, भूमि, वन, उद्योग और राज्य के भीतर व्यापार आदि के सहित ६६ विषय हैं। संविधान में उल्लिखित केवल उन परिस्थितियों को छोड़कर जबकि संघ सरकार इन विषयों को अपने हाथ में ले सकती है राज्य सरकार को इनके ऊपर अपवर्जी व्यवस्थात्मक तथा प्रशासनिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

(३) समवर्ती सूची—समवर्ती सूची फौजदारी कार्यवाही, विवाह और तलाक, संविदाएं, दीवानी कार्यवाही, श्रमिक संघ, श्रमिक कल्याण, मूल्य नियन्त्रण, कारखाने, आर्थिक और सामाजिक योजना, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, विद्युत, समाचार पत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय आदि को मिलाकर ४७ विषय प्रगणित करती है। समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों के ऊपर कानून बनाने के लिए संघ सरकार और राज्यों की सरकारें—दोनों ही सक्षम हैं। लेकिन इसमें एक बात है और वह यह कि यदि किसी समवर्ती विषय पर राज्य के विधान मण्डल द्वारा निर्मित कानून उसी विषय पर संसद द्वारा निर्मित कानून के प्रतिकूल पड़ता है तो संसद द्वारा निर्मित कानून अभिभावी होगा तथा राज्य के विधान मण्डल द्वारा निर्मित कानून विरोध की मात्रा तक शून्य होगा।

अवशिष्ट शक्तियाँ—ये तीनों सूचियाँ बड़ी विस्तृत हैं। लेकिन हो सकता है कि भविष्य में एक किसी विषय का पता चले जो कि इनमें से किसी भी सूची में सम्मिलित न किया गया हो। संविधान के उपबन्धों के अनुसार ऐसे सब विषय संघ सरकार के क्षेत्राधिकार में आयें। दूसरे शब्दों में अवशिष्ट शक्तियाँ संघ में निहित की गई हैं।

यह स्पष्ट है कि नए संविधान के अधीन किए गए शक्तियों के वितरण का उद्देश्य केन्द्र को अत्यन्त शक्तिशाली बनाना है। अवशिष्ट शक्तियों को केन्द्र के हाथों में सौंप देने का भी यही उद्देश्य है। अमरीका और स्विट्ज़रलैण्ड जैसे फ़ैडरल संघों में अवशिष्ट शक्तियाँ अवयवी एककों में निहित की गई हैं। भारत में उन उपबन्धों में भी जो संघ सरकार को राज्यों के क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण करने और राज्य सूची में प्रगणित विषयों पर कानून बनाने की शक्ति देते हैं केन्द्र को अधिकाधिक सबल बनाने की भावना ही प्रकट होती है। संघ और राज्यों के विधायी प्रशासनिक और वित्तीय सम्बन्धों का पृथक्-पृथक् अध्ययन इसी तथ्य को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

विधायी सम्बन्ध—जहाँ तक संघ और राज्यों के विधायी सम्बन्धों का प्रश्न है संघ और राज्यों के बीच शक्तियों के ऊपर विवरण से यह प्रकट है कि संघ की सरकार और राज्यों की सरकारें अपने अपने क्षेत्र में यथेष्ट कुछ स्वतन्त्र हैं। लेकिन यहाँ यह स्मरणीय है कि जहाँ राज्य का विधान मण्डल संघीय संसद के क्षेत्राधिकार का किसी भी दशा में अतिक्रमण नहीं कर सकता संघीय संसद निम्न दशाओं में राज्य सूची में प्रगणित विषयों पर कानून बना सकती है—(१) यदि राज्य परिषद् दो तिहाई बहुमत से इस आशय का एक प्रस्ताव पास कर दे कि अमुक विषय राष्ट्रीय महत्त्व का है तो संसद उस विषय पर कानून बना सकती है। (अनुच्छेद २४९)। (२) आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन काल में संसद राज्य सूची में प्रगणित समस्त विषयों पर कानून बना सकती है। (अनुच्छेद २५०)। (३) यदि दो या दो से अधिक राज्य संसद से इस बात की प्रार्थना करें कि वह किसी राज्य विषय पर उनके लिए कानून बना दे तो संसद उस विषय पर कानून बनाने के लिए सक्षम है। (अनुच्छेद २५२)। (४) संसद को किसी अन्य देश या देशों के साथ की हुई संधि या करार के परिपालन के लिए राज्य विधान मण्डल के क्षेत्राधिकार में आने वाले विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। (अनुच्छेद २५३)। (५) यदि संसद द्वारा निर्मित कानूनों और राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा निर्मित कानूनों में असंगति हो तो संसद द्वारा निर्मित कानून चाहे वह राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा निर्मित कानूनों के पहले या पीछे पास हुआ हो, अभिभावी होगा और राज्यों के विधान मण्डल द्वारा निर्मित कानून विरोध की मात्रा तक शून्य होंगे। (अनुच्छेद २५४)। (६) राज्यों में वैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की अवस्था में राष्ट्रपति राज्य के विधान मण्डल के अधिकार अपने हाथों में लेकर संसद को दे सकता है और उस दशा में उसके सब अधिकारों का प्रयोग

संसद करेगी। (अनुच्छेद २५६)। (७) राज्य विधान मण्डल द्वारा पास किए गए कुछ विधेयक ऐसे हैं जिन्हें राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोक सकता है और जो राष्ट्रपति की स्वीकृति पाने पर ही कानून बन सकते हैं। अनुच्छेद (२०१)।

प्रशासनिक सम्बन्ध—संविधान ने यह व्यवस्था की है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होगा जिससे संसद् द्वारा निर्मित विधियों का तथा किन्हीं वर्तमान विधियों का जो उस राज्य में लागू हैं पालन सुनिश्चित रहे। संघ का अधिकार है कि वह इस सम्बन्ध में राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सकता है। (अनुच्छेद २५६)। इसके साथ ही साथ संघ राष्ट्रीय महत्त्व के यातायात के साधनों के निर्माण तथा उनकी रक्षा के लिए राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सकेगा। इन निर्देशों के पालन में राज्यों को जो अतिरिक्त व्यय करना पड़ेगा, उसे संघ सरकार वहन करेगी। (अनुच्छेद २५७)। राष्ट्रपति राज्य सरकार की अनुमति से राज्य के कर्मचारियों को संघीय सरकार के किसी भी काम को करने का आदेश दे सकता है। (अनुच्छेद २५८)। संसद् को अन्तर्राज्यिक नदियों तथा नदी की घाटियों के सम्बन्ध में उठने वाले झगड़ों के निपटारे के लिए कानून बनाने का अधिकार है। (अनुच्छेद २६२)। यदि विभिन्न राज्यों के मध्य अथवा राज्यों और संघ के मध्य ऐसे विषयों के ऊपर कोई विवाद उठे जिनमें सामान्य हित हो तो राष्ट्रपति उसकी परीक्षा करने तथा उस पर सिफारिश करने के लिए एक अन्तर्राज्यिक परिषद् का निर्माण कर सकता है। (अनुच्छेद २६३)। देशी राज्यों के पास संविधान आरम्भ होने से पूर्व जो सेनाएं थीं वे उस समय तक बनी रहेंगी जब तक संसद् कानून द्वारा उनकी कोई अन्य व्यवस्था न कर दे। ऐसी सभी सेनाएं भारतीय सेना का भाग समझी जाएंगी व उन पर संघ सरकार का नियन्त्रण रहेगा। (अनुच्छेद २५९)। आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तनकाल में राज्यों की स्वायत्तता स्थगित हो जाएगी और संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को इस विषय में निर्देश देने तक होगा कि वह अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे। (अनुच्छेद ३५३)। संघ और राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्धों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि स्वायत्त राज्यों को अपने क्षेत्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त है, फिर भी संघ सरकार उनके प्रशासन में पर्याप्त हस्तक्षेप कर सकती है। इसके अतिरिक्त द्वितीय श्रेणी के राज्यों पर तो संघ सरकार का संविधान आरम्भ होने के दस वर्ष बाद तक साधारण नियन्त्रण रहेगा।

वित्तीय सम्बन्ध—नये संविधान ने संघ और राज्यों के बीच आर्थिक साधनों का बटवारा बहुत कुछ १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार ही किया है। कुछ कर तो पूर्ण रूप से संघ के हाथों में हैं और कुछ राज्यों के। कुछ कर संघ लगाता है लेकिन राज्य एकत्रित करता है। कुछ कर ऐसे हैं जिन्हें संघ लगाता और वसूल करता है परन्तु राज्यों को दे देता है। निम्नलिखित कर पूर्ण रूप से संघ के हाथ में हैं—कृषि को छोड़कर अन्य आय पर कर, सीमा शुल्क जिसके अन्तर्गत निर्यात

शुल्क भी है। भारत में निर्मित या उत्पादित तम्बाकू तथा मानव उपभोग के मद्यसारिक पानी, अफीम, भांग और अन्य मादक द्रव्यों वाली औषधियों तथा प्रसाधनों को छोड़कर किन्तु ऐसी औषधीय और प्रसाधनीय सामग्री को अन्तर्गत करके जिनमें मद्यसार का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हो, अन्य सब वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क, निगम कर, व्यक्तियों या समवायों की आस्तियों में से कृषि भूमि को छोड़कर उसके मूलधन मूल्य पर कर, समवायों के मूलधन पर कर, कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार के बारे में शुल्क, रेल या समुद्र या वायुयान से ले जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर, रेल के जन भाड़े और वस्तु भाड़े पर कर, मुद्रांक शुल्क को छोड़कर श्रेष्ठि चत्वर और वायदा बाजार के सौदों पर कर, विनिमय पत्रों, चेकों, वचन पत्रों, वहन-पत्रों, प्रत्यय पत्रों, बीमा-पत्रों, अंशों के हस्तांतरण, ऋण-पत्रों, प्रतिपत्रियों और प्राप्तियों के सम्बन्ध में लगने वाले मुद्रांक शुल्क की दर, समाचार पत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर। (संघ सूची ८२-९२)।

निम्नलिखित कर पूर्ण रूप से राज्यों की सरकारों के आय के स्रोत हैं—कृषि आय पर कर, कृषि भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क, कृषि भूमि के विषय में सम्पत्ति शुल्क, भूमि और भवनों पर कर, संसद से विधि द्वारा खनिज विकास के सम्बन्ध में लगाई गई परिसीमाओं के अधीन रहते हुए खनिज अधिकार पर कर, अफीम और भांग पर कर, विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर, समाचार पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर, समाचारपत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर आदि आदि (राज्य-सूची ४५-६६)।

निम्नलिखित शुल्क और कर भारत सरकार द्वारा आरोपित व संगृहीत किये जायेंगे किन्तु राज्यों को सौंप दिये जायेंगे—कृषि भूमि से अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार विषयक शुल्क, कृषि भूमि से अन्य सम्पत्ति विषयक सम्पत्ति शुल्क, रेल, समुद्र या वायु से वाहित वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर, रेल भाड़ों और वस्तु भाड़ों पर कर, श्रेष्ठि चत्वरों और वायदा बाजारों के सौदों पर मुद्रांक शुल्क से अन्य कर, समाचार पत्रों के क्रय विक्रय तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर। (अनु० २६९)।

संविधान ने निश्चय किया है कि कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आय पर करों को भारत सरकार द्वारा उद्गृहीत और संगृहीत किया जायगा तथा संघ और राज्यों के बीच में वितरित कर दिया जायगा। (अनु० २७०)।

अनुच्छेद २६९ और २७० में किसी बात के होते हुए भी संसद उन अनुच्छेदों में निर्दिष्ट शुल्कों या करों में से किसी का भी किसी समय संघ के प्रयोजनों के लिए अधिभार द्वारा वृद्धि कर सकेगी तथा ऐसे किसी अधिभार के समस्त आगम भारत की संचित निधि के भाग होंगे। (अनु० २७१)।

संघ सूची में वर्णित औषधीय तथा प्रसाधन सामग्री पर उत्पादन शुल्क से अन्य संघ उत्पादन शुल्क भारत सरकार द्वारा उद्गृहीत और संगृहीत किये जायेंगे किन्तु यदि

संसद विधि द्वारा यह उपबंधित करे तो शुल्क लगने वाली विधि जिन राज्यों को लागू होती हो उन राज्यों को भारत की संचित निधि में से उस शुल्क के शुद्ध आगमों के पूर्ण अथवा किसी भाग के बराबर राशि दी जाएगी और वे राशियां उन राज्यों के बीच विधि द्वारा सूत्र-बद्ध वितरण-सिद्धान्तों के अनुसार वितरित की जाएंगी। (अनु० २७२)।

आसाम उड़ीसा बिहार और पश्चिमी बंगाल पटसन और पटसन से बनी वस्तुओं पर निर्यात शुल्क के स्थान में सहायक अनुदान प्राप्त करेंगे। (अनु० २७३)।

ऐसी राशियां जो संसद विधि द्वारा उपबंधित करे उन राज्यों के राजस्वों के सहायक अनुदान के रूप में प्रतिवर्ष भारत की संचित निधि पर भारित होंगी। जिन राज्यों के सम्बन्ध में संसद यह निर्धारित करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है तथा भिन्न भिन्न राज्यों के लिए भिन्न राशियां नियत की जा सकेंगी। इसके अतिरिक्त किसी राज्य के राजस्वों के सहायक अनुदान के रूप में भारत की संचित निधि में से वैसी मूल तथा आवर्तक राशियां दी जा सकेंगी जैसी कि उस राज्य को उन विकास योजनाओं के खर्चों के उठाने में समर्थ बनाने के लिए आवश्यक हों जो उस राज्य के अन्तर्गत अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण की उन्नति करने के प्रयोजन के लिए अथवा उस राज्य में अन्तर्गत अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन स्तर को उस राज्य के शेष क्षेत्रों के प्रशासन स्तर तक उन्नत करने के प्रयोजन के लिए उस राज्य ने भारत सरकार के अनुमोदन से हाथ में ली हो। (अनु० २७५)।

किसी राज्य के विधान मण्डल की ऐसे करों सम्बन्धी कोई विधि जो उस राज्य या किसी नगरपालिका जिला मण्डली स्थानीय मण्डली अथवा उसमें अन्य स्थानीय प्राधिकारी के हित साधन के लिए वृत्तियों, व्यापारों आजीविकाओं या नौकरियों के बारे में लागू होती है इस आधार पर अमान्य न होगी कि वह आयकर है। राज्य को अथवा इसमें की किसी एक नगर पालिका जिला-मण्डली स्थानीय मण्डली या अन्य स्थानीय प्राधिकार को किसी एक व्यक्ति के बारे में वृत्तियों व्यापारों आजीविकाओं और नौकरियों पर करों द्वारा देय समस्त राशि ढाई सौ पचास रुपए प्रतिवर्ष से अधिक न होगी। इस सम्बन्ध में विधियां बनाने की राज्य के विधान मण्डल की शक्ति का यह अर्थ नहीं होगा कि वृत्तियों, व्यापारों आजीविकाओं और नौकरियों से प्रोद्भूत या उत्पन्न आय पर करों के विषय में विधियां बनाने की संसद की शक्ति किसी प्रकार सीमित की गई है। (अनु० २७६)।

राज्य की कार्यपालिका

१३१ राज्यपाल

राज्यपाल की नियुक्ति, पदावधि, अर्हताएं और उपलब्धियां—नए संविधान के अधीन भाग (क) राज्य की कार्यपालिका-शक्ति राज्यपाल में निहित की

राज्यपाल भारत के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है[1] और उसके प्रसाद पर्यन्त पद धारण करता है। इस उपबन्ध के अधीन रहते हुए उसकी पदावधि पाँच वर्ष होगी। कोई व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होने के लिए उस समय तक पात्र नहीं होगा जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो और ३५ वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो। अपनी पदावधि में उसे लाभ के किसी अन्य पद को धारण करने से वंचित कर दिया जाता है। जब तक वह राज्यपाल का पद धारण करता है उसके लिए यह आवश्यक है कि वह संसद के किसी सदन का अथवा राज्य के किसी विधान मण्डल का सदस्य न हो। जब तक संसद इस सम्बन्ध में अन्यथा उपबन्ध न करे राज्यपाल को बिना किराया दिए पदावास के उपयोग तथा अपने पद के कर्तव्यों का सुविधा और प्रतिष्ठा के साथ और निर्वहन करने के लिए यात्रा व व्यय सम्बन्धी दूसरे भत्तों[2] के अलावा ५,५०० रु० प्रति मास वेतन का हक होगा।

राज्यपाल की शक्तियाँ—संविधान राज्यपाल को कई शक्तियाँ प्रदान करता है। इन शक्तियों को चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। (क) कार्यपालिका (ख) विधायिनी (ग) वित्तीय और (घ) न्यायिक। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका शक्ति का भण्डार है और वह इस शक्ति का या तो स्वयं और या अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के द्वारा संविधान के अनुसार प्रयोग करता है।

(क) कार्यपालिका शक्तियाँ—राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियाँ उन सब विषयों के प्रशासन से सम्बन्ध रखती हैं जो राज्य सूची में प्रगणित हैं और जिनके सम्बन्ध में कानून बनाने के लिए राज्य का विधान मण्डल सक्षम है। समवर्ती सूची में प्रगणित मामलों के सम्बन्ध में राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों के अधीन हैं।

(ख) विधायिनी शक्तियाँ—अपनी विधायिनी शक्तियों के बल पर राज्यपाल राज्य के विधान मण्डल को आहूत कर सकता है सदन या सदनों का सत्रावसान कर सकता

---

1 यद्यपि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्देशित होता है लेकिन यह नहीं समझना चाहिए कि वह राज्य मन्त्रालय के ऊपर लाद दिया जाएगा। १९४७ और १९४९ के बीच परम्परा यही रही है कि राष्ट्रपति राज्यपाल को अन्तिम रूप से चुनने के पूर्व सम्बद्ध राज्य के मुख्य मन्त्री से परामर्श कर लेता है। नए संविधान के अधीन इस परम्परा का चालू रहना अनिवार्य है। के० संथानम— दी कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया पृ० १६२।

2 वर्तमान काल में यू० पी० का राज्यपाल अपने वेतन के अलावा निम्न भत्ते प्राप्त करता है। व्यय सम्बन्धी भत्ते १९० ० रु० (वार्षिक) सैनिक-मन्त्री और व्यक्तिगत कर्मचारी मण्डल १६,००० रु० (वार्षिक) पदावास की सामग्री और सजावट १५ ०० रु० (वार्षिक) सजावट का नया सामान ९३००० रु० (पाँच वर्षों में) सुसज्जा का भत्ता (नियुक्ति पर) १६०० रु०। मनोरंजन भत्ता ५,००० रु० (वार्षिक)।

हैं और विधान-सभा का विघटन कर सकता है। यदि राज्य का विधान मण्डल द्विसदनात्मक है तो वह विधान-परिषद के लिए कुछ सदस्यों को नाम निर्देशित भी कर सकता है। वह राज्य विधान मण्डल के किसी सदन को अथवा राज्य परिषद् के साथ समवेत दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता है। राज्य के विधान मण्डल के प्रत्येक सत्र के प्रारम्भ में राज्य विधान-सभा को अथवा राज्य में विधान परिषद् होने की अवस्था में समवेत हुए दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता है। राज्यपाल का यह सम्बोधन ब्रिटिश संसद में सम्राट द्वारा दिए गए भाषण का तत्स्थानी है। राज्य के विधान मण्डल द्वारा पास किया गया कोई भी विधेयक उस समय तक कानून नहीं बनता जब तक कि उस पर राज्यपाल की अनुमति प्राप्त न हो जाए। राज्यपाल यदि चाहे तो विधेयक पर अपनी अनुमति दे सकता है चाहे तो उसे रोक सकता है और चाहे तो उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर सकता है। राज्यपाल किसी विधेयक को यदि वह धन विधेयक नहीं है तो पुनर्विचार के लिए राज्य के विधान मण्डल के पास वापस भेज सकता है। यदि विधेयक दुबारा पास कर दिया जाता है तो राज्यपाल उस पर अपनी अनुमति नहीं रोक सकता। कोई भी धन विधेयक राज्यपाल की सिफारिश के बिना विधान सभा में पुनः स्थापित नहीं किया जा सकता।

(5) राज्यपाल की अध्यादेश निकालने की शक्ति—संविधान ने राज्य के विधान मण्डल के विश्रान्तिकाल में राज्यपाल को अध्यादेश निकालने की शक्ति प्रदान की है। राज्यपाल द्वारा निकाले गए अध्यादेश का वही बल होता है जो राज्य के विधान मण्डल के अधिनियम का होता है लेकिन वह विधान मण्डल के पुनः समवेत होने से छः सप्ताह की समाप्ति पर अथवा उस कालावधि की समाप्ति से पूर्व विधान मण्डल द्वारा उसके निरनुमोदन का प्रस्ताव पास किए जाने पर प्रवर्तन में नहीं रहता। कुछ अवस्थाओं में राज्यपाल राष्ट्रपति के अनुदेशों के बिना अध्यादेश नहीं निकाल सकता।

(6) वित्तीय शक्तियाँ—प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भिक होने से पूर्व राज्यपाल (मन्त्रियों के द्वारा) राज्य के विधान मण्डल के समक्ष वार्षिक वित्त विवरण' रखता है। इसमें उस राज्य की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों और व्ययों का विवरण होता है। किसी भी अनुदान माँग (अर्थात् राज्य के राजस्व के किसी भाग को व्यय करने की शक्ति की माँग) अथवा करारोप के प्रस्ताव को सिवाय इसके कि राज्यपाल के नाम में करते हुए मन्त्री उपस्थित करे, अन्य किसी प्रकार से उपस्थित नहीं किया जा सकता।

(7) न्यायिक शक्तियाँ और उन्मुक्तियाँ—राज्यपाल को कतिपय न्यायिक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। वह जिला-न्यायाधीशों और दूसरे न्यायिक पदाधिकारियों की नियुक्तियों पद स्थापनाओं और पदोन्नति का निर्णय कर सकता है। उसे विधि-न्यायालयों द्वारा सिद्ध दोष व्यक्तियों को क्षमा देने और उनके दण्डादेश को कम करने की भी शक्ति प्राप्त है। राज्यपाल अपनी पदावधि में तमाम फौजदारी दीवानी और प्रक्रियाओं से

वैयक्तिक उन्मुक्ति का उपभोग करता है। दूसरे शब्दों में देश के किसी भी न्यायालय में किसी भी अपराध के लिए उस पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

१३९ राज्यपाल की शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग होता है ?

साधारणतः उसे अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करना पड़ता है—जिस प्रकार कि भारत के राष्ट्रपति के सम्बन्ध में सिद्धान्त और व्यवहार के बीच व्यवधान है, वही स्थिति राज्य के राज्यपाल की है। सिद्धान्ततः राज्यपाल तमाम कार्यपालिका शक्तियों का पुंज है लेकिन व्यवहारतः वह एक वैधानिक शासक है और उसे सामान्यतः अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करना पड़ता है। संविधान का कथन है "जिन बातों में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यों अथवा उनमें से किसी को स्वविवेक से करे उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों का निर्वहन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी। [अनुच्छेद १६३ (१)]

साधारण परिस्थितियों के अधीन थोड़ी सी स्वविवेक शक्तियां—यह एक महत्वपूर्ण उपबंध है। भारत के राष्ट्रपति के सम्बन्ध में इसका तत्स्थानी कोई उपबंध नहीं है। लेकिन साधारण परिस्थितियों में संविधान यह छोड़कर कि आसाम का राज्यपाल कतिपय आदिम जाति जनक्षेत्रों और सीमान्त भूखण्डों के प्रशासन के सम्बन्ध में स्वविवेक से कार्य कर सकता है राज्यपाल को थोड़ी ही शक्तियां देता है। यह ऐसा इसलिए है क्योंकि उसे भारत के राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में इन क्षेत्रों और भूखण्डों का प्रशासन करना पड़ता है। राज्य का राज्यपाल मुख्यमन्त्री को नियुक्त करने में विधान सभा का विघटन करने में और राज्य में वैधानिक तन्त्र की विफलता का राष्ट्रपति को प्रतिवेदन देने में स्वविवेक से कार्य कर सकता है। लेकिन इनमें से किसी भी मामले में संविधान की वास्तविक क्रियान्विति में राज्यपाल की अपनी वैयक्तिक रुचि अरुचि का कोई स्थान न होगा।

साधारणतः राज्यपाल को वैधानिक शासक होना चाहिए—इस प्रकार साधारण परिस्थितियों में राज्यपाल से यह आशा की जाती है कि वह प्राय समस्त मामलों में अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर कार्य करेगा अथवा दूसरे शब्दों में राज्य-प्रशासन का वैधानिक या ध्वजमात्र शासक होगा। यह ठीक है कि संविधान ने इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं कहा है कि राज्यपाल के लिए अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा स्वीकार करना अनिवार्य है। लेकिन मन्त्रिमण्डलीय शासन प्रणाली के अधीन, जिसे कि भारत में केन्द्रीय और राज्यों—दोनों स्थानों पर अंगीकार किया गया है यह अपरिहार्य है कि केवल कुछ उल्लिखित अपवादों को छोड़कर राज्यपाल अपने मन्त्रियों की जो विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं मन्त्रणा के अनुसार कार्य करे। उसका वास्तविक कार्य मन्त्रणा देना चेतावनी देना और फिर झुक जाना' है। राज्यपाल के नाम से जो भी कार्य किया जाता है उसका उत्तरदायित्व मन्त्रियों के

सिर पड़ता है। इसलिए यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि जो उत्तरदायित्व को वहन करते हैं वे शक्ति का भी प्रयोग करें। चूँकि राज्यपाल का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, इसलिए वह किसी शक्ति का प्रयोग नहीं करता। हमारे संविधान निर्माताओं का उद्देश्य राज्यपाल को ध्वजमान शासक बनाना था यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि उन्होंने जनता के प्रत्यक्ष मतदान द्वारा उसके निर्वाचन का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और इसके स्थान पर यह निश्चित किया कि वह राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किया जाएगा। यह सोचा गया कि 'जनता द्वारा निर्वाचित राज्यपाल और विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी मुख्य-मन्त्री का एक साथ होना तनाव और उसके फलस्वरूप प्रशासन में दुर्बलता उत्पन्न कर सकता है।'[1]

वे परिस्थितियाँ जिनके अधीन राज्यपाल अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करने के लिए विवश न होगा—लेकिन ऐसी कतिपय उल्लिखित परिस्थितियाँ हैं जिनके अधीन राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति के निर्देशन में आ जाएगा और उस सीमा तक अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं होगा। उदाहरणार्थ यदि राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा निकाल देता है तो राज्यपाल राष्ट्रपति का अभिकर्ता बन जाता है और अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर कार्य न करके उसके अनुदेशों के अधीन कार्य करता है। यही प्रभाव उस समय होगा जबकि अनुच्छेद ३५६ के अधीन उद्घोषणा द्वारा राष्ट्रपति इस बात की उद्घोषणा कर देता है कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता और उच्च न्यायालय के कार्यों को छोड़कर राज्य-सरकार के समस्त या कोई कार्य अपने हाथ में ले लेता है। इस प्रकार की उद्घोषणा के फलस्वरूप राज्य की मन्त्रि-परिषद् का विघटन कर दिया जाएगा और भारत के राष्ट्रपति की ओर से राज्य का शासन सीधे राज्यपाल करेगा। यह एक असाधारण शक्ति है और संविधान सभा में उसकी कटु आलोचना हुई थी। आलोचकों का कथन था कि यह तो १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के दुष्टता पूर्ण विभाग ९३ का पुनरधिनियमन है और इसलिए साम्राज्यवाद का प्रतीक एवं अवशेष है। संविधान के आपात-उपबन्धों के फलस्वरूप राज्य की स्वायत्तता स्थगित हो सकती है और राज्य सरकार अस्थायी रूप से संघ सरकार में विलय हो सकती है। दूसरे शब्दों में संविधान राज्यों में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना नहीं करता।

१३२ मन्त्रि-परिषद्

नियुक्ति प्रक्रिया—संविधान ने उपबन्ध किया है कि जिन बातों में संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने अथवा उनमें से किसी को स्वविवेक से करे उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वहन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी। मन्त्रि-

1 ड्राफ्ट कान्स्टीट्यूशन, ७८ पाद टिप्पणी।

परिषद् की नियुक्ति के लिए निम्न प्रक्रिया निर्धारित की गई है। राज्यपाल मुख्य मन्त्री की नियुक्ति करता है। मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करते समय राज्यपाल को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि इस व्यक्ति को राज्य की विधान सभा में स्थायी बहुमत तो प्राप्त है न? दूसरे मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमन्त्री की मन्त्रणा से करता है। समस्त मन्त्रियों के लिए यह आवश्यक है कि वे विधान मण्डल के सदस्य हों। ऐसा कोई व्यक्ति जो राज्य के विधान मण्डल का सदस्य न हो मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है परन्तु वह छः महीने की समाप्ति पर मन्त्री नहीं रहेगा यदि वह इसी कालावधि में राज्य के विधान मण्डल के लिए निर्वाचित नहीं हो जाता। मन्त्रियों के बीच विभागों का वितरण राज्यपाल मुख्यमन्त्री की मन्त्रणा से करता है।

मन्त्रि-परिषद् और राज्यपाल के सम्बन्ध—राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रि परिषद है। यद्यपि प्रशासन राज्यपाल के नाम से सञ्चालित होता है लेकिन वास्तविक निर्णय मन्त्रियों द्वारा लिए जाते हैं। राज्य के मुख्यमन्त्री का यह कर्तव्य है कि राज्य के मामलों के प्रशासन से सम्बद्ध मन्त्रि परिषद् के निर्णयों को व्यवस्थापन प्रस्तावों को तथा ऐसी सूचना को जो राज्यपाल मांगे राज्यपाल के पास पहुंचाए। यदि किसी मामले का निर्णय किसी व्यक्तिगत मन्त्री के द्वारा लिया गया है तो राज्यपाल इस बात की मांग कर सकता है कि वह मामला समग्र परिषद् के सम्मुख उपस्थित किया जाए। इस तरह राज्यपाल का यह अधिकार है कि उसे सब प्रकार की सूचना मिलती रहे। मन्त्रियों द्वारा विचारित किसी कार्यक्रम के सम्बन्ध में उन्हें चेतावनी तथा मन्त्रणा देकर राज्यपाल उनके मार्गदर्शक और मित्र के रूप में भी कार्य कर सकता है। लेकिन जहां मन्त्रियों ने एक बार किसी बात का निश्चय कर लिया राज्यपाल केवल उन थोड़े से अपवादों को छोड़कर जिनका हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं उनके निर्णयों को मानने के लिए बाध्य है। संविधान का कहना है कि मन्त्री राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त अपने पद धारण करेंगे। इस प्रकार सिद्धान्ततः राज्यपाल यदि चाहे तो वह किसी मन्त्री को अपदस्थ कर सकता है लेकिन मन्त्रि परिषद् का राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व देखते हुए राज्यपाल सामान्यतः अपनी इस शक्ति का व्यवहार में प्रयोग नहीं करेगा।

मन्त्रि परिषद और राज्य विधान मण्डल के सम्बन्ध—संविधान ने इस बात का उपबन्ध करके कि मन्त्रि-परिषद राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी [अनुच्छेद १६४ (२)] राज्य विधान मण्डल के साथ मन्त्रि-परिषद के सम्बन्ध का निरूपण किया है। इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्रि परिषद उसी समय तक पदारूढ़ रह सकती है जब तक कि उसे विधान सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है मन्त्री राज्य विधान मण्डल के सदस्य हैं। उन्हें उसकी बैठकों में उपस्थित होने और उनकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार है। वे सरकारी विधेयकों को पुनःस्थापित करते हैं और उन्हें पास करवाते हैं।

राज्य का विधान मण्डल मन्त्रियों के काय का कई तरह से नियन्त्रण और निरीक्षण कर सकता है। विधानमण्डल के सदस्य सूचना को प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं। बजट वादविवादों के दौरान वे प्रशासन के विरुद्ध जनता की शिकायतों की आवाज को बुलन्द कर सकते हैं। वे अविलम्ब सार्वजनिक महत्व के मामलों पर कामरोको प्रस्ताव उपस्थित कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रस्तावों द्वारा सरकार की नीतियों को प्रकाश में लाया जा सकता है और उसकी गलतियों की आलोचना की जा सकती है। अमत आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के कारण विधान सभा किसी सरकारी विधेयक को पास करना अस्वीकार करके किसी ऐसे गर सरकारी विधेयक को पास करके जिसका मन्त्रियों ने विरोध किया हो, मन्त्रियों द्वारा उपस्थित की गई बजट की मांगों में कमी करके अथवा मन्त्रि परिषद के विरुद्ध अविश्वास का सीधा प्रस्ताव पास करके मन्त्रि-परिषद का पदच्युत कर सकती है। कहने का सार यह है कि विधानमण्डल मन्त्रियों को बना या बिगाड़ सकता है। दूसरी ओर मन्त्री भी विधान मण्डल का अपना नियन्त्रण और प्रभाव में रख सकते हैं। वे बहुमत वाले दल के नेता होते हैं। इस बहुमत का समर्थन मिलने के कारण साधारणतः वे अपने विधायी प्रस्तावों को पास करवाने में सफल हो जाते हैं। यदि दल का अनुशासन कठोर है और उसका विधान मण्डल में पूरा बहुमत है तो मन्त्रि परिषद् विधान मण्डल को अपने हाथ की कठपुतली बना सकता है। विधान मण्डल पदारूढ दल को उसी समय असदस्य कर सकता है जबकि दल का बहुमत संदिग्ध हो अथवा उसके सदस्यों में फूट हो।

राज्य का विधान मण्डल

१३३ एक सदनात्मक और द्विसदनात्मक राज्य विधान मण्डल

संविधान ने निश्चित किया है कि प्रथम अनुसूची के भाग (क) में के प्रत्येक राज्य के लिए एक विधान मण्डल होगा जो राज्यपाल तथा विधान मण्डल के यथा स्थिति एक या दो सदनों से मिलकर बनेगा। पंजाब पश्चिमी बंगाल बिहार बम्बई मद्रास और उत्तर प्रदेश के राज्यों में दो सदन होंगे। भाग (क) के शेष राज्यों में एक सदनात्मक विधान मण्डल होंगे। द्विसदनात्मक विधान मण्डल वाले राज्य में उच्च सदन विधान परिषद् और निम्न सदन विधान सभा के नाम से प्रख्यात होगा। यदि राज्य का विधान मण्डल एक सदनात्मक है तो वह विधान सभा कहलायेगा। राज्यों को द्विसदनात्मक विधान मण्डल देने के प्रश्न पर संविधान सभा में खूब जोरदार बहस हुई थी। फलतः किसी राज्य में द्विसदनात्मक विधानमण्डल हो या न हो इस बात का निश्चय उस राज्य के प्रतिनिधियों के मतानुसार किया गया। तीन राज्यों— आसाम मध्य प्रदेश और उड़ीसा ने द्वितीय सदन का समर्थन नहीं किया। इसके विपरीत भाग (क) के शेष छ राज्यों ने द्वितीय सदन का समर्थन किया।

निर्वाचित होगा, (ख) द्वादशांश एसे व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित होगा जो किसी विश्व विद्यालय के कम से कम तीन वर्ष से स्नातक हैं (ग) द्वादशांश एसे व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित होगा जो राज्य के भीतर माध्यमिक पाठशालाओं से अनिम्न स्तर की शिक्षा संस्थाओं में पढ़ाने के काम में कम से-कम तीन वर्ष से लगे हुए हैं (घ) तृतीयांश राज्य की विधान सभा के सदस्यों द्वारा एसे व्यक्तियों में से निर्वाचित होगा जो सभा के सदस्य नहीं हैं और (ङ) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा उन व्यक्तियों में से नाम निर्देशित किए जायगे जिन्हें साहित्य विज्ञान कला सहकारी आन्दोलन और सामाजिक सेवा के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है। विधान परिषद के लिए तमाम निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत के द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार होंगे।

सदस्यों की अर्हताएँ—विधान परिषद के लिए निर्वाचन में खड़े होने वाले व्यक्ति में निम्न अर्हताओं का होना आवश्यक है—(क) उसे भारत का नागरिक होना चाहिए (ख) उसकी आयु कम से कम तीस वर्ष की होनी चाहिए और (ग) उसमें ऐसी अन्य अर्हतायें होनी चाहिए जो संसद इस बारे में कानून के द्वारा या अधीन निश्चित करे। राज्य की विधान परिषद् अपने ही सदस्यों में से एक सभापति और एक उप सभापति निर्वाचित करेगी। विधान परिषद् स्थायी निकाय होगी और उसका विघटन नहीं किया जाएगा। विधान परिषद् के सदस्य ६ वर्ष के लिए निर्वाचित होंगे और तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष हट जाया करेंगे।

राज्य के विधान मण्डल के सत्र—राज्य के विधान मण्डल के सदन या सदनों को (यथास्थिति) राज्यपाल एक वर्ष में कम से कम दो बार अधिवेशन के लिए आहूत करेगा और उनके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की बैठक के लिए नियुक्त तारीख के बीच ६ मास का अन्तर न होगा। इस उपबन्ध के अधीन रहते हुए राज्यपाल समय समय पर सदन या सदनों को आहूत कर सकेगा, उनका सत्रावसान अथवा विधान सभा का विघटन कर सकेगा।

१३६ राज्य विधान मण्डल की शक्तियां और उसके कृत्य

विधायिनी शक्तियां—राज्य के विधान मण्डल को राज्य सूची में प्रगणित समस्त विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। इस क्षेत्र में राज्य विधान मण्डल साधारणतः अपवर्जी क्षेत्राधिकार का उपभोग करता है। राज्य विधान मण्डल समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सकता है। लेकिन इस क्षेत्र में उसका क्षेत्राधिकार अपवर्जी नहीं है। इन विषयों पर संसद भी कानून बना सकती है और यदि किसी समवर्ती विषय पर राज्य के विधान मण्डल द्वारा निर्मित कानून उसी विषय पर संसद द्वारा निर्मित कानून के विरुद्ध है तो संसद द्वारा निर्मित कानून चाहे वह उसके अधिनियमन के पहले या पीछे पास हुआ हो अभिभावी होगा और राज्य के विधान मण्डल द्वारा निर्मित कानून विरोध की मात्रा तक शून्य होगा।

लेकिन यदि किसी समवर्ती विषय से सम्बद्ध राज्य के कानून के ऊपर, उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित किए जाने के पश्चात् राष्ट्रपति की अनुमति मिल गई है तो वह उसी विषय पर पास किए गए संघीय कानूनों के ऊपर अभिभावी होगा।

वित्तीय शक्तियाँ—राज्य का विधान मण्डल राज्य के वित्त पर भी नियन्त्रण रखता है। इस क्षेत्र में यदि राज्य का विधान मण्डल द्वि-सदनात्मक है तो विधान सभा की स्थिति सर्वोच्च होती है। राज्य के राजस्वों पर भारित व्यय के प्रस्तावों जिन पर राज्य का विधान मण्डल वाद विवाद कर सकता है पर मतदान नहीं दे सकता, समस्त व्यय प्रस्तावों का अनुदान मांगों के रूप में विधान सभा के सम्मुख उपस्थित किया जाना अनिवार्य है। विधान सभा माँग को स्वीकार या अस्वीकार अथवा उसकी राशि को कम कर सकती है। इसी प्रकार विधान सभा के अनुमोदन के बिना कोई भी कर नहीं लगाए जा सकते।

कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण—नए संविधान ने केन्द्र और प्रान्तों दोनों स्थानों पर संसदीय शासन प्रणाली की स्थापना की है। फलतः राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रि परिषद् को विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी बना दिया गया है। इस प्रकार विधान मण्डल मन्त्रि परिषद् के ऊपर नियन्त्रण और निरीक्षण रख सकता है तथा उसके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे अपदस्थ कर सकता है। इसके अलावा जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं विधान मण्डल के सदस्य प्रश्नों, बजट पर वाद विवादों तथा कामरोको प्रस्तावों के द्वारा शासन की गलतियों को जनता के सामने ला सकते हैं।

१३७ राज्य विधान मण्डल के दो सदनों के सम्बन्ध

विधान सभा की परमश्रेष्ठता—द्विसदनात्मक विधान मण्डल वाले राज्य में निम्न सदन अर्थात् विधान सभा को मुख्य स्थान दिया गया है। उच्च सदन (अर्थात विधान परिषद्) न केवल द्वितीय सदन ही है अपितु गौण सदन भी है। वित्तीय मामलों में विधान सभा को ही पूरी और अन्तिम सत्ता प्राप्त है।

धन विधेयकों के सम्बन्ध में—धन विधेयक के लिए यह आवश्यक है कि वह विधान सभा में ही पुनः स्थापित कर दिया जाता है, तब वह विधान परिषद् के पास भेजा जाता है। परिषद् के पास भेजे जाने के १४ दिन के पश्चात् वह विधेयक चाहे इस बीच में परिषद् ने उसे पास किया हो या न किया हो राज्यपाल की स्वीकृति मिल जाने पर कानून बन जाता है। इसके अलावा अनुदान मांगों पर केवल विधान सभा ही मत दे सकती है।

अन्य विधेयकों के सम्बन्ध में—धन विधेयकों को छोड़कर, अन्य विधेयकों के सम्बन्ध में भी विधान सभा विधान परिषद् की अपेक्षा महत्तर शक्तियों का उपभोग करती है। यदि विधान परिषद् वाले राज्य की विधान सभा द्वारा धन विधेयक से भिन्न किसी अन्य विधेयक के पास किए जाने तथा विधान परिषद् के पास पहुंचाए जाने के

पश्चात—(क) परिषद् द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से उसके विधेयक को पास किए बिना तीन मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है अथवा (ग) परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे संशोधनों सहित पास किया जाता है जिनसे सभा सहमत नहीं होती तो विधान सभा विधेयक को उसी या किसी आगामी सत्र में विधान परिषद् द्वारा प्रस्तावित संशोधनों सहित या बिना यदि कोई हो पुनः पास करती है और इस प्रकार पास किए गए विधेयक को विधान परिषद तक पहुंचा सकती है। यदि विधान सभा द्वारा विधेयक को इस प्रकार दोबारा पास किए जाने तथा विधान परिषद् तक पहुंचाए जाने के पश्चात्—(क) परिषद द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है अथवा (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से उसके पास हुए बिना एक मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है अथवा (ग) परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे संशोधनों सहित पास किया जाता है जिनसे सभा सहमत नहीं होती तो विधेयक राज्य के विधान मण्डल के दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पास किया समझा जाएगा जिसमें कि वह विधान सभा द्वारा दूसरी बार पास किया गया था।

कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण रखने के सम्बन्ध में—राज्य की कार्यपालिका का नियन्त्रण विधान सभा के हाथ में रखा गया है और यदि किसी राज्य में द्वितीय सदन है तो विधान परिषद सूचना आदि प्राप्त करने के अलावा इस शक्ति में कोई हिस्सा नहीं रखती। संविधान ने मन्त्रि परिषद् को सामूहिक रूप से अकेले विधान सभा के प्रति उत्तरदायी बनाया है। दूसरे शब्दों में विधान परिषद नहीं अपितु विधान सभा ही मन्त्रि परिषद् को अपदस्थ कर सकती है।

१३८ राज्य के विधान मण्डल की शक्तियों पर प्रतिबन्ध

कतिपय विधेयकों की पुनःस्थापना के लिए राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी—नया संविधान राज्य विधान मण्डलों को उन शक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक शक्तियाँ देता है जिनका प्रान्तीय विधान मण्डल १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अधीन उपभोग करते थे। साधारण परिस्थितियों के अधीन अपने निश्चित क्षेत्र में वे करीब-करीब प्रभुत्व सम्पन्न हैं लेकिन उनकी सक्षमता के ऊपर लगाए गए कुछ प्रतिबन्ध हमारे संविधान की एकात्मक भावना को प्रकट करते हैं। पहली बात यह है कि कुछ विधेयक भारत के राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी के बिना राज्य के विधान मण्डल में प्रस्तावित नहीं किए जा सकते। उदाहरणार्थ यह शर्त उन विधेयकों के ऊपर लागू होती है जो राज्य के भीतर या दूसरे राज्यों के साथ वाणिज्य व्यापार और समागम की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध आरोपित करते हैं। (अनुच्छेद ३०४)। दूसरी बात यह है कि राज्य विधान मण्डल द्वारा पास किए गए कुछ विधेयक उस समय तक प्रभावी नहीं हो सकते जब तक कि वे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित किए जाने के पश्चात् उसकी स्वीकृति प्राप्त न कर लें। इस कोटि में (१) राज्य द्वारा सम्पत्ति के ग्रहण से सम्बद्ध

विधेयक (अनुच्छेद) और (२) समवर्ती मामलों से सम्बद्ध व विधेयक जो संसद द्वारा पास किए गए वर्तमान कानूनों के प्रतिकूल हो जाते हैं (अनुच्छेद २५४)। व विधेयक भी जो संसद द्वारा समुदाय के जीवन के लिए आवश्यक घोषित की गई वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर करारोपण करते हैं राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने पर उसकी अनुमति बिना प्रभावी नहीं हो सकते (अनुच्छेद २८६)।

राज्य परिषद संसद को राज्य-सूची में प्रगणित विषयों के ऊपर कानून बनाने की शक्ति दे सकती है—तीसरी बात यह है कि संविधान ने संसद को राज्य सूची में के विषयों के बारे में कानून बनाने की शक्ति दी है। यदि राज्य परिषद उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की दो तिहाई से अन्यून संख्या द्वारा समर्थित प्रस्ताव द्वारा यह घोषित कर दे कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक या इष्टकर है कि संसद को राज्य सूची में प्रगणित विषयों के ऊपर कानून बनाना चाहिए तो संसद उन विषयों के ऊपर कानून बना सकता है (अनुच्छेद २४९)। इस उपबन्ध की कठोर आलोचना की गई है। आलोचकों का कहना है कि यह उपबन्ध राज्यों की स्वायत्तता के ऊपर कठोर आघात है तथापि यह स्मरणीय है कि राज्य-सूची के किसी विषय को संसद के विधायी क्षेत्राधिकार को सौंप देने की राज्य परिषद की शक्ति अब आपात व्यवस्थापन तक मर्यादित है। इस उपबन्ध के अधीन संसद द्वारा पास किए गए कानून केवल एक परिमित अवधि के लिए ही प्रभावी होंगे।

आपात काल में संसद राज्य-सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है—चौथी बात यह है कि जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है संसद भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिए राज्य सूची में प्रगणित विषयों में किसी के बारे में कानून बना सकती है (अनुच्छेद २५०)। इस उपबन्ध के अधीन संसद द्वारा पास किया कानून उद्घोषणा प्रवर्तन की समाप्ति के पश्चात् छः मास की कालावधि की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगा। पांचवीं बात है कि संसद राज्यों में संवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की घोषणा के प्रवर्तन काल में भी राज्य-सूची में प्रगणित विषयों पर कानून बना सकती है। जब तक ऐसी उद्घोषणा प्रवर्तन में है राष्ट्रपति घोषणा कर सकता है कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियां संसद के प्राधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोक्तव्य होंगी (अनुच्छेद ३५६)।

१३१ केन्द्र प्रशासित राज्य—

राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों के अनुसार दो भाग रखे गए (१) प्राथमिक संघीय एकक (२) केन्द्र प्रशासित। प्रारम्भ में ६ केन्द्र प्रशासित राज्य थे लेकिन गोआ दमन द्यू आदि के सम्मिलित होने पर उनकी संख्या बढ़ गई है। दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा, मनीपुर गोआ, दमन द्यू अंडमान, निकोबार तथा लक्कादीव मिनीकाय और अमीन दिवा द्वीप केन्द्र प्रशासित राज्य हैं। प्रशासकीय दृष्टि से भी इन्हें किसी भी प्रान्त के साथ नहीं मिलाया जा सकता।

दिल्ली तो भारत की राजधानी है और यह एक संघात्मक राजधानी है। राजधानी पर साधारणतया केन्द्रीय नियन्त्रण होता है। लन्दन व पेरिस की भी यही स्थिति है। बाकी प्रदेश पिछड़े हैं, कुछ भारतीय सीमा पर स्थित हैं और कुछ द्वीप हैं।

संविधान के अनुसार इनके प्रशासन के सम्बन्ध में निम्न व्यवस्था की गई है—

(१) केन्द्र प्रशासित राज्यों का शासन राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त आयुक्तों द्वारा करता है। (२) राष्ट्रपति यदि चाहे तो इनमें राज्यपाल की भी नियुक्ति कर सकता है। (३) राष्ट्रपति इनकी शांति व्यवस्था व उन्नति के लिए नियम भी बना सकता है अथवा प्रचलित नियम व व्यवस्था में संशोधन भी कर सकता है। (४) भारत की पार्लियामेंट इनके लिए एक पृथक उच्च न्यायालय की व्यवस्था भी कर सकती है अथवा किसी अन्य राज्य के उच्च न्यायालय से सम्बन्धित भी कर सकती है। केन्द्र प्रशासित राज्यों के अब कुछ भागों में स्वतन्त्र व्यवस्थापिका भी बनाने की ओर सरकार प्रयत्नशील है। जनता भी यह माँग जोर पकड़ रही है।

राज्यों में उच्च न्यायालय (High Courts in States)—भारत के नवीन संविधान के अन्तर्गत कनाडा की भाँति राज्यों में भी उच्च न्यायालयों की व्यवस्था की गई है। यद्यपि भारत अमेरिका की भाँति संघात्मक है किन्तु वहाँ की तरह राज्यों के उच्च न्यायालय भारत में नहीं हैं। अमेरिका में उच्च न्यायालय राज्यों के संविधान के अनुसार कार्यान्वित हैं जबकि भारत में उच्च न्यायालयों पर संघीय सर्वोच्च न्यायालय का नियन्त्रण है। इसलिए अमेरिका के विपरीत यहाँ उच्च न्यायालयों के संगठन व अधिकार शक्ति में समानता पायी जाती है।

उच्च न्यायालयों का संगठन, वेतन, कार्यकाल व शक्तियाँ—संघीय सर्वोच्च न्यायालय की भाँति राज्यों के उच्च न्यायालयों के कुल न्यायाधीशों की संख्या निश्चित नहीं है। राष्ट्रपति समय समय पर उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या निर्धारित करता है। प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीश होते हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा संघीय न्यायालयों के प्रधान न्याया-धीश की सिफारिश पर की जाती है। यद्यपि न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि वह ३५ वर्ष का हो, भारत का नागरिक हो और १० साल तक उच्च न्यायालय का एडवोकेट रहा हो। वह ६२ साल की अवस्था तक पद पर रहता है। यदि इसके पूर्व वह चाहे पद त्याग कर सकता है और उसे पदातिरिक्त भी किया जा सकता है। प्रधान न्यायाधीश को ४०००) रु० तथा अन्य न्यायाधीश को ३५००) रु० प्रति मास वेतन मिलता है। उच्च न्यायालयों का स्थान राज्य के किसी भी भाग में हो सकता है, यह कदापि जरूरी नहीं है कि वह केवल राज्य की राजधानी में ही स्थापित हो।

संविधान में वर्णित प्रावधानों के अनुसार उच्च न्यायालयों को अपीलीय व निर्णयिक शक्ति के अतिरिक्त चार और अन्य शक्तियाँ दी गई हैं—(१) मौलिक

अधिकारों की रक्षा (२) राज्य के सभी निम्न न्यायालयों का प्रशासन (३) छोटे न्यायालय से बड़े न्यायालयों में मुकद्दमा का हस्तान्तरण (४) उच्च न्यायालय के अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्तियाँ। हाईकोर्ट के निर्णयों के विरुद्ध अधिकार पत्र मिलने पर सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

१ भारत में उच्च न्यायालयों की संख्या स्थापना वर्ष व स्थान निम्न प्रकार से हैं —

संख्या	नाम	वर्ष स्थापना	कार्य सीमा क्षेत्र	न्यायालय का स्थान
१	इलाहाबाद	१८६६	उत्तर प्रदेश	इलाहाबाद
२	आन्ध्र प्रदेश	१९५६	आन्ध्र प्रदेश	हैदराबाद
३	आसाम और नागालैण्ड	१९४८	आसाम और नागालैण्ड	गौहाटी
४	बम्बई	१८६१	महाराष्ट्र	बम्बई
५	कलकत्ता	१८६१	पश्चिमी बंगाल अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूह	कलकत्ता
६	गुजरात	१९६०	गुजरात	अहमदाबाद
७	जम्मू और कश्मीर	१९२८	जम्मू व कश्मीर	श्रीनगर और जम्मू
८	केरल	१९५६	केरल व लक्षद्वीप मिनिकाय तथा अमिनदीवी द्वीप	एरनाकुलम
९	मध्य प्रदेश	१९५६	मध्य प्रदेश	जबलपुर
१०	मद्रास	१८६१	मद्रास और पाण्डीचेरी	मद्रास
११	मैसूर	१८८४	मैसूर	बंगलौर
१२	उड़ीसा	१९४८	उड़ीसा	कटक
१३	पटना	१९१६	बिहार	पटना
१४	पंजाब	१९४७	पंजाब और दिल्ली	चण्डीगढ़
१५	राजस्थान	१९४९	राजस्थान	जोधपुर

+ भारत, १९६४

सारांश

भारत राज्यों का संघ है। संविधान ने इन राज्यों का दो विभिन्न कोटियों में वर्गीकरण किया है। संघीय पद्धति के अधीन ये राज्य अर्ध-स्वायत्त स्टेटस का उपभोग करते हैं लेकिन साधारण परिस्थितियों में इन्हें अपने उल्लिखित क्षेत्र के भीतर वास्तविक प्रभुत्व शक्ति प्राप्त है। आपातों में उनकी स्वायत्तता को स्थगित किया जा सकता है।

संघ की एकक-राज्य की कार्यपालिका शक्ति औपचारिक रूप से राज्यपाल में निहित है। राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और पांच वर्ष तक पद

दिल्ली तो भारत की राजधानी है और यह एक संघात्मक राजधानी है। राजधानी पर साधारतया केन्द्रीय नियन्त्रण होता है। लन्दन व पेरिस की भी यही स्थिति है। बाकी प्रदेश पिछड़े हैं कुछ भारतीय सीमा पर स्थित हैं और कुछ द्वीप हैं।

संविधान के अनुसार इनके प्रशासन के सम्बन्ध में निम्न व्यवस्था की गई है –

(१) केन्द्र प्रशासित राज्यों का शासन राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त आयुक्तों द्वारा करता है। (२) राष्ट्रपति यदि चाहे तो इनमें राज्यपाल की भी नियुक्ति कर सकता है। (३) राष्ट्रपति इनकी शांति व्यवस्था व उन्नति के लिए नियम भी बना सकता है अथवा प्रचलित नियम व व्यवस्था में संशोधन भी कर सकता है। (४) भारत की पार्लियामेन्ट इनके लिए एक पृथक उच्च न्यायालय का प्रबन्ध भी कर सकती है अथवा किसी अन्य राज्य के उच्च न्यायालय से सम्बन्धित भी कर सकती है। केन्द्र प्रशासित राज्यों के अब कुछ भागों में स्वतन्त्र व्यवस्थापिका भी बनाने की ओर सरकार प्रयत्नशील है। जनता में भी यह माँग जोर पकड़ रही है।

राज्यों में उच्च न्यायालय (High Courts in States)—भारत के नवीन संविधान के अन्तर्गत केन्द्र की भांति राज्यों में भी उच्च न्यायालयों की व्यवस्था की गई है। यद्यपि भारत अमरिका की भांति संघात्मक है किन्तु वहाँ की तरह राज्यों के उच्च न्यायालय भारत में नहीं हैं। अमरिका में उच्च न्यायालय राज्यों के संविधान के अनुसार कार्यान्वित हैं जबकि भारत में उच्च न्यायालयों पर संघीय सर्वोच्च न्यायालय का नियन्त्रण है। इसलिये अमेरिका के विपरीत यहाँ उच्च न्यायालयों के संगठन व अधिकार शक्ति में समानता पायी जाती है।

उच्च न्यायालयों का संगठन वेतन कार्यकाल व शक्तियाँ —संघीय सर्वोच्च न्यायालय की भांति राज्यों के उच्च न्यायालयों के कुछ न्यायाधीशों की संख्या निश्चित नहीं है। राष्ट्रपति समय समय पर उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या निर्धारित करता है। प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीश होते हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा संघीय न्यायालयों के प्रधान न्यायाधीश की सिफारिश पर की जाती है। यद्यपि न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि वह ३५ वर्ष का हो भारत का नागरिक हो और १० साल तक उच्च न्यायालय का एडवोकेट रहा हो। वह ६२ साल की अवस्था तक पद पर रहता है। यदि इसके पूर्व वह चाहे पद त्याग कर सकता है और उसे पदातिरिक्त भी किया जा सकता है। प्रधान न्यायाधीश को ४०००) रु० तथा अन्य न्यायाधीश को ३५००) रु० प्रति मास वेतन मिलता है। उच्च न्यायालयों का स्थान राज्य के किसी भी भाग में हो सकता है यह कदापि जरूरी नहीं है कि वह केवल राज्य की राजधानी में ही स्थापित हो।

संविधान में वर्णित प्रावधानों के अनुसार उच्च न्यायालयों को अपीलीय व निर्णायक शक्ति के अतिरिक्त चार और अन्य शक्तियाँ दी गई हैं—(१) मौलिक

अधिकारों की रक्षा (२) राज्य के सभी निम्न न्यायालयों का प्रशासन (३) छोटे न्यायालय से बड़े न्यायालयों में मुकद्दमा का हस्तान्तरण (४) उच्च न्यायालय के अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्तियाँ। हाईकोर्ट के निर्णयों के विरुद्ध अधिकार पत्र मिलने पर सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

१ भारत में उच्च न्यायालयों की संख्या स्थापना वर्ष व स्थान निम्न प्रकार से हैं —

संख्या	नाम	वर्ष स्थापना	न्याय सीमा क्षेत्र	न्यायालय का स्थान
१	इलाहाबाद	१९१६	उत्तर प्रदेश	इलाहाबाद
२	आन्ध्र प्रदेश	१९५६	आन्ध्र प्रदेश	हैदराबाद
३	आसाम और नागालैण्ड	१९४८	आसाम और नागालैण्ड	गौहाटी
४	बम्बई	१८६१	महाराष्ट्र	बम्बई
५	कलकत्ता	१८६२	पश्चिमी बंगाल अण्डमान और निकोबार आइसलैण्ड	कलकत्ता
६	गुजरात	१९६०	गुजरात	अहमदाबाद
७	जम्मू और कश्मीर	१९२८	जम्मू व कश्मीर	श्रीनगर और जम्मू
८	केरल	१९५६	केरल लक्षद्वीप मिनिकाय तथा अमिनदीवीद्वीप	एरनाकुलम
९	मध्य प्रदेश	१९५६	मध्य प्रदेश	जबलपुर
१०	मद्रास	१८६१	मद्रास और पाण्डीचेरी	मद्रास
११	मसूर	१८८४	मसूर	बंगलोर
१२	उड़ीसा	१९४८	उड़ीसा	कटक
१३	पटना	१९१६	बिहार	पटना
१४	पंजाब	१९४७	पंजाब और देहली	चण्डीगढ़
१५	राजस्थान	१९४९	राजस्थान	जोधपुर

+ भारत, १९६४

सारांश

भारत राज्यों का संघ है। संविधान ने इन राज्यों को दो विभिन्न कोटियों में वर्गीकरण किया है। संघीय पद्धति के अधीन ये राज्य अर्ध-स्वायत्त स्टेटस का उपभोग करते हैं लेकिन साधारण परिस्थितियों में इन्हें अपने उल्लिखित क्षेत्र के भीतर वास्तविक प्रभुत्व शक्ति प्राप्त है। आपातों में उनकी स्वायत्तता को स्थगित किया जा सकता है।

संघ की एकक-राज्य की कार्यपालिका शक्ति औपचारिक रूप से राज्यपाल में निहित है। राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और पाँच वर्ष तक पद

धारण करता है। उसे व्यापक कार्यपालिका विधायिनी, वित्तीय और न्यायिक शक्तियाँ प्राप्त हैं। लेकिन वह वैधानिक शासक है और साधारणतः अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर कार्य करता है। वह केवल थोड़ी सी उल्लिखित अवस्थाओं को ही बात है जब कि राज्यपाल केन्द्र का प्रतिनिधि हो जाता है और अपने विवेक के अनुसार कार्य करता है।

राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रि परिषद है। मन्त्रि-परिषद सामूहिक रूप से राज्य के विधान मण्डल के प्रति (अथवा यदि राज्य में द्वितीय सदन है तो केवल विधान सभा के प्रति) उत्तरदायी है। राज्य की मन्त्रि परिषद् संघ की मन्त्रि-परिषद् के पद चिन्हों का अनुसरण करती हुई ही कार्य करती है।

प्रत्येक राज्य में एक विधान मण्डल है। भारत के ९ राज्यों में द्विसदनात्मक विधान मण्डल है। उच्च सदन (विधान परिषद्) परोक्षतः निर्वाचित और नाम निर्देशित सदस्यों से मिलकर बनता है। विधान सभा की तुलना में विधान परिषद् सर्वथा शक्तिहीन है। वह स्थायी सदन है। उसकी अवधि ६ वर्ष है लेकिन प्रति दूसरे वर्ष उसके तिहाई सदस्य निवृत्त हो जाते हैं। विधान सभा जनता का सदन है। वह वयस्क मताधिकार और संयुक्त निर्वाचक गणों के आधार पर प्रत्यक्षतः निर्वाचित होती है। साधारणतः राज्य सूची में प्रगणित विषयों के ऊपर राज्य के विधान मण्डल को अनवर्ती क्षेत्राधिकार प्राप्त है लेकिन कुछ परिस्थितियों में यह क्षेत्राधिकार संसद को हस्तान्तरित किया जा सकता है। राज्य का विधान मण्डल (द्विसदनात्मक विधान मण्डलों वाले राज्यों में विधान सभा) राज्य के वित्त को नियन्त्रित करती है और मन्त्रि-परिषद के कार्य का निरीक्षण करती है।

१९५६ के राज्य पुनर्गठन नियम के अनुसार राज्यों का प्राचीन वर्गीकरण समाप्त कर दिया गया है। केन्द्र प्रशासित राज्यों की कुल संख्या ६ है। राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त आयुक्तों तथा उपराज्यपालों द्वारा शासन करता है। अब इन्हें शीघ्र ही निजी विधान मंडल चुनने का अवसर दिया जा रहा है।

राज्यों में उच्च न्यायालय—राज्यों में न्याय की दृष्टि से उच्च न्यायालयों की व्यवस्था है। भारत में संघीय व उच्च न्यायालयों में गहरा संबंध रक्खा गया है। प्रत्येक राज्य के उच्च न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश और कुछ अन्य न्यायाधीश होते हैं। इनकी संख्या निश्चित नहीं है। उच्च न्यायालयों के प्रधान न्यायाधीश का वेतन ४०००) और अन्य का ३५००) रु० प्रतिमास निर्धारित किया गया। इन न्यायालयों की कार्य सीमा राज्य तक सीमित है। इनके निर्णय के पश्चात् यदि अपील का अधिकार पत्र मिल जाय तो—सर्वोच्च न्यायालय में भी अपील की जा सकती है।

अध्याय १७

देशी राज्य उनका विलीनीकरण और लोकतन्त्रीकरण

१४२ देशी राज्यो की पृष्ठभूमि

ब्रिटिश भारत और देशी रा य—आज भारत म 'रा य' शब्द भारत-संघ के
अवयवी एकको क लिए प्रयुक्त होता है। लेकिन ब्रिटिश शासन काल में यह शब्द देशी
नरेशों के अधीनस्थ प्रदेशों क लिए लागू होता था। देशी राज्यों की सख्या ५६२ थी।
य राज्य सम्पूर्ण देश में फैले हुए थे। इनमें सारे देश का ४५ प्रतिशत क्षेत्र और
उसकी कुल जन संख्या का २६ प्रतिशत भाग आ जाता था। विस्तार जनसंख्या
और शक्तियों की दृष्टि से उनमें पर्याप्त अन्तर था। एक ओर तो हैदराबाद था
जिसकी आबादी १ करोड़ ६५ लाख व वार्षिक आय १० करोड़ रुपए थी दूसरी
ओर बावरी था जिसकी आबादी २७ और वार्षिक आय ८० रु० थी। काठियावाड़
में २८२ रा य थ। इनम १ रा यों की तो आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी थी, बाकी
२७४ रा यों की कुल वार्षिक आय १३५ लाख रुपए थी। इस राशि को २७४ शासक
परिवारों का पालन करना पड़ता था और इससे आशा की जाती थी कि यह २७४
पृथक अर्ध-स्वतन्त्र रा यों के प्रशासनों का सचालन करे।'

रा यों की उत्पत्ति—देशी रा यों की उत्पत्ति विभिन्न रीतियों से हुई। कुछ
राज्य बहुत पुराने थ। उदाहरणार्थ कूचबिहार त्रावणकोर और कोचीन का इतिहास
काफी पुराना था। मसूर जोधपुर और उदयपुर जैसे कुछ दूसरे रा य भारत म ब्रिटिश
शासन की स्थापना के काफी पूर्व से वर्तमान थे। बहुत स रा य मुगल शक्ति क पतन
के पश्चात् उत्पन्न हुए। ब्रिटिश शासन की जड़ जमन के पूर्व भारत एक अखण्ड देश
नहीं था अपितु स्वतन्त्र रा यों का एक समुदाय था। जब ईस्ट इंडिया कम्पनी न इन
रा यों क पारस्परिक संघर्षों म हस्तक्षेप करना शुरू किया तब उसन उनमें स बहुतों
को विजय अथवा दूसरे अधिक कारगर उपायों द्वारा अपने वश में कर लिया। लेकिन
ऐसे भी बहुत स रा य बाकी बच गए जिन्हें अंग्रेजों न प्रत्यक्षत अपने अधीन नहीं
किया। अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी फ्रांसीसियों को भारत स बाहर करने क लिए
अंग्रेजों को उनकी सद्भावना तथा सहायता की आवश्यकता थी। फलत उन्होंने इन
रा यों स संधि की और उन्हें पर्याप्त स्वतन्त्रता देकर अपना स्वामिभक्त मित्र बना
लिया। बहुत स उन भारतीयों को जिन्होंने अंग्रेजों को भारतीय उप-महाद्वीप क
ऊपर अपना आधिपत्य जमाने में सहायता दी, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने जागीरें प्रदान
कीं। इस रीति स भी अनेक राज्यों की उत्पत्ति हुई। स्पष्टत इस ढंग स प्रादुर्भूत
रा य अपने अस्तित्व के लिए सीधे ईस्ट इंडिया कम्पनी क ऋणी है।

देशी राज्यों की अधोगति—देशी राज्य अधोगति के गर्त में गिरे हुए थे। राजनीतिक दृष्टि से वे सामन्तवाद और प्रतिक्रियावाद के गढ़ थे। अधिकांश राज्यों के नरेश स्वेच्छाचारी की भांति शासन करते थे। राज्य के प्रशासन में जनता की कोई आवाज नहीं थी और वह राजनीतिक अधिकारों से सर्वथा वंचित थी। कुछ राज्यों में विधान मंडल थे परन्तु उनका कार्यपालिका के ऊपर कोई नियंत्रण नहीं था। त्रावनकोर कोचीन बड़ौदा और ग्वालियर जैसे कुछ राज्यों का शासन अवश्य प्रगतिशील था लेकिन उनकी संख्या बहुत कम थी। आर्थिक दृष्टि से भी राज्य अनुन्नत थे। केवल थोड़े से राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों में औद्योगिक विकास की पूर्ण उपेक्षा की गई थी और उनमें सिर से पैर तक सामन्ती अर्थ-व्यवस्था वर्तमान थी। किसानों की दशा बड़ी दयनीय थी। जमींदार व जागीरदार उनका निर्दयतापूर्वक शोषण और दमन करते थे। राज्यों के साधन स्रोत अत्यन्त सीमित थे। शासक प्रायः विलासिता में मग्न रहते थे। उनके विलास के उपकरण जुटाने में ही राज्यों का आर्थिक मेरुदण्ड टूट जाता था फलतः राष्ट्र-निर्माण और सामाजिक सेवा के कार्यों के लिए कोष में अत्यल्प धनराशि बच पाती थी। अधिकांश राज्यों में जनता को शिक्षा अथवा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएं बिलकुल प्राप्त नहीं थी। केवल तीन राज्यों में विश्वविद्यालय थे और डिग्री कालिज केवल तीस राज्यों में थे। राज्यों में कुल मिलाकर केवल ३ प्रतिशत जनता साक्षर थी। यह ठीक है कि इस सम्बन्ध में कुछ राज्य अपवाद स्वरूप भी थे। उदाहरणार्थ त्रावनकोर और कोचीन में भारत में सबसे अधिक ४० प्रतिशत साक्षरता थी।

१४३ सार्वभौम सत्ता

सार्वभौम सत्ता का अभिप्राय—देशी राज्य किसी भी प्रकार प्रभुत्व सम्पन्न राज्य नहीं थे। इसके विपरीत वे ब्रिटिश सम्राट के सार्वभौम सत्ता के अधीन थे। सार्वभौम सत्ता शब्द की सांगोपांग व्याख्या कभी नहीं की गई लेकिन साधारण रूप से इसका आशय यह था कि देशी राज्य ब्रिटिश सम्राट के सार्वभौमत्व के अधीन है और इस सार्वभौमत्व का प्रयोग भारत में सम्राट के प्रतिनिधि वायसराय करते हैं। देशी राज्यों के सम्बन्ध में ब्रिटिश सम्राट की सार्वभौम अथवा सर्वोच्च सत्ता का १९२६ में लार्ड रीडिंग ने हैदराबाद के निजाम को लिखे गए अपने पत्र में स्पष्ट रूप से निरूपण किया था। उन्होंने लिखा था "भारत में ब्रिटिश सम्राट की प्रभुत्व शक्ति सर्वोच्च है और इसलिए देशी राज्य का कोई भी शासक ब्रिटिश सरकार से समानता के आधार पर बातचीत करने का दावा उपस्थित नहीं कर सकता।"

इसलिए सार्वभौम सत्ता का अभिप्राय था कि देशी राज्य वास्तविक आशय में राज्य नहीं थे। ह्वीटर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून में उनकी कोई स्थिति नहीं थी। वे अधीनस्थ अथवा रक्षित राज्य थे। वे न तो युद्ध की घोषणा कर सकते थे और न विदेशी राज्यों के साथ सीधे सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। क्योंकि उनके वैदेशिक सम्बन्ध पूर्णतः ब्रिटिश सरकार द्वारा संचालित होते थे। राज्यों को आन्तरिक क्षेत्र में

भी असीमित स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती थी। साम्राज्य न्याय अथवा सुशासन के हितों के अन्तर्गत होने पर सम्राट उनके मामलों में हस्तक्षेप कर सकते थे। ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों के घरेलू मामलों में जब चाहे तब हस्तक्षेप कर बैठती थी। कभी-कभी वह प्रशासक नरेशों को अधिकारच्युत तक कर देती थी। उदाहरणार्थ १८९१ में मनीपुर के सेनापति को फांसी दे दी गई। १९३८ में नाभा के महाराजा को पदच्युत और गिरफ्तार किया गया। १९२६ में अलवर के शासक को विवश किया कि वह २४ घण्टे के भीतर-ही भीतर अपना राज्य छोड़कर चले जाएं। किसी राज्य के उत्तराधिकार को निश्चित करने और दत्तक ग्रहण के सम्बन्ध में यह आवश्यक था कि सम्राट की अनुमति प्राप्त कर ली जाए। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मतभेद पैदा होने पर अन्तिम निर्णय सम्राट के हाथों में रहता था। ब्रिटिश सार्वभौमत्व की अधीनता में देशी राज्यों की स्थिति गुलामों के समान ही थी।

१४४ १९३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित संघ

भारत के आधुनिक इतिहास में १९३५ के अधिनियम ने प्रथम बार राज्यों और प्रान्तों को एक अखिल भारतीय संघ के अन्तर्गत सामान्य प्रशासन के अधीन लाने का प्रस्ताव किया। तथापि यह निश्चित कर दिया गया था कि संघ का आविर्भाव उसी समय होगा जबकि ऐसे देशी राज्यों के शासक जिनकी जनसंख्या समस्त राज्यों की कुल जनसंख्या की आधी से अधिक हो और जो प्रस्तावित संघीय विधान मण्डल के उच्च सदन में देशी राज्यों के लिए नियत स्थानों में कम से कम आधे स्थानों के लिए हकदार हों संघ में सम्मिलित होने के लिए प्रस्तुत हो जाएं। राज्यों का संघ में प्रवेश ऐच्छिक था और अमुक राज्य संघ में सम्मिलित होगा या नहीं इसका निर्णय वहां के शासक के ऊपर छोड़ दिया गया था।

योजना की असफलता—यह योजना कार्यान्वित न हो सकी क्योंकि भारतीय लोकमत के प्रत्येक वर्ग ने जिसमें देशी नरेश भी सम्मिलित थे इसका विरोध किया। भारतीय जनता को यह सन्देह था कि जब तक राज्यों के आन्तरिक प्रशासन का लोकतन्त्रीकरण नहीं हो जाता वे संघ में प्रतिक्रियावादी दल ग्रहण करेंगे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को डगमगाती हुई नौका के लिए अवलम्ब तुल्य सिद्ध होंगे। कांग्रेस ने इस सम्बन्ध में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को फरवरी १९३८ में पास किए गए प्रस्ताव में स्पष्ट किया "एक सच्चे संघ के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वतन्त्र एककों से मिलकर बने। ये एकक लोकतन्त्रात्मक निर्वाचन पद्धति द्वारा न्यूनाधिक रूप से एक-सी स्वतन्त्रता नागरिक स्वाधीनता तथा प्रतिनिधित्व का उपभोग करते हों।" नरेशों ने इस योजना को इसलिए अस्वीकार कर दिया क्योंकि उन्हें भय था कि यह उन्हें सम्राट् और संघीय सरकार दो स्वामियों की अधीनता में पटक देगा।

१४५ स्वतन्त्रता के बाद देशी राज्य

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम द्वारा उत्पन्न की गई उलझनें—भारतीय स्वतन्त्रता अपने साथ कई नई समस्याएँ लाई। इन समस्याओं में सबसे जटिल समस्या

देशी राज्यों की थी। भारत संघ के साथ उनका क्या सम्बन्ध होने को था ? भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने एक बड़ी खतरनाक स्थिति पैदा कर दी थी। अधिनियम ने घोषणा की थी कि राज्यों के ऊपर जो ब्रिटिश सम्राट की सार्वभौम सत्ता थी, वह देश की नई केन्द्रीय सत्ता को हस्तान्तरित हुए बिना ही समाप्त हो गई। इससे गड़बड़ उलझन पैदा हो गई। औपचारिक रूप से राज्य स्वतन्त्र हो गए और उनकी वही स्थिति हो गई जो अंग्रेजों को प्रधानता में आने के पूर्व थी। कानूनी तौर से राज्य दोनों डोमिनियनों (भारत या पाकिस्तान) किसी में भी सम्मिलित होने अथवा अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करने के लिए स्वतन्त्र थे। स्पष्ट है कि यह भारत की एकता को भंग करने और उनकी नव प्राप्त स्वतन्त्रता को भंग करने की एक चेष्टा थी।

राज्यों का भारत संघ में प्रवेश—यदि कहीं अधिकांश राज्य अपने उक्त अधिकार का प्रयोग कर लेते स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर देते, तो भारत की राष्ट्रीय एकता और शक्ति को तीव्र आघात पहुंचता। निःसन्देह भारत इस बात के लिए तैयार नहीं था कि ५०० प्रभुत्व सम्पन्न सामन्ती राज्य उसकी सीमाओं के भीतर विद्यमान रहें। ये राज्य राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से किस प्रकार भारत में मिलाए जा सकते थे ताकि भारत एक प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का रूप धारण कर सकता ? बिना किसी रक्तपात के पारस्परिक सहयोग के द्वारा इस समस्या का समाधान किस प्रकार सम्भव था ? राज्यों से वंचित भारत बिलकुल खुखपुत्र हो जाता।

सचिन सरदार पटेल जैसे भारतीय नेताओं के प्रयासों और कई नरेशों की देश भक्ति के फलस्वरूप अधिकांश राज्य भारत संघ में सम्मिलित हो गए। त्रावणकोर और हैदराबाद जैसे कुछ अपवाद भी थे। लेकिन बाद में इन राज्यों को भी भारत संघ में सम्मिलित कर लिया गया पहले को तो शान्तिपूर्ण दबाव के द्वारा और दूसरे को शक्ति द्वारा। जूनागढ़ के नवाब ने अपने राज्य की भौगोलिक स्थिति और जनता की इच्छाओं की उपेक्षा करते हुए उसके पाकिस्तान में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। लेकिन जनता के दृढ़ संकल्प ने शासक की कुचेष्टा को निष्फल कर दिया। कश्मीर के स्थायी प्रवेश का प्रश्न अभी अनिश्चित है। लेकिन भारत ने अपने अटल निश्चय की घोषणा कर दी है कि इस प्रश्न का निर्णय राज्य की जनता ही करेगी।

दृढ़ीकरण (राज्यों का विलीनीकरण)—भारत संघ में राज्यों का प्रवेशमात्र तो समस्या के समाधान में पहला कदम था। ६५२ राज्यों को उसी स्थिति में जिसमें वे ब्रिटिश शासन की अधीनता में थे छोड़ देना मूर्खतापूर्ण था। लगभग उन सबके पास उन साधन स्रोतों का अभाव था जिनसे कि वे एक प्रगतिशील शासन पद्धति कायम रख सकते और भारत संघ के पृथक विकसित एकक बने रहते। इसलिए राज्यों को मिला कर विशालकाय और जीने योग्य एककों के रूप में संगठित कर देना आवश्यक

। इस लक्ष्य को विलीनीकरण की प्रक्रिया के द्वारा पूरा किया गया । मुख्य रूप से काम को तीन तरह से किया गया है ।

राज्यों का प्रान्तों में विलीनीकरण—विलीनीकरण की पहली प्रक्रिया छोटे छोटे राज्यों को पड़ोसी प्रान्तों में मिला देने की थी । यह प्रक्रिया एक जनवरी १९४८ को शुरू हुई जब उड़ीसा और छत्तीसगढ़ के ३९ राज्यों को (जिनका क्षेत्रफल ५६,००० वर्गमील और आबादी ७० लाख थी) उड़ीसा और सी० पी० के प्रान्तों में सम्मिलित कर दिया गया । १९ फरवरी १९४८ को एक कोल्हापुर को छोड़कर दक्षिण के समस्त राज्यों को बम्बई प्रेसीडेंसी में मिला दिया गया । १० जून, १९४८ को गुजरात के राज्य तालुके और थाने जिनकी संख्या १५७ क्षेत्रफल १९३०० वर्गमील और आबादी २७ लाख थी बम्बई प्रेसीडेंसी के भाग बन गए ।

राज्यों का संघों में विलीनीकरण—राज्यों के विलीनीकरण की दूसरी प्रक्रिया यह थी कि कई बड़े-बड़े राज्यों को संघों (यूनियनों) के रूप में संगठित कर दिया गया ताकि वे जीने योग्य प्रशासनिक एकक बन सकें । सबसे पहले काठियावाड़ अथवा सौराष्ट्र के राज्यों का एक संघ बनाया गया । यह अनुष्ठान १५ फरवरी, १९४८ को पूरा हुआ । इस संघ में ३० राज्य शामिल हैं । इसका क्षेत्रफल ३१८८५ वर्ग मील और जनसंख्या ४५ लाख से ऊपर है । न्यूनाधिक रूप से सौराष्ट्र के ही आदर्श पर देश के दूसरे भागों में राजस्थान मध्यभारत और पेप्सू जैसे संघों का निर्माण हो गया है ।

चीफ कमिश्नरों के प्रांतों में विलीनीकरण—तृतीयतः कुछ राज्यों अथवा राज्य समूहों को चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों (भाग ग राज्यों) में मिला दिया गया । इन प्रान्तों का शासन प्रबन्ध सीधे केन्द्रीय सरकार की देख रेख में होता है । इस प्रकार शिमला पहाड़ी के २२ राज्यों को (जिनका क्षेत्रफल ११२५४ वर्ग मील और जनसंख्या १०४६ लाख था) हिमाचल प्रदेश के रूप में संगठित किया गया । विंध्य प्रदेश भोपाल बिलासपुर कच्छ और मनीपुर त्रिपुरा इसी कोटि के राज्य हैं । इनका शासन प्रबन्ध सीधे केन्द्रीय सरकार करती है ।

लोकतन्त्रीकरण—स्वतन्त्रता के स्वर्णोदय के पश्चात् अधिकांश राज्यों में स्वेच्छाचारिता का अन्त करने और उनकी संस्थाओं व प्रशासन का लोकतन्त्रीकरण करने के समानान्तर लक्ष्य को सिद्ध कर लिया है । नए संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग ख में सम्मिलित राज्यसंघ अथवा राज्यों के राजप्रमुख वैधानिक शासक हो गए हैं और उनकी स्थिति भाग (क) राज्यों के राज्यपालों के समान ही है । मूलभूत अधिकारों और नागरिक स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में इन राज्यों की जनता और प्रान्तों की जनता में कोई भेद नहीं है । भाग (ख) राज्यों को १० वर्ष के लिए केन्द्रीय शासन की देख रेख में रखा गया है ताकि अन्तःकाल के दौरान इनके प्रशासन का नवीनीकरण हो सके । प्रथम अनुसूची के भाग ग में जो पूर्वकालीन देशी राज्य

देसी राज्यो की थी। भारत संघ के साथ उनका क्या सम्बन्ध होने को था ? भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने एक बड़ी खतरनाक स्थिति पैदा कर दी थी। अधिनियम ने घोषणा की थी कि राज्यों के ऊपर जो ब्रिटिश सम्राट की सार्वभौम सत्ता थी वह देश की नई केन्द्रीय सत्ता को हस्तान्तरित हुए बिना ही समाप्त हो गई। इससे भयंकर उलझन पैदा हो गई। औपचारिक रूप से राज्य स्वतन्त्र हो गए और उनकी वही स्थिति हो गई, जो अंग्रेजो की प्रधानता में आने के पूर्व थी। कानूनी तौर से राज्य दोनों डोमिनियनों (भारत या पाकिस्तान) किसी में भी सम्मिलित होने अथवा अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करने के लिए स्वतन्त्र थे। स्पष्ट है कि यह भारत की एकता को भंग करने और उनकी नव प्राप्त स्वतन्त्रता को भंग करने की एक चेष्टा थी।

राज्यों का भारत संघ में प्रवेश—यदि कहीं अधिकांश राज्य अपने उक्त अधिकार का प्रयोग कर लेते स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर देते, तो भारत की राष्ट्रीय एकता और शक्ति को तीव्र आघात पहुंचता। निःसन्देह भारत इस बात के लिए तैयार नहीं था कि ५०० प्रभुत्व सम्पन्न सामन्ती राज्य उसकी सीमाओं के भीतर विद्यमान रहें। ये राज्य राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से किस प्रकार भारत में मिलाए जा सकते थे ताकि भारत एक प्रभु व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का रूप धारण कर सकता ? बिना किसी रक्तपात के पारस्परिक सहयोग के द्वारा इस समस्या का समाधान किस प्रकार सम्भव था ? राज्यों से वंचित भारत बिलकुल घुनघुना हो जाता।

लेकिन सरदार पटेल जैसे भारतीय नेताओं के प्रयासों और कई नरेशों की देश भक्ति के फलस्वरूप अधिकांश राज्य भारत संघ में सम्मिलित हो गए। त्रावणकोर और हैदराबाद जैसे कुछ अपवाद भी थे। लेकिन बाद में इन राज्यों को भी भारत संघ में सम्मिलित कर लिया गया पहले को तो शान्तिपूर्ण दबाव के द्वारा और दूसरे को शक्ति द्वारा। जूनागढ़ के नवाब ने अपने राज्य की भौगोलिक स्थिति और जनता की इच्छाओं की उपेक्षा करते हुए उसके पाकिस्तान में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। लेकिन जनता के दृढ़ संकल्प ने शासक की कुचेष्टा को निष्फल कर दिया। कश्मीर के स्थायी प्रवेश का प्रश्न अभी अनिश्चित है। लेकिन भारत ने अपने अटल निश्चय की घोषणा कर दी है कि इस प्रश्न का निर्णय राज्य की जनता ही करेगी।

दृढ़ीकरण (राज्यों का विलीनीकरण)—भारत संघ में राज्यों का प्रवेशमात्र तो समस्या के समाधान में पहला कदम था। ६५२ राज्यों को उसी स्थिति में जिसमें वे ब्रिटिश शासन की अधीनता में थे छोड़ देना मूर्खतापूर्ण था। लगभग उन सबके पास एक साधन स्रोतों का अभाव था जिनसे कि वे एक प्रगतिशील शासन पद्धति कायम रख सकते और भारत संघ के पूर्ण विकसित एकक बने रहते। इसलिए राज्यों को बांट स[?] विराटकाय और जीने योग्य एककों के रूप में संगठित कर देना आवश्यक

था । इस लक्ष्य को विलीनीकरण की प्रक्रिया के द्वारा पूरा किया गया । मुख्य रूप से इस कार्य को तीन तरह से किया गया है ।

राज्यों का प्रान्तों में विलीनीकरण—विलीनीकरण की पहली प्रक्रिया छोटे-छोटे राज्यों को पड़ोसी प्रान्तों में मिला देने की थी । यह प्रक्रिया एक जनवरी १९४८ को शुरू हुई जब उड़ीसा और छत्तीसगढ़ के ३९ राज्यों को (जिनका क्षेत्रफल ५६ ००० वर्गमील और आबादी ७० लाख थी) उड़ीसा और सी० पी० के प्रान्तों में सम्मिलित कर दिया गया । १९ फरवरी १९४८ को एक कोल्हापुर को छोड़कर दक्षिण के समस्त राज्यों को बम्बई प्रेसीडेंसी में मिला दिया गया । १० जून १९४८ को गुजरात के राज्य तालुके और थाने जिनकी संख्या १५७ क्षेत्रफल १९३०० वर्गमील और आबादी २७ लाख थी बम्बई प्रेसीडेंसी के भाग बन गए ।

राज्यों का संघों में विलीनीकरण—राज्यों के विलीनीकरण की दूसरी प्रक्रिया यह थी कि कई बड़े-बड़े राज्यों को संघ (यूनियन) के रूप में संगठित कर दिया गया ताकि वे ठीक योग्य प्रशासनिक एकक बन सकें । सबसे पहले काठियावाड़ अथवा सौराष्ट्र के राज्यों का एक संघ बनाया गया । यह अनुष्ठान १५ फरवरी १९४८ को पूरा हुआ । इस संघ में ३० राज्य शामिल हैं । इसका क्षेत्रफल ३१८८५ वर्ग मील और जनसंख्या ३५ लाख से ऊपर है । न्यूनाधिक रूप से सौराष्ट्र के ही आदर्श पर देश के दूसरे भागों में राजस्थान मध्यभारत और पेप्सू जैसे संघों का निर्माण हो गया है ।

चीफ कमिश्नरों के प्रांतों में विलीनीकरण—तृतीयत कुछ राज्यों अथवा राज्य समूहों को चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों (भाग ग राज्यों) में मिला दिया गया । इन प्रान्तों का शासन प्रबन्ध सीधे केन्द्रीय सरकार की देख रेख में होता है । इस प्रकार शिमला पहाड़ों के २२ राज्यों को (जिनका क्षेत्रफल ११२५४ वर्ग मील और जनसंख्या १० ८६ लाख था) हिमाचल प्रदेश के रूप में संगठित किया गया । विन्ध्य प्रदेश भोपाल बिलासपुर कच्छ और मनीपुर त्रिपुरा इसी कोटि के राज्य हैं । इनका शासन प्रबन्ध सीधे केन्द्रीय सरकार करती है ।

सम्मिलित हैं उनमें लोकतन्त्र की बहुत कम उन्नति हुई है लेकिन अब इस त्रुटि को दूर करने के यथासम्भव उपाय किए जा रहे हैं।

रक्तहीन क्रांति—१५ अगस्त १९४७ के पश्चात् देशी राज्यों में जो परिवर्तन हुआ है उसे एक गौरवपूर्ण रक्तहीन क्रांति कहा गया है। हैदराबाद जूनागढ़ और कश्मीर को छोड़कर शेष देशी राज्यों के विलीनीकरण और लोकतन्त्रीकरण की दोहरी प्रक्रिया बिल्कुल शांतिपूर्वक लगभग अनलक्षित भाव से घटित हो गई है। यह सही है कि नरेशों के सहयोग को प्राप्त करने के लिए एक बहुत बड़ी कीमत देनी पड़ी है। इनको निजी खर्चे के तौर पर कुल मिलाकर लगभग आठ करोड़ रुपए प्रति वर्ष दिए जाते हैं। भारत जैसे गरीब देश के लिए यह व्यय भार असह्य है। नरेशों को अपनी उपाधियाँ बनाए रखने और विशेषाधिकारों का उपभोग करने की भी आज्ञा दे दी गई है। उनमें से कुछ को राजप्रमुख और उपराजप्रमुख बना दिया गया है। लेकिन अधिकांश लोगों की राय में राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति को देखते हुए जिसका श्रेय सरदार पटेल की दृढ़ और दूरदर्शिनी राजनीतिज्ञता को जाता है यह प्रसंग अनुचित नहीं है।

उपरोक्त प्रबन्ध केवल परिस्थिति का सामना करने के लिए किये गये थे। इस व्यवस्था से भारतीय संघ के विभिन्न प्रशासनिक एककों का न तो सन्तुलन अथवा गठन हो सका और न ही उनके बीच की संवैधानिक असमानता ही दूर हुई। कांग्रेस दल द्वारा स्वीकार किये हुए प्रस्ताव के अनुसार एक भाषा वाले क्षेत्रों को मिलाकर नये राज्यों की रचना करने की माँग भी पैदा हो गई थी। देश में राष्ट्रीय आयोजन का कार्यक्रम आरम्भ किये जाने पर राज्यों के पुनः संगठन की आवश्यकता का भी अनुभव किया गया, परन्तु इस समस्या पर शान्ति तथा धैर्य के साथ यह दृष्टिकोण सामने रखकर विचार करना था कि प्रत्येक प्रशासनिक एकक के निवासियों से साथ-साथ सम्पूर्ण देश की जनता का भी हित होना चाहिए।

राज्य पुनः संगठन आयोग—अतः राज्य के पुनः संगठन पर विचार करने तथा इसके सम्बन्ध में सरकार को सुझाव देने का कार्य एक राज्य पुनः संगठन आयोग को सौंपा गया। यह आयोग २९ दिसम्बर १९५३ को सय्यद फज़ल अली की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया। श्री हृदयनाथ कुंजरू तथा श्री के० एम० पणिक्कर इसके अन्य सदस्य थे। इस आयोग को अपनी सिफारिशें ३० सितम्बर १९५५ तक पेश करने को कहा गया था। आयोग ने १०४ स्थान की यात्रा की और ९००० हजार व्यक्तियों से मिला। इसकी रिपोर्ट २४३ प्रश्नों तथा कुल ८७९ पैरेग्राफों में प्रकाशित हुई।

आयोग के सुझाव—आयोग ने सिफारिश की कि पुनः संगठन के आवश्यक परिणाम के रूप में भारतीय संघ के प्रशासकीय एककों के बीच संवैधानिक असमानता नहीं होनी चाहिये। इसके अनुसार भारतीय संघ के संगठित एकक इस प्रकार थे—

(१) राज्य—भारत के प्रशासनिक एकक

(२) क्षेत्र—केन्द्र द्वारा प्रशासित

इस प्रकार भारतीय संघ में १६ राज्य तथा ३ केन्द्र प्रशासित क्षेत्र आयोग ने घोषित किये। सम्पूर्ण रिपोर्ट ४ भागों में बटी हुई है। प्रथम भाग में राज्यों के पुनर्गठन की समस्या और उनके इतिहास पर विचार किया गया है। दूसरे भाग में पुनर्गठन को प्रभावित करने वाले तत्वों पर लिखा गया है। तीसरे भाग में वर्तमान राज्यों का पुनर्गठन करने के बारे में प्रस्ताव है और अन्तिम भाग में पुनर्गठन से सम्बन्धित प्रशासनिक और अन्य प्रतिक्रियाओं के बारे में विचार करके उन्हें हल करने के साधनों पर संक्षेप में लिखा गया है। रिपोर्ट में श्री फजल अली ने हिमाचल प्रदेश के बारे में व श्री पणिक्कर ने उत्तर प्रदेश के बारे में अपने मत प्रकट किये हैं। श्री फजल अली के मत में हिमाचल प्रदेश एक पृथक इकाई के रूप में जारी रहना चाहिये और केन्द्रीय सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में रहे। इसी तरह श्री पणिक्कर ने उत्तर प्रदेश का दो भागों में बांटने की सिफारिश की क्योंकि उसकी जनसंख्या ६ करोड़ है जबकि अन्य प्रान्तों की जनसंख्या ३ करोड़ से अधिक नहीं है। आयोग ने अपने सुझावों में भाषा स्थान विशेष की समस्या व प्रशासनिक सुविधाएँ आदि सभी दृष्टियों को सामने रख कर पेश किए थे।

संसद में विवाद—लोक सभा में आयोग की सिफारिशों पर एक लम्बे समय तक वाद विवाद हुआ और ७ सितम्बर १९५६ को भारत के नवीन संविधान में ७वां संशोधन पारित हुआ। यह राज्य पुनर्गठन अधिनियम था। संक्षिप्त रूप में पुराने ८ प्रान्त ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिये गये और तीन नये राज्यों के निर्माण का निश्चय किया—केरल कर्नाटक (मैसूर) मध्यप्रदेश त्रिपुरा लक्षद्वीप व मिनिकाय तथा अमिनदीव को केन्द्र प्रशासित क्षेत्र रखने का निर्णय लिया गया। आन्ध्र राज्यों आन्ध्र, हैदराबाद विदर्भ पंजाब बम्बई तथा देहली क्षेत्र के बारे में भारत सरकार ने इन राज्यों से सम्बन्धित विधान सभाओं से विचार विमर्श शुरू किया। इसी बीच में बम्बई में आन्दोलन शुरू हुआ। महाराष्ट्रीय जनता बम्बई को महाराष्ट्र में मिलाना चाहती थी। एक पृथक गुजरात राज्य की भी मांग की गई। केन्द्रीय वित्त मन्त्री श्री देशमुख ने महाराष्ट्र के विषय को लेकर मन्त्रिमंडल से त्याग-पत्र दे दिया। इसी भांति पंजाब में महा पंजाब बनाने के सम्बन्ध में उपद्रव हुए। १९५६ के राज्य पुनर्गठन अधिनियम के अनुसार भारतीय संघ १४ इकाई राज्य तथा ६ केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्र में रख गये। इसके पश्चात् गुजरात प्रान्त का निर्माण हुआ। १९६२ में नागालैण्ड का पृथक राज्य के रूप में उद्भूत हुआ। इसके पश्चात् गोआ दामन द्यु भारत संघ में सम्मिलित हो गये हैं। वर्तमान समय में भारतीय संघ में १६ स्वतन्त्र प्रशासनिक एकक व ६ केन्द्र प्रशासित राज्य हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) राज्य एकक—आन्ध्र प्रदेश असम बिहार बम्बई करल (गुजरात) मध्यप्रदेश मद्रास मैसूर उड़ीसा पंजाब राजस्थान उत्तरप्रदेश पश्चिमी बंगाल जम्मू व काश्मीर नागालैण्ड।

(२) केन्द्र प्रशासित—देहली हिमाचल प्रदेश त्रिपुरा मनिपुर मिनिकाय व लक्षद्वीप व अमिनदीव अण्डमान निकोबार

राज्य पुनर्गठन अधिनियम के अनुसार ५ क्षत्रीय परिषदें बनाई गई।

(१) अन्तरीय क्षेत्र—इसमें पजाब राजस्थान, जम्मू कश्मीर और हिमाचल प्रदेश सम्मिलित हैं।

(२) केन्द्रीय क्षत्र—उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश।

(३) पूर्वीय क्षत्र—बिहार पश्चिमी बगाल उडीसा असम मणिपुर व त्रिपुरा से मिलकर।

(४) पश्चिमी क्षत्र—बम्बई तथा मसूर।

(५) दक्षिण क्षत्र—आन्ध्र मद्रास केरल आदि से मिलकर। इन क्षत्रीय परिषदो का प्रमुख काय प्रत्येक क्षत्र के अधीन राज्यो का आर्थिक व सामाजिक विकास, सीमा सम्बन्धी झगडा तथा अन्तर्राज्य यातायात सम्बन्धी कोई भी विषय व राज्य पुनगठन अधिनियम से सम्बन्धित कोई भी प्रश्न आदि क बारे म सिफारिशें प्रस्तुत करना होगा। प्रत्येक क्षत्रीय परिषद म राष्ट्रपति द्वारा निर्वाचित एक केन्द्रीय मत्री, राज्य क एक मुख्यमत्री दो अन्य मत्री योजना आयोग द्वारा निर्मित एक व्यक्ति प्रत्यक राज्य क मुख्य सचिव विकास कमिश्नर आदि मिलकर उसकी रचना करेंगे। अध्यक्ष को एक विशेष मत का हक होगा।

इसके साथ साथ यह भी व्यवस्था की गई कि बम्बई मसूर पजाब केरल, राजस्थान तथा राजस्थान राज्यो के जन सेवा आयोग की पुनरचना की गई। हैदराबाद मध्यभारत पटियाला पूर्वी पजाब राज्य सघ और सौराष्ट्र के जन सेवा आयोग समाप्त कर दिये गये। इसके अतिरिक्त अधिनियम क अन्तगत उच्च न्यायालयो के सम्बन्ध मे प्रावधान रखे गये थे।

हिमाचल प्रदेश त्रिपुरा और लक्षद्वीप मिनीकाय तथा अमीनदिवी द्वीप-समूह भी सघीय क्षत्र घोषित कर दिय गय हैं। दिल्ली मणिपुर तथा अण्डमान और निकोबार द्वीपो को मिलाकर ६ क्षत्र हैं।

साराश

ब्रिटिश शासनकाल में भारत दो भागो—देशी और ब्रिटिश भारत में विभाजित था। देशी भारत में ५६२ देशी राज्यो क प्रदेश सम्मिलित थे। राज्य राजनीतिक दृष्टि स बहुत पिछडे हुए थे और उनका शासन सामन्ती नरेश स्वेच्छाचारी ढग से करते थ।

देशी राज्य किसी भी प्रकार प्रभुत्व सम्पन्न स्वतत्र राज्य नहीं थे। वे ब्रिटिश सम्राट की सावभौम सत्ता के अधीन थे। इसका अभिप्राय यह था कि ब्रिटिश सरकार उनके वदेशिक सम्बन्धो का पूणत नियन्त्रित करती थी और कभी कभी उनके घरेलू मामलों म भी टाँग अडा देती थी।

जब भारत स्वतत्र हुआ राज्यों ने एक कठिन और जटिल समस्या उपस्थित की। कानूनी दृष्टि से राज्य भारत या पाकिस्तान में सम्मिलित होने या स्वय को स्वतत्र घोषित कर देने के लिए स्वतत्र थ। निश्चयत यदि कहीं बहुत से प्रभु व सम्पन्न

सारांश

राज्य बनने के अपने कानूनी अधिकार का प्रयोग कर बठते तो सारे देश में अव्यवस्था
फल सकती थी। यह सरदार पटेल जसे नेताओं की राजनीतिज्ञता और नरेशों की देश
भक्ति के प्रति श्रद्धांजलि है कि भारत की एकता के ऊपर मडराने वाला यह खतरा
राज्यों के भारत-संघ में प्रवेश करने से दूर हो गया। इस काय को तीन तरह से पूरा
किया गया। कई छोटे छोटे राज्यों को पड़ोसी प्रान्तों में मिला दिया गया। कुछ बड़े
राज्यों के संघ बना दिए गए ताकि वे जीने योग्य प्रशासनिक एकक हो सकें। कुछ
राज्यों अथवा राज्य समूहों को चीफ कमिश्नर के प्रान्तों के रूप में (भाग ग राज्य)
केन्द्रीय सरकार के प्रशासन में ले लिया गया।

राज्यों के विलीनीकरण के साथ ही साथ उनका लोकतन्त्रीकरण भी होता
गया है। देशी राज्यों के स्वरूप-परिवतन और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाली
भारतीय एकता को एक गौरवपूर्ण और रक्तहीन क्रांति कहा गया है।

परन्तु उपरोक्त परिस्थिति क्रान्ति का पहला दौर था। सवधानिक असमानता
को दूर करने तथा राष्ट्रीय आयोजन के दृष्टिकोण से राज्यों का पुन सगठन करने के
लिए एक राज्य पुन सगठन आयोग नियुक्त हुआ जिसकी सिफारिशों के आधार पर
सगठित एककों का रूप यह था—जो राज्य भारत के प्रशासनिक एकक होंगे तथा
क्षेत्र जो केन्द्र द्वारा प्रशासित होंगे।

भारतीय सघ में अब १५ राज्य और ६ क्षेत्र हैं। उनके नाम ये हैं —

राज्य—असम उड़ीसा उत्तर प्रदेश आन्ध्र प्रदेश बिहार पश्चिमी बगाल,
मसूर केरल मद्रास महाराष्ट्र गुजरात राजस्थान मध्य प्रदेश जम्मू तथा कश्मीर,
पजाब तथा नागालण्ड।

केन्द्र प्रशासित क्षेत्र—दिल्ली हिमाचल प्रदेश मणिपुर त्रिपुरा गोआ
दामन ड्यू अण्डमान तथा निकोबार और लक्षद्वीप मिनीकाय तथा अमीनदिवी।

राज्यपुनर्गठन आयोग की सिफारिशों के अनुसार ५ क्षत्रीय परिषदें भी बनायी
गयी हैं। इन क्षत्रीय परिषदों का प्रमुख काय प्रत्येक क्षेत्र के अधीन राज्यों का आर्थिक
व सामाजिक सीमा सम्बन्धी झगड़ों का निवारण आदि के बारे में अपनी सिफारिशें
प्रस्तुत करना है।

भाव है न अवगणना। समस्त धर्म एक दूसरे के साथ ओतप्रोत हैं। प्रत्येक धर्म में कई विशेषताएं हैं किन्तु एक धर्म दूसरे धर्म से श्रेष्ठ नहीं। जो एक में है वह दूसरे में नहीं है। इसलिए एक धर्म दूसरे धर्म का पूरक है।[1] महात्मा गांधी के अनुसार वास्तविक धर्म वही है जो हमें आत्मदर्शन कराता है ईश्वर के समीप पहुंचाता है। उनके सम्मुख विश्व के समस्त धर्म एक ही सत्य तक पहुंचने के विभिन्न मार्ग थे। यदि हम एक ही लक्ष्य तक पहुंचने के लिए विभिन्न मार्गों का आश्रय लेते हैं तो क्या हुआ? महात्मा गांधी धर्म शास्त्रों को उसी समय तक शिरोधार्य करने के लिए लिए प्रस्तुत थे जब तक कि वे उनकी बुद्धि को सन्तुष्ट कर सकते थे।

व्यावहारिक आदर्शवादी—महात्मा गांधी कवि शैली की उस चिड़िया (स्काई लाक) की भांति नहीं थे जो पृथ्वी पर स्थित अपने नीड़ की सुध बुध भूलकर अनन्त आकाश में पर फैलाए उड़ती रहती है वह कवि वर्ड्सवर्थ की उस चिड़िया के समकक्ष थे जिसे आकाश में उड़ते समय भी पृथ्वी पर स्थित अपने नीड़ का निरन्तर ध्यान बना रहता है। दूसरे शब्दों में वह व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनका मत था कि आदर्शवाद को यथार्थ का रूप धारण करने के लिए व्यवहारिक होना आवश्यक है। वह भावात्मक सत्य को उस समय तक बिलकुल व्यर्थ मानते थे जब तक कि वह व्यक्तियों के जीवन में प्रकट नहीं होता। उनके सत्तत्व ने उन्हें आदर्शवादी बनाया और समन्वयक्षमता ने यथार्थवादी। १९२० में उन्होंने अपने एक लेख में लिखा था मैं स्वप्न नहीं देखा करता। मैं एक व्यावहारिक आदर्शवादी होने का दावा करता हूं। अहिंसा का धर्म केवल ऋषियों और महात्माओं के लिए नहीं है। वह जनसाधारण के लिए भी है। जिस तरह से हिंसा पशुओं का जीवन सिद्धांत है उसी तरह अहिंसा हम मानवों का।'[2]

अहिंसा के देवदूत गांधीजी के ये वचन कि अब मेरे सामने केवल दो विकल्प रह जाएंगे—कायरता और हिंसा—तो मैं हिंसा के लिए सलाह दूंगा। इसके बजाए कि भारत कायरतापूर्वक अपने ही असम्मान का शिकार बने या बना रहे मैं यह पसन्द करूंगा कि वह अपने सम्मान की रक्षा के लिए हथियार उठाए। अथवा संसार निरे तर्क से ही शासित नहीं होता। स्वयं जीवन में ही थोड़ी बहुत हिंसा अन्तग्रस्त है और हमें न्यूनतम हिंसा का मार्ग चुनना है उनके व्यावहारिक आदर्शवाद के ही द्योतक हैं। आचार्य जे० बी० कृपलानी के शब्दों में— महात्मा गांधी इस बात को भलीभांति जानते थे कि कब दृढ़ रहा जाए और कब झुका जाए कब और किन वस्तुओं में सहयोग किया जाए तथा किन में असहयोग कब प्रहार किया जाए और कब शान्त रहा जाए।[3] महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को अपनी नीति देश के

१ हरिजन सेवक—३१ ३ ३३ पृ० ३।
२ जवाहरलाल नेहरू— राष्ट्रपिता' पृ० ४३ ४४।
३ आचार्य जे० बी० कृपलानी— गांधी दी स्टेट्समैन', पृ० ६०।
हरिजन १२-४-१९४२।

सम्मुख एक राजनीतिक शास्त्र स्वराज्य प्राप्ति के एक प्रभावशाली और सत्वर उपाय के रूप में उपस्थित की थी। इस सम्बन्ध में उनकी स्वयं अपनी साक्षी मिलती है मैं इस मत पर अटल हूं कि मैंने अहिंसा को कांग्रेस के सम्मुख एक लाभप्रद उपकरण के रूप में उपस्थित कर अच्छा ही किया। यदि मुझे उसका राजनीति में समावेश करना था तो मेरे लिए अन्य कोई चारा ही नहीं था—दक्षिण अफ्रीका में भी मैंने उसे लाभप्रद उपकरण के ही रूप में उपस्थित किया था यदि मैं ऐसे व्यक्तियों के साथ अपने कार्य को प्रारम्भ करता जो अहिंसा को धर्म के रूप में स्वीकार करते, तो उसको मानने वाला अकेला मैं ही रह जाता। चूंकि मैं स्वयं अपूर्ण हूं अतः मैंने अपूर्ण स्त्री पुरुषों के साथ अपना कार्य प्रारम्भ किया और एक अपरिचित समुद्र की यात्रा की।

प्रवीण सेनापति—महात्मा गांधी ने अपने ५० वर्षों से अधिक के राजनीतिक जीवन में इस बात को भली भांति सिद्ध कर दिया कि वह राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य समर के प्रवीण सेनापति थे। प्रवीण सेनापति से यह आशा की जाती है कि वह युद्ध की प्रत्येक स्थिति को अच्छी तरह समझे और तदनुसार ही आचरण करे क्योंकि उसका एक भी गलत कदम सारे राष्ट्र का विनाश के गर्त में ढकेल सकता है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सेनापति होने के नाते महात्मा गांधी इस कसौटी पर पूरी तरह खरे उतरते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जब उन्होंने भारत के राजनीतिक जीवन में विधिवत् प्रवेश किया देश की स्थिति उस ज्वालामुखी के तुल्य थी जो बस फूट पड़ने वाला ही हो। रौलट एक्ट पंजाब हत्याकाण्ड और खिलाफत-प्रश्न को लेकर देश में प्रचण्ड असन्तोष के बादल घुमड़ रहे थे। यदि उस समय महात्मा गांधी असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ न करते तो यह निश्चित प्राय था कि विप्लवगामी मशाल में आ जाते और सारा देश शोणित के नद में डूब जाता। इसी प्रकार जब १९२२–२३ में स्वराजवादियों व अपरिवर्तनवादियों के बीच कौंसिल प्रवेश की समस्या पर मतभेद उठ खड़ा हुआ था महात्मा गांधी ने स्वराजवादियों को निर्वाचनों में भाग लेने और अपरिवर्तनवादियों को रचनात्मक कार्य क्रम में जुटे रहने का परामर्श देकर राष्ट्रीय शक्तियों के सम्भाव्य विघटन को रोक दिया। पुनश्च १९२८ में कांग्रेस के अन्दर ही जवाहरलाल और सुभाष बोस के नेतृत्व में इंडिपेंडेंस लीग की स्थापना के अनन्तर देश के राजनीतिक थर्मामीटर का तापक्रम एक बार फिर ऊंचा चढ़ा। साइमन-कमीशन की असफलता के कारण देश की जनता राष्ट्रीयता से प्रदीप्त हो रही थी। परिणामस्वरूप विप्लववाद जोर पकड़ रहा था। ऐसी अवस्था में गांधी जी ने सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ करके देश के समस्त वर्गों नरमों और गरमों वामपक्षियों और दक्षिण पक्षियों उग्रवादियों और उग्रवादियों को कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्र-मुक्ति संघर्ष में समान रूप से सक्रिय भाग लेने वाला सिपाही बना दिया। वास्तव में वो इतनी के अनुसार इतनी विभिन्न विचार धाराओं और भावनाओं वाली विभिन्न शक्तियों का एक

स्थान पर एकत्रित करना एक प्रवीण राजनीतिक कलाकार का काम था।[1] वस्तुत महात्मा गांधी एक प्रवीण राजनीतिक कलाकार थे। सत्याग्रह आन्दोलन मार्च तक चला। इसके उपरान्त उसकी शक्ति क्षीण होने लगी। महात्मा गांधी ने इस बात को तुरन्त भांप लिया। फलत जैसे ही सरकार ने कांग्रेस के साथ समझौता करने की इच्छा प्रकट की गांधीजी ने उसे चट से मान लिया। गांधी इर्विन समझौता इसी का फल था। इसी प्रकार जब द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के कूच करने पर लड़ाई भारत के समीप आती प्रतीत हुई और क्रिप्स मिशन का कोई फल न निकला महात्मा गांधी ने कांग्रेस के सामने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव रखा। विदेशी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने में असमर्थ भारतीय जनता की असहायता को देखकर गांधीजी विचलित हो गए थे। परिणामस्वरूप उन्होंने देश को 'करो या मरो' का सन्देश दिया। यदि गांधी उस समय इस प्रकार का पग न उठाते तो भारत के राष्ट्रीय संघर्ष को अन्तिम सफलता इतनी शीघ्र और अहिंसात्मक न होती। उचित समय पर कार्यवाही करके उन्होंने इंगलैंड को यह विश्वास दिला दिया कि अपनी स्वतन्त्रता के लिए भारत सब कुछ उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है तथा भविष्य में क्रान्तिकारी एवं विद्रोही भारत को केवल दमन और शस्त्रास्त्रों के बल से दासता में नहीं रखा जा सकता।'[2]

महान क्रान्तिकारी—महात्मा गांधी अपनी नैतिक और आध्यात्मिक विराटता के अतिरिक्त विश्व इतिहास के सबसे महान क्रान्तिकारी राजनीतिक नेताओं में से एक थे। क्रान्तिकारी नेता का प्रथम चिह्न इस तथ्य को पहचानना है कि वह परिस्थिति जिसका उसे सामना करना पड़ रहा है क्रान्तिकारी है उसका विकासवाद की धीमी प्रक्रिया और मन्द सुधारवाद से परिहार नहीं किया जा सकता। पश्चात्‌ उक्त समाधान समस्याओं को सुलझाए बिना स्थिति को और बिगाड़ देगा तथा क्रान्ति को जब वह अपरिहार्य आती है अधिक नृशंस कठोर और निर्दय व अपने रौद्रानल की झोंक में बहुत सी ऐसी श्रेष्ठ वस्तुओं का विध्वंसक बना देगा जिसके पुनर्निर्माण के लिए एक नूतन अथवा एक प्रतिक्रान्ति अथवा एक दीर्घ एवं पीड़ापूर्ण विकास प्रक्रिया की आवश्यकता होगी।[3] क्रान्तिकारी नेता के रूप में महात्मा गांधी की यह सफलता थी कि उन्होंने १९१६ में भारतीय राजनीतिक जीवन में प्रवेश करते समय देश की क्रान्तिकारी परिस्थिति को ठीक ठीक पहचान लिया और उसका एक सच्चे क्रान्तिकारी के समान प्रत्यक्ष कार्यवाही से सामना किया यद्यपि उनकी यह प्रत्यक्ष कार्यवाही अहिंसात्मक थी। वस्तुत एक ऐसी निहत्थी जनता के लिए जो आधुनिक शस्त्रास्त्रों से पूर्णत सज्जित शक्तिशाली विदेशी साम्राज्यशाही के विरोध में खड़ी हो अहिंसक असहयोग सर्वाधिक उपयुक्त प्रणाली थी। दूसरे क्रान्ति को एक दो समुदाय अथवा

1 जे॰ बी॰ कृपलानी— गांधी दी स्टेट्समन पृ॰ ३८।

2 आचार्य जे॰ बी॰ कृपलानी— गांधी दी स्टेट्समन' पृ॰ ५६।

3 आचार्य जे॰ बी॰ कृपलानी— गांधी दी स्टेट्समन, पृ॰ ६४।

व्यक्ति नहीं लाते क्रान्ति तो जन साधारण का आन्दोलन है। हो सकता है कि आदि
में जन साधारण आन्दोलन से विलग रहे लेकिन किसी-न किसी स्थिति पर उसका
आन्दोलन में सक्रिय योगदान अपरिहार्य है। क्रान्तिकारी नेता से यह अपेक्षा की जाती
है कि वह आन्दोलन को जन साधारण का आन्दोलन बना दे। महात्मा गांधी ने भारत
में यही किया था। उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को जो उनके पूर्व मध्यवर्गीय
बुद्धिजीवियों का ही आन्दोलन था, देश के कोटि-कोटि नंगे और भूखे जीव-समूह का
आन्दोलन बना दिया। क्रान्तिकारी नेताओं के सम्बन्ध में तीसरी बात यह है कि वे
सदैव अभी या कभी नहीं' की भावना में काम करते हैं। उनका विचार होता है कि
यदि हम वर्तमान समाज व्यवस्था को तुरन्त नहीं बदल देते तो समाज विनाश के
गर्त में जा गिरेगा।¹ महात्मा गांधी ने अपने सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन में इसी
अभी या कभी नहीं की भावना में काम किया। १९२० में उन्होंने कहा था— मुझे
एक वर्ष के अन्दर स्वराज चाहिए।' कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस बात को भली
भांति समझ सकता था कि एक वर्ष के अन्दर स्वराज को प्राप्त करने की बात पागल
पन के सिवाय कुछ नहीं है। लेकिन फिर भी एक वर्ष के अन्दर स्वराज्य प्राप्त करने
का नारा देकर महात्मा जी ने जनता में वह अमर प्राण ... फूंक दी कि जनता
... मान लिया मानो उनका सम्पूर्ण
... और उनके ... में ... १९३० में उन्होंने पुनः अभी या कभी
... इस स्वप्न की पूर्ति पर निर्भर हो। १९३० में उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मैं अपने आश्रम का
न। का जयघोष उच्चारित किया। उन्होंने ... इस बार वह पुनः असफल हुए।
... लौटूंगा जब भारत ... नहीं ... करो या मरो' का
१९४२ में ... देश को फिर एक बार ... अतः ... सर्वोच्च ...
... दिया। अन्ततः क्रान्तिकारी नेता ... उद्देश्य ... मिलता है। उनका
है। वह ... में भी ... स्पष्ट ... भारत की स्वतन्त्रता ... रखता
प्राप्त होती है। गांधी जी ... भारत ... चाहते
प्रत्येक कार्य उनका क्रान्तिकारी आन्दोलन ... महत्त्व ... स्वराज को
था। चाहे तो हम उनका ... उनका एक मात्र ... एक आधार नहीं
ग्रामोत्थान ... महत्त्व ... वह आर्थिक उत्पादन का एक ग्राम
एकनिष्ठ साधना करता था। ... वस्तुतः उनके लिए एक ग्राम
समझते थे उसमें ... स्वराज के ... राजनीतिक विकास के मार्ग में प्रचण्ड
जिस अनिवार्य ही नहीं था उसे वह भारत के ... स्वराज का उनकी दृष्टि में
बाधा मानते थे। जब तक उसका नाश नहीं हो जाता, ... व्यवस्था का सम्हालने का
कोई मूल्य नहीं था। उनके लिए स्वदेशी देश की अर्थ व्यवस्था ... ग्रहण करते थे। ग्रामोत्थान
उपायमात्र नहीं था वह स्वराज के वास्तविक रूप में ग्रहण करते थे। ग्रामोत्थान
को ग्रामों की शोचनीय स्थिति सुधारने के साधनमात्र के रूप में ही नहीं देखते थे
यह उनके मत से आदर्श स्वराज व्यवस्था तक पहुंचने का एक अनिवार्य सोपान था।

१ आधार जे० बी० कृपलानी— गांधी दी स्टेट्समैन' पृ० ८५।

और तो और महात्मा गांधी ने अपनी प्रार्थना सभाओं तक का जनता को अनुशासित करने और राजनीतिक शिक्षा देने के लिए प्रयोग किया। उन्होंने अपनी प्रतिम सर्वाधिक महत्वपूर्ण घोषणाएं प्रार्थना सभाओं में की थी।

नव मानवता के शिल्पी—भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता होने के साथ साथ महात्मा गांधी नव मानवता के शिल्पी थे। उनकी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पुनीत सिद्धान्त में प्रबल निष्ठा थी। वह कट्टर राष्ट्रवादी थे पर यह भी अनुभव करते थे कि मुझे सम्पूर्ण संसार को एक सन्देश देना है। उनका विश्वास था कि सच्चा राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी नहीं प्रत्युत पूरक होता है। उनके मत में राष्ट्रवाद स्वयं बुराई नहीं बुराई तो संकुचितता स्वार्थ भावना और बहिष्कारशीलता है। वे विश्व मानवता की वेदी पर देश का बलिदान करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे। उन्होंने कहा था "राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि मेरा देश स्वतन्त्र हो जाए लेकिन यदि आवश्यकता पड़े तो मानव जाति को जीवित रखने के लिए वह सारा का सारा नष्ट हो जाए। इसमें जातीय घृणा को कोई स्थान नहीं। हमारी राष्ट्रीयता ऐसी होनी चाहिए।"[1] महात्मा गांधी एक भारत का स्वप्न देखते थे जो कि सम्पूर्ण संसार के लिए कामकारी हो। वह यह सहन करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे कि भारत दूसरे राष्ट्रों के ध्वंसावशेषों पर उन्नति करे। उन्हें अपने मिशन का पूरा भान था। उनका कहना था "मेरा मिशन केवल भारतीय मानवता का भ्रातृत्व नहीं है। मेरा मिशन केवल भारत की स्वतन्त्रता नहीं है यद्यपि आज वह निस्सन्देह मेरे सम्पूर्ण जीवन और सम्पूर्ण समय को ले लेता है। मैं भारत की स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के माध्यम से मानव भ्रातृत्व के मिशन को साक्षात्कृत और हस्तगत करना चाहता हूं।"[2] महात्मा गांधी का यह दृढ़ विश्वास था कि मैं भारत की सेवा करने के साथ साथ सम्पूर्ण मानवता की सेवा कर रहा हूं। उन्होंने भारत के समग्र राजनीतिक आन्दोलन को सत्य और अहिंसा की आत्मिक शक्ति के ऊपर आधारित किया था। उनका मत था कि अहिंसा आन्दोलन ने भारत में अपनी उपयोगिता सिद्ध की सम्पूर्ण संसार पर उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। मैं लिखित और उच्चारित शब्द की अपेक्षा विचार शक्ति में अधिक आस्था रखता हूं। यदि इस आन्दोलन में जिसका मैं प्रतिनिधित्व करता हूं कुछ शक्ति है और उसे दैवी आशीर्वाद प्राप्त है तो वह मेरी भौतिक उपस्थिति के बिना ही संसार के विभिन्न भागों में व्याप्त हो जाएगा।[3] महात्मा गांधी को विश्व शान्ति की उत्कट कामना थी और उनकी दूरदर्शी दृष्टि ने इस बात को भली भांति देख लिया था कि मानव कुल की

---

१ निर्मल कुमार बोस— सेलेक्शन्स फ्राम गांधी पृ० ४३।

२ आर० के० प्रभु और यू० आर० राव— दी माइण्ड आफ महात्मा गांधी पृ० १६०।

३ आर० के० प्रभु और यू० आर० राव — दी माइण्ड आफ महात्मा गांधी पृ० १३१।

सहस्रों वर्ष व्यापी एतिहासिक जययात्रा का एकमात्र सच्चा और काम्य लक्ष्य अन्यो याश्रित राज्यों का विश्व सघ ही है 'विशाल राज्यों का लक्ष्य पृथक स्वतन्त्रता नहीं अपितु स्वेच्छित अन्तर्निर्भरता है। ससार के उन्नतमना व्यक्ति आज एक दूसरे से लडने वाले पूर्णत स्वतन्त्र राष्ट्रों की इच्छा नहीं करते प्रत्युत मित्रतापूर्ण एक दूसरे पर निर्भर राज्यों का सघ चाहते हैं।"[1] महात्मा गांधी ने विग्रह और अशान्ति से जर्जरित मानवता को सत्याग्रह की अपूर्व शक्ति से दुर्धर अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार करने की विलक्षण युक्ति प्रदान कर भविष्य के लिए एक नूतन आलोक-पथ का निर्देश किया।

१४७ महात्मा गांधी का राजनीति-दर्शन

महात्मा गांधी के राजनीति-दर्शन का स्वरूप—जब हम महात्मा गांधी के राजनीति दर्शन के सम्बन्ध में विचार करते हैं हमें यह प्रारम्भ से ही समझ लेना चाहिए कि वह शास्त्रीय अर्थों में राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने किसी राजनीति दर्शन का सांगोपांग और तर्क सम्मत निरूपण नहीं किया है। महात्मा गांधी प्रारम्भ से ही असली सुधारक और कर्मयोगी पुरुष थे। उनकी स्थिति प्राचीन काल के उन पैगम्बरों और समाज सुधारकों की भांति थी जिन्हें रोजमर्रा की व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था और जिन्होंने इसके लिए अपने आपको किन्हीं अपरिवर्तनीय प्रणालियों में न फंसाकर अपने अनुयायियों के लिए कतिपय नैतिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त स्थिर कर दिए थे। महात्मा गांधी अपने जीवन काल में यह बार बार कहा करते थे कि गांधीवाद जैसी कोई चीज मेरे दिमाग में नहीं है। मैं कोई सम्प्रदाय प्रवर्तक नहीं हूं। तत्त्वज्ञानी होने का मैंने कभी दावा भी नहीं किया है। मेरा यह प्रयत्न भी नहीं है।'[2] यह यह मानते थे कि मैंने किसी नए तत्त्व का आविष्कार नहीं किया है बल्कि सत्य को जैसा मैं जानता हूं उसी के अनुसार चलने का और लोगों को बताने का प्रयत्न करता हूं। हां! कतिपय प्राचीन सत्य सिद्धान्तों पर नया प्रकाश डालने का मैं दावा अवश्य करता हूं।'[3]

राजनीति दर्शन जीवन दर्शन का एक भाग—महात्मा गांधी सम्पूर्ण जीवन को एक इकाई मानते थे। उनके अनुसार जीवन को धार्मिक, राजनीतिक सामाजिक और नैतिक आदि विविध खण्डों में नहीं बांटा जा सकता। उनके लिए जीवन के सभी पहलू एक दूसरे के साथ जुड़े हुए थे। इसलिए महात्मा गांधी का राजनीति-दर्शन उनके जीवन-दर्शन का एक भाग था। निश्चय गांधी जी के राजनीति-दर्शन का समझने के लिए उनके जीवन दर्शन को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

---

१ आर० के० प्रभु और यू० आर० राव—"दी माइन्ड आफ महात्मा गांधी" पृ० १६१।

२ रामनाथ सुमन—"गांधीवाणी" पृ० २४३।

३ "यंग इण्डिया १४-८-२१, पृ० २६०।

गांधीजी का जीवन दर्शन—महात्मा गांधी ने एक बार श्री पोलक से कहा था "जिन धार्मिक व्यक्तियों से मैं मिला हूँ उनमें से अधिकांश छद्मवेश में राजनीतिज्ञ हैं। लेकिन मैं जिसने राजनीतिज्ञ का छद्मवेश धारण कर रखा है हृदय से धार्मिक व्यक्ति हूं।"[1] वस्तुतः महात्मा गाधी की सम्पूर्ण राजनीतिक विचारधारा उनके धार्मिक और नैतिक विश्वासों पर आधारित है।

(१) **ईश्वर और आत्मा सम्बन्धी मान्यता**—महात्मा गांधी का ईश्वर और आत्मा में अडिग विश्वास था। वह कहा करते थे कि "जिस व्यक्ति का ईश्वर और आत्मा में विश्वास नहीं है उसका पूर्णतम विकास असम्भव है।" वह इस बात को कहते हुए कभी नहीं थकते थे कि "ईश्वर में आस्था रखे बिना कोई व्यक्ति सच्चा सत्याग्रही नहीं हो सकता।"[2] महात्मा गांधी द्वारा प्रचारित सम्पूर्ण सत्याग्रह दर्शन इसी सिद्धान्त पर आश्रित है कि आत्मा सदैव अपराजेय है और सृष्टि के अधम से अधम प्राणी में कुछ न कुछ दैवी अंश विद्यमान है जो सदस्य और प्रेमपूर्ण व्यवहार के द्वारा अपने उत्कृष्टतम रूप में प्रकट हो सकता है।

(२) **सत्य**—महात्मा गांधी की दृष्टि में सत्य और ईश्वर पर्याय शब्द थे। उनके शब्दों में "संसार सत्य की सुदृढ़ नींव पर ठहरा हुआ है। असत्य का अर्थ असत् अर्थात् (अभाव) न रहना है और सत्य का अर्थ है सत् भाव जो है। जब असत्य का भाव अर्थात् अस्तित्व ही नहीं तब उसकी विजय का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता। और सत्य का तो अर्थ ही है वह जो है (जिसका अस्तित्व है) इसलिए उसका नाश नहीं हो सकता है।"[3] गांधीजी सत्य का अत्यन्त विशद अर्थ करते थे। उनकी दृष्टि में सत्य का अभिप्राय था मनसा वाचा कर्मणा सत्य का आचरण। वह सत्य को राजनीति सहित जीवन के समस्त क्षेत्रों में समाविष्ट मानते थे।

(३) **अहिंसा**—गांधीजी के अनुसार सत्य के आदर्श को प्राप्त करने के लिए अहिंसा साधन थी। अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है न मारना परन्तु गांधीजी सत्य की भांति इस शब्द को व्यापक रूप में ग्रहण करते थे। उनके अनुसार जब कोई आदमी अहिंसक होने का दावा करता है तो उससे आशा की जाती है कि वह उस आदमी पर भी क्रोध नहीं करेगा जिसने उसे चोट पहुंचाई हो। वह उसकी कोई बुराई नहीं चाहेगा वह उसकी कल्याण कामना करेगा वह गलती करने वाले द्वारा दी जाने वाली सब प्रकार की यन्त्रणा सहन करेगा पूर्ण अहिंसा समस्त जीवधारियों के प्रति दुर्भावना का पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियों यहां तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों तक का आलिंगन करती है।[4]

---

१ स्पीचेज एण्ड राइटिंग्ज ऑफ महात्मा गांधी (जी० ए० नेटसन मद्रास १९२२) एपेंडिक्स' पृ० ४०।

२ हरिजन—जून ३ ३९ पृ० १४६।

३ सी० एफ० एंड्रूज— महात्मा गांधी हिज ओन स्टोरी', पृ० २२५।

४ रामनाथ सुमन— गांधीवाणी पृ० १७।

महात्मा गांधी के राजनीति दर्शन के मूल तत्व (१) धार्मिक तथा नैतिक आधार—ऊपर महात्मा गांधी के राजनीति दर्शन के स्वरूप जीवन-दर्शन नैतिक और धार्मिक विश्वासों का जो संक्षिप्त विवेचन किया गया है उससे उनके राजनीति-दर्शन के मूल तत्वों का सुगमतापूर्वक विश्लेषण किया जा सकता है। महात्मा गांधी के राजनीति-दर्शन की सबसे प्रमुख विशेषता उनके धार्मिक आधार में दिखाई देती है। जफरसन की भांति महात्मा गांधी भी राजनीति को धार्मिक आधार-भूमि पर आश्रित करना चाहते थे। उनके लिए धर्म और नैतिकता से शून्य राजनीति का कोई महत्व नहीं था। उनके अनुसार धर्महीन राजनीति में कोई चीज नहीं। राजनीति धर्म की अनुचरी है। धर्महीन राजनीति को एक फांसी ही समझिए। वह आत्मा का नाश कर देती है।[1] महात्मा जी यदि राजनीति में भाग लेते थे तो इसलिए कि उसने हमारे जीवन को चारों ओर से ऐसा परावृत कर रखा है कि हम उससे बचकर नहीं निकल सकते। गांधीजी धर्म को किसी सम्प्रदाय विशेष से एकान्वित नहीं करते थे। उनका धर्म तो वह धर्म था जो सब धर्मों के मूल में विद्यमान है जो व्यक्ति को ऊंचा उठाता है उसे पवित्रता की शिक्षा देता है। गांधी जी का धर्म निष्क्रिय जगत और माया प्रेरक वाला धर्म न होकर संसार के शोषितों दलितों और दुखियों की सेवा करने वाला धर्म था।

(२) साध्य और साधन का सम्बन्ध—चूंकि महात्मा गांधी का राजनीति-दर्शन धार्मिक आधार भूमि पर स्थित था इसलिए उनकी राजनीति पद्धति में हिंसा को कोई स्थान नहीं था। उनका विश्वास था कि श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधनों का प्रयोग आवश्यक है। वह कौटिल्य और मैकियावेली के समान श्रेष्ठ साध्यों की प्राप्ति के लिए बुरे साधनों का उपयोग ठीक नहीं समझते थे।

(३) व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध—महात्मा गांधी व्यक्ति और समाज में कोई विरोध न मानते थे। उनका कहना था कि मनुष्य मानव-समाज का मूल है, स्वतन्त्रता और प्रगति का मापदण्ड है। वह इस सिद्धान्त में विश्वास रखते थे कि समाज के बिना मनुष्य अपना सर्वांगीण विकास नहीं कर सकता। महात्माजी के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि वह अपने ऊपर समाज के ऋण को स्वीकार करे और अपने भाइयों की सेवा द्वारा उसे चुकाने में प्रवृत्त हो।

(४) आदर्शों की व्यावहारिकता—महात्मा गांधी का राजनीति-दर्शन केवल कल्पना-लोक की वस्तु नहीं है यद्यपि वह प्लेटो के तुल्य बड़े आदर्शवादी थे और राम-राज्य का स्वप्न देखा करते थे फिर भी उनके राजनीति-दर्शन के व्यावहारिक होने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका और भारत में अपने राजनीति-दर्शन का सफलतापूर्वक उपयोग कर उसकी क्रियात्मकता भली प्रकार सिद्ध कर दी। उनके लिए प्रत्येक सिद्धान्त उस समय तक निष्प्रयोजन था जब तक कि उस पर आचरण नहीं किया जा सकता। महात्माजी का यह दावा था कि मेरा राजनीति दर्शन केवल कुछ लोगों के लिए न होकर सम्पूर्ण संसार के लिए है।

१ रामनाथ सुमन— गांधीवाणी, पृ० २२३।

(५) स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा—महात्मा गांधी स्वतन्त्रता के एकनिष्ठ साधक थे। उनके अनुसार स्वतन्त्रता का वास्तविक प्रयोजन जीवन का सर्वांगीण अभ्युत्थान करना है। उनकी दृष्टि में सच्ची स्वतन्त्रता में राजनीतिक आर्थिक और नैतिक तीनों प्रकार की स्वतन्त्रताएं समाविष्ट हैं। स्वतन्त्रता के इन तीनों पहलुओं का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा था "राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि देश पर ब्रिटिश सेनाओं का किसी भी रूप में कोई शासन न रहे। आर्थिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय ब्रिटिश पूंजीपतियों और ब्रिटिश पूंजी के साथ ही उनके प्रतिरूप भारतीय पूंजीपतियों और भारतीय पूंजी से पूर्ण छुटकारा पाना है। दूसरे शब्दों में छोटे से छोटे आदमी को भी यह अनुभव करना है कि वह बड़े से बड़े आदमी के बराबर है। नैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ देश की सुरक्षा के लिए रखी गई सशस्त्र सेनाओं से छुटकारा पाना है। रामराज्य की मेरी कल्पना में ब्रिटिश फौजी हुकूमत की जगह राष्ट्रीय फौजी हुकूमत को बिठा देने की गुंजाइश नहीं।"[1] महात्मा गांधी की स्वराज्य कल्पना अत्यन्त उदात्त थी। अपने सपनों के भारत का चित्र खींचते हुए उन्होंने लिखा था "स्वराज्य में राजा से लेकर रंक तक का एक भी अंग अविकसित रहे, ऐसा नहीं होना चाहिए। उसमें कोई किसी का शत्रु न हो, सब अपना अपना काम करें, कोई निरक्षर न रहे, उत्तरोत्तर सबके ज्ञान की वृद्धि होती जाये, सारी प्रजा को कम से कम बीमारियां हों, कोई भी दरिद्र न हो, परिश्रम करने वाले को बराबर काम मिलता रहे, उसमें जुआ, चोरी, मद्यपान और व्यभिचार न हो, वर्ग विग्रह न हो, धनिक अपने धन का विवेक पूर्वक उपभोग करें। यह नहीं होना चाहिए कि मुट्ठी भर धनिक मीनाकारी के महलों में रहें और हजारों अथवा लाखों लोग हवा और प्रकाश रहित कोठरियों में।"[2]

लोकतन्त्र सम्बन्धी धारणा—महात्मा गांधी स्वभाव से ही लोकतन्त्रवादी थे। उनकी लोकतन्त्र सम्बन्धी धारणा में तीन बातें विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। प्रथमतः महात्मा गांधी केन्द्रीयकरण और लोकतन्त्र को एक दूसरे का विरोधी मानते थे। उनका विश्वास था कि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए राजकीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। दूसरे गांधीजी के अनुसार लोकतन्त्र और हिंसा का साथ साथ निर्वाह नहीं हो सकता। उन्होंने लिखा था "लोकतन्त्र बलप्रयोग वाले उपायों द्वारा विकसित नहीं हो सकता। लोकतन्त्र की भावना बाहर से नहीं लादी जा सकती। वह तो भीतर से आती है।"[3] चूंकि भारत घरेलू क्षेत्र में और सैनिक पर वैदेशिक क्षेत्र में हिंसक है अतः वह सच्चा लोकतन्त्रात्मक देश नहीं है। गांधीजी का विचार था कि पश्चिमी देशों के जनतन्त्र केवल तथाकथित ही कहे गये हैं। इनमें ठीक जनतन्त्र के नमूने के कुछ कीटाणु व तत्व अवश्य हैं, लेकिन वह सच्चे अर्थों में जनतन्त्र तभी हो सकता

---

१ रामनाथ सुमन— 'गांधीवाणी' पृ० १८५–१८६।
२ 'हरिजन सेवक १८-१२-३९' पृ० ६।
३ निर्मलकुमार बोस— सलेक्शन्स फ्रॉम गांधी पृ० ४२।

है जब हिंसारहित हो जायगा और इसमें से बदग्रमली व खुराफात अदृश्य हो जायेंगे।[1] तीसरे गांधीजी के मतानुसार—आलोचन प्रत्यालोचन लोकतंत्र का प्राणतत्व है। उनकी लोकतन्त्र सम्बन्धी धारणा में समाज के प्रत्येक सदस्य को शासन की आलोचना करने का अधिकार है।

राज्य सम्बन्धी धारणा—महात्मा गांधी ने अपनी रचनाओं में अहिंसक राज्य की रूपरेखा पर विस्तृत प्रकाश नहीं डाला है। इस सम्बन्ध में वह कार्डिनल न्यूमन की *One step enough for me* उक्ति के उपासक थे। फिर भी हम उनके विभिन्न भाषणों, वक्तव्यों और लेखों के अनुशीलन द्वारा उनकी राज्य सम्बन्धी धारणा का थोड़ा सा परिचय पा सकते हैं।

अहिंसा के देवदूत महात्मा गांधी के लिए हिंसा के प्रतीक राज्य को विकृत की दृष्टि से देखना सर्वथा स्वाभाविक था। उनका विश्वास था कि राज्य का स्वभाव कानून की प्रवृत्ति नैतिकता की दृष्टि से घातक है क्योंकि कोई भी ऐसा कृत्य जो ऐच्छिक नहीं है नैतिक नहीं कहा जा सकता। महात्माजी के विचार में आदर्श समाज व्यवस्था राज्य विहीन लोकतन्त्र है। 'ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक है। वह अपना शासन इस तरह करता है कि अपने पड़ोसी के लिए कभी विघ्न नहीं बनता।'[2] गांधीजी की आदर्श समाज व्यवस्था में ग्राम संघ तथा ग्राम समाज दोनों ही ऐच्छिक आधार पर संगठित होंगे। ऐसी समाज व्यवस्था में राजकीय शक्ति विकेन्द्रित रहेगी।

गांधीजी राज्य को स्वयं ही एक साध्य न मानकर जनता की अधिकतम कल्याण-साधना का एक उपाय मानते थे। वे हीगल की इस मान्यता के विरुद्ध थे कि राज्य मानवीय संगठन का अन्तिम लक्ष्य है अतः वह ही एक साध्य है और नैतिकता अनैतिकता की भावना से ऊपर है। उनकी दृष्टि में तो राज्य जनता की कल्याण साधना के लिए बहुत से साधनों में से एक साधन था। गांधीजी बहुलवादियों और अराजकतावादियों की भांति राज्य के निरंकुश प्रभुत्व सिद्धान्त का प्रतिवाद करते थे। उनका विशुद्ध नैतिक आधार पर आधारित जनता के प्रभुत्व में विश्वास था। गांधीजी का यह मत था कि व्यक्ति को राज्य के आदेश उसी समय तक मानने चाहिए जब तक कि वे उचित और न्यायपूर्ण हों।

महात्मा गांधी राज्य के कार्यक्षेत्र को न्यूनतम रखने के पक्षपाती थे। उनके अनुसार स्वराज्य का अर्थ सरकार के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने का अनवरत प्रयास है।[3] उनके मत में राज्य के अधिकांश कृत्य ऐच्छिक समुदायों द्वारा सम्पादित होने चाहिए। गांधीजी का कहना था कि अहिंसक राज्य के लिए विदेशी आक्रमणों का सामना भी जहाँ तक हो सके अहिंसक रीति से ही करना वांछनीय है।

---

१ हरिजन सेवक -६- ८ पृ० २२८।

२ प्रो० जी० एन० धावन—पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गांधी में उद्धृत पृ० २६६-२६७।

३ यंग इंडिया (२) पृ० १६०

महात्मा गांधी और विश्व शान्ति—आधुनिक युग की सबसे बड़ी समस्या शांति की समस्या है। अब यह विश्वास दिन प्रति दिन बल पकड़ता जा रहा है कि यदि मनुष्य ने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को युद्ध के द्वारा सुलझाना नहीं त्यागा तो सम्पूर्ण मानव संस्कृति और मानव जाति का विनाश हो जाएगा। विश्व शांति के सम्बन्ध में गांधीजी का विचार था कि अब तक मनुष्य ने अपनी सामूहिक समस्याओं को गलत आधार पर हिंसा घृणा द्वेष और विग्रह आदि के द्वारा सुलझाने का प्रयास किया है। उनका मत था कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक राजनीतिक हो या आर्थिक बुराई का परिहार बुराई से नहीं किया जा सकता ठीक उसी तरह से जैसे कि शैतान शैतान को नहीं हटा सकता। गांधीजी कहा करते थे कि आज की अव्यवस्था का मूल कारण मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में सामंजस्य का न होना है। उनके अनुसार विश्व शान्ति की समस्या का स्थायी हल तभी निकल सकता है जबकि मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में सन्तुलन स्थापित हो जाए। वे नैतिक मापदण्ड जो मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का नियमन करते हैं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी प्रयुक्त किए जाने चाहिए। यदि व्यक्तिगत जीवन में कोई मनुष्य छल कपट और हिंसा आदि आसुरी वृत्तियों का आश्रय लेता है तो वह निन्दा का पात्र माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी ऐसा ही क्यों न हो? गांधीजी के मत से अहिंसा और सत्य के सिद्धान्त व्यक्तिगत आचरण के ही सिद्धान्त न बनकर समुदायों और राष्ट्रों के आचरण के सिद्धान्त बनने चाहिएं।

मनुष्य ने अपनी युग युग व्यापी जययात्रा में अत्याचार और अन्याय का सामना करने के लिए अब तक हिंसा और घृणा और युद्ध का ही सहारा ढूंढना सीखा है। महात्मा गांधी ने संसार को अन्याय और अत्याचार का सामना करने के लिए सत्याग्रह के रूप में एक अभिनव पद्धति का सफलतापूर्वक प्रयोग कर इसकी व्यावहारिक उपयोगिता को भली भांति सिद्ध कर दिया।

महात्मा गांधी का आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक कार्यक्रम भी विश्व-शान्ति का साधक है। आर्थिक क्षेत्र में गांधीजी विकेन्द्रित उद्योगों के पक्षपाती थे यदि उद्योगों का पूंजीवादी आधार पर केन्द्रीकरण होता है तो इससे शोषण और साम्राज्यवाद बढ़ता है। यदि उद्योगों का साम्यवादी आधार पर केन्द्रीकरण किया जाता है तो इससे नौकरशाही बढ़ती है। ऐसी स्थिति में गांधीजी का विकेन्द्रीकरण सिद्धान्त शान्ति की दृष्टि से सर्वथा श्रेयस्कर है। सामाजिक क्षेत्र में गांधीजी ने ऊंच और नीच के समस्त भेदभाव हटाकर शान्ति की सराहनीय साधना की है। राजनीतिक क्षेत्र में गांधी लोकतन्त्र के समर्थक थे। लेकिन उनके लोकतन्त्र में स्थानीय स्वायत्तता का बड़ा महत्त्व है। संक्षेपतः साधनों के अत्यधिक मान अहिंसा और सत्य के आधार पर सामूहिक और राजनीतिक जीवन में नैतिकता का पुट देकर विवादों का हल करने के लिए सत्याग्रह को अपनाकर शोषण से उन्मुक्त प्रादेशिक अर्थतन्त्र तथा विकेन्द्रित उद्योगों के ऊपर अवलम्बित रचनात्मक कार्यक्रम ग्राम पंचायतों के

माध्यम से स्वस्थ और शक्तिशाली स्थानीय स्वशासन तथा सबसे बढ़कर उपयोगी कार्य में निरत व्यक्ति व समाज के योगयुक्त जीवन के द्वारा महात्मा गांधी नैतिक सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक जीवन में सामंजस्य तथा संश्लेषण लाना, प्रभावशाली लोकतन्त्र की स्थापना करना और विश्वशान्ति की साधना करना चाहते हैं।[1]

क्या गांधीजी का राजनीति-दर्शन क्रान्तिकारी है?—महात्मा गांधी के राजनीति दर्शन पर समाजवादी और साम्यवादी तुल्य वाम पक्षीय आलोचकों ने यह बार-बार आक्षेप किया है वह सुधारवादी है प्रतिक्रियावादी है और क्रान्ति का विरोधी है। गांधीजी के राजनीति-दर्शन का निष्पक्ष मूल्यांकन इस आक्षेप को निराधार सिद्ध करता है। उनके राजनीति दर्शन के क्रान्तिकारी स्वरूप का निर्णय करने से पूर्व क्रान्ति शब्द पर विचार कर लेना वाञ्छनीय है। क्रान्ति का सर्वसम्मत अर्थ पूर्ण अथवा मौलिक परिवर्तन है। क्रान्ति के लिए यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि परिवर्तन हिंसक और रक्तिम ही हो। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में क्रान्ति का अभिप्राय यह होता है कि प्राचीन जीर्णशीर्ण मान्यताएं ध्वस्त हो जाएं और उनका स्थान नूतन उच्चतर नैतिक मान्यताएं ग्रहण करें। गांधीजी का राजनीति-दर्शन इस कसौटी पर परख जाने पर असंदिग्ध रूप से क्रान्तिकारी ठहरता है। यदि हम क्रान्तिकारी से किसी ऐसी वस्तु का अभिप्राय ग्रहण करें जो जनता के दृष्टिकोण में युगान्तर लाती है जनता की परिवर्तित मनःस्थिति और मान्यताओं का नूतन मूल्यांकन करती है तो गांधीजी द्वारा प्रतिपादित विचार व्यापकतम अर्थों में क्रान्तिकारी हैं।[2] कहा जा सकता है। कि गांधी के विचार मौलिक तो हैं नहीं पुराने ही हैं फिर वे क्रान्तिकारी कैसे हुए? इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि विचारों के क्रान्तिकारी होने के लिए उनका मौलिक होना अनिवार्य है। क्रान्ति की सच्ची कसौटी विचारों द्वारा लाए गए परिवर्तन की विशेषता है। इस दृष्टि से महात्मा गांधी ने विचार-दर्शन में जो क्रान्ति उत्पन्न की है वह सर्वथा अभूतपूर्व है। इसका प्रभाव भारत तक ही सीमित रहने वाला नहीं है वह दूसरे देशों को भी अपनी ओर निश्चित आकृष्ट करेगा। महात्मा गांधी की संसार के राजनीति दर्शन को देन यह नहीं है कि उन्होंने किन्हीं नए सत्यों का आविष्कार किया प्रत्युत यह है कि *उन्होंने प्राचीन सत्यों का अपने युग की समस्याओं के समाधान में प्रयोग* किया। गांधीजी के सर्वोदय तत्त्व दर्शन का एक व्यावहारिक प्रयोग आचार्य विनोबा भावे के भूदान-यज्ञ आन्दोलन में दिखाई देता है। भूदान यज्ञ आन्दोलन ने अब तक जो सफलता प्राप्त की है इससे उसकी भावी सम्भावनाएं अत्यन्त आशापूर्ण प्रतीत

1 आचार्य जे बी कृपलानी—गांधीयन रिलिजन एंड वर्ल्ड पीस (दी हिन्दुस्तान टाइम्स जनवरी ८ १९५३)

2 डा० ए के आचार्य—गांधीयन पॉलिटिकल फिलासफी इन इट रिवोल्यूशनरी ? वॉल्यूम १०, नं० १ तथा २ पृ ३०।

होती है। वह देश में एक अहिंसक क्रान्ति का पथ प्रशस्त कर रहा है। यदि उसे अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता मिल जाती है तो गांधी दर्शन मानवता के लिए अनुपम क्रांतिकारी सिद्ध होगा।

१४८ गांधीवाद और मार्क्सवाद : एक तुलनात्मक विवेचन

कभी कभी यह समझा जाता है कि गांधीवाद और मार्क्सवाद में कोई आधारभूत भेद नहीं है, दोनों जुड़वां भाई हैं, दोनों के चरम उद्देश्य एक हैं। यदि दोनों में थोड़ा सा अन्तर है भी तो वह केवल साधन प्रणाली का है। लेकिन उसे किसी भी प्रकार आधारभूत नहीं कहा जा सकता। इस मत के प्रतिवादकों का कहना है कि हिंसा और अहिंसा के बीच भेद की रेखा अत्यन्त सूक्ष्म है क्योंकि महात्मा गांधी ने स्वयं यह लिखा था कि 'जहां सिर्फ कायरता और हिंसा के बीच किसी एक के चुनाव की बात हो वहां मैं हिंसा के पक्ष में राय दूंगा।'[1] गांधीवाद और मार्क्सवाद के सम्बन्ध में इस प्रकार का मत विभ्रम दुर्भाग्यपूर्ण है। यह ठीक है कि दोनों के आदर्शों में थोड़ी सी समानता दिखाई पड़ती है और वह यह है कि दोनों ही समाज के दलितों और शोषितों के प्रति अत्यधिक सदय हैं। दोनों ही एक ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण न हो सके और सबको बिना किसी भेदभाव के अपने विकास की समान सुविधाएं उपलब्ध हो सकें। इस सामान्य आदर्श को छोड़कर दोनों में अन्य कोई समानता नहीं है। आवश्यक है कि दोनों के दृष्टिकोण का सही मूल्यांकन किया जाए। गांधी दर्शन के प्रकाण्ड पंडित श्री किशोरलाल मशरूवाला ने अपनी कृति 'गांधी एण्ड मार्क्स' में गांधीवाद और साम्यवाद के दृष्टिभेद का तुलनात्मक विवेचन करते हुए लिखा है कि 'गांधीवाद और साम्यवाद एक दूसरे से इतने ही भिन्न हैं जैसे कि चाक से हीरा भिन्न होता है यद्यपि हम जानते हैं कि आँख के उस रोगी को जिसे रंगभेद की पहचान न होती, दोनों समान प्रतीत हो सकते हैं।'[2] उक्त पुस्तक की भूमिका गांधीजी के प्रमुख शिष्य आचार्य विनोबा भावे ने लिखी है। उन्होंने भी गांधीवाद और साम्यवाद में दृष्टिभेद पर ऐसा ही मत व्यक्त किया है। उनके शब्दों में 'दोनों विचार धाराएँ भेदक हैं, उनका अन्तर मूलभूत है और दोनों एक दूसरे की कट्टर विरोधी हैं।'[3]

दार्शनिक आधार—मार्क्सवाद का दार्शनिक आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है। वह थीसिस, एण्टीथीसिस और सिन्थीसिस की पद्धति पर आधारित है। [illegible] भौतिकवाद के अनुसार जगत का जो कुछ कार्य व्यापार [illegible] यान्त्रिक होता है, वह आत्मा, परमात्मा जैसी किसी चेतन सत्ता को स्वीकारता नहीं है। उसका विश्वास है कि भौतिक पदार्थ ही वह आदिम बीज सत्ता है—

---

१ यंग इण्डिया, ११ अगस्त २०, पृ ३।
२ किशोरलाल मशरूवाला— गांधी एण्ड मार्क्स, पृ ३८।
३ किशोरलाल मशरूवाला— गांधी एण्ड मार्क्स, पृ० १६-१७।

जिसका रूपान्तर यह दृश्यमान जगत है। आचार्य नरेन्द्रदेव की भाषा में मार्क्स-वादी दर्शन जड़ और चेतन की पृथक-पृथक स्वतन्त्र सत्ता (द्वैतवाद) नहीं मानता। वह बतलाता है कि आदिम अवस्था से अब तक पदार्थ का जो रूपान्तर हुआ है उसके क्रम से ही अवस्था विशेष में चेतन का प्रादुर्भाव होता है अर्थात् चेतना विकासमान पदार्थ का एक गुण है।[1]

गांधीवाद इससे बिलकुल उल्टा है। वह सृष्टि के नियन्ता परमेश्वर में और आत्मा की परमश्रेष्ठता में आस्था रखता है। गांधीजी का कहना था कि 'जो लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करना नहीं चाहते वे अपने शरीर के सिवा और किसी वस्तु के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते।'[2] अथवा 'मेरा अपना अनुभव तो मुझे इसी ज्ञान पर ले जाता है कि जिसके नियमानुसार सारे विश्व का संचालन होता है, उस शाश्वत नियम में अटल विश्वास रखे बिना पूर्णतम जीवन सम्भव नहीं है। इस विश्वास से विहीन व्यक्ति तो समुद्र से अलग जा पड़ने वाली उस बूँद के समान है जो नष्ट होकर ही रहता है।'[3] मार्क्सवाद जहाँ चेतना को पदार्थ की छाया मानता है वहाँ गांधीवाद पदार्थ को चेतना की छाया मानता है। गांधीजी के अनुसार 'मूल भूत सिद्धान्त पदार्थ नहीं चेतना है। जिसे हम प्राणहीन पदार्थ कहते हैं वह भी चेतना में और चेतना के द्वारा ही अपनी सत्ता रखता है। उसकी चेतना से स्वतन्त्र किंचिदपि कोई सत्ता नहीं है। सृष्टि चेतना से उत्पन्न होती है, चेतना में विद्यमान रहती है और चेतना में अदृश्य होती है।'[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ मार्क्सवाद प्रधानतः भौतिकवादी है वहाँ गांधीवाद प्रधानतः अध्यात्मवादी है।

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त—मार्क्सवादी दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त है। मार्क्सवाद वर्गों का उल्लेख समाज में प्रचलित उन उत्पादन सम्बन्धों को ध्यान में रखकर करता है जिन पर समाज की आर्थिक प्रणाली आश्रित होती है। बुखारिन के शब्दों में 'सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का समूह है जो सामाजिक उत्पादन में एक प्रकार का कार्य करते हैं और उत्पादन के क्रम में बने हुए दूसरे व्यक्तियों के साथ उनका सम्बन्ध भी एक सा ही होता है। यह एक-सा सम्बन्ध उत्पादन के साधनों के सम्बन्ध में भी लागू होता है।'[5] मार्क्सवाद के अनुसार साधारण रूप से हर समाज में दो ही वर्ग होते हैं—एक वे लोग जिनका स्थान समाज में

---

१ आचार्य नरेन्द्रदेव—राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ० ४६३।
२ हरिजन सेवक, १३ जून '३६, पृ० १३२।
३ हरिजन सेवक, २५ अप्रैल, १९३६, पृ० ७६।
४ किशोरलाल मशरूवाला—गांधी एवं मार्क्स, पृ० ४१, ४८।
५ बुखारिन—हिस्टॉरिकल मैटीरियलिज्म, आचार्य नरेन्द्रदेव कृत राष्ट्रीयता और समाजवाद में उद्धृत, पृ० ४१६।

मालिकों का होता है और जो उत्पादन साधनों पर एकच्छत्र आधिपत्य का उपभोग करते हैं हैं दूसरे ये लोग जिनका काय आदेश-पालन करना ही होता है और जो प्रथमोक्त वग द्वारा नाना प्रकार से शोषित होते हैं। इन दोनों वर्गों के हित एक दूसरे से सवथा भिन्न हैं और उनमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनवरत सघष जारी रहता है। मार्क्सवाद मानव विकास के सम्पूर्ण इतिहास को इसी वग सघष की गाथा मानता है। प्राचीन काल में ये विरोधी वग स्वत त्र मालिक और दास के रूप में थे, मध्यकाल में सामन्तगण और कृषक दास के रूप में थे और आज कल पूजीपति व श्रमिकों के रूप में दिखाई पड़ते हैं। वसे तो समाज में इन आधारभूत वर्गों के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के वग भी पाए जाते हैं परन्तु इन व र्गों के हित व मनोवृत्ति इन्हीं आधारभूत वर्गों में से किसी एक के साथ सम्बद्ध होते हैं। मार्क्सवाद उन समस्त साधनों के उपयोग का कट्टर समर्थक है जिनके द्वारा वग सघष को उत्तेजना मिलती है। जो वरन वग सघष की आग पर पानी डालने के मार्क्सवाद उन्हें प्रतिक्रियावादी ठहराता है।

गांधीवाद वग सघष का नहीं प्रत्युत वग सामजस्य का पुजारी है वह समाज को स्थायी रूप से दो परस्पर विरोधी वर्गों में विभाजित नहीं मानता। गांधी जी के सर्वोदय आदश में पूजीपतियों और श्रमिकों दोनों के हितों के सरक्षण और विकास की समान व्यवस्था है। गांधीजी जिस रामराज्य का स्वप्न देखते थे उसमें वह राजाओं और भिखारियों दोनों के अधिकारों की रक्षा की बात कहते थे। वह ऊंचे और नीचे वर्गों की समस्या को वर्णाश्रम धम के द्वारा सुलझाना चाहते थे। पूजीपतियों और श्रमिकों में समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से गांधीजी कहा करते थे "पूजीपतियों और श्रमिकों को एक दूसरे का पूरक बन जाना चाहिए। उन्हें एक एसे विशाल परिवार के समान होना चाहिये जिसमें वे एकता और सामजस्य के साथ निवास कर सकें।[1] उनका मत था कि मैं किसी एसे समय की कल्पना नहीं कर सकता जिसमें एक व्यक्ति दूसरे से अधिक धनी नहीं होगा। लेकिन मैं एसे समय की कल्पना अवश्य करता हू जब अमीर आदमी गरीबों का शोषण कर अमीर बनने से घृणा करेंगे और गरीब आदमी अमीरों से घृणा करनी बन्द कर देंगे।[2] महात्माजी पूंजीपतियों का नहीं पूजीवाद का ही विध्वंस चाहते थे। पूजीपतियों के लिए परामर्श था कि आपको श्रमिकों का ट्रस्टी बन जाना चाहिए अथवा आचाय विनोबा भावे की शब्दावली में विश्वस्त वृत्ति से काम लेना चाहिए।

साधन प्रणाली का भेद—गांधीवाद और मार्क्सवाद में एक प्रधान अन्तर साधन प्रणाली के भेद को लेकर है। मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार यदि हमारे साध्य श्रेष्ठ हैं तो हम उनको प्राप्त करने के लिए कसे भी साधनों का प्रयोग क्यों न करें सब क्षम्य हैं। यही कारण है कि मार्क्सवाद के अनुयायी अपने आदर्शों की सिद्धि

---

१ यंग इण्डिया १९२० अगस्त २५ पृ० २८१।
२ यंग इण्डिया १९२१ जुलाई, २१' पृ० २२८।

के लिए छल, असत्य और हिंसा आदि बुरे समझे जाने वाले उपायों का आश्रय लेना भी अवांछनीय नहीं समझते। वैसे तो मार्क्सवादी अपने उद्देश्य लाभ के लिए शान्तिपूर्ण और वैधानिक कार्यवाहियों का भी सर्वथा तिरस्कार नहीं करते परन्तु उनका विश्वास है कि सत्ता च्युत पूँजीपति वर्ग की क्रान्ति विरोधी प्रतिक्रियावादी हलचलों को नष्ट करने के लिए किसी न किसी स्तर पर रक्तपात और हिंसा का उपयोग अवश्यम्भावी है।

गांधीवाद श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधनों का पक्षपाती है। वह अहिंसा तथा सत्य का एकनिष्ठ पुजारी है और अपने कट्टर से कट्टर शत्रु के प्रति भी सदय व्यवहार का समर्थन करता है। चूँकि गांधीवाद की धारणा है कि सृष्टि के प्रत्येक जीव में ईश्वर का अंश है इसलिए वह मनुष्य के हृदय परिवर्तन में आस्था रखता है। गांधीजी का मत था कि उनके सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का सर्वत्र सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। वह कहा करते थे कि हिंसा के ऊपर किसी भी स्थायी वस्तु का निर्माण नहीं किया जा सकता।[1]

लोकतन्त्र की धारणा—मार्क्सवादी विद्वान् लोकतन्त्र के सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हैं। उनके मत से यह एक विशुद्ध पूँजीवादी धारणा है जिसका सर्वहारा वर्ग के लिए कोई उपयोग नहीं है। ट्राटस्की ने लिखा था—"लोकतन्त्र एक निकम्मा और निराधार स्वांग है। हम सर्वहारा वर्ग के नाम में इसका प्रतिकार करते हैं। शासन में केवल बहुमत प्राप्त करने का नारा बिलकुल बेकार है।"[2] मार्क्सवाद के अनुयायी 'लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद' (D mocratic Centralism) के सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं। वे अपने विरोधियों को नागरिक एवं लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रताएं प्रदान करने के लिए तनिक भी प्रस्तुत नहीं हैं। मार्क्सवादी अपने दल की सुविधा व विचार से चुनाव में भाग लेते हैं। स्टालिन के शब्दों में "कौन और कहाँ यह कहता है कि संसदीय संघर्ष ही मजदूरों का मुख्य संघर्ष है? क्या इतिहास यह सिद्ध नहीं करता कि उस केवल एक सहायक रूप में हमारी क्रान्ति की साधन है और मजदूरों की समस्याएं हड़ताल व सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा ही हल हो सकती हैं?"[3] मार्क्सवादी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को उस समय तक कोई महत्त्व नहीं देते जब तक कि उसके साथ आर्थिक सुरक्षा सम्पृक्त न हो।

महात्मा गांधी जन्मजात लोकतन्त्रवादी थे। उनका मत था कि असली लोक-

---

1 यंग इण्डिया, १५ नवम्बर १९२८' पृ० ३८१।

2 एस एन अग्रवाल द्वारा— गांधीज्म एण्ड कम्यूनिज्म, लेख में उद्धृत माडर्न रिव्यू नवम्बर, १९५२' पृ० ३५८।

3 स्टालिन— प्रोब्लेम्स ऑफ लेनिनिज्म", पृ० २१

तन्त्र तो अहिंसा से ही प्राप्त हो सकता है।[1] वह लोकतन्त्रात्मक धारणाओं को व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए अत्यावश्यक मानते थे। उनका कहना था कि लोकतन्त्र और वयक्तिक स्वतन्त्रता के अभाव में रामराज्य की स्थापना असम्भव है। गांधीजी की आदर्श समाज व्यवस्था में छोटे से छोटे व्यक्ति को महान से महान व्यक्ति की उन्मुक्त आलोचना करने का अधिकार प्राप्त था। गांधीजी प्रत्येक मनुष्य के लिए आर्थिक सुरक्षा को बहुत आवश्यक स्वीकार करते थे परन्तु उसकी वेदी पर वयक्तिक स्वतन्त्रता का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं।

केन्द्रीकरण विकेन्द्रीकरण—मार्क्सवाद सर्वाधिकारवादी राज्य की मान्यता पर आधारित है। यह सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का प्रतिपादन करता है। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद में प्रशासनिक और औद्योगिक शक्तियों का अधिकाधिक केन्द्रोन्मुखी होना स्वाभाविक है। मार्क्सवाद का अन्तिम ध्येय राज्यविहीन समाज की स्थापना करना है पर इतना उन्नत केन्द्रोन्मुखी राज्य जैसा आज रूस में देखा जा रहा है कैसे तिरोहित हो जाएगा यह बात हमारी समझ में नहीं आता।

गांधीवाद विकेन्द्रीकरण का प्रतिपादन करता है। गांधी जी केन्द्रीकरण और लोकतन्त्र को एक दूसरे के बिलकुल प्रतिकूल मानते थे। उनका कहना था कि केन्द्रीकरण से हिंसा और सर्वाधिकारवाद को प्रोत्साहन मिलता है। यही कारण था कि महात्मा गांधी बड़े बड़े उद्योगों मशीनों और केन्द्रोन्मुखी राजसत्ता के विरोधी थे। रूस में जिस विशाल पैमाने पर औद्योगीकरण और केन्द्रीकरण हुआ वह गांधीजी को इष्ट नहीं था। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था जब मैं रूस की ओर देखता हूँ जहाँ औद्योगीकरण अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया है, तब मुझे वहाँ का जीवन प्रभावित नहीं करता। बाइबिल की भाषा में यदि मनुष्य अपनी आत्मा को खोकर संसार को प्राप्त कर ले तो उसे क्या लाभ होगा।[2] गांधीजी अधिक से अधिक आत्मनिर्भरता और विकेन्द्रित राजसत्ता सहित ग्राम पंचायतों की स्थापना का समर्थन करते थे। उनका विश्वास था कि सर्वश्रेष्ठ शासन तो वही है जो न्यूनतम शासन करता है।

१४९ भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन को महात्मा गांधी की देन

भारतीय राष्ट्रवाद के प्रतीक—१९१९ के पश्चात् भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन का इतिहास महात्मा गांधी की जीवन गाथा है। प्रायः तीस वर्षों तक भारत के राष्ट्रवादी रंगमंच पर महात्मा गांधी ने अपना एकच्छत्र अधिपत्य जमाए रखा। इस सम्पूर्ण अवधि में वे भारतीय राष्ट्रवाद के एकमात्र सच्चे प्रतीक प्रणेता और प्रेरक थे। उनके एक एक कृत्य और वक्तव्य में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए व्यग्र मात्र से संघर्षशील भारत की आत्मा बोलती थी। उनके चिन्मय नेतृत्व और चुम्बकमय

---

१ निर्मल कुमार बसु—सेलेक्शंस फ्राम महात्मा गांधी पृ० ४३।
२ हरिजन सेवक, २८ जून, १९ पृ० ४३८।

व्यक्तित्व ने भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम को एक नूतन दिशा दी और उसे बीसवीं शताब्दी का एक महाकाव्य बना दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सदियों की गहरी निद्रा को त्याग अंगड़ाई लेकर उठते हुए भारतीय राष्ट्र ने महात्मा गांधी के रूप में अपनी समस्त राष्ट्रीय आकांक्षाओं की साकार प्रतिमूर्ति प्राप्त की।

महात्मा गांधी के पूर्व भारत की राजनीति—भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन को महात्मा गांधी की जो महान देन है उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन करने के लिए उनके पूर्व की भारतीय राजनीति का संक्षिप्त सिंहावलोकन अत्यन्त आवश्यक है। जिस समय महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह समर में विजय प्राप्त कर भारत लौटे उस समय यहां दो राजनीतिक दलों उदारवादी दल और उग्रवादी दल की तूती बोल रही थी। उदारवादी दल अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वैधानिक और शान्तिपूर्ण आन्दोलन में विश्वास रखता था। उसका राजनीतिक लक्ष्य उस प्रकार की शासन प्रणाली को प्राप्त करना था जिसका उपभोग ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासित डोमीनियन करते हैं। उग्रवादी दल ब्रिटिश शासन का कट्टु आलोचक था। वह अपने राजनीतिक लक्ष्य के सम्बन्ध में बिल्कुल स्पष्ट और निश्चित नहीं था। उसका 'स्वराज्य' का नारा उदारवादियों के स्वशासन से बहुत भिन्न नहीं था। उग्रवादियों की साधन प्रणाली में भी अस्पष्टता की झलक मिलती है। आचार्य कृपलानी के शब्दों में "वे यह अनुभव करते थे कि परिस्थिति को बदलने हेतु कुछ क्रान्तिकारी कार्यवाही करने की आवश्यकता है परन्तु वह क्रान्तिकारी कार्यवाही क्या होनी चाहिए इसे वे न तो जानते ही थे न निर्धारित कर सकते थे।"[1] "महात्मा गांधी के भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर अवतरण के पूर्व हमारे पास न कोई स्पष्ट कार्यक्रम था और न कोई निश्चित राजनीतिक ध्येय। राष्ट्रीय आन्दोलन केवल कुछ मध्यवर्गीय शिक्षित वर्गों तक ही सीमित था और हमारी जनता उत्तेजना और पीड़ा और दासता से भरे हुए वर्षों दिन दिन वर्षों से नहीं बल्कि पीढ़ियों से पसीना बहाती आई थी और यह क्रिया भारत की रग रग में धंसती हुई इतनी गहरी पहुंच चुकी थी कि उसने हमारे सामाजिक जीवन का हर पहलू विषाक्त और मनुष्य को धीरे धीरे किन्तु निश्चित रूप से पंगु कर दिया है।"[2]

निर्भयता का सन्देश—किसी भी संग्राम के सिपाही के लिए निर्भयता अत्यन्त आवश्यक है। भारत के महान राजनीतिक विचारक चाणक्य और याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि शासनाध्यक्षों का सबसे बड़ा कर्तव्य जनता को अभयदान देना है। उन देशों में जहां राष्ट्रीय सरकार विद्यमान है जनसाधारण की निर्भयता नागरिक स्वातन्त्र्य में अभिव्यक्त होती है। यदि जनता सरकार की नीति को बुरा समझती है तो उसकी

---

१ जे० बी० कृपलानी—"गांधी दी स्टेट्समन" पृ० ८।

२ जवाहरलाल नेहरू—'डिस्कवरी ऑफ इंडिया', पृ० १४।

निर्भय कंठ से आलोचना करती है उसे किसी प्रकार के दण्ड भी नहीं होती। लेकिन उन देशों में जो पराधीनता के पाश में जकड़े होते हैं जनता को भाषण की अथवा सरकार की मनचाही आलोचना करने की कोई स्वतंत्रता नहीं होती। भारत में भी यही बात थी। यहाँ सबसे प्रमुख भावना भय की थी—एक सर्वव्यापी दुःखदायी और गला घोटने वाला भय—फौज का भय, पुलिस का भय, अफसरों का भय दमनकारी कानूनों का भय जमींदार के गुमाश्ते का भय महाजन का भय और उस बेकारी तथा भूख का भय जो हर समय मुँह बाये खड़ी रहती थी।[२]

महात्मा गांधी ने भय के इन बादलों को तीव्र भारत के अंग से छिन्न भिन्न कर दिया। उन्होंने भारतीय जनता को निर्भयता का संदेश देते हुए घोषणा की "वह राष्ट्र महान् है जो सदा मौत को तकिया बनाकर सोता है।"[३] वाइकाउण्ट सेम्युअल के अनुसार गांधीजी ने भारत को अपनी कमर सीधी करना सिखाया अपनी आँखें ऊपर उठाना सिखाया और सिखाया अविचल दृष्टि से परिस्थितियों का सामना करना। गांधीजी ने अपने निर्भय नेतृत्व से पूर्वीय दमन के शिकार भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के सैनिकों के लिए कठिन अहिंसात्मक व्रत पर साहसपूर्वक चलने की प्रेरणा दी जिसमें केवल आक्रमण का ही नहीं प्रत्युत आत्म रक्षा का भी अधिकार वर्जित है।

आन्दोलन का नैतिक आधार—संसार के इतिहास में इस बात का एक भी उदाहरण नहीं मिलता जब कि किसी राष्ट्र ने विदेशी शासन से हिंसा और रक्तपात के बिना स्वतंत्रता हस्तगत की हो। इटली के एकीकरण अमेरिका के स्वातन्त्र्य युद्ध और आयरलैण्ड के राष्ट्रीय आन्दोलन—सबसे एक ही सत्य मुखर होता है कि यदि किसी देश को विदेशी साम्राज्यशाही से मुक्ति प्राप्त करनी है तो हिंसा और रक्तपात अपरिहार्य है। स्वयं हमारे देश में तिलक जैसे उग्रवादी नेता इस बात का समर्थन करते थे कि साध्य के सम्मुख साधन नगण्य हैं। उनका कहना था कि यदि हम श्रेष्ठ आदर्शों की प्राप्ति के लिए हीन उपायों का आश्रय लेते हैं तो वह कुछ अनुचित नहीं है।

महात्मा गांधी इस विचार के अनुयायी नहीं थे। वह साध्य और साधन में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मानते थे। उनका विश्वास था कि श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी श्रेष्ठ होने चाहिए। वह भारत की स्वतंत्रता के लिए अतीव उत्सुक थे लेकिन इसके लिए हिंसा छल कपट और असत्य आदि जघन्य उपायों का आश्रय लेना उन्हें कदापि इष्ट नहीं था। उन्होंने एक बार कहा था "मेरे जीवन-दर्शन में साध्य और साधन का अन्तर नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि साधन तो आखिर साधन

---

२ जवाहरलाल नेहरू— राष्ट्रपिता पृ० १५ १६।
३ महात्मा गांधी— हिन्द स्वराज्य' पृ० ७३।
४ सर्वपल्ली राधाकृष्णन— गांधी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० २२८ २९।

ही हैं। मैं कहूंगा कि साधन ही तो आखिर सब कुछ है। जैसे साधन होंगे, वैसा ही साध्य होगा। हिंसक साधन हिंसक स्वराज्य देंगे। वह संसार के लिए और स्वयं भारत के लिए एक खतरा होगा।[1] गांधीजी ने भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन को आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान की। उन्होंने देशभक्ति को पूर्ण आत्मोत्सर्ग और गहन धार्मिक उत्साह की ऊंचाई पर उठा दिया।[2] गांधीजी के नैतिक दृष्टिकोण का ही जिसका उन्होंने राजनीति में प्रविष्ट भाव से पालन किया यह फल था कि जहां उनसे कोई बड़ी भूल हुई उन्होंने उसे निस्संकोच भाव से सार्वजनिक रूप में अपनी हिमालय-तुल्य भूल कहकर स्वीकार किया, दूसरों के दोषों को भी अपने शीश पर ले लेने में कभी आगा-पीछा नहीं सोचा, प्यार करने से पूर्व शत्रु को सदैव चेतावनी दी और कठोर से कठोर संकट की घड़ी में भी अपने विरोधी का अपकार नहीं चाहा। उन्हें अपनी दुर्बलताओं और बुराइयों को भी शत्रु के सामने खोलकर रख देने में हिचक नहीं होती थी। वह ईसा और बुद्ध की भांति पाप से घृणा करते थे पापी से नहीं, अन्याय से घृणा करते थे, अन्यायी से नहीं। उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सिपाहियों को सदैव यही उपदेश दिया कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोधी बनें ब्रिटिश जाति के नहीं। उनका कहना था "मैं अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं हूं अंग्रेजी के विरुद्ध नहीं हूं सरकार के विरुद्ध नहीं हूं लेकिन असत्य के विरुद्ध हूं पाखण्ड के विरुद्ध हूं अन्याय के विरुद्ध हूं।'[3]

जनता का आन्दोलन—भारतीय राजनीति में गांधीजी के शुभागमन के पूर्व हमारा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम केवल कुछ मध्यवर्गीय पढ़े लिखे लोगों तक ही सीमित था। जन साधारण से उसका कोई सीधा सम्पर्क नहीं था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी बाहुल्य पाश्चात्य अंग्रेजी पढ़े लिखे व्यक्तियों की संस्था थी। उसकी सम्पूर्ण कार्यवाही अंग्रेजी में संचालित होती थी। उसके समस्त उद्देश्य शिक्षित वर्गों के अधिकारों से सम्बन्ध रखते थे। वह शासन के ऊँचे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति की मांग करती थी पर भारतीयों से उसका आशय अंग्रेजीदां शिक्षित भारतीय से ही होता था। राष्ट्रवादी नेता भारत के औद्योगिक पुनरुत्थान की बात अवश्य करते थे लेकिन इस औद्योगिक पुनरुत्थान का आर्थिक आधार क्या हो इस सम्बन्ध में उनकी कोई स्पष्ट विचारधारा नहीं थी। उन्हें भारतीयों की निर्धनता का ज्ञान अवश्य था लेकिन यह ज्ञान उन्होंने पुस्तकों से प्राप्त किया था। वे उन्नीस सौ मील लम्बे और पन्द्रह सौ मील चौड़े भूतल पर दाएं बाएं गांवों में जगह जगह बिखरे पड़े करोड़ों ग्रामवासियों की वास्तविक समस्याओं और कठिनाइयों से व्यवहारतः बिलकुल ही अपरिचित थे।

---

१ 'यंग इण्डिया—२६ दिसम्बर १८२४ पृ० ४३६।

२ जगन्नाथ गुप्त— गांधी एण्ड गांधीज्म' पृ० ८।

३ आर० के० प्रभु और यू० आर० राव—"दी माइण्ड आफ महात्मा गांधी, पृ० १७२।

प्रक्षपत उन दिनों की सम्पूर्ण कांग्रेस राजनीति भावनामय और अव्यवहार्य थी।[1]

महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते ही उस सारी स्थिति को बदल डाला। वह सच्चे अर्थों में जनता के नेता थे। उनकी घुटनों तक की धोती भारत की निर्धनता की साक्षात् प्रतीक थी। उन्हें भारत की ग्राम-समस्याओं का ठोस परिचय था। उनके गतिशील नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन जनता का आन्दोलन बन गया। गांधीजी ने कांग्रेस के संविधान में इस प्रकार संशोधन किया जिससे वह जनता की संस्था बन सके। उनकी प्रेरणा से कांग्रेस की सारी कार्यवाही अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दुस्तानी में होने लगी। गांधीजी ने कहा कि असली भारत तो गांवों में बसा हुआ है। उन्होंने कांग्रेस के स्वयं सेवकों को गांव गांव जाकर काम करने का परामर्श दिया। इस तरह भारत के स्वतन्त्रता संग्राम की आवाज एक एक गांव में एक एक घर में पहुँच गई। गांधीजी ने जनता को आन्दोलन के लक्ष्य का ज्ञान कराया। उन्होंने कहा—"मेरा स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य है। जीवन की आवश्यकताएं नरेशों तथा धनिकों के साथ साथ आपको भी मिलनी चाहिए। मैं इस सम्बन्ध में पसन्द नहीं हूं कि स्वराज्य उस समय तक पूर्ण स्वराज्य नहीं है जब तक आपकी इन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती।"[2] गांधीजी ने अपने प्राणवान नेतृत्व से उस पतित कायर और निराश जनता को जिसे अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए सभी प्रमुख दल पीड़ित और पददलित करते आये थे और जिसमें विरोध की शक्ति ही नहीं रह गई थी ऐसा बना दिया जिसमें आत्म-सम्मान की भावना जाग उठी जिसे अपने पर भरोसा होने लगा जो अत्याचार का विरोध करने लगी और जिसमें मिलकर काम करने तथा एक बड़े हित के लिए त्याग करने की सामर्थ्य आ गई।"[3]

क्रान्तिकारी आन्दोलन—महात्मा गांधी को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को लोक आन्दोलन ही नहीं बनाया प्रत्युत उसे क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में भी बदल दिया।"[4] उनसे पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन विशुद्ध वैधानिकवाद तक ही सीमित था। राष्ट्रवादी नेता प्रस्ताव पास करते थे लेख लिखते थे धुआंधार भाषण देते थे कभी-कभी सरकार की हलकी फुलकी निरर्थक आलोचना भी कर बैठते थे। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ठोस कार्यवाही करने का उन्हें कोई विचार नहीं सूझता था। गांधीजी दूसरी धातु के बने हुए थे। उनकी आवाज शान्त और धीमी आवाज थी लेकिन वह जनता की चीख से ऊपर सुनाई देती थी। वह आवाज कोमल और मधुर थी लेकिन उसमें कहीं न कहीं फौलादी स्वर

---

१ जे० बी० कृपलानी— गांधी दी स्टेटसमन पृ० ७७

२ यंग इण्डिया २६ मार्च १९३१ पृ० ४६।

३ जवाहरलाल नेहरू— राष्ट्रपिता पृ० ५८।

४ कूपलैण्ड— इण्डिया ए रिस्टेटमेण्ट पृ० १२९।

छिपा हुआ था।'[1] गांधी जी ने जनता को सदेश दिया कि 'यदि हम स्वतन्त्र स्त्री पुरुषों की भांति रह नहीं सकते तो हमें मरने में सन्तोष लाभ करना चाहिए।'[2] उनका कहना था 'स्वराज्य एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के लिए दान कदापि नहीं है। यह वह निधि है जिसे राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ रक्त से खरीदा जाता है।'[3] उन्होंने जनता से यह दो टूक बात कह दी थी कि स्वराज्य को जययात्रा में हमें जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड जैसे अन्यायों की बारम्बार आवृत्तियों के लिए तयार रहना चाहिए।'[4] गांधीजी की राजनीति ने अपने पूर्ववर्ती नेताओं की राजनीति से प्रयाण विच्छिन्न किया। उनकी राजनीति आराम की नहीं, कष्ट की पलायन की नहीं जूझने की बात की नहीं श्रम की राजनीति थी।

१२० महात्मा गांधी और समाज-सुधार

पृष्ठभूमि—प्राय पिछले एक सहस्र वर्षों से भारतीय समाज ऐसी अनेक भीषण सामाजिक कुरीतियों से पीड़ित रहा है जिन्होंने उसकी उन्नति के मार्ग में अतुलनीय रोड़े अटकाए हैं। इस बीच में समय समय पर भारत भूमि में ऐसे बहुत से समाज सुधारकों का प्रादुर्भाव होता रहा है जिन्होंने इन सामाजिक कुरीतियों को मिटाने की प्राणपण से चेष्टा की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्हें थोड़ी बहुत सफलता भी मिली, पर समग्र सामाजिक कुरीतियों ने भारतीय जनता का पिंड नहीं छोड़ा। जिस समय भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई यहां कन्या-वध बालविवाह शिशु हत्या, दास-प्रथा सती-प्रथा और अस्पृश्यता जैसी घातक सामाजिक कुरीतियां अपने निकृष्टतम रूप में विद्यमान थी। ब्रिटिश शासकों ने हम दो सौ वर्षों तक अपने पराधीनता पाश में जकड़े रखा। इसके लिए हम उन्हें चाहे जितना ही पानी पी-पीकर कोसें, हमें इस बात के लिए उनका हृदय से आभार मानना ही चाहिए कि उन्होंने हमारे सामाजिक जीवन का सुधार करने में महत्वपूर्ण भाग लिया। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से भारतीयों में नूतन जागृति उत्पन्न हुई और उन्होंने सत्वर सामाजिक सुधारों की आवश्यकता का अनुभव किया। लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा, बाल-वध और ठगी का, लार्ड एलनबरो ने दास प्रथा का और लार्ड डलहौजी ने धार्मिक पूजा के स्थानों पर नरबलि का अन्त किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रह्म समाज, आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन प्रभृति जो विविध धार्मिक आन्दोलन उठे उनका भी भारतीय समाज सुधार के क्षेत्र में अमूल्य योगदान है। गांधीजी ने अपने प्रखर व्यक्तित्व से जहां राजनीति के क्षेत्र को आलोकित किया वहां समाज सुधार का क्षेत्र भी उनकी प्रतिभा के प्रकाश से जगमगा

१ जवाहरलाल नेहरू— राष्ट्रपिता" पृ० ९।
२ यंग इण्डिया—५ जनवरी, १९२२ पृ० ५।
३ यंग इण्डिया—५ जनवरी, १९२२ पृ० ४।
४ यंग इण्डिया—१८ फरवरी, १९२०" पृ० १००।

उठा। उनके हाथों भारतीय समाजसुधार की दीपशिखा अपने उज्ज्वलतम रूप में प्रकट हुई।

उग्र सुधारक—महात्मा गांधी ने समाज सुधार के प्रश्न का साधारण मिशनरी की भांति नहीं, प्रत्युत उग्र सुधारक की भांति हल किया। उन्होंने जनता के मन में यह बात बैठा दी कि जिन्हें हम सामाजिक कुरीतियां कहते हैं वे केवल सामाजिक विघ्न नहीं हैं प्रत्युत राजनीतिक विघ्न हैं जब तक हम उनका निवारण नहीं करते हमारे राष्ट्रीय जीवन का कोई उत्थान नहीं हो सकता। उन्होंने ६ अगस्त १९२१ को यंग इण्डिया में लिखा था 'मेरा समाज सुधार का काम मेरे राजनीतिक काम से किसी भी प्रकार कम या हीन नहीं था। तथ्य यह है कि जब मैंने देखा कि मेरा समाज सुधार का काम राजनीतिक काम की सहायता बिना नहीं चल सकता, मैंने राजनीतिक काम को अपने हाथ में लिया और उसी सीमा तक जहां तक उसने समाज सुधार के काम में सहायता दी। मैं यह स्वीकार करता हूं कि मुझे समाज का इस प्रकार की अन्तःशुद्धि राजनीतिक काम की अपेक्षा सौगुनी अधिक प्रिय है।'[1] गांधी जी का विश्वास था कि जितनी शीघ्र हम यह समझ लेंगे कि हमारी बहुत सी सामाजिक कुरीतियां हमारी यात्रा को अवरुद्ध करती हैं उतनी ही शीघ्रता से हम अपने प्रिय लक्ष्य की ओर पग बढ़ाने में समर्थ होंगे। वह कहा करते थे कि समाज सुधार को स्वराज्य प्राप्ति के काल तक स्थगित करना स्वराज्य का अर्थ न जानना है।

अन्तर्साम्प्रदायिक एकता—अपने सामाजिक कार्यक्रम में गांधी जी अन्तर्साम्प्रदायिक एकता की स्थापना को सबसे उपयोगी मार्ग समझते थे। देश में शान्ति और सुव्यवस्था के लिए साम्प्रदायिक एकता की महत्ता को जितना उन्होंने समझा था शायद ही और किसी ने समझा हो। वे साम्प्रदायिक एकता को राजनीतिक दृष्टि से ही आवश्यक नहीं मानते थे वह भारत की साम्प्रदायिक एकता को मानवता के लिए एक मिसाल बना देने के आकांक्षी थे। गांधी जी ने इस तथ्य को अच्छी तरह से हृदयंगम कर लिया था कि भारतवर्ष नाना धर्मों जातियों और साधनाओं का देश है जब तक उनमें परस्पर प्रेम और सहिष्णुता का भाव नहीं रहेगा देश उन्नति नहीं कर सकता। गांधीजी विभिन्न धर्मों के दीर्घ मन्थन और अनुभव के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे (१) सभी धर्म सच्चे हैं (२) सभी धर्मों में कुछ-न-कुछ गलती है (३) सभी धर्म मुझे हिन्दू धर्म की भांति प्रिय हैं।[2]

महात्मा गांधी की अहर्निश यही कामना रहती थी कि उनके सपनों का भारत एक ऐसे मनोहर उपवन के तुल्य बने जिसमें विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय सुवासित पुष्पों की भांति सुरभित हों। इस आदर्श की सिद्धि के लिए उन्होंने जीवन भर कोशिश की। वह साम्प्रदायिक एकता का अर्थ हृदय की वह सच्ची

---

१ आचार्य कृपलानी द्वारा गांधी दी स्टेट्स मन में उद्धृत पृ० २७।
२ निर्मलकुमार बसु– सेलेक्शन्स फ्राम गांधी" पृ० २२६-२२७।

एकता मानते थे जो तोड़ने से भी न टूट सके। उनके मत से इस एकता को स्थापित करने की सर्वप्रथम शर्त यह थी कि 'हर एक कांग्रेस जन, चाहे वह किसी भी धर्म का क्यों न हो, अपने आप में हिन्दू मुसलमान ईसाई, जरथुस्ती यहूदी आदि का यानी एक शब्द में हर एक हिन्दू, गैर हिन्दू का प्रतिनिधि बने ... इसके लिए हर एक कांग्रेसजन को दूसरे धर्म के व्यक्तियों के साथ व्यक्तिगत मित्रता कायम करनी और बढ़ानी चाहिए। उसे दूसरे धर्मों के प्रति उतना ही आदर रखना चाहिए जितना कि अपने धर्म के प्रति।'[1] भारतीय राजनीति में जिस विषाक्त साम्प्रदायिक त्रिभुज का विकास हुआ उसके लिए गांधी जी मुख्य रूप से ब्रिटिश शासकों को ही दोषी ठहराते थे।

महात्मा गांधी भारतवर्ष को एक पक्षी तथा हिन्दुओं और मुसलमानों को उसके दो पंख बताया करते थे। सन १९२४ में उन्होंने कहा था, 'आज ये दोनों पंख अपंग हो गए हैं और पक्षी आकाश में उड़कर स्वतन्त्रता का आरोग्यप्रद वायु ग्रहण करने में असमर्थ है।'[2] स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय जब सम्पूर्ण भारत साम्प्रदायिक उपद्रवों की ज्वाला से भस्मीभूत होने लगा था, गांधीजी को मर्मान्तक वेदना पहुंची थी और उन्होंने अपनी ढलती आयु और स्वास्थ्य की ओर बिलकुल ध्यान न देते हुए उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों (बिहार और नोआखाली) की पैदल यात्रा की तथा साम्प्रदायिक आग पर पानी डालने का प्रयास किया। गांधी जी ने अपने जीवन का अन्तिम उपवास (१३ जनवरी '४८ से १८ जनवरी '४८ तक) साम्प्रदायिक एकता की स्थापना के लिए ही किया था। यह उनके सार्वभौम व्यक्तित्व का ही फल था कि कांग्रेस देश में धर्म निरपेक्ष प्रजातन्त्र की नींव डालने में समर्थ हुई।

अस्पृश्यता निवारण—महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता निवारण के लिए जो प्रचण्ड संघर्ष किया वह उनके राष्ट्र निर्माण सम्बन्धी सबसे प्रभावशाली कृत्यों में से एक है। गांधी जी अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का कोढ़ मानते थे। उनकी कट्टर वादियों को चेतावनी थी कि यदि अछूतों के साथ होने वाले अन्यायों का प्रतिकार न किया गया तो हिन्दुओं का नाश हो जाएगा। भारत के अछूतों को जिस सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ता था उन्हें निम्न से निम्न कार्य करने के लिए विवश होना पड़ता था उन्हें मन्दिर प्रवेश, कुएं से पानी भरने और सार्वजनिक स्थानों के स्वच्छन्द प्रयोग जैसे मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया था, यह सब गांधी जी सहन नहीं कर सकते थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से अस्पृश्यता आर्यों की भारत-विजय का सामाजिक फल था। आर्यों ने इस देश पर विजय प्राप्त करने के बाद बहुत से विजितों को अपने गुट में मिला लिया। विजितों में से जो सबसे पिछड़े हुए लोग थे, वे अछूत रह

१ रामनाथ सुमन—'गांधी-वाणी' पृ० २२८।

२ हिंदी नवजीवन—२-११-१९२४", पृ० ९१।

गए।[1] कालान्तर में अस्पृश्यता प्रथा को धार्मिक सम्मोदन प्राप्त हो गया। बुद्ध रामानुज रामानन्द कबीर नानक तुकाराम और दयानन्द प्रभृति लोकनायकों ने समय समय पर इस प्रथा का खात्मा कर देने की चेष्टा की, पर वे अपने लक्ष्य में पूर्ण सफल न हो सके।

महात्मा गांधी अस्पृश्यता निवारण के लिए कितने आतुर थे यह इस तथ्य से जाना जा सकता है कि यद्यपि धर्म उनके लिए सब कुछ था फिर भी वह यह कहते हुए नहीं थकते थे कि यदि कोई यह सिद्ध कर दे कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का एक अनिवार्य अंग है तो मैं हिन्दू धर्म को त्याग दूंगा। वे कहा करते थे कि यदि भारत दूसरे देशों के द्वारा पददलित किया जा रहा है तो इसका मूल कारण यही है कि भारत ने अछूतों के रूप में अपनी पचमांश जनसंख्या को पददलित कर रखा है। जब तक हम उन्हें उनकी हीनावस्था से मुक्त नहीं करते स्वतंत्रता असम्भव है। उन्हें यह कहते हुए संकोच नहीं होता था कि यदि हिन्दू धर्म ने अस्पृश्यता को नहीं त्यागा तो उसका मर जाना ही श्रेयस्कर है।[2] दलित वर्गों के प्रति उनके हृदय में जो प्रगाढ़ प्रेम था निम्न उद्धरण उसका एक परिचय देता है "मैं फिर से जन्म लेना नहीं चाहता लेकिन यदि मुझे फिर से जन्म लेना ही पड़े तो मैं एक अछूत के रूप में जन्म ग्रहण करना चाहूंगा ताकि मैं उनके कष्टों दुःखों तथा अपमानों में भाग ले सकूं और इन दयनीय परिस्थितियों से स्वयं अपने को तथा उन्हें उबार सकूं। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि यदि मुझे फिर से जन्म ग्रहण करना पड़े तो मुझे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्र के रूप में नहीं प्रत्युत अति शूद्र के रूप में जन्म मिलना चाहिए।"[3]

महात्मा गांधी ने अछूतों के लिए हरिजन अर्थात् ईश्वर के जन शब्द गढ़ा था। १९३२ में जब भारत का नया संविधान बनाते समय ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने निर्वाचन के लिए अछूतों को हिन्दुओं से अलग करने का कुचक्र रचा गांधीजी ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर पूना पैक्ट द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के इस दुष्प्रयत्न को विफल कर दिया। गांधीजी द्वारा संस्थापित हरिजन सेवक संघ ने अछूतोद्धार की दिशा में स्तुत्य प्रयास किया है। हर्ष की बात है कि भारत के नए संविधान ने अस्पृश्यता का अंत कर दिया है।

नारी जागृति—अर्वाचीन भारतीय इतिहास की एक दृष्ट व विशेषता नारियों की अभूतपूर्व जागृति है। ब्रिटिश पूर्व भारत में सुल्ताना रजिया चांद बीबी नूरजहां और अहिल्याबाई होल्कर आदि कुछ इनी गिनी राजमहिलाओं को छोड़कर स्त्रियां सामान्यतः घर की चहारदीवारी में ही बन्द रहती थीं। आज भारतीय नारियों में जिस

---

१ ए० आर० देसाई— सोशल बैकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म पृ० २८१।

२ यंग इण्डिया' २५ मई १९२१-पृ० १६५।

३ यंग इण्डिया' ४ मई' १९२१ पृ० १४४।

अभूतपूर्व जागरण के दर्शन हो रहे हैं वे सहस्रों की संख्या में राजनीति में भाग लेतीं उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करतीं और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने पुरुष भाइयों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ती दिखाई दे रही हैं उसका बहुत कुछ श्रेय महात्मा गांधी को प्राप्त है।

महात्मा गांधी ने भारतीय नारियों की उन्नति के लिए प्रशंसनीय चेष्टा की। नारी जाति के प्रति उनके हृदय में अपार सम्मान की भावना थी। वह नारी को पुरुष की दासी नहीं साथिन मानते थे। उनका विश्वास था कि मानसिक क्षमताओं की दृष्टि से नारी नर से किसी प्रकार घटकर नहीं है। वह इस बात का दृढ़ समर्थन करते थे कि नारी को नर के समान ही आत्मविकास के समस्त अवसर सुलभ होने चाहिए। उनके अनुसार स्त्री अहिंसा की मूर्ति है। अहिंसा का अर्थ है अनन्त प्रेम और उसका अर्थ कष्ट सहन की अनन्त शक्ति। पुरुष की माता स्त्री से बढ़कर इस शक्ति का परिचय अधिक—से अधिक मात्रा में और कहां मिल सकता है? ... युद्ध में फंसी हुई दुनिया आज शान्ति का अमृतपान करने के लिए तड़प रही है। यह शान्ति कला सिखाने का काम भगवान ने स्त्री को ही दिया।[1]

महात्मा गांधी चाहते थे कि स्त्रियां स्वयं को अबला कहना छोड़ दें और अपने सम्मुख सीता, मैत्रेयी, अनसुईया तथा दमयन्ती जैसी उदात्त नारियों के स्मरणीय आदर्श रखें। उनका कहना था कि वह स्त्री जो दृढ़तापूर्वक यह मानती है कि उसका पवित्र शील ही उसके सतीत्व की सबसे बड़ी ढाल है उसका शील अथवा मुर्दा तन है। ऐसी स्त्री के तेजमात्र से परपुरुष चौंधिया जाएगा और लाज से गड़ जाएगा।[2] गांधी जी नारी जाति को जिस आधार श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे निम्न अवतरण उस पर समुचित प्रकाश डालता है स्त्री को अबला कहना उसका अपमान करना है। उसे अबला कहकर पुरुष उसके साथ अन्याय करता है। यदि शक्ति का अभिप्राय पाशविक शक्ति है तो निस्सन्देह पुरुष की अपेक्षा स्त्री में कम पशुता है। परन्तु यदि इसका अभिप्राय नैतिक शक्ति है तो निश्चित ही पुरुष की अपेक्षा स्त्री अधिक शक्तिशालिनी है। यदि अहिंसा हमारे जीवन का मूलमंत्र है तो कहना होगा कि हम भविष्य स्त्रियों के हाथ में है।[3]

महात्मा गांधी ने हिन्दू विधवाओं की दयनीय दशा की ओर ध्यान दिया। यद्यपि वह ब्रह्मचर्य और मनोनिग्रह के प्रबल समर्थक थे पर तु वह विधवा विवाह अथवा विवाह विच्छेद पर कोई आपत्ति नहीं करते थे। वह बाल विधवाओं को कुमारियाँ ही मानते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में बाल विवाह कोई विवाह ही नहीं था। उन्होंने दहेज प्रथा के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठाई थी और लिखा था वह वर

१ 'हरिजन सेवक' २८-२-४० पृ० १६।
२ 'हरिजन सेवक' १३-३-४० पृ० ६३।
३ 'हिन्दी नवजीवन' १०-४-३०, पृ० ३३३।

कन्या के पिता से विवाह करने की दया के लिए दण्ड लेता है तब नीचता की हद हो जाती है। पैसे के लालच से किया गया विवाह विवाह नहीं है एक नीच सौदा है।[1] गांधीजी परदे को भी भर्त्सना करते थे। उनका मत था कि पवित्रता परदे की आड़ में रखने से नहीं पनप सकती वह तो मन को शुद्ध रखने से पनपती है। गांधीजी अपनी पतित बहनों को भी नहीं भूल सके। उन्होंने उन्हें पवित्र जीवनयापन की प्रेरणा दी। वह मानते थे कि वेश्यावृत्ति उतनी ही पुरातन है जितनी यह दुनिया पर वह आजकल की तरह नगर जीवन का नियमित अंग शायद ही कभी रही हो। उन्होंने भविष्यवाणी की थी हर हालत में वह समय आये बिना नहीं रह सकता जब कि मानव जाति इस पाप के विरुद्ध आवाज उठायेगी और वेश्यावृत्ति को भूतकाल की वस्तु बना देगी।'[2]

शिक्षा पुनर्गठन—महात्मा गांधी आधुनिक शिक्षा प्रणाली के कटु आलोचक थे। भारतीय विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में उनका विचार था कि इनमें विश्वविद्यालयों जैसी कोई विशेषता नहीं। वे तो पश्चिमी विश्वविद्यालयों की एक निस्तेज और निष्प्राण नकल भर हैं। यदि हम उन्हें पश्चिमी सभ्यता का स्याहीसोख मात्र कहें तो शायद बेजा न होगा।[3] गांधीजी भारत की वर्तमान शिक्षा प्रणाली को तीन कारणों से सदोष मानते थे—(१) यह देशी संस्कृति की पूर्ण उपेक्षा कर विदेशी संस्कृति पर आधारित है (२) यह हृदय और हाथ की शिक्षा पर ध्यान नहीं देती तथा इसने को केवल मस्तिष्क की शिक्षा तक ही सीमित रखती है।[4]

महात्मा गांधी की दृष्टि में शिक्षा का सच्चा अर्थ मनुष्य के शरीर मन और आत्मा का सर्वांगीण विकास है। वह शिक्षा का चरम लक्ष्य व्यक्ति का चरित्र गठन मानते थे। उनका विश्वास था कि साहित्यिक शिक्षा व्यक्ति की नैतिक ऊंचाई में एक इंच की भी वृद्धि नहीं करती और चरित्र निर्माण साहित्यिक शिक्षा से स्वतन्त्र होता है।[5] गांधीजी ने जनसाधारण के सांस्कृतिक जागरण के लिए बुनियादी तालीम अथवा वर्धा शिक्षा योजना की नींव डाली। उनका मत था कि असली शिक्षा तो तभी आ सकती है जबकि शरीर के अवयवों हाथ कान नाक आदि से डटकर काम लिया जाये। वर्धा शिक्षा योजना में इस सिद्धान्त का अच्छी तरह से समावेश है। इस शिक्षा योजना की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह छात्रों को आर्थिक आत्म निर्भरता प्रदान करती है।

वर्तमान शिक्षा पद्धति देशी भाषाओं के विकास के प्रति उदासीन है। गांधीजी को यह इष्ट नहीं था। उनका कहना था कि हम अपनी देशी भाषाओं के उत्थान की

१ हिन्दी नवजीवन ६ ६ २८ पृ० २४।
२ हिन्दी नवजीवन" २८-५-२५ पृ० ३३८।
३ हरिजन सेवक २१ १ ४२' पृ० ६१।
४ यंग इण्डिया १ ९ २१ पृ० २७६।
५ "यंग इण्डिया, १ ९ २१, पृ० १७२।

ओर ध्यान देने की प्रचुर आवश्यकता है। उन्होंने लिखा था यह स्पष्ट है कि जब तक हम इस कार्य को आगे नहीं बढ़ाते हम अपने स्त्री पुरुषों के बीच और अपने वर्गों तथा जनता के बीच बढ़ती हुई बौद्धिक और सांस्कृतिक खाई को दूर नहीं कर सकेंगे। यह भी निश्चित है कि इसी भाषाओं का माध्यम ही अधिक से अधिक लोगों में मौलिक विचारधारा उत्पन्न कर सकता है।[1] लेकिन इसका यह आशय कदापि नहीं था कि गांधीजी दूसरी भाषाओं और संस्कृतियों के अनुशीलन को वर्जित करना चाहते थे। वह तो इस सिद्धान्त के उपासक थे कि, मैं यह नहीं चाहता कि मेरे घर के चारों ओर दीवारें खड़ी हों और मेरी खिड़कियां बन्द हों। मैं चाहता हूँ कि सब देशों की संस्कृतियां मेरे घर के आस पास यथासम्भव स्वतन्त्रतापूर्वक बहें परन्तु उनमें से कोई भी मेरे पैरों को उखाड़ दे यह मैं अस्वीकार करता हूँ।[2] गांधीजी कहा करते थे कि उच्च कोटि के विद्वान् पुरुषों को अंग्रेजी भाषा का ही क्या अन्यान्य समृद्ध विदेशी भाषाओं का भी अध्ययन कर उनकी चुनी हुई पुस्तकों का देशी भाषाओं में अनुवाद प्रस्तुत करना चाहिए।

हमारे वर्तमान शिक्षा संगठन में एक भारी त्रुटि यह है कि इसमें छात्रों को नैतिक शिक्षा देने की कोई समुचित व्यवस्था नहीं की गई है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि आज के युग में राजनीतिक और सामाजिक जीवन के प्रासाद को नैतिक आधार पर खड़ा करना अतीव आवश्यक है। गांधीजी इस त्रुटि को दूर करने के लिए विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा के पक्षपाती थे। धार्मिक शिक्षा से उनका यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि बच्चों को धर्म विशेष की रूढ़ियों का ज्ञान कराया जाए। धार्मिक शिक्षा से उनका मन्तव्य यही था कि छात्रों को सत्य अहिंसा अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य आदि उन सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों का ज्ञान कराया जाए जो सब धर्मों के मूल में समान रूप से विद्यमान हैं।

मद्य निषेध—महात्मा गांधी शराब, अफीम, गांजा आदि मादक द्रव्यों के घोर विरोधी थे। उनकी इच्छा थी कि लोग शराब पीना छोड़ दें क्योंकि मद्यपान विषपान से भी अधिक घातक है। विष तो शरीर को हत्या करता है पर मद्य आत्मा को मार डालता है और मनुष्य को पशु बना देता है। गांधीजी मद्यपान को दुर्गुण की अपेक्षा बीमारी अधिक मानते थे। उनका कहना था मैं ऐसे बहुत से व्यक्तियों को जानता हूं। जो यदि शराब को छोड़ सकते तो सहर्ष छोड़ सकते। मैं कुछ ऐसे व्यक्तियों को जानता हूँ जिन्होंने कहा था कि यदि हमसे मद्यपान का लालच दूर कर दिया जाए तो हम मद्यपान को अवश्य छोड़ देंगे। मद्यपान का लालच उनसे दूर किया गया फिर भी वे छुप छिपकर मद्यपान करते हैं रोगी व्यक्तियों को स्वयं अपने ही विरुद्ध उपचार की आवश्यकता है।[3] गांधीजी का सरकार के लिए परामर्श था कि वह ऐसे विश्रान्ति गृह खोले जहां थके मांदे मजदूरों को विश्राम मिले और उनके लायक खेल खेलने का

१ 'यंग इण्डिया' २५ ४ २० पृ० ४६५।
२ 'यंग इण्डिया' १ ६ २१, पृ० १७०।
३ "यंग इण्डिया ६-७-२१", पृ० २१०।

अच्छा प्रबन्ध हो। इस योजना का आचरण लोगों को स्वत मद्यनिषेध की ओर प्रवृत्त करेगा। गांधीजी का विश्वास था कि मद्यनिषेध से जनता का शारीरिक, मानसिक और नैतिक सब प्रकार का कल्याण होगा। गांधीजी द्वारा प्रवर्तित असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलनों में शराब की दूकानों पर धरना देना एक जरूरी कार्यक्रम रहता था। १९ ७ में जब भारत के ग्यारह प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना हुई तो उन्होंने गांधीजी के इंगित पर आर्थिक हानि को सहते हुए भी कई स्थानों पर मद्यनिषेध की योजना को कार्यान्वित किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राज्यों की कांग्रेस सरकारें मद्यनिषेध के कार्यक्रम को यथासम्भव पूरा करने का प्रयास कर रही हैं।

१५१ गांधीजी की आर्थिक विचारधारा

एक विशिष्ट स्कूल'—जिस अर्थ में हम एडम स्मिथ और मार्शल को अर्थशास्त्री कहते हैं महात्मा गांधी उस अर्थ में अर्थशास्त्री नहीं थे फिर भी उनके समीप अपने निर्धन देशवासियों की सहायता करने के लिए एक व्यावहारिक आर्थिक कार्यक्रम था। यद्यपि महात्मा गांधी ने अर्थशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र पोथी नहीं लिखी है पर जब हम उनकी प्रकीर्ण रचनाओं का अनुशीलन करते हैं हमारे सम्मुख उनकी आर्थिक विचारधारा का एक सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है। महात्मा गांधी ने शास्त्रीय दृष्टि से अर्थशास्त्री न होते हुए भी भारतीय अर्थतन्त्र पर व्यापक प्रभाव डाला है और धीरे धीरे हम देखते हैं कि सेवाग्राम की विनीत वेदी से अर्थशास्त्र का एक ऐसा विशिष्ट स्कूल पनपता जा रहा है जो गांधीजी के आर्थिक विचारों को क्रमबद्ध करने और एक वैज्ञानिक आधार देने में प्रयत्नरत है।"[1] यह ठीक है कि गांधीवादी अर्थशास्त्र अभी शैशवावस्था में ही है और समय समय पर उसकी अग्नि परीक्षा भी होती रही है। इतने पर भी भारत के आर्थिक जीवन में उसका जो महत्वपूर्ण स्थान बन गया है उसे प्रचलित नपे तुले आर्थिक सिद्धान्तों की शब्दावली द्वारा नहीं नापा जा सकता क्योंकि वह इन प्रचलित नपे तुले आर्थिक सिद्धान्तों की मूलस्थ धारणाओं को खुली चुनौती देता है।

अर्थशास्त्र और नैतिकता—महात्मा गांधी की अर्थशास्त्र सम्बन्धी भावना पश्चिम के क्लासिकल कहे जाने वाले अर्थशास्त्रियों से बिलकुल अलग थी। वह अर्थशास्त्र को न तो मार्शल की भांति जीवन के सामान्य व्यवहार में मानव जाति का अध्ययन मानते थे और न प्रो कैनन की तरह उन साधारण कारणों की जिन पर मानव प्राणियों का भौतिक कल्याण निर्भर है व्याख्या ही स्वीकार करते थे। महात्मा गांधी की दृष्टि में तो अर्थशास्त्र जीवन के अन्यान्य सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक आदि पहलुओं से संयुक्त था। उनकी आर्थिक विचारधारा का मूलाधार उनकी नैतिक सम्बन्धी भावना है। वह अर्थशास्त्र और नैतिकता के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं

[1] डॉ० एन० जी० पी० श्रीवास्तव— थाट्स आन गांधियन कान्सेप्ट ऑफ इकनोमिक्स (अमृत बाजार ११-५-५३)।

सोचते थे। उनका विचार था कि वह अर्थशास्त्र जिससे किसी व्यक्ति या राष्ट्र की नैतिकता को धक्का पहुँचता है अतः सर्वथा त्याज्य है। अर्थशास्त्र और नैतिकता के प्रगाढ़ सम्बन्धों का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा था 'वह अर्थशास्त्र जो नैतिक मूल्यों की उपेक्षा और अवहेलना करता है झूठा है।'[1] "उनके मत से सच्चा अर्थशास्त्र नैतिक मापदण्डों के कभी विरुद्ध नहीं होता ठीक उसी प्रकार जैसे कि समस्त सच्चे नीतिशास्त्र का श्रेष्ठ अर्थशास्त्र होना भी आवश्यक है। वह अर्थशास्त्र जो कुबेर की उपासना सिखाता है और दुर्बल के मूल्य पर सबल को धन बटोरने में समर्थ करता है एक झूठा और हीन विज्ञान है। सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्याय का प्रतिपादन करता है दुर्बलतम व्यक्ति के सहित सबका समान रूप से भला चाहता है और ऊँचे जीवन के लिए अपरिहार्य है।"[2]

आर्थिक समता—यद्यपि महात्मा गांधी अपने लिए निर्धनता को ही श्रेयस्कर मानते थे पर उनकी यह हार्दिक इच्छा रहती थी कि जन साधारण का दारिद्र्य मिटे। वह इसके लिए कठिन श्रम भी करते थे। आज समाज में धन का जो विषम विभाजन है महात्मा गांधी उसे एक गहरी सामाजिक बुराई के रूप में देखते थे। उनके अनुसार किसी स्वस्थ समाज के अन्दर चन्द व्यक्तियों में धन का केन्द्रित हो जाना और लाखों का बेकार होना एक महान सामाजिक अपराध या रोग है जिसका इलाज अवश्य होना चाहिए।[3] महात्मा गांधी आर्थिक समानता को अहिंसक स्वतन्त्रता की कुंजी भी मानते थे। उन्होंने लिखा था 'आर्थिक समानता के प्रयत्न के माने पूँजी और श्रम के शाश्वत विरोध का परिहार करना है। उसके माने ये हैं कि एक तरफ से जिन मुट्ठी भर मालदारों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का अधिकांश एकत्रित हो गया है वे नीचे को उतरें और जो करोड़ों नंगे और भूखे हैं उनकी भूमिका ऊंची उठे। जब तक मालदार और भूखी जनता के बीच यह चौड़ी खाई मौजूद है तब तक अहिंसक राज्य पद्धति सर्वथा असम्भव है। अगर धन का और सम्पत्ति से होने वाली सत्ता का खुशी से त्याग न किया जायगा और सार्वजनिक हित के लिए उसका संविभाग नहीं किया जायगा तो हिंसक क्रान्ति और रक्तपात अवश्यम्भावी है।'[4] महात्मा गांधी ने भारत के भावी आर्थिक संगठन का चित्र आलेखन करते हुए कहा था कि 'उसमें कोई भी खाने की किसी बात की कमी नहीं रहेगी।' उनका विचार था कि यदि उत्पादन के साधनों और जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं पर जनता का नियन्त्रण हो जाए तो ये पदार्थ सबको प्राप्त किए जा सकते हैं। वह कहा करते थे, 'ये वस्तुएँ सबको उसी प्रकार प्राप्त होनी चाहिए जिस प्रकार ईश्वर की वायु और पानी

१ यंग इण्डिया— २६ सितम्बर १९२८ पृ० ४२१।
२ हरिजन—९ अक्टूबर १९३७ पृ० २९२।
३ हरिजन सेवक—८ जून १९४० पृ० १३८।
४ गांधीजी— कान्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम इट्स मीनिंग एण्ड प्लेस' पृ० १८।
५ यंग इण्डिया १५ नवम्बर १९२८, पृ० ३८१।

सबको प्राप्य हैं अथवा होने चाहिएँ। उन्हें दूसरों के शोषण का साधन बना लेना उचित नहीं है।"[1] महात्मा गान्धी के मत से उत्पादन के साधनों और जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं पर किसी देश जाति या जनसमूह का एकाधिकार सर्वथा अन्यायपूर्ण है।

गांवों की ओर चलो—भारत जैसे महादेश के लिये जिसकी ९०% जनसंख्या गांवों में बसती है गांवों की उपेक्षा की दृष्टि से देखना आत्मघात के समान ही है। प्राचीन काल में भारतीय गांव जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं में स्वाश्रयी होते थे पंचायती प्रथा के द्वारा अपना शासन आप करते थे और देश के आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन के मेरुदण्ड बने हुए थे। महात्मा गांधी का ब्रिटिश शासन पर एक गंभीर आक्षेप यह था कि उसने भारत के सात लाख गांवों को मरणासन्न स्थिति में पहुंचा दिया है। उन्होंने देशवासियों को है अपना हिन्दुस्तान कहां वह बसा हमारे गांव में पाठ बार बार पढ़ाया। उनका सन्देश था कि देश के सांस्कृतिक सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर घरबार से वियुक्त एक जगह पड़े रहने वाले मजदूर वर्ग का नहीं अथ पिपासु महाजन या व्यापारी समाज का नहीं प्रत्युत सरल स्वभाव ग्रामीण जनता का प्रभुत्व होना चाहिये। इसी उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने गांवों की ओर चलो का नारा उठाया था। भारत के गांव अशिक्षा-तम अंध-परम्परा और संकीर्ण दृष्टिकोण जैसी असंख्य व्याधियों से पीड़ित हैं। गांधीजी ने लोगों को बताया कि वे सम्वेदनामय हृदय लेकर गांवों में जायें वहां के निवासियों के सुख-दुख में एकरस होकर घुलें मिलें उनकी समस्याओं को सहानुभूति से समझें और उनके समाधान में प्रवृत्त हों। गांधी जी का यह विश्वास था कि यदि गांव नष्ट हो गए तो भारत नष्ट हो जाएगा भारत के अस्तित्व के लिये ग्रामों का उत्थान अतीव आवश्यक है। वह कहा करते थे अब तक हमें जीवित रखने के लिए सहस्रों गांव मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। अब हम उनको जीवित रखने के लिए मृत्यु को प्राप्त होना चाहिए।[2] उनकी ग्राम-स्वराज्य की मान्यता एसे पूर्ण गणराज्य की मान्यता थी जो अपनी बड़ी-बड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने पड़ोसियों से स्वतन्त्र हो लेकिन ऐसी बहुत सी वस्तुओं में जिनमें अन्यो न्याश्रित होना आवश्यक है अन्यो न्याश्रित भी हो।

मशीनों का विरोध—मशीनें जो आधुनिक सभ्यता की केन्द्रबिन्दु हैं गांधीजी की दृष्टि में महापाप हैं क्योंकि वे साप के बिल है जिनके भीतर एक नहीं सकड़ों साप होते हैं। एक के पीछे दूसरा निकलता ही आता है। जहां कल-कारखाने होंगे वहां बड़े शहर होंगे ही। जहां शहर होंगे वहां रेल और ट्राम होनी ही चाहिए। बिजली की रोशनी की जरूरत भी वहीं होती है। मार सच्चे वैद्य डाक्टर से पूछें तो

१ यंग इण्डिया, १५ नवम्बर १९२८ पृ ३८१।
२ यंग इण्डिया १७ अप्रैल' २४ पृ १३०।

वे आपको बताएंगे कि जहाँ रेल ट्रामें आदि बढ़ी हैं लोगों की तन्दुरुस्ती बिगड़ गई है।'[1]

भारत की आर्थिक अधोगति में कल कारखानों की मार का बहुत बड़ा हाथ रहा है। मांचेस्टर की मार ने भारत को जो हानि पहुँचाई है उसकी कोई हद नहीं। भारत के हस्तकला कौशल जो प्राय समाप्त हो गए यह मांचेस्टर की ही कृपा है। गांधीजी के अनुसार भारत में मिलें खड़ी करने से यह अधिक अच्छा होगा कि हम मैंचेस्टर को पैसा दें और उसका रद्दी सद्दी माल इस्तेमाल करें क्योंकि उसका कपड़ा काम में लाने से तो हमारा केवल पैसा ही जाएगा बल्कि हिन्दुस्तान में मांचेस्टर बनाने से हमारा पैसा तो हिन्दुस्तान में रहेगा पर वह हमारा खून लेगा क्योंकि वह हमारे चरित्र का नाश करेगा यह मानना नासमझी ही होगा कि अमेरिका के राकफेलर से हिन्दुस्तान का राकफेलर अच्छा होगा।[2]

मशीनों के ऊपर गांधीजी का मुख्य आक्षेप यह है कि वे श्रम की इतना बचत कर डालती हैं कि हजारों को भूखों मरना पड़ता है और उन्हें तन ढकने तक को कुछ नहीं मिलता।'[3] समय और परिश्रम का बचाव गांधीजी भी चाहते थे लेकिन वह मुट्ठी भर आदमियों के लिये नहीं बल्कि सारी मानव-जाति के लिए आज यन्त्रों के कारण लाखों की पीठ पर मुट्ठी भर आदमी सवार हो बैठे हैं और उन्हें सता रहे हैं क्योंकि इन यन्त्रों को चलाने के मूल में लोभ है धनतृष्णा है जन कल्याण की भावना नहीं है।'[4]

लेकिन गांधीजी यन्त्रमात्र के विरोधी नहीं थे क्योंकि मैं जानता हूँ मेरा शरीर ही एक बड़ा नाजुक यन्त्र है। मेरा विरोध यन्त्रों के सम्बन्ध में फैले दीवानेपन के साथ है यन्त्रों के साथ नहीं।[5] गांधीजी सिंगर की मशीन जैसी उपयोगी मशीनों का कोई विरोध नहीं करते थे। उनका कहना था कि हमें उन घरेलू मशीनों में जिनका प्रयोग लाखों स्त्री पुरुष कर सकें हर प्रकार के सुधार का स्वागत करना चाहिए।

कुटीर-उद्योगों का जीर्णोद्धार—गांधीजी की आर्थिक विचारधारा में कुटीर उद्योगों के जीर्णोद्धार को बहुत आवश्यक स्थान प्राप्त है। उनके अनुसार अहिंसा और केन्द्रित उद्योगों का एक साथ निर्वाह नहीं हो सकता। विशाल यन्त्रवाद प्रकृति और मनुष्य दोनों का शोषण करता है। फलत गांधीजी भारत के औद्योगीकरण के

---

१ गांधी जी— हिन्द स्वराज्य' (हिन्दी) सस्ता साहित्य मण्डल (७) पृ १०९ ११०।

२ गांधी जी, हिन्द स्वराज्य पृ १०७।

३ हिन्दी नवजीवन २ नवम्बर, २४ पृ ९०।

४ 'हिन्दी नवजीवन २ नवम्बर २४' पृ० ९०।

५ हिन्दी नवजीवन २ नवम्बर २४ पृ० ९०।

विरोधी थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने यह स्पष्ट लिखा था जब भारत का औद्योगीकरण हो जाता है और वह दूसरे राष्ट्रों का शोषण प्रारम्भ कर देता है जैसा कि उसके औद्योगीकरण पर अवश्यम्भावी ही है तब वह दूसरे राष्ट्रों के लिए एक अभिशाप संसार के लिए एक खतरा बन जाएगा। क्या आप स्थिति की यह दुर्घटना नहीं देखते हैं कि हम अपने तीस लाख बेकार लोगों के लिए काम पा सकते हैं लेकिन इंगलैंड अपने तीन लाख बेकार लोगों के लिए काम नहीं पा सकता और एक ऐसी समस्या से घिरा हुआ है कि जिसके सम्बन्ध में वहाँ के बड़े बड़े बौद्धिक विचारकों की बुद्धि हैरान है यदि औद्योगीकरण का भविष्य पश्चिम के लिए अन्धकारमय है तो क्या वह भारत के लिए और अधिक अन्धकारमय नहीं होगा।[१]

गांधीजी भारत में खादी और चरखे के प्रचार को अत्यधिक महत्व देते थे। वे खादी को मुक्तिदाता और चरखे को स्वराज्य का सबसे बड़ा हथियार कहा करते थे। चरखा उनके अहिंसक समाज की बुनियादी ईंट था। गांधीजी की दृष्टि में चरखा उनके रचनात्मक कार्यक्रम के ब्रह्माण्ड में सूर्य के सदृश था। उन्होंने बताया कि जिस प्रकार भारत के किसान अपने पेट के लिए अनाज पैदा करके स्वाश्रयी बने हुए हैं उसी तरह वे अपने खेतों में पैदा की हुई कपास को अवकाश में कातकर कपड़ा तैयार कर सकते हैं और विदेशों में जाने वाले करोड़ों रुपयों को बचा सकते हैं। मनुष्य की दो ही बड़ी आवश्यकताएं हैं रोटी और कपड़ा। जब ये उसे स्वतः प्राप्त हो जाएगी उसे दूसरों के मुंह की ओर न ताकना पड़ेगा वह स्वावलम्बी और स्वाश्रयी बन जाएगा। खादी के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी 'स्वराज्य के समान खादी भी राष्ट्रीय जीवन के लिए श्वास जितनी ही आवश्यक है। जिस तरह हम स्वराज को नहीं छोड़ सकते उसी तरह खादी को भी नहीं छोड़ सकते। खादी छोड़ देने के माने होंगे भारत की जनता को बेच देना भारत की आत्मा को बेच देना।[२] महात्मा गांधी ने खादी और चरखे के प्रचार के लिए चरखा संघ की स्थापना की थी। चरखा संघ की शाखाओं प्रशाखाओं ने सारे भारत में फैलकर लाखों लोगों को खादी चरखे का भक्त बनाया।

श्रम और पूंजी—महात्मा गांधी साम्यवादी विचारकों द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में विश्वास न रखकर वर्ग सहयोग और वर्ग सामंजस्य के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। उन्हें श्रमिकों द्वारा पूंजीपतियों का उन्मूलन इष्ट नहीं था क्योंकि उनकी धारणा थी कि पूंजीपतियों का भी चाहे वे कितनी ही शोषक वृत्ति के क्यों न हों हृदय परिवर्तन हो सकता है। गांधीजी के मत में यदि पूंजीपति श्रमिकों के प्रति पितृात्मक भाव अपना लें और उन्हें अपने धनोपभोग में सहभागी बना लें तो वे भी समाज के प्रति अपूर्व उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। अपने एक

१　यंग इंडिया १२ नवम्बर २४, पृ० ३८६।

२　हिंदी नवजीवन—१६ जनवरी २९ पृ० १७३।

वक्तव्य में उन्होंने कहा था श्रमिकों को पदावार के साधनों का सेवक होने के स्थान पर जैसा कि वे आजकल हैं स्वामी होना चाहिए। पूंजी को श्रम का दास होना चाहिए स्वामी नहीं।[1] गांधीजी की श्रमिकों और पूंजीपतियों दोनों के लिए यह सलाह उचित ही थी कि उन्हें एक ओर तो एक दूसरे का तथा दूसरी ओर उपभोक्ताओं का ट्रस्टी बन जाना चाहिए। यदि वे ऐसा कर सकें तो उनके आपसी विवाद नाममात्र को ही रह जाएँगे।

महात्मा गांधी का विचार था कि श्रमिकों को उद्योगों के प्रबन्ध और नियमन में भाग लेने का उचित अवकाश अच्छा वेतन पाने का अधिकार मिलना चाहिए। वर्तमान काल में श्रमिकों की जो दयनीय स्थिति है उससे उन्हें अपार क्षोभ होता और उनका यह बार बार कहना था कि श्रमिकों के नैतिक और बौद्धिक विकास के लिए भगीरथ कोशिश करने की प्रचण्ड आवश्यकता है। यदि पूंजीपति श्रमिकों की न्यायपूर्ण मांगों को पूरा करने के लिए किसी भी प्रकार तैयार न हों तो गांधीजी के अनुसार श्रमिकों को अहिंसक हड़ताल करने का पूरा अधिकार है।

---

१ डा० धवन— 'पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी' पृ २१६।

विश्वबन्धुत्व की भावना से बड़े प्रभावित थे। स्वामी विवेकानन्द व अरविन्द घोष द्वारा प्रतिपादित धार्मिक राष्ट्रवाद के प्रति उनके हृदय में कोई सहानुभूति नहीं थी। राष्ट्रवाद को वे एक भावात्मक वस्तु समझते थे। उनके लिए राष्ट्रवाद स्वयं में एक चमत्कार पूर्ण विचार था उन्होंने लिखा था राष्ट्रवाद वास्तव में गत प्रगतिशील प्रयासों एवं अनुभवों की एक सामूहिक स्मृति है तथा राष्ट्रवाद की भावनायें पहले के युगों की तुलना में आज अधिक शक्तिशाली हैं। जब कभी भी किसी देश पर संकट उपस्थित हुआ है राष्ट्रवाद ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया है।

पंडित जी भारत की मौलिकता तथा उसकी मौलिक एकता के प्रति जागरूक थे। उनका यह विश्वास था कि भारत में विभिन्नतायों के होते हुए भी सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में हमेशा एकता रहा है। यद्यपि वे नास्तिक थे फिर भी उनमें 'भारतमाता' जैसे ग्रन्थ तथा भारतीय आदर्शों के प्रति उनका गहरा लगाव था। राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' (Discovery of India) में लिखा—"राष्ट्रवाद वस्तुतः में पिछली उन्नति प्रयासों तथा अनुभवों की एक सामूहिक स्मृति है। आधुनिक युग की उल्लेखनीय प्रगति यह रही है कि उसने भूतकाल और राष्ट्र की खोज की है।"

पं० नेहरू ने राष्ट्रीय आत्म निर्णय (National Self-determination) के सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया। उन्होंने साम्राज्यवाद का जमकर विरोध किया। स्वाधीनता का प्रश्न उनके मन में केवल भारत का ही नहीं बल्कि ब्रिटिश राज्य के अधीन सभी राष्ट्रों का है। राष्ट्रवाद का समर्थन करते हुए भी वे इसे मनियन्त्रित मित्र और स्थिर हातmत करता की सत्ता देने थे। राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति हमारा ध्यान भूल रहा है। पं० नेहरू ने बताया कि राष्ट्रीयता स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष में लगे देश में एक स्वस्थ शक्ति होती है। देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद वही राष्ट्रीयता अवश्य ही नहीं बल्कि प्रति क्रियावादी एवं संकीर्ण भी बन सकती है। राष्ट्रवाद के नाम पर धर्म जाति एवं संस्कृति का जो सहारा लिया जाता है वह देश की उन्नति में घातक है। पं० नेहरू की दृष्टि में हिन्दू राष्ट्रवाद व मुस्लिम राष्ट्रवाद जैसी कोई वस्तु नहीं थी। वे भारतीय राष्ट्रवाद को स्वीकार करते थे। उन्होंने एक बार कहा था कि यदि राष्ट्रीयता धर्म पर आधारित है तो भारत में दो नहीं अनेक राष्ट्र हैं। इस प्रकार पंडितजी राजनीति अथवा राष्ट्र को धर्म से सम्बन्धित नहीं करना चाहते थे।

मानवतावाद

पंडित नेहरू मानवतावाद के भी समर्थक थे। जनता के दुःख और पीड़ा से वे द्रवित हो जाते थे। भारत में हुए साम्प्रदायिक दंगों से उनका हृदय द्रवीभूत हो जाता था। १९३८ में जब स्पेन गृहयुद्ध की लपटों में झुलस रहा था तब वे प्राणों की बाजी लगाकर भी प्रभावित हिस्सों में घूमे। बारसिलोना में तो वे बम

विस्फोट से बाल-बाल बचे। वे पूर्व एवं पश्चिम के बीच एक मेल स्थापित करना चाहते थे। रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने उन्हें मानवता का सागर कहा था। वे अनेकता के बीच एकता की कड़ी मजबूत करना चाहते थे। मानव विकास के लिए वे बड़ा से बड़ा त्याग करने को तैयार थे। उन्होंने एक बार कहा था कि भारत सेवा का मतलब करोड़ों दुखियों की सेवा है। और हमारे युग के सबसे महान व्यक्ति बापू की यह हार्दिक निष्ठा रही है। उनकी यह तीव्र इच्छा थी कि भारत और संसार के बीच विविधता रह ही नहीं। वे सारी मानव जाति को मानवता के सूत्र में बांधना चाहते थे। गांधीजी की तरह वे वसुधैव कुटुम्बकम के सिद्धान्त के पुजारी थे।

नेहरू की दृष्टि में कल्याणकारी राज्य

गांधीजी की भांति नेहरू भी भारत को एक लोक कल्याणकारी राज्य बनाने हेतु तत्पर थे। भारत में [illegible] समाजवादी समाज तथा योजनाओं का कार्यान्वन करने का यही उद्देश्य था कि भारत एक कल्याणकारी [illegible] राज्य बन सके। इस दृष्टि से [illegible] सविधान की रचना के पक्ष में थे जिसका उद्देश्य [illegible] कल्याण [illegible] प्रतिष्ठा [illegible] समस्याओं [illegible] तथा [illegible] उनका प्रयास [illegible] रहा। स्त्रियों [illegible] सुधारने के लिए [illegible] उनको भी [illegible] समाज [illegible] सामाजिक राजनैतिक व [illegible] अधिकार [illegible] करवाये। इसी प्रकार [illegible] पंचवर्षीय योजनाओं के [illegible] कल्याण की योजनाओं पर [illegible] दिया जिसमें पुरुषों [illegible] समाज [illegible] सुधारने [illegible] पंचवर्षीय योजनाओं [illegible] जनता की [illegible] के साधनों की सुविधा [illegible] [illegible] नेहरू का [illegible] था। [illegible] योजनाओं [illegible] उत्थान करने की दृष्टि [illegible] उचित [illegible] की योजनाएँ समय समय पर निर्मित कीं। [illegible] विस्तार [illegible] अधिक [illegible] जिससे अधिक से अधिक जनता लाभान्वित हो सके।

नेहरू तथा भारत की विदेश नीति

भारत की विदेश नीति के प्रमुख [illegible] पण्डित नेहरू ही माने जाते हैं। स्वतन्त्रता के पहले भी भारत की विदेश नीति के [illegible] गांधी व अन्य राष्ट्रनायकों ने [illegible] स्वतन्त्रता के बाद नेहरू व [illegible] ने भरा [illegible]। विश्व के किसी

भी देश की विदेश नीति पर किसी व्यक्ति का इतना प्रभाव नहीं पड़ा होगा जितना कि पं० नेहरू का। यदि भारत की विदेश नीति को नेहरू की नीति ही कह दिया जाय तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आज तक भी उन रेखाचित्रों में कम कम नहीं हुआ बल्कि वह निखरती जा रही है। एक तरह से उसकी अग्नि परीक्षा होती रहती है। भारतीय विदेश नीति की स्पष्ट अभिव्यक्ति उनके ही समय-समय पर दिये गये व्याख्यानों से हुई है। संसद या दल की बैठकों में या विदेश में कहीं न कहीं उनके मधुर वचनों द्वारा सदा ही बार-बार विशिष्ट गति के साथ भारतीय विदेश नीति सम्बन्धी विचारों की पुनरावृत्ति होती रही है। नेहरू के विलक्षण नेतृत्व के कारण ही भारत की विदेश नीति का जो विषय पेचीदा था सरल विषय बन गया है। इण्डोनेशिया की आज़ादी का जनक वहाँ की जनता सुकार्णो के बाद नेहरू को ही मानती है। आज़ादी के बाद एक बार कांग्रेस अधिवेशन में इण्डोनेशिया के सम्बन्ध में चर्चा चल रही थी तब गृह मन्त्री सरदार वल्लभ भाई पटेल ने कहा था "इण्डोनेशिया विश्व के नक्शे में कहाँ स्थित है और इस सम्बन्ध में जो रहस्य बना है मैं कुछ नहीं जानता। यह पं० नेहरू के क्षेत्र का विषय है और वे ही इसके बारे में सही स्थिति प्रकट कर सकते हैं।

७ सितम्बर १९४६ को अन्तरिम सरकार के प्रधानमन्त्री की हैसियत से राष्ट्र के नाम सन्देश प्रसारित करते हुए पं० नेहरू ने कहा था "हम यथा सम्भव शक्ति द्वारा पोषित गुटों से अलग रहने का प्रयत्न करेंगे। क्योंकि शक्ति गुटों के कारण दो विश्व युद्ध हो चुके हैं और वे पुनः एक भयंकर विनाश की ओर अग्रसर कर सकते हैं। हमारा विश्वास है कि शांति और स्वतन्त्रता अविभाज्य है। पराधीन देशों और उपनिवेशों की स्वतन्त्रता में हमें दिलचस्पी है। हम जातिवाद की नाज़ीवादी विचार धाराओं के विरोधी हैं। आज की दुनिया प्रतिद्वन्द्विता घृणा और आन्तरिक संघर्षों के बावजूद भी अधिक सहयोग और विश्व निर्माण की ओर बढ़ रही है। विश्व में एकता स्थापित हो इसके लिए स्वतन्त्र भारत प्रयास करेगा। ऐसे जगत के लिए स्वतन्त्र लोगों का स्वतन्त्र सहयोग होगा। इस कारण कोई एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण नहीं कर सकेगा। नेहरू की विदेश नीति क्षणिक विचारधारा का परिणाम न था। वह दुनिया की परिस्थितियों पर यथार्थवादी दृष्टि से एक लम्बे समय के अनुभवों व विचारों का परिणाम थी। उस नीति में एक अच्छी नीति के सभी गुण विद्यमान रहे हैं। इसमें आदर्शवाद और यथार्थवाद का समन्वय है। इस नीति का नाम या तटस्थता या निर्गुट विदेश नीति (Positive neutrality or Non alignment)। यदि हम भारत की विदेश नीति की व्याख्या करें तो संक्षिप्त शब्दों में इसका यह अर्थ है कि भारत किसी भी गुट का सदस्य नहीं होगा उसकी एक स्वतन्त्र नीति होगी। भारत विश्व के प्रपंचों में सही चीज़ का समर्थन करते हुये शीत-युद्ध से पृथक रहने का प्रयत्न करेगा और प्रत्येक विषय पर अपना निर्णय विषय की योग्यता के

अनुसार देगा। इस नीति का अर्थ यह नहीं है कि भारत अवसरवादिता का समर्थन करेगा या विश्व के झगड़ों में निष्क्रिय बना रहेगा। भारत की विदेश नीति को तटस्थता की आधार शिला पर टिकी हुई मानें तो कुछ अर्थों में पं० नेहरू के अनुसार यह अर्थ हमारी नीति के लिए गलत सिद्ध होता है। क्योंकि तटस्थता का अर्थ किसी भी मामले में भाग न लेना और न ही अपनी राय व्यक्त करना है। तटस्थता की नीति को पं० नेहरू ने असंलग्नता की नीति कह कर उसका स्पष्टीकरण किया है। भारत जैसे देश जिसमें पश्चिमी बेकारी घन उत्पादन आदि समस्यायें विद्यमान हैं इन परिस्थितियों में नेहरू प्रदत्त विदेश नीति ही ज्यादा सफलता प्राप्त कर सकती है। साथ ही इस नीति में भारतीय संस्कृति के गुण भी सम्मिलित हैं। वाह्य दृष्टि से इसका अवलोकन करें तो यह नीति सर्वोत्तम दृष्टिगत होती है।

आज विश्व को राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से नियन्त्रण करने का रूस और अमरीका दोनों ही प्रयास कर रहे हैं। दोनों ही राष्ट्र अत्यन्त प्रभावशाली हैं। विश्व दो गुटों में बटा हुआ है जिसमें एक का नेतृत्व अमरीका के हाथ में है तो दूसरे का रूस के। दोनों की शान्ति में विश्व शान्ति और दोनों के विरोध में विध्वंस निहित है। ऐसी परिस्थितियों में किसी गुट से मिलने का अर्थ विनाश की सम्भावनाओं को बढ़ाना व राष्ट्र की उन्नति का विनाश करने में सहायता ही होता है। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि दोनों महाशक्तियों के बीच में सन्तुलन कायम रखा जाय। भारत जैसे स्वतन्त्र और तटस्थ राष्ट्र ने असंलग्न राष्ट्रों का नेतृत्व रखते हुए इस दिशा में प्रयत्न किये हैं। इस नीति के पीछे मानवता का प्रश्न भी छिपा हुआ है। भारत की प्रति-ज्ञा यह थी कि इन गुटों के बीच व्याप्त भयंकरता व विनाश के बादलों को दूर करने के लिए अपने नैतिक प्रभाव का उपयोग करें। नेहरू ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया और उनके प्रभाव व सद्भावना की वजह से ही कई अफ्रीका व एशिया के स्वतन्त्र देशों ने उनकी नीति का अनुसरण किया है। यहाँ तक कि प्रायः सभी स्वतन्त्र राष्ट्र भी तटस्थता की नीति को स्वीकार करके एक तीसरे गुट का निर्माण करने में संलग्न हैं। यह सब नेहरू के ही परिश्रम का परिणाम है कि आज त्रिगुट नीति का पालन करने वाले राष्ट्रों की आवाज इतनी शक्तिशाली बन गई है कि कोई भी महाशक्ति उसकी अवहेलना नहीं कर सकती। इस नीति के समर्थन ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि तटस्थ नीति का उद्देश्य अन्याय व अत्याचार के प्रति समर्थन नहीं है। भारत ने स्वेज नहर सम्बन्धी नीति का उतना ही विरोध किया जितना कि रूस और हंगरी का।

स्वतन्त्रता मिलने के उपरान्त भारत के सम्मुख सबसे बड़ा प्रश्न भारतीयों के जीवन-स्तर को सुधारना था। इसके लिये आर्थिक नीति के लिए विदेशी व आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। यह सब विदित है कि इसे तटस्थता की नीति के कारण ही दोनों बड़े राष्ट्रों से आर्थिक व तकनीकी सहायता मिलती रही है। पं० नेहरू

के प्रयत्नो से प्राप्त विदेशों की सहायता पर आधारित कई कारखानों व उद्योगों का निर्माण सम्भव हो सका है। आज एशिया और अफ्रीका के बहुसंख्यक राष्ट्र हमारी नीति के समर्थक हैं। १६५५ में एशियाई राष्ट्रों के बाण्डुग सम्मेलन में भारत का सफल नेतृत्व रहा। नेहरू ने अपनी विदेश नीति की आधार शिला पचशील के सिद्धान्त को उस सम्मेलन मे रखा जिसे सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी राष्ट्रों ने स्वीकार किया। भारत सदैव दक्षिणी अफ्रीका मे व्याप्त रग भेद की नीति का विरोध करता रहा है तथा नि शस्त्रीकरण के लिए कई योजनाओं का प्रारूप भी प्रस्तुत करता रहा है। भारत की विदेश नीति दूरदर्शिता की नीति थी जिसके परिणामस्वरूप दोनों शक्तिशाली गुटों से सहायता मिलती रही है। चीन के आक्रमण से विश्व में यह लहर फैल गई थी कि रूस अपने अनुज भाई चीन की सुनकर सहायता करेगा तथा भारत पूँजीवादी गुट की तरफ मिल जायगा किन्तु सब बातें स्वप्न मात्र हो रही। भारत की तटस्थता की नीति के कारण ही आक्रमण के समय रूस ने भारत को २१ मिग (Mig 21) विमान दिये यह एक तरह से भारत की तटस्थता की नीति की ही भारी सफलता है। नेहरू की दूरदर्शिता के कारण ही सकट जल्दी ही टल गया अन्यथा किसी गुट में मिलने से दीर्घकालीन सघर्षों के लिए बाध्य होना पड़ता।

नेहरू की मृत्यु के उपरान्त उनके उत्तराधिकारी लालबहादुर शास्त्री ने यह घोषणा की थी कि वे विदेश नीति के क्षेत्र में नेहरू के पदचिन्हों का ही अनुसरण करते रहेंगे। भारत-पाक युद्ध के दौरान नेहरू की तटस्थता की नीति के कारण ही शास्त्री सफलता पा सके जबकि दूसरी ओर पाकिस्तान को अमरीकी गुट का सदस्य होते हुए भी पराजय का मार्ग ग्रहण करना पड़ा। आज चीन अणुशक्ति सम्पन्न राष्ट्र बन गया है तब भी भारत अपनी पुरानी नीति पर ही अटल है। रूस के ख्रुश्चेव व कोसीगन अमेरिका के आइजन हावर तथा कनेडी सयुक्त राष्ट्र सघ के भूतपूर्व महासचिव डाग हैमरशोल्ड मलाया के टकू दुल रहमान आदि जैसे अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं ने हमारी विदेश नीति की प्रशसा की है तथा नेहरू को विश्व का महान् नेता व दूरदर्शी राष्ट्रनायक की उपाधि से विभूषित किया है।

उपसहार

नेहरू भारत में एक नवयुग के निर्माता थे। यद्यपि कई आलोचकों ने उनके जीवन व विचारों की कड़ी आलोचनायें की हैं और उनके विचारों व सिद्धान्तों में सत्यता तथा वास्तविकताओं की कमी बताई है। कुछ आलोचकों का मत है कि कश्मीर विवाद चीन भारत सघर्ष आदि नेहरू के हस्तगत काम हैं। उनकी नीति में स्वेच्छाचारिता का भय रहा है, फिर भी यह निस्सन्देह रूप से कहा जाता है कि विश्व स्तर पर भारत की विदेश नीति पूर्ण रूप से सफल रही है। आज भी भारत उसी विदेश नीति का ही अनुगामी है। भारत अपने राष्ट्रीय हित की रक्षा के लिए सभी शक्तिपूर्ण तरीकों का सहारा लेता है। जिस समय नेहरू ने इस नीति की नींव डाली थी उस समय उनके कोई समर्थक नहीं थे लेकिन कुछ ही वर्षों में इस नीति की सफलता को देखकर

एशिया व अफ्रीका के अधिकांश राष्ट्रों ने नेहरू की नीति को ग्रहण किया। ऐसी नीति का निर्माण पं० नेहरू जैसे योग्य और महान् विचारक ही कर सकते थे। इस नीति के हेतु भारत ने जो भी सफलता प्राप्त की है उसके लिए पंडित जी ही प्रशंसनीय हैं। पंचशील भी पं० नेहरू की देन है। २३ सितम्बर १९५४ ई० को पं० नेहरू ने पंचशील के सिद्धान्त की नींव रखी थी जिसका आरम्भ सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चीन व भारत में मैत्री की आधारशिला के रूप में हुआ। पंचशील शब्द का आधार पंच पत्थर एवं अंगुलियां भगवान बुद्ध के पांच सिद्धान्त अथवा इस्लाम की पांच धार्मिक रीतियों पर आधारित है। २ अप्रैल १९५५ तक बर्मा, चीन, लाओस, नेपाल, वियतनाम, युगोस्लाविया और कम्बोडिया ने इसे स्वीकार कर लिया था। एशिया तथा अफ्रीका के सभी राष्ट्रों ने इन सिद्धान्तों की प्रशंसा की। यह निश्चित रूप से स्पष्ट है कि यदि राष्ट्र इस नीति का स्वाभाविक व हार्दिक रूप से पालन करें तो विश्व की अधिकांश समस्यायें सहज रूप से ही सुलझाई जा सकती हैं।

भारत ने पंचशील व तटस्थ नीति की आज तक रक्षा की है। इस नीति को अपनाये रहने में कई बार बाधायें आई किन्तु इस नीति की एक तरह से इन बाधाओं में अग्नि-परीक्षा हो चुकी है तथा यह खरी साबित हुई है। जब प्रथम बार अक्टूबर १९६२ में चीन ने भारत पर आक्रमण किया और भारत की चौकियां छीन लीं तब विरोधियों के मुंह से यह आवाज उठने लगी थी कि अब भारत को अपनी तटस्थता की नीति का त्याग कर देना चाहिए और किसी गुट में सम्मिलित हो जाना चाहिए, किन्तु कितने ही विरोध के पश्चात् भी नेहरू अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। इस नीति की दृढ़ता के फलस्वरूप ही हमें दोनों गुटों से बराबर सहयोग व समर्थन प्राप्त हो रहा है।

पं० नेहरू के अंतिम वर्षों में उनके समाजवाद की जो आलोचना की गई। उसमें व्यावहारिकता के स्थान पर आदर्शवाद अधिक रहा है। उनके हिन्दू धर्म विरोधी विचार अत्यन्त त्रुटिपूर्ण समझे गये हैं। उनके व्यक्तित्व के लिए यह भी कहा गया है कि वे अपने निजी जीवन में शान्त जीवन बिताने के अभ्यासी नहीं थे। इसके साथ ही पश्चिमी चरित्र के अच्छे पारखी नहीं माने जाते थे। अनुशासन व प्रशासकीय दृष्टि से उनमें दुर्बलता व शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता नहीं थी परन्तु भारतीय चरित्र की ये साधारण कमियां कोई गम्भीर महत्व की घटना न थी। निस्सन्देह पं० नेहरू शान्ति-नायक थे। स्वभाव से वे अत्यधिक भावुक व्यक्ति थे। दानशीलता और मानवता उनके जीवन में कूट कूट कर भरी हुई थी। आज भी भारत के अधिकांश जीवन के क्षेत्र में उनके व्यक्तित्व की छाप मौजूद है। वे महान लोकनायक थे। विश्व में शायद ही ऐसा नेता पैदा हुआ हो जिसे अधिकांश जनता हृदय से इतना प्यार करती हो जितना कि वे चाचा नेहरू को करते रहे। वे बच्चे-बच्चे के हृदय में समाये हुए थे।

प. नेहरू को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी शान्ति दूत के नाम से गौरवान्वित होने का सौभाग्य प्राप्त है। नेहरू के व्याख्यानों को सुनने के लिए भारतीय जनमानस लालायित रहता था। दोष किस व्यक्ति में नहीं होता जबकि वे तो सारे राष्ट्र की बागडोर सम्भाले हुए थे, इस कारण उनमें कहीं त्रुटियां होना स्वाभाविक ही था। उनमें प्रमुख दोष यही था कि वे अपने निर्णयों को मानव की सहज व सुजीन प्रकृति को सामने रखकर देख पाते थे। वे एक महान राष्ट्रभक्त शान्ति तथा शान्ति के प्रबल समर्थक थे। नेहरू की प्रतिभा में एक ऐसी ज्योति की लौ थी जो कि भयंकर से भयंकर तूफानी हवाओं में भी निरन्तर प्रज्वलित रहती थी। उनको भारत का लिंकन भी मानते हैं वे जनमानस के नेता थे। भारत का जनमानस उस महान शक्ति की सेवाओं को कभी नहीं भूल सकता। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् भी उनके शान्ति समर्थन व युद्ध विरोधी विचारों का सदैव आदर करता रहेगा।

लालबहादुर शास्त्री एवं उनके विचार

हम रहें या न रहें लेकिन यह झण्डा रहना चाहिये और देश रहना चाहिए। और मुझे विश्वास है कि यह झण्डा रहेगा हम और आप रहें या न रहें लेकिन भारत का सिर ऊंचा होगा। भारत दुनिया के देशों में एक बड़ा देश होगा और शायद भारत दुनिया को कुछ दे भी सके।
—लाल बहादुर शास्त्री

प्रखर राष्ट्रीयता के पृष्ठ पोषक शील सम्पन्न मानवता के प्रतीक कर्मठ एवं साहसी लौह पुरुष श्री शास्त्रीजी का जन्म एक साधारण गरीब परिवार में हुआ था। साधारण सम्पूर्णमय शिक्षा उपलब्धि के साथ ही राष्ट्र सेवा एवं मानवता की सेवा आपके आजीवन उद्देश्य थे। मानव-सेवा व देश सेवा की प्रवृत्ति ने आपको मानवता के सबसे बड़े पुजारी के आसन पर आरूढ़ होने में हाथ बटाया। एक अत्यन्त साधारण परिवार से उठकर शास्त्रीजी राष्ट्र की राजनीति में प्रखर बनकर चमक उठे। उनकी दृढ़ निश्चयी कर्मनिष्ठा ने उन्हें ऊपर उठाया तथा भारतीय जनता का आराध्य बना दिया। उनके चरित्र ने यह स्पष्ट कर दिया कि व्यक्ति जन्म से ही नहीं अपितु स्वकीय गुणों से महान बनता है। उन्होंने अपने कर्मठ जीवन के द्वारा यह सिद्ध करके दिखा दिया कि एक निर्धन परिवार में जन्म लेकर भी एक सम्मानजनक अर्पित उच्च स्थान को प्राप्त कर सकता है। शास्त्रीजी केवल त्याग सेवा और सद्गुणों के सहारे ऊंचे उठते जाये और उन्होंने देश को सफल नेतृत्व प्रदान किया। भारतीय संस्कृति में जो भी श्रेष्ठ और अभिजात है शास्त्री जी उसके सच्चे प्रतीक थे। उनके महान चरित्र की विशेषता उनकी सादगी दृढ़संकल्प शक्ति शुद्ध आचरण और अध्यवसाय था। उनमें सन्तुलन बनाये रखने कठिन परिस्थितियों में झगड़े और समझौता कराने की विशेष प्रतिभा थी। वे सत्य अध्ययन प्रिय व सहृदय व्यक्ति रहे। वे विश्व शान्ति के प्रखर पुजारी थे। राष्ट्रीय हित शास्त्रीजी का चरमोत्कर्ष

लक्ष्य था और इसी साधना में तल्लीन यह महा-मानव राष्ट्र के नाम इस मानवता को अपने अमूल्य विचार अभिव्यक्त कर विश्वशान्ति एवं मैत्री के लिए बलिदान हो गया। समय समय पर वह अपने मानवतावादी विचार अभिव्यक्त किया करते थे। उन्होंने राष्ट्र एवं भावना के विभिन्न पहलुओं को अपनी सूक्ष्म एवं महत् बुद्धि से परखा एवं समयोचित समाधान किया। विभिन्न पहलुओं पर उनके विचार निम्न प्रकार हैं–

कुशल राजनीतिक नेता

शास्त्रीजी एक सफल राजनेता थे। प्रत्येक राजनीतिक प्रश्न का समाधान अपनी अपूर्व विद्वत्ता से करते थे। गीता के योग कर्मसु कौशलम् में उनकी पूर्ण आस्था थी। अतः प्रत्येक समस्या का समाधान अपने अद्भुत नेतृत्व के कारण महत्त्वपूर्ण ढंग से करते थे। पं. गोविन्द वल्लभ पंत इनके राजनीतिक गुरु थे। शास्त्रीजी की मेधा कर्मठता दृढ़ता कर्त्तव्यनिष्ठा और आत्म विश्वास में अटूट आस्था था। सादगी पूर्ण जीवन एवं मानवता की सेवा ही वे नेतृत्व की कसौटी मानते थे। त्यागमय निष्ठा एवं कर्तव्य परायणता साहस एवं दृढ़ आत्मविश्वास को वे सफल राजनेता के प्रमुख गुण मानते थे। इन्हीं सीढ़ियों से यह महामानव आगे बढ़ा। समानता एवं मानव अधिकार में उनकी अटूट श्रद्धा थी। यही कारण था कि उन्होंने सभी विरोधी दलों का विश्वास प्राप्त कर लिया। राष्ट्रहित को प्रमुखता देकर उन्होंने प्रत्येक समस्या का समाधान करना उचित समझा। यही गुण उनके राष्ट्रीय नेतृत्व में सफल सिद्ध हुआ।

नेहरू-युग के पृष्ठपोषक

लालबहादुर शास्त्री अपने प्रधान मन्त्रित्व काल के पूर्व नेहरू के प्रत्येक कार्य में हाथ बंटाया करते थे। यही कारण था कि पं. नेहरू का शास्त्री पर महान् विश्वास था। वे जानते थे कि शास्त्री जी मेरे बाद देश को बागडोर अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा, स्वच्छता एवं नेतृत्व के कारण सम्हालेंगे और वस्तुतः ऐसा ही हुआ। शास्त्री जी ने नेहरू के प्रत्येक हाव भाव एवं विचार को पूर्णतया ग्रहण किया। नेहरू द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुगमन शास्त्री जी ने किया क्योंकि वे नेहरू के प्रति अपनी अन्धी भक्ति रखते थे। नेहरू द्वारा स्थापित परराष्ट्र नीति का भी उन्होंने अनुसरण किया और उसे कार्यान्वित भी किया।

शास्त्रीजी सामाजिक उन्नति की आवश्यकता पर जोर देते थे। समाज-सेवा उनके जीवन का लक्ष्य था। वे भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक थे। उनकी मान्यता थी कि आज इस जनतन्त्र के युग में समाज का महत्वपूर्ण स्थान है। समाज की उन्नति पर ही राष्ट्र की उन्नति अवलम्बित है। अतः सामाजिक सुधार के वे बड़े पक्षपाती थे। भारतीय समाज की अवनत विकल्पित स्थिति से उनका मानस सदैव व्यथित रहता था। सामाजिक सुधार के लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन

सादगीमय स्पष्ट साध्य, सत्यव्रती एवं मानव कल्याण के हित चिन्तन के रूप में बिताया। वे मुख्यतः अद्धविकसित एवं निम्न जातियों को ऊपर उठाने में व्रत संकल्प थे। तत्कालीन भ्रष्टाचार एवं अवसरपरस्त वातावरण से उनका मन सन्तप्त रहता था। वे भ्रष्टाचार विरोधी थे। पक्षपात एवं निम्न प्रवृत्तियाँ उनसे कोसों दूर थीं। वे समाज को दृढ़ चरित्र एवं व्रत अनिष्ठ बनाने के पक्षपाती थे।

उनका ईश्वर में विश्वास एवं धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा थी। ईश आराधना उनके दैनिक जीवन का महत्वपूर्ण आहार था। सभी धर्मों के प्रति उनके हृदय में सम्मान था। मानव मानव भाई भाई उनका मूलमन्त्र था। वे समाज एवं राष्ट्र सेवा को ही समाज के विकास का प्रमुख आधार मानते थे। उन पर हिन्दू धर्म के कट्टर अनुयायी होने का आरोप पाक विदेश मंत्री भुट्टो जैसे व्यक्ति लगा सकते हैं लेकिन साम्प्रदायिकता की भावना उनसे कोसों दूर थी।

आर्थिक विकास एवं राष्ट्रोन्नति

शास्त्री जी हृदय से एक सच्चे समाजवादी भी थे और उनका प्रयत्न हमेशा यही रहा कि देश की राजनीतिक आर्थिक सामाजिक सभी नीतियाँ समाजवाद स्थापित करने में सहायक हों। आर्थिक क्षेत्र में वे व्यावहारिकतावादी थे। उनका अपना स्वकीय आर्थिक दृष्टिकोण था जो महात्मा गांधी एवं जवाहरलाल नेहरू के आर्थिक आदर्शों पर आधारित था। योजनाबद्ध तरीके से आर्थिक विकास एवं राष्ट्रोन्नति में उनकी पूरी आस्था थी। जनसाधारण की समृद्धि में उनका विश्वास था। उनके मतानुसार भारत में योजनाओं का उद्देश्य जनता पर से दरिद्रता का बोझ कम करना ही होना चाहिए। वैज्ञानिक उपकरणों में उनकी पूरी आस्था थी।

वे राष्ट्रीयकरण के पक्ष में अधिक नहीं थे। शान्तिवादी व्यक्ति होने के नाते किसी व्यक्ति को अनावश्यक आघात पहुंचाना वे उचित नहीं समझते थे। उनका यह विश्वास था कि निजी उद्यम और सार्वजनिक उद्यम में निरन्तर विकास के लिये देश में काफी गुंजाइश है। वे एक स्पष्ट एवं सन्तुलित आर्थिक व्यवस्था के हिमायती थे। यही कारण था कि राजनीतिक वातावरण का प्रभाव उन्होंने आर्थिक कार्य साधन पर नहीं आने दिया। वे स्वतन्त्र उद्योगपतियों एवं व्यापारियों से निरन्तर कहा करते थे कि उन्हें अपनी सामाजिक एवं नैतिक जिम्मेदारियाँ समझनी चाहिए क्योंकि तभी एक न्यूनतम जीवन-स्तर की प्राप्ति सम्भव है। वे मुनाफे को अधिक प्रश्रय न देकर श्रमिकों को प्रबन्ध की ओर बढ़ाने के पक्षपाती थे। शास्त्री जी गांधीजी के इस दृष्टिकोण से सहमत थे कि भारत में ग्रामीण एवं लघु उद्योगों की स्थापना पर बल दिया जाना चाहिये परन्तु बड़े उद्योगों की स्थापना एवं उन्नति को भी वे उतना ही आवश्यक समझते थे। वे देश के आर्थिक विकास के लिये हर सम्भव प्रयत्न के लिये कटिबद्ध थे। वे बचत के बड़े पक्षपाती थे। आर्थिक आत्मनिर्भरता उनका प्रमुख लक्ष्य था।

कृषि एवं ग्राम्य विकास

खाद्य समस्या भारत की प्रमुख समस्या रही है। शास्त्री जी हर सम्भव प्रयत्न से इसका हल ढूंढना चाहते थे। वे निजी जीवन में सन्तुलित आहार के पक्षपाती थे। कृषि उत्पादन उनका विशिष्ट लक्ष्य था। उनकी मान्यता थी कि उपज बढ़ाकर ही मातृभूमि की समुचित सेवा सम्भव हो सकेगी। अतः वे सिंचाई योजना विशेषतः लघु सिंचाई योजना एवं खाद्य उत्पादन के पक्षपाती थे। उनकी मान्यता थी कि सुगम सुलभ साधनों का विवेक से प्रयोग कर उपज बढ़ायी जा सकती है।

ग्रामीण जनता से उन्हें अधिक स्नेह था। भारत की सच्ची आत्मा ग्रामों और विशिष्टतः किसानों में निवास करती है। गांवों की उन्नति राष्ट्र की समृद्धि है। वे यह मानते थे कि देश का धन जमीन से पैदा होता है। राष्ट्र की आय बढ़ाने और देश को समृद्ध बनाने का दायित्व इस प्रकार प्रत्येक कृषि प्रधान देश में किसानों के विभिन्न कार्यों का ही आश्रय लेता है। ग्राम निर्माण एवं कृषि उत्पादन का प्रमुख आधार उनके शब्दों में पंचायती राज है। उनके शब्दों में पंचायत राज का सबसे जरूरी काम ज्यादा से ज्यादा कृषि उत्पादन कर देश की माली हालत सुधारना है। कृषि उत्पादन में आत्म निर्भरता देश की आर्थिक उन्नति की नींव है। उनका विश्वास था कि जहाँ दिन और इतना है वहां सफलता में सन्देह कहां। किसान एवं सैनिक ही देश के प्रमुख एवं सजग प्रहरी हैं। इसलिये उन्होंने उद्घोष किया था जय जवान जय किसान।'

विज्ञान एवं तकनीकी

श्री शास्त्री भारतीय संस्कृति के पृष्ठपोषक होने के साथ ही वैज्ञानिक उपकरणों एवं तकनीकी में अटूट विश्वास करते थे। उनकी मान्यता थी कि हम वैज्ञानिक प्रगति की अवहेलना कर विश्व में अपना अस्तित्व नहीं बना सकते। अतः राष्ट्रीय स्तर के अनुकूल हम इनका अनुकरण करना समयोचित है। शास्त्रीजी भारत की प्राचीन संस्कृति और आधुनिकता का सुन्दर सम्मिश्रण चाहते थे। उनका विश्वास था कि जब तक विज्ञान और टेक्नालाजी के क्षेत्र में हम अपने पैरों पर नहीं खड़े होंगे तब तक हमारी प्रगति अवरुद्ध रहेगी। चाहे वह खाद्यान्न का क्षेत्र हो औद्योगिक उत्पादन का क्षेत्र हो चाहे रक्षा का विज्ञान टेक्नालाजी के सहारे ही हम आत्म निर्भर हो सकते हैं।

मानवता विध्वंसक वैज्ञानिक उपकरणों में उनकी आस्था नहीं थी। वे अणु बम के घोर विरोधी थे। उनके प्रधान मंत्री काल में चीन ने दो बार परमाणु बम विस्फोट किए और सभी ओर से यह पुकार होने लगी कि भारत भी परमाणु बम बनाये। लेकिन उन्होंने नेहरू की नीति को निभाते हुये स्पष्ट कर दिया कि भारत परमाणु बम बनाकर अपनी अर्थव्यवस्था को खतरे में नहीं डालना चाहता। परमाणु के रचनात्मक प्रयोगों में उनकी आस्था थी। इनके अनुसार परमाणु बम विश्व शांति के लिए सबसे बड़ा खतरा है।

सुदृढ़ युद्ध नेता युद्ध सम्बन्धी विचार

शास्त्री जी स्वभाव से ही शान्तिप्रिय व्यक्ति थे। फिर भारत में शान्ति की दुहाई देने वाले राष्ट्र के सर्वोच्च पद पर आसीन होने के पश्चात् उनका शान्ति स्वरूप और मृदु होना स्वाभाविक था। लेकिन जब कोई ऊपर ही आ पड़ता है तो चुप बैठे रहना उनका सिद्धान्त नहीं था। भारत सदैव पाकिस्तान व चीन के साथ मित्रता का इच्छुक रहा है शास्त्री ने भी इस लकीर को पीटा। लेकिन वह लौह पुरुष इसके अन्ध भक्त भी नहीं थे। युद्ध से उन्हें घृणा थी। मानवता के चिर प्रतिस्मृत पुजारी वे मानवता का ध्वंस नहीं चाहते थे। पर वह समय देश की एकता, प्रभुसत्ता और प्रभुसत्ता पर किसी की चुनौती सहन करने वाले भी नहीं थे। शक्ति का जवाब शक्ति से देने के वह पक्षपाती थे। समझौते के पक्षपाती थे। प्रथम बार जब पाकिस्तान ने आक्रमण किया तो ब्रिटेन की मध्यस्थता स्वीकार कर समझौता किया। पर पाकिस्तान ने फिर दुबारा भीषण आक्रमण किया उसका सामना भी किया। इस वीभत्स और भयानक युद्ध में वे हिमालय जैसे अडिग रहे। उनको अपनी जनता पर पूर्ण विश्वास था अतः डटकर वे सामना करते रहे। वे यह मानते थे कि प्रत्येक भारतीय भारत का मस्तक न झुकने पाये और उसका झण्डा ऊंचा रहे इसके लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार है। इसी दृढ़ आत्मविश्वास ने उन्हें युद्ध-नेता बना दिया।

भारतीय विदेश-नीति

परराष्ट्र नीति के सम्बन्ध में वे नेहरू के आदर्शों के प्रतीक थे। तटस्थता में उनकी आस्था नहीं थी। वे तटस्थता के पृष्ठपोषक थे पर सक्रिय असमानता के। प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय मामले में भारत को अपना महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा कराने के पक्षपाती थे। विश्व के सभी राष्ट्रों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना उनका प्रमुख ध्येय था। मानवीय सभ्यता संयुक्त राष्ट्र संघ में उनकी पूरी आस्था थी। अविकसित राष्ट्रों के उत्थान के समर्थक थे। उनके प्रति शास्त्री की गहरी सहृदयता थी। प्रत्येक राष्ट्र की सार्वभौम सत्ता का वे आदर करते थे।

असंलग्नता की नीति को शास्त्री ने सक्रिय रूप दिया था। किसी गुट में शामिल न होकर शान्तिमय तरीकों से राष्ट्र नीति उनका प्रमुख आधार था। उनके शब्दों में यही नीति राष्ट्रीय हित का सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। अविकसित एवं अर्द्ध विकसित राष्ट्रों के लिए यही नीति श्रेयस्कर है।'

पड़ोसी राष्ट्रों के प्रति व्यवहार सफल चाणक्य

शास्त्रीजी पड़ोसी राष्ट्रों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के पक्षपाती थे। उनका विश्वास था कि हम उन्नति तभी कर सकते हैं जब पड़ोसियों के साथ सौहार्दता का व्यवहार हो। वे एशिया महाद्वीप की प्रगति शान्तिमय परिस्थितियों में ही सम्भव मानते

थे। चीन व पाकिस्तान कट्टर शत्रु होते हुये भी शास्त्रीजी उनकी मित्रता के लिये कटिबद्ध थे। प्रधानमंत्री श्री शास्त्री ने पदग्रहण करने के बाद दिनांक ११ जून १९६४ की रात पहली बार अपने राष्ट्र व्यापी ब्राडकास्ट में भारत और पाकिस्तान के बीच सम्भावना मैत्री और पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता पर जोर दिया और कहा कि ये न केवल दोनों देशों के लिये आवश्यक होगे बल्कि एशिया की शांति और समृद्धि में भी इनका बहुत बड़ा योगदान रहेगा। अफ्रोकी एशियाई एकता के श्री शास्त्री समर्थक थे। चीन के साथ भी वे शान्तिमय वार्ता के उत्सुक थे। अत पड़ोसी राष्ट्रों के प्रति उनकी नीति शांतिमय मित्रता एवं सहयोग पूर्ण थी। अल्पविकसित राष्ट्रों को यथा सम्भव सहयोग देने के वे पूर्ण पक्षपाती थे।

शास्त्री एक सफल चाणक्य भी थे। पड़ोसी राष्ट्रों के प्रति मित्रता पूर्ण व्यवहार रखते हुए भी उनके अनुसार राष्ट्र को सजग एवं शक्ति सम्पन्न होना चाहिये। इसी नीति के कारण पाकिस्तान ने मुंह की खाई। साथ ही नेपाल भूटान एवं सिक्किम आदि छोटे राष्ट्रों को हर तरह की आर्थिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी मदद देने के भी वे पक्षपाती थे ताकि राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा बनी रहे।

सफल शांतिदूत

लालबहादुर शास्त्री शांति के लिए शहीद हुए। वे पूर्ण रूप से शान्ति के समर्थक थे। उनका उद्देश्य था कि संसार युद्धविहीन और शांतिपूर्ण हो। कच्छ्रन का समझौता एवं ताशकन्द घोषणा—उनकी शान्तिप्रियता के ज्वलंत उदाहरण हैं। उनके विचार से शान्तिमय वातावरण में ही मानवता का निर्माण सम्भव है। विश्व में शांति कायम करने से ही प्रत्येक राष्ट्र की उन्नति सम्भव है। युद्ध की विनाश के कगार पर खड़ा रहकर न कोई राष्ट्र कभी पनपा है न पनपेगा। वैज्ञानिक प्रगति तभी सम्भव है। साथ ही गरीबी एवं भुखमरी से हम तभी लड़ सकेंगे जब विश्व शांतिमय माध्यमों को अपनायेगा। श्री शास्त्री शांति के पक्षपाती थे लेकिन इसलिए नहीं कि हम कमजोर हैं बल्कि इसलिए कि हम शांति को देश की प्रगति तथा मानव जाति को विनाश से बचाने के लिए आवश्यक समझते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने कोसीगन के निमन्त्रण को स्वीकार किया था। श्री शास्त्री का उद्देश्य था कि जनमानस के हृदय में शांति का फैलाना है। यह शांति संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदप्रयत्नों से ही सम्भव है। अणु आयुधों एवं अणुबम उनकी दृष्टि में शान्ति को सबसे बड़ा खतरा है। यदि विश्व को शांतिमय बनाया जा सकता है तो सिर्फ एक ही माध्यम है और वह है परमाणु विहीन विश्व। उनका विश्वास था कि परमाणु शक्ति विनाश की अपेक्षा रचनात्मक कार्यों में अधिक सफल सिद्ध हो सकती है। अत परमाणु बमों के वे घोर विरोधी थे। शास्त्री जी निःशस्त्रीकरण के हिमायती थे।

इस प्रकार शास्त्री जी एक महान् व्यक्ति थे महान ही उनके विचार थे। उनकी अविस्मृत प्रतिभा की छाप मानवता पर अविस्मरणीय रहेगी। युगों तक

श्री शास्त्री का दृढ़ चरित्र सादगी सेवावृत्ति कर्मठता साहस एव सेनानी कर्त्तव्य तथा मानवता के हितचिंतक का रूप भारतीय जनता का मार्ग प्रशस्त कर सकेगा।

श्रीमती इन्दिरा गांधी के राजनीतिक विचार

श्रीमती इन्दिरा गांधी संसार के सबसे बड़े गणतन्त्र देश भारत की सब प्रथम महिला प्रधानमंत्री हैं। यह उनकी देश सेवा की अटूट लगन का ही परिणाम था जो उन्हें इस सर्वोच्च आसन पर नेहरू एव शास्त्री के उत्तराधिकारी के रूप में खींच लाया। श्री नेहरू की सुपुत्री होने के नाते यदि इन्दिरा जी चाहती तो संसार के समस्त आकर्षणों सुखों को उपलब्धि स्वयं ही कर लेतीं पर इस देवी स्वरूपा के अतरग में प्रारम्भ से ही राष्ट्र प्रेम एव मानवता की सेवा के अंकुर प्रस्फुरित हो चुके थे। सभी सुखों को ठोकर मार कर जेलों की यातनायें सहीं। श्रीमती गांधी राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की कर्मठ सेनानी रही हैं। आप बहादुर महिला भारत की जागृत नारी एव महिला रत्न की प्रतीक हैं। प्रारम्भ से ही इन्दिरा जी युवा शक्ति संगठन कर उस नवसृजन की ओर ले जाने का पक्षपाती रही हैं। पीड़ित शोषित मानवता को आत्मशक्ति से सम्पन्न करने तथा नारी जाति के जागरण के कार्य का श्रेय इन्दिरा जी को ही है। स्त्रियोचित निर्मलता एव मृदु भाविता की देवी इन्दिरा प्रतीक हैं। अटूट आस्था एव प्राणवान जनता के साथ विश्व मानवता अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सद्भाव का समर्थन कर भारत की परम्पराओं का निर्वाह कर रही हैं।

वीर महिला एक निर्भीक एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व

स्त्रीरत्न इन्दिरा जी एक वीर महिला हैं। इनका विचार है कि मनुष्य को प्रत्येक अनुकूल व प्रतिकूल अवस्था पर सतुलन बनाये रखना चाहिए। विकट परिस्थितियों का शान्तिमय उपायों द्वारा दृढ़ता से सामना करना चाहिये। मनुष्य जाति तभी उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो सकती है जब उसमें प्रत्येक समस्या का सामना करने की क्षमता उत्पन्न हो जाय तभी राष्ट्र एव जाति उन्नति कर सकती है। मनुष्य को साहस कभी भी नहीं खोना चाहिये। इसी प्रवित्व के कारण इन्दिरा जी ने कठिन परिस्थितियों में देश की बागडोर सम्हाली। उन्होंने परिस्थितियों बाधाओं एव समस्याओं को धैर्यता से देखा एव समयोचित समाधान किया।

नेहरू की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति एवं दिवंगत शास्त्री की राष्ट्रीय लोकप्रियता का सुन्दर सम्मिश्रण

इन्दिरा जी ने प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं पर भारत को फिर से रखा। अपने पिता के कार्य कर्मों को आगे बढ़ाया। इनकी अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्वता में दृढ़ आस्था है। साथ ही राष्ट्र के हित को सर्वोच्च स्थान देना भी अपना अभीष्ट कर्त्तव्य समझती हैं। यही कारण है कि राष्ट्रीय लोकप्रियता इनकी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। १९६७ के द्वितीय निर्वाचन में पुन प्रधानमंत्री का आसन मिलना इस बात का

स्पष्ट उदाहरण है। इनकी मान्यता है कि आज के इस वैज्ञानिक एवं परस्पराश्रित युग में राष्ट्र का तो सर्वोच्च स्थान है ही पर अन्तराष्ट्रीयता से परे नहीं जा सकते।

पुरातन पवित्रता एवं आज के प्रगतिशील युग का सुन्दर समन्वय

श्रीमती गांधी भारतीय संस्कृति भारतीय जीवन और भारतीय दर्शन की अनन्य उपासिका हैं। भारत के अतीत में भी आज तथा अनागत में भारतीय नारी का जो गौरव रहा है उसके जीवन में जो पवित्रता रही है उसकी अपनी जो संस्कृति है शक्ति है वह विश्व इतिहास में दुर्लभ है। इन्दिरा जी इसकी प्रतीक एवं दृढ़ उपासिका हैं। भारतीय महिलाओं को पुरातन पवित्रता और संस्कृति के साथ ही आज के प्रगतिशील युग में नारी के बढ़ते हुए अधिकारों एवं उनकी उपलब्धियों की भी स्पष्ट समर्थक हैं। आज उस त्यागपूर्ण परम्परा के प्रतिनिधि के नेतृत्व एवं निर्देशन में भारतीय प्रजातन्त्र का महान् अभियान प्रगति पथ पर है। ये आधुनिकता की स्पष्ट प्रतिमूर्ति हैं पर पश्चिम के अन्धानुकरण की सख्त विरोधी हैं।

आर्थिक एवं सामाजिक विकास

भारत के आर्थिक क्षेत्र में समाजवादी ढंग का समाज निर्मित करना उनका लक्ष्य है। सरकारी क्षेत्र में इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये आज तक प्रयत्न जारी रहे, पर कोई विशेष सफलता उपलब्ध न हुई। इन्होंने आर्थिक जगत् में परम्परागत विचार धाराओं का मार्ग त्याग कर एक नयी रीति नीति अपनाई है। ये पूर्णतः आर्थिक दृष्टिकोण [illegible] व्यवहारवादी हैं न आप असफलता की पक्षपाती हैं और न ही किसी भी एक वादावाद की भूलभुलैया में [illegible] भटकना चाहती हैं। आपके विचारों में [illegible] है। [illegible] में विश्वास नहीं है। आप समय [illegible] हैं। इनका विचार है कि [illegible] देने के लिये [illegible] सहायता बहुत [illegible] बन सकता है। [illegible] करने के लिये [illegible] आपका नारा है। आपका जीवनादर्श [illegible] है। [illegible] पड़ती है।

श्रीमती गांधी गरीबी बीमारी एवं अशिक्षा से भारतीय समाज को मुक्ति दिलाना चाहती हैं। आपके प्रयत्न समाज सुधार की ओर रहे हैं। विज्ञान कला साहित्य विचार एवं कर्म की दुनिया में प्रत्येक व्यक्ति को ऊपर उठाने की ओर वे प्रयत्नशील हैं। सभी धर्मों के प्रति आदर एवं सम्मान मनुष्य मात्र का धर्म है।

राष्ट्रीय एकता की पृष्ठपोषक

इनकी यह भी मान्यता है कि हमारा कोई भी धर्म हो हम चाहे जो भाषा बोलते हों और हम चाहे किसी भी राज्य में रहते हों हमारा राष्ट्र एक है हम एक

है। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता की कट्टर समर्थक है। इनका कहना है, धर्म निरपेक्षता लोकतन्त्र समाजवाद और विश्वशांति के जिन आदर्शों पर इस राष्ट्र की बुनियाद रखी है उनका मैं पूरी तरह पालन करूंगी। यही उनकी राष्ट्रीय एकता की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। देश का आर्थिक विकास तभी सम्भव है तकनीकी एवं औद्योगिक उन्नति तभी सम्भव है आर्थिक नियोजन तभी सफल हो सकते हैं जब हम सभी एक सूत्र में आबद्ध हो प्रयास करें।

विदेश नीति

पड़ोसी राष्ट्रों के प्रति आपका दृष्टिकोण मैत्रीपूर्ण है हर सम्भव प्रयास आपके इस ओर रहे हैं। पर मैत्रीपूर्ण भावना के साथ ही सजगता एवं राष्ट्रहित सर्वोपरि हैं और पड़ोसी राष्ट्रों के प्रति सहयोग पूर्ण नीति भी।

परम्परागत शांति पूर्ण भारतीय प्रवृत्ति की आप समर्थक हैं। व गुट निरपेक्षता तथा सह अस्तित्व की कट्टर समर्थक हैं। आपके नेतृत्व में हम अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बढ़े हैं।

प्रधानमंत्री बनने के बाद श्रीमती गांधी ने विभिन्न शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों की राजकीय यात्रायें तटस्थ देशों के शिखर सम्मेलन आदि द्वारा हमारी अन्तर्राष्ट्रीय नीति की अनुकूलता प्रतिष्ठा और सफलता को भली भांति संस्थापित कर दिया है।

विश्व में शांति की आप अग्रिम समर्थक हैं। शांति पूर्ण वातावरण के माध्यम से ही आपका विश्वास है कि मानवता के घोर शत्रु गरीबी अज्ञान एवं अन्धविश्वास को दूर कर सकते हैं। वियतनाम समस्या पर भी आप शांतिपूर्ण हल चाहती हैं। निःशस्त्रीकरण में आपकी पूर्ण आस्था है। इनके शब्दों में भारत सदव से विश्व-शांति एवं मैत्री का अभिलाषी है और रहेगा।